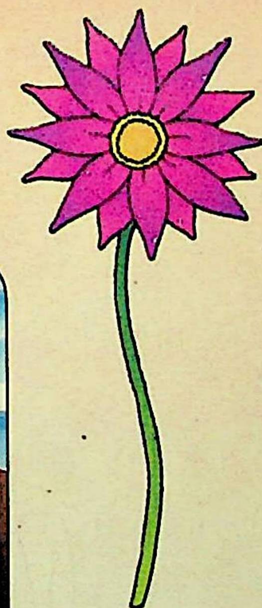
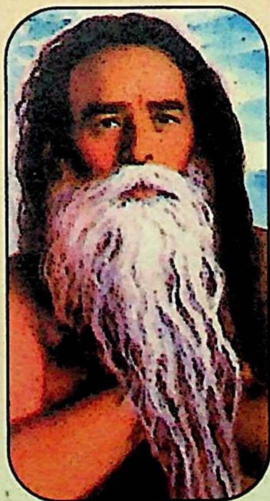
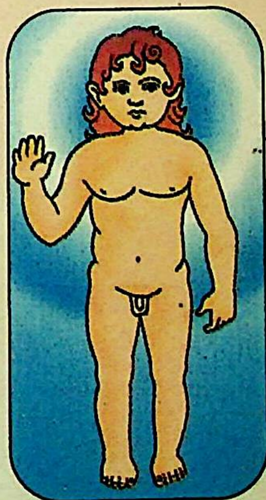
जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति







।। ॐ नमः सद्गुरुदेवाय ।।

जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति

संकलनकर्त्ता एवं व्याख्याकार :

परमपूज्य श्री परमहंस जी महाराज का कृपा प्रसाद

स्वामी अड़गड़ानन्द

श्री परमहंस आश्रम जगतानन्द

ग्राम-पत्रालय-बरैनी, जिला-मिर्जापुर (उ.प्र)

प्रकाशक :

श्री परमहंस आश्रम, शक्तिषगढ़

ग्राम पोस्ट-शक्तिषगढ़, जिला-मिर्जापुर

उत्तर प्रदेश (भारत)

प्रकाशक :

श्री परमहंस आश्रम, शक्तिषगढ़

ग्राम पोस्ट-शक्तिषगढ़, जिला-मिर्जापुर

उत्तर प्रदेश (भारत)

फोन : (०५४४३) २४४०

संस्करण - प्रथम, गुरु पूर्णिमा - १९९४ - १००० प्रति

पुनः प्रकाशित - १९९६ - १००० प्रति

पुनः प्रकाशित - दिसंबर १९९७ - २००० प्रति

मूल्य : रु.१००.००

सम्पर्क सूत्र :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्द जी आश्रम ट्रस्ट

२९ ए, फ्रेंच रोड (मर्चेंट क्लब के सामने)

चौपाटी, मुम्बई ४०० ००७

फोन : ३६४८२०३

फैक्स : (९१-२२) ३६३४६९०

मुद्रक :

प्रिया ग्राफिक्स

मुम्बई ४०० ०७२

अनन्तश्री विभूषित,

योगिराज, युग पितामह

परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया

(चित्रकूट)

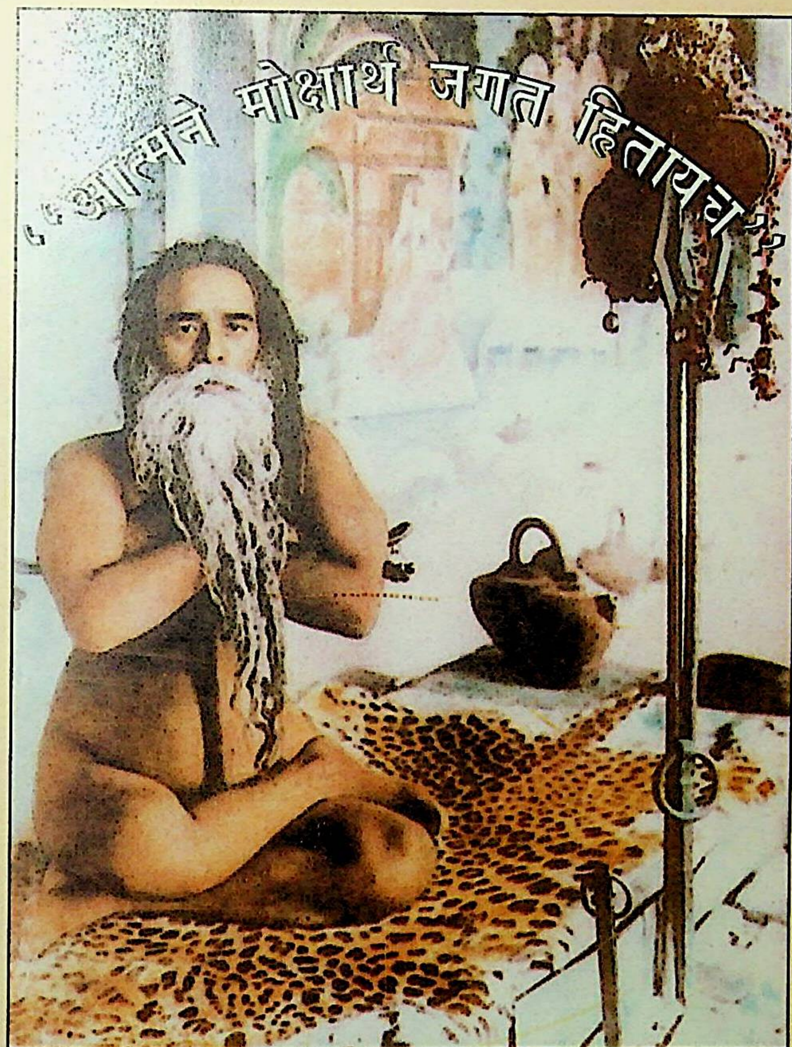
के परम पावन चरणों में

सादर समर्पित

- *अन्तःप्रेरणा*

परमानन्द

अनन्तश्री विभूषित, योगीराज, युग पितामह
परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्दजी
के हस्ताक्षर



श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

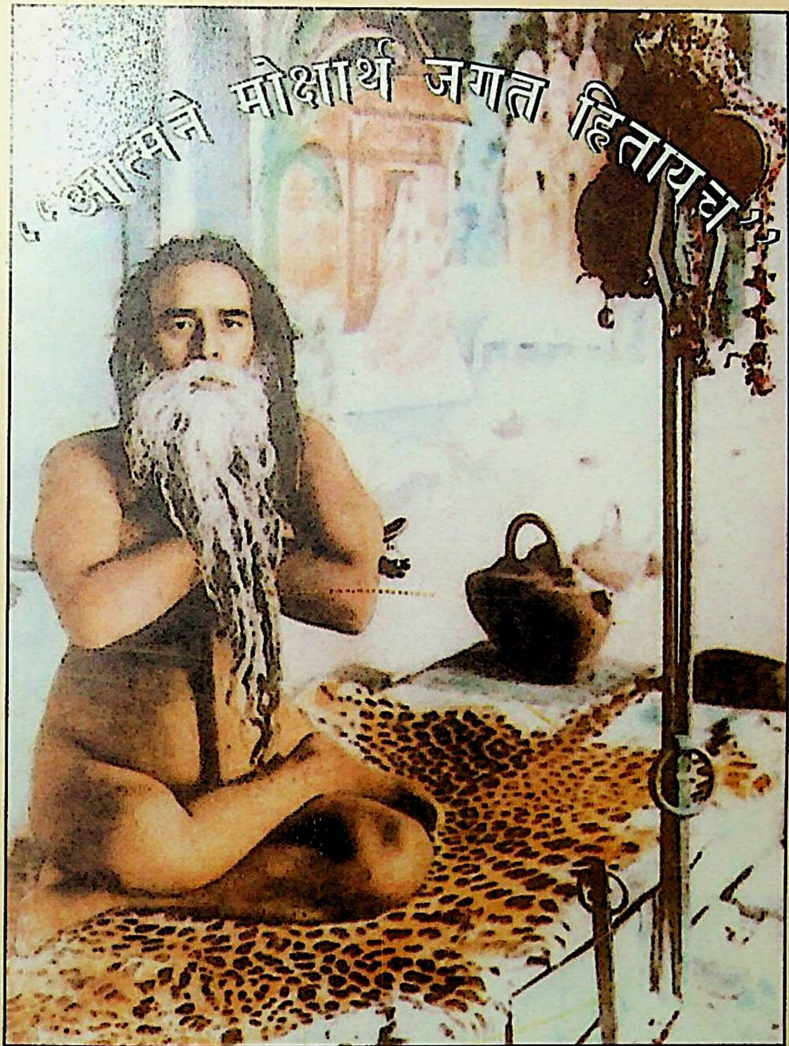
जन्म : शुभ सम्वत् विक्रम १९७१,

महाप्रयाण ज्येष्ठ शुक्ल ७ सम्वत् २०२७

परमहंस आश्रम अनुसुइया (चित्रकूट)

परमानन्द

अनन्तश्री विभूषित, योगीराज, युग पितामह
परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्दजी
के हस्ताक्षर



श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

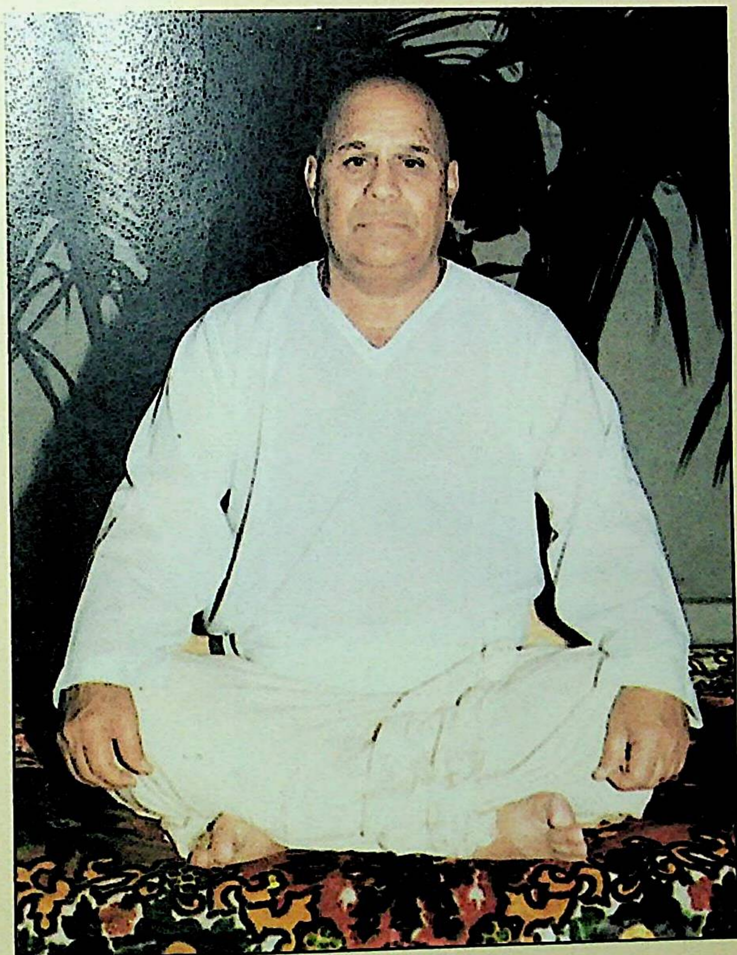
जन्म : शुभ सम्वत् विक्रम १९७१,

महाप्रयाण ज्येष्ठ शुक्ल ७ सम्वत् २०२७

परमहंस आश्रम अनुसुइया (चित्रकूट)



"सद्गुरु की शरण में जाओ, सम्पूर्ण योग की कुंजी मिलेगी।"



श्री गुरुदेव भगवान के शिष्यों में प्रथम स्थितप्रज्ञ विभूति

स्वामी श्री सच्चिदानन्द जी महाराज

श्री परमहंस आश्रम, धारकुण्डी, सतना–मध्य प्रदेश



गुरु-वन्दना

ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी ।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी ॥

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी ।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी ॥

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी ।
योगी अद्वैष्टा, त्रिकाल द्रष्टा केवल पद आनन्दकारी ॥

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसूइया आसन मारी ।
श्रीपरमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी ॥

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी ।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी ॥

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी ।
जय सद्गुरु ..... भारी ॥

ॐ

वन्दना

भवसागर-तारण कारण हे, रविनन्दन-बन्धन-खण्डन हे ।
शरणागत किंकर भीत मने, गुरुदेव दया कर दीन जने ॥

हृदि-कन्दर-तामस-भास्कर हे, तुम विष्णु प्रजापति शंकर हे ।
परब्रह्म परात्पर वेद भणें, गुरुदेव दया कर दीन जने ॥

मन-वारण-कारण अंकुश हे, नर त्राण करे हरि चाक्षुष हे ।
गुण-गान-परायण देवगणे, गुरुदेव दया कर दीन जने ॥

कुल-कुण्डलिनी तुम भंजक हे, हृदि-ग्रन्थ विदारण कारण हे ।
महिमा तव गोचर शुद्ध मने, गुरुदेव दया कर दीन जने ॥

अभिमान-प्रभाव-विमर्दक हे, अति हीन जने तुम रक्षक हे ।
मन-कम्पित-वंचित-भक्ति-घने, गुरुदेव दया कर दीन जने ॥

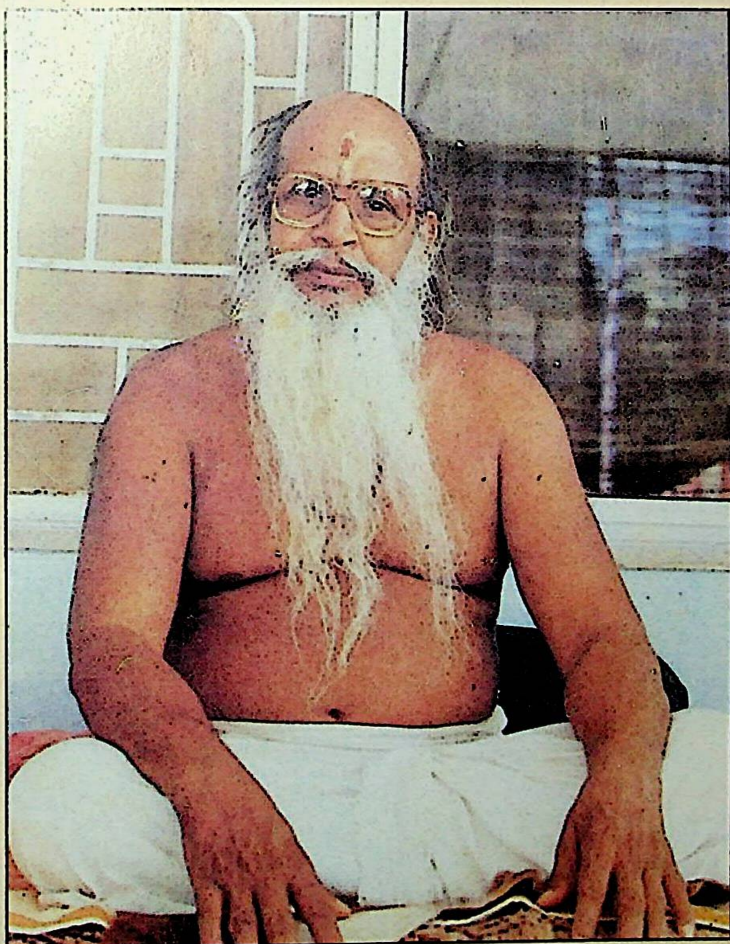
रिपुसूदन मंगलनायक हे, सुख-शान्ति-वराभय दायक हे ।
भय-ताप हरे तव नाम गुणे, गुरुदेव दया कर दीन जने ॥

तव नाम सदा सुख-साधक हे, पतिताधम-मानव पावक हे ।
मम मानस चंचल रात्रि दिने, गुरुदेव दया कर दीन जने ॥

जय सद्गुरु! ईश्वर प्रापक हे! भवरोग-विकार विनाशक हे ।
मन लीन रहे तव श्रीचरणे, गुरुदेव दया कर दीन जने ॥

॥ ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ॥

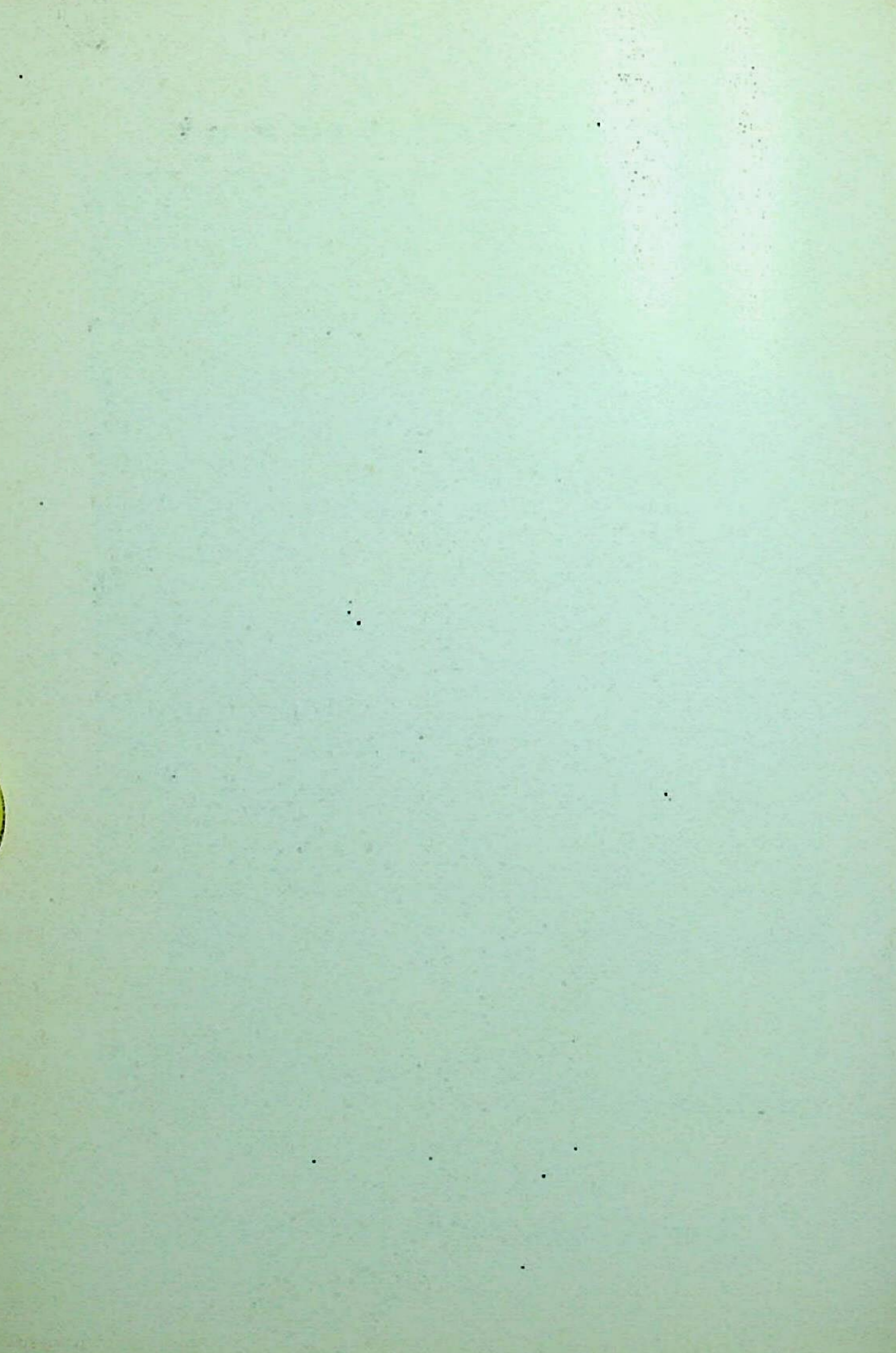
"सद्गुरु की आज्ञा-पालन साधक की सच्ची साधना है।"



श्री गुरूदेव भगवान के शिष्यों में द्वितीय स्थितप्रज्ञ विभूति

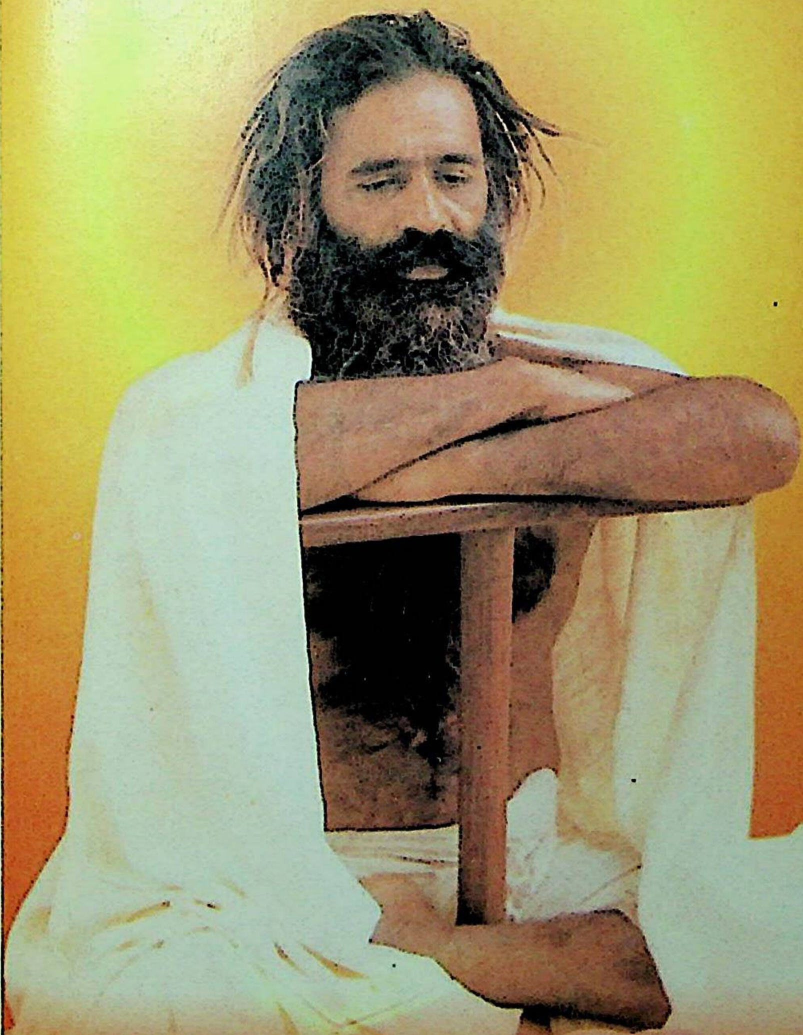
स्वामी श्री भगवानानन्द जी महाराज

श्री परमहंस आश्रम, अनुसूइया, चित्रकुट—मध्य प्रदेश



श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी

(परमहंस महाराज का कृपा प्रसाद)





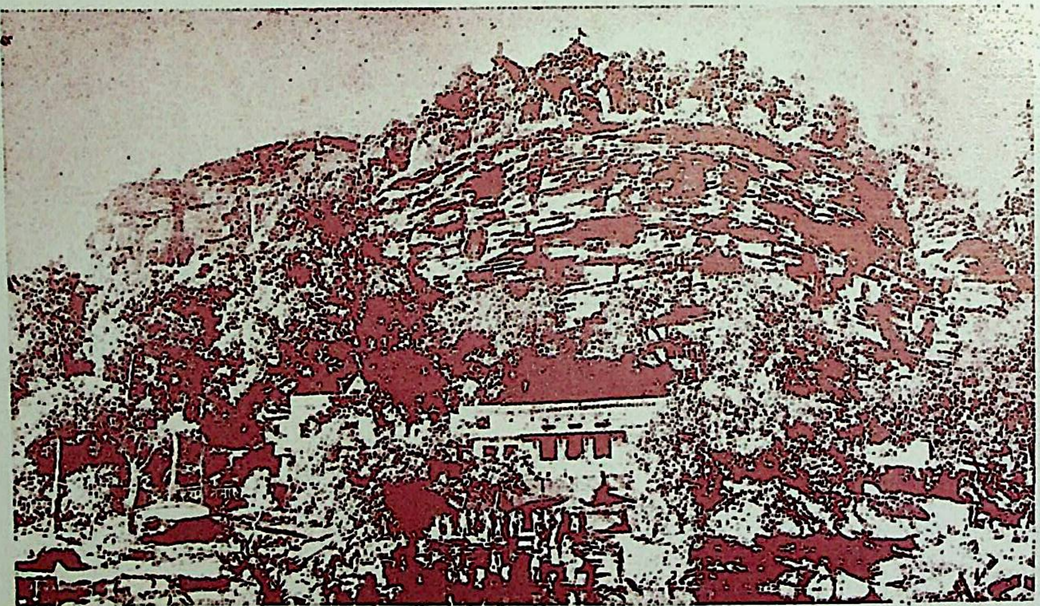
अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ संख्या

विषय	पृष्ठ संख्या



चित्र - सूची



चन्द्रलोक श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया जी



प्राक्कथन

यह सार्वभौमिक सत्य है कि जब-जब जन-मानस में आसुरी प्रवृत्तियों का बाहुल्य होने लगता है, तथा सत्प्रवृत्तियाँ ह्रासोन्मुखी होकर प्रश्रय चाहती हैं, तब-तब समाज की विषम परिस्थितियों के बीच नव-जागरण का सन्देश लिए महापुरुषों का अभ्युदय होता है। कुछ ऐसी ही धार्मिक साम्प्रदायिकता एवं आडम्बर के शमन हेतु सच्चे अध्यात्म-पथ-प्रदर्शक के रूप में परमपूज्य श्री परमहंस जी का सृष्टि में अभ्युदय हुआ। श्री परमहंस स्वामीजी का आविर्भाव एक ऐसे प्रकाश पुंज के रूप में जन-मानस के बीच हुआ था, जिनकी ज्योतिर्मयी रश्मियाँ धार्मिक आडम्बर एवं तिमिराच्छादित अन्तरमल को नष्ट कर अखिल संसृति को आलोकित कर दिया।

वास्तव में वह गुरु गुरु नहीं, जो आती हुई मौत से न बचा ले और वह शिष्य शिष्य नहीं जो गुरु के हाथ का यंत्र बनकर, उनके आदेशों में प्रवृत्त होकर गुरु की स्थिति को न पा ले। ऐसी ही परमपावन विभूति श्री परमहंस महाराजजी के जीवन-दर्शन के प्रति कुछ न कुछ लिखने के लिए न जाने कब से मेरे मानस में भाव तरंगित हो रहे थे, किन्तु अन्तर्जगत् से किनारा न मिलने के कारण उनकी अभिव्यक्ति न हो सकी। सौभाग्यवश इस वर्ष ग्रीष्मकाल में श्री परमहंस आश्रम धारकुण्डी में रुकने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। मेरे परमार्थ पथ को प्रशस्त करने वाले ब्रह्मज्ञ श्री स्वामी जी, परमहंस आश्रम धारकुण्डी महाराजजी ने मुझे अन्तर्देश से सम्बल प्रदान कर इस कृति के संकलन में अक्षुण्ण प्रेरणा से अनुप्राणित किया है। उनके अतुलनीय योगदान व महती कृपा के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने में वाणी असमर्थ है, तथापि इस महती कृपा के लिए मैं कोटिशः हार्दिक आभार प्रदर्शित करते हुए उनका चिरऋणी हूँ। लेखनी केवल इस आशा एवं विश्वास के साथ उठ रही है कि श्री स्वामीजी आद्यान्त भावों को स्वरूप देने में प्रेरणात्मक

आशीर्वाद देते रहेंगे, साथ ही अनुसुइया आश्रम के वर्तमान स्वामी श्री भगवानानन्द जी के प्रति भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनकी बहुत पूर्व से ही मुझ पर असीम कृपा रही है।

यह एक परम्परागत प्रवृत्ति हो गई है कि किसी-न-किसी रूप में सभी अनुयायी शिष्यगण अपने-अपने गुरुजनों की प्रशंसा करने में नहीं थकते, किन्तु प्रशस्ति-गायन से शिष्य गुरु-ऋण से निवृत्त नहीं होता। उसे क्रमशः यौगिक प्रक्रिया के द्वारा प्रयोगात्मक पथ पर चलकर गुरु के गुरुत्व को प्राप्त करना पड़ता है। शुद्ध स्तुति तो वह है कि सद्गुरु परमात्मा की जिस पराकाष्ठा में निहित है, साधक क्रमशः चलकर उसी पराकाष्ठा में लीन हो जाय। वास्तव में उसी साधक के द्वारा गुरु के गुणधर्म प्रगट होते हैं। अतः उसी के अन्तिम उपलब्धि के फलस्वरूप गुरु का नाम सार्थक होता है। समर्थ सद्गुरु के उत्कृष्ट जीवन-चरित्र को लिपिबद्ध करना सामान्य सामर्थ्य के परे है। यह जो कुछ भी लिखा जा रहा है, उन्हीं महापुरुष की महती अनुकम्पा का प्रतिफल है।

समय के प्रवाह में जीवनमुक्त महापुरुष श्री परमहंस जी भी अपने पार्थिव शरीर का परित्याग कर हमारे बीच से ठीक उसी प्रकार उठ गये, जिस प्रकार राम, कृष्ण, बुद्ध इत्यादि। जो विशेषताएँ उपरोक्त महापुरुषों में थीं, वे पूर्णतया श्री परमहंस जी के जीवनवृत्त में भी अवतरित हैं। उपरोक्त महापुरुषों के जीवन में कुछ ऐसी अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण समस्याओं का शमन पाया गया, जिन्हें देखकर जन-समाज उनके प्रति आकर्षित हुआ। कुछ ऐसी ही विलक्षण घटनाओं का हल श्री परमहंसजी के सान्निध्य से भी जन-जीवन को मिला, जो असंख्य मानवों के संतोष का अमरस्रोत बन गया है।

चित्रकूट की जनता स्वभावतः राम के प्रति श्रद्धा रखनेवाली है। इसी विशेष गुण के कारण धनी कही जा सकती है। वैसे यहाँ आये दिन डाकुओं के

क्रूर बर्बरता के उदाहरण मिलते हैं। ऐसी सामाजिक क्रूरता के बीच श्री परमहंस जी का आगमन जन-जीवन को सद्मार्ग की नयी दिशा देने में अभूतपूर्व कार्य किया है। सैकड़ों पागल उनके दर्शन से तत्काल ठीक होते देखे गये हैं। वे आज भी जीते-जागते, उनकी दुहाई देते हैं। कतिपय घटनाएँ तो ऐसी विलक्षण हैं कि जिन्हें देख-सुनकर बुद्धि चकाचौंध हो जाती है। कुछ ऐसे रुग्ण व्यक्ति चिकित्सकों से जवाब पाकर आपके पास कृपायाचना हेतु आये जो अद्यावधि जीवित हैं।

श्री परमहंस महाराज जी के सान्निध्य में विरक्त शिष्यत्व के लिए अनेक व्यक्ति आये, परन्तु शरण कुछ ही लोगों को मिली। जनसाधारण की स्थिति आप हृदय से टटोलते और परीक्षण करने के उपरान्त शरण देने से इन्कार कर देते थे। कुछ लोग तो ऐसे भी थे, जो इन अप्रिय शब्दों को सुनकर अनशन कर देते थे; परन्तु स्थान पात्र, सुपात्र का मूल्यांकन करने के पश्चात् उपयुक्त अधिकारी को ही दिया जाता था। श्री महाराज जी के देदीप्यमान शिष्यों में पावन विभूति श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी, परमहंस आश्रम धारकुण्डी आज क्षेत्रीय समाज के लिए उपलब्ध हैं, जिनकी अन्तश्चेतना से निःसृत ज्ञान की पीयूष धारा अनवरत धारकुंडी की अपार्थिव गुफा से प्रवाहित है।

प्रस्तुत कृति के प्रथम उच्छ्वास में जीवनादर्श पर प्रकाश डालने वाली कतिपय आश्चर्यजनक घटनाओं का परिचयात्मक पद्धति में उल्लेख किया गया है जिन्हें हृदयांगम कर जीवन पथ पर चलने वाले पथिक सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य का सान्निध्य प्राप्त कर सकते हैं। कृति के द्वितीय उच्छ्वास में आत्मानुभूति के चरमोत्कर्ष पर आसीन करनेवाली उनकी अमरवाणी बारहमासी की व्याख्या एवं सद् उपदेशों का चयन किया गया है। अंतिम उच्छ्वास में पूज्य महाराज जी द्वारा प्रयुक्त कतिपय लोकोक्तियों का संकलन है जिनके माध्यम से वे भाविकों का पथ-प्रदर्शन एवं अनेकानेक साधनोपयोगी भूमिकाओं का निदर्शन

करते थे। सरल, सरस मुहावरों में गम्भीर तात्त्विक सिद्धान्तों का विवेचन कर सकना परमहंस जी की अपनी विशेषता थी जिसके अवगुण्ठन में ब्रह्मविद्या की शुष्कता तिरोहित हो जाती थी। किन्तु इन सबसे विलक्षण तो महाराज जी की अपनी शैली थी, जो अन्तरतम तक प्रविष्ट होती चली जाती थी।

इस कृति को मैं अपनी सामर्थ्य से ही नहीं, अपितु सेवाभार से अन्तर्जगतीय प्रेरणानुकूल भाषाबद्ध कर रहा हूँ। इसके संकलन में त्रुटियों व विचारों की क्रमबद्धता का विशेष ध्यान रखा गया है तथापि विचारों के स्पष्टीकरण में विश्रृङ्खलता होने पर प्रिय पाठकगण व साधक अपनी ही एक उपलब्धि समझकर हृदयांगम करेंगे।

सद्‌गुरु कृपाश्रयी, जगत्‌बन्धु

स्वामी अड़गड़ानन्द

जीवन-परिचय

(सन् १९१२ ई. से १९६९ ई. तक)

परिवर्तनशीलता निखिल संसृति का शाश्वत विधान है। अपराजेय कालचक्र की चपेट में बड़े से बड़े साम्राज्य के उत्थान एवं पतन की कहानियाँ अंकित रहती हैं। अजेय शक्तियाँ भी पल भर में धराशायी हो जाती हैं। भौतिक वैभव की विशाल अट्टालिकायें न जाने कहाँ अन्तराल में विलीन हो जाती हैं परन्तु देश-काल, परिस्थितियों के सीमा के उपराम, जीवनमुक्त व्यक्तित्व एवं कृतित्व युग-युगान्तर तक विश्व वाटिका को सुरभित जीवन-पुष्प से सुवासित करता रहेगा। ऐसे ही परमशान्ति प्राप्त महापुरुषों की इकाई में परमपूज्य श्री परमहंस महाराज जी का जीवनवृत्त भी अवतरित है।

आपका जन्म वर्तमान देवरिया जिले के रामकोला नामक ग्राम में सन् १९१२ ई., तदनुसार सम्वत् १९६९ में हुआ। श्रीमुख से प्रायः सुनने को मिलता था कि देहाभिमानियों की गति नहीं होती (गीता भी यही कहती है- अध्याय १२।५) जड़ अभिमान का अन्त न देखकर निवृत्ति के जन्म में भगवान माता-पिता की कुलीनता तथा कुल-मर्यादा के बाह्य चिह्नों को मिटा देते हैं, जिससे साधक में अपनी कुल-मर्यादा के अहंकार का अंकुरण न हो सके। अगस्त्य, शृंगी, व्यास, कबीर इत्यादि सहस्रों ऋषि-महर्षि इसी विधान के अन्तर्गत उत्पन्न होकर ब्रह्मर्षि के परिवेश में पाये जाते हैं। अपने जन्म का यथार्थ परिचय देते हुए पूज्य महाराज जी ने बताया :-

माई धोबिन बाप चमार। ताकर जनमल हम बनवार।।

हमारा यह जन्म भी इसी प्रकार का है। माता फूलमती देवी नापित तो पिता मास्टर श्री ठा. कमला प्रसाद सिंह हुए। अब ईश्वर अहम् को छोड़कर कोई अहम् का स्थान नहीं है। विचारणीय है, कभी कल्पना भी नहीं हुई

साधु होने की। घर से अत्यन्त लगाव था, तथापि अकस्मात् आकाशवाणियों से युक्त ईश्वरीय आदेशों का अविरल संचार देख मुझे आश्चर्य हुआ कि पुण्य परिणामों के बिना ऐसा क्यों? तब हरि-प्रेरित अनुभवी सूत्रों में अपने पूर्व-जन्मों के क्रमवृत्त को हमने देखा कि पिछले सात जन्मों से साधु रहा हूँ। चार जन्म तो सामान्य रहे किन्तु गत तीन जन्मों से युक्ति युक्त, योगोत्कृष्ट और बढ़िया साधु रहा हूँ, जैसा होना चाहिए। पिछले जन्म में पार लग गया था किन्तु विवाह नहीं किया था अतः तत्सम्बन्धी कौतूहल था; गाँजा पीने की स्पृहा के साथ देहाभिमान भी पीछा कर रहा था, इसलिए जन्म लेना पड़ा। यह भगवान की अनुकम्पा का फल है कि इस जन्म में थोड़े समय में सब दिखा-सुनाकर उठा लिया और निवृत्ति हो गई।''

-पूज्य गुरुदेव परमहंस जी की वाणी।

प्रायः जन्म से ही महापुरुषों की अलौकिकता का दिग्दर्शन होने लगता है। रमलशास्त्रियों ने शिशुरूप में श्री परमहंस जी महाराज को देखकर उनके दिव्य भावी जीवन का संकेत करते हुए उनकी माँ से पूछा- ''यह असाधारण बालक तुम कैसे पा गई? यह तो तुम्हारे योग्य नहीं है।'' पहले तो मातृ-हृदय भावी अनिष्ट की कल्पना से काँप उठा परन्तु ज्योतिषी के यह कहने पर कि ''यह या तो राजा होगा या योगी।'' मातृ-हृदय आश्वस्त होकर पुनः शिशु-स्नेह में प्रवृत्त हो गया। नमक-मिर्च उतार कर माँ शिशु को घर के भीतर ले आई कि कहीं नजर न लग जाय।

बाल्य जीवन की विलक्षण घटना

जब आपकी अवस्था लगभग छः मास की थी, लोकदृष्टि में उस बाल्यावस्था में ही एक कालवत् हृदय-विदारक घटना घटित हुई। अचानक एक दिन आपके पलंग के ऊपर एक भयानक सर्प चढ़ गया और देखते-ही-देखते शरीर पर

कुण्डली मारकर बैठ गया। व्यक्तियों के द्वारा उस विषधर को हटाने का भरसक प्रयास किया गया। अन्त में एक रज्जु में मेढक बाँधकर उसकी ओर, सर्प को आकर्षित करने का यत्न किया गया। मेढक को देखकर भक्षण की लालसा से सर्प ज्योंही हटा कि माँ के हृदय का वात्सल्य उमड़ पड़ा। दौड़कर माँ अपने शिशु को पुचकारने लगी।

शालेय-शिक्षा

पाँच वर्ष की अवस्था में आपकी शिक्षा प्रारम्भ हुई, परन्तु पढ़ने-लिखने में आपका मन नहीं लगता था। पाठशाला में प्रवेश हुए अभी तीन दिन ही हुए थे कि पण्डित जी ने किसी अपराध के परिणामस्वरूप आपकी पिटाई कर दी। पुत्र-स्नेहवश माँ का हृदय करुणा से भर गया, जिसके फलस्वरूप बालक पुनः पाठशाला न जा सका। इसके उपरान्त अध्ययन की शृंखला सदा के लिए टूट गई। एक घटना आज भी स्मरणीय है कि एक बार चित्रकूट में हस्ताक्षर की आवश्यकता पड़ने पर आपको चार दिन अभ्यास करना पड़ा था। यह थी आंध्यात्मिक अध्यापक के पार्थिव अध्ययन की सीमा।

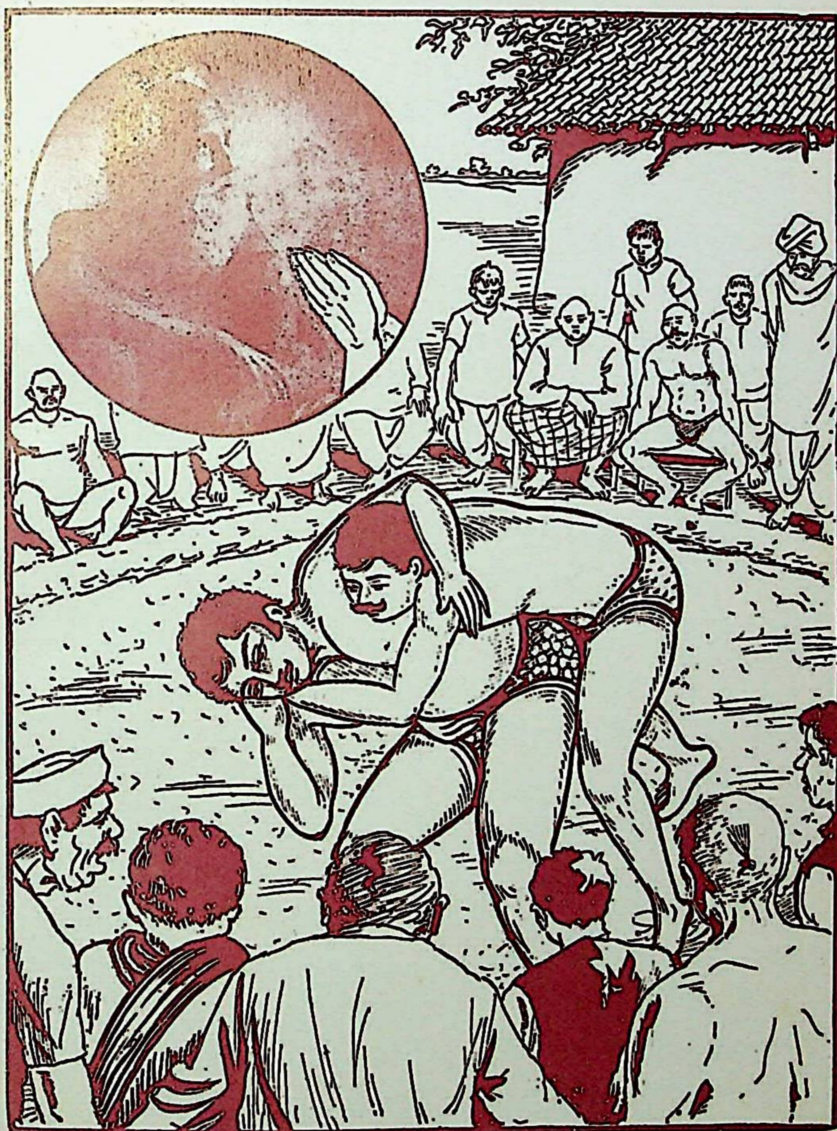
व्यायाम की प्रेरणा

जिस क्षेत्र में आपका जन्म हुआ था, वह पहलवानों के मल्ल-प्रदर्शन का केन्द्र था। इसलिए पाँच वर्ष की अवस्था में ही पहलवानों के दाँव-पेंच देखकर आपका झुकाव शारीरिक व्यायाम व पहलवानी की ओर हो गया। नियमतः व्यायाम करके शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने में आप विशेष ध्यान देने लगे। परिणामतः कालान्तर में आपने सुप्रसिद्ध पहलवान के रूप में ग्रामीण क्षेत्रों में ख्याति प्राप्त कर ली।

आकाशवाणी एवं सन्त-मिलन

एक बार आप इसी पहलवानी के नशे में कुछ दूर स्थित बाजार की तरफ जा रहे थे कि अनायास मार्ग में झण्डा लिए हुए 'सीताराम-सीताराम' ध्वनि-उच्चारण के साथ कोई महात्मा दिखाई पड़े। उनके चले जाने के पश्चात् यह आवाज आती है कि इस साधु को भोजन कराओ। इस प्रभावपूर्ण वाणी को सुनकर मस्तिष्क चकरा गया। सड़क की पुलिया का सहारा लेकर अपने को संयत करते हुए आसपास के लोगों से पूछा कि कुछ सुनाई पड़ा? इस पर उत्तर मिला कि यहाँ सुनने की कौन-सी बात है? महाराज जी कहा करें कि अज्ञात आवाज इतनी तेज थी कि लगता था मीलों सुनाई पड़ी होगी। आप कहा करें कि हमें आश्चर्य होता था कि मस्तिष्क के बीच में कौन बोल पड़ा? ऐसा प्रतीत होता था कि कोई दैवी घटना है। कुछ भी हो, महात्मा को भोजन कराना ही चाहिए - ऐसा सोचकर उनको खोजना प्रारम्भ कर दिए। दिन भर खोजने के उपरान्त भी जब महात्मा न मिले तब आप निराश होकर घर लौटने लगे। इसी बीच अकस्मात् पथ में आते हुए उन्हीं महामूर्ति के दर्शन हुए। आतुरतापूर्वक प्रणाम करके उनसे आपने पूछा कि महाराज जी 'सीताराम-सीताराम' का ही उच्चारण करते रहेंगे या कुछ खायेंगे भी। तब महात्मा ने पूछा कि क्या खिलाओगे?

संयोग की बात, आपके पास केवल तीन पैसे ही थे, जो तत्कालीन भोजन सामग्री के लिए पर्याप्त थे। बाल्योचित स्वभाव के कारण इसी सीमित धनराशि से आपने सोचा कि घर के लिए सामान भी ले लिया जाय और महात्मा को भोजन भी करा दिया जाय। इसी धारणा से आपने विनम्रतापूर्वक भोजन ग्रहण करने का आग्रह किया। बारम्बार आग्रह के उपरान्त तथाकथित महात्मा ने भोजन प्रसाद ग्रहण किया। भोजन से तृप्त होकर उन्होंने आपसे पूछा कि



संतसे प्राप्त आशीर्वाद



बताओ भोजन क्यों कराये, क्या चाहते हो? मन में किसी भी वस्तु की अभिलाषा न होने के कारण बहुत समय तक विचार करने के उपरान्त आपने कहा कि मैं किसी से कुश्ती में पराजित न होऊँ। यह सुनकर महात्मा जी हँसकर गालियाँ देते हुए कहे कि 'एवमस्तु' और चले गये। उनके चले जाने पर पता चला कि वे सात दिन के भूखे थे।

महापुरुष की दृष्टि में संसार के अन्तर्गत जीत नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। प्रकृति के सामान्य बन्धन को जीतने के अभिमान से ही संस्कार साधक के मानस पर पड़ जाते हैं। इसलिए महाबली काल से भी अपराजेय होने का आशीर्वाद देकर वे चले गये। अब आपको ऐसा प्रतीत होने लगा कि आशीर्वाद साथ ही साथ चल रहा है, जबकि अभी दृष्टि सांसारिक ही थी।

सन्त से प्राप्त आशीर्वाद

उन महापुरुष के आशीर्वाद से आपको विश्वास हो गया कि मुझे किसी से भी कुश्ती में पराजित न होना पड़ेगा। उक्त घटना के ठीक तीन दिन बाद ही कुश्ती का आयोजन हो गया। यद्यपि प्रतिद्वन्द्वी आपकी दृष्टि के अन्दर ही था परन्तु दैवयोग से मल्लयुद्ध में शीघ्र ही आपको उससे पराजित होना पड़ा। आप सिर नीचा करके चले आये और तीन दिनों तक लज्जावश घर के बाहर नहीं निकले। आप निरन्तर यही सोचते रहे कि कहाँ गया वह आशीर्वाद और कहाँ गई वह वाणी। आगे चलकर जब उसी आशीर्वाद के फलस्वरूप अनसुइया आश्रम में अनुभव हुआ कि अब जन्म-मरण का बन्धन टूट चुका है, तो आन्तरिक प्रसन्नता से विह्वल हो उठे और विचार करने लगे कि भगवान या महापुरुष की वाणी कभी मिथ्या नहीं होती। यदि उस समय मल्लयुद्ध में विजयी भी हो जाता तो परिणाम हार ही तो था। शरीर भी तो आखिर एक दिन जीर्ण हो जाता। यथार्थतः कालजयी होना ही सन्त प्रवर के आशीर्वचन की अपराजेयता थी।

वृद्धा द्वारा तरुणी का संदेश

यह एक अत्यधिक रोमांचकारी घटना है, जिसके फलस्वरूप ही भावी साधनात्मक जीवन का शुभारम्भ है। घटना-क्रम इस प्रकार है :-

निकट के किसी गाँव के एक परिवार में किसी लड़के का गवना हुआ था। नव विवाहिता तरुणी के रूप-रंग से आकर्षित होकर कुछ मनचले नवयुवकों ने वासनेच्छा से उसके घर आना-जाना प्रारम्भ कर दिया परंतु उस तरुणी ने किसी तरफ झुकाव नहीं लिया। उसने एक वृद्धा के हाथ पत्र भेजकर आपको बुलवाया। पहलवान होने के कारण आपका जीवन संयमित था परन्तु उस समय संस्कारवश युवावस्था के नशे में चूर आपको ऐसा प्रतीत हुआ-- **"मनहु रंक जनु पारस पावा"**। किसी प्रकार दो-चार घण्टे व्यतीत कर सायंकाल सज-धजकर अँधेरी निशा में शनैः - शनैः उसके घर की तरफ बढ़ना प्रारम्भ कर दिये। रह-रहकर यह भावना मन मे कसक जाती थी कि कहीं मैं पाप कर्म में तो नहीं प्रवृत्त हो रहा हूँ। इसी विचार-विमर्श में निमग्न होकर जैसे ही आप आगे बढ़ रहे थे कि अचानक आवाज आयी-- "महान् पाप करने जा रहे हो, नरक में जाओगे।" अत्यन्त भय के कारण शरीर रोमांचित हो काँप उठा। करीब आधे घण्टे बाद जब अधीर होकर आप लौट रहे थे तो मन्द स्वर में सुनाई पड़ा कि "आगे देवालय में तुम्हारे गुरुदेव हैं।"

सद्गुरु दर्शन

उपरोक्त वाणी के आधार पर आप देवालय की खोज में धीरे-धीरे चल पड़े। अन्धकार के कारण उस देवालय के अंतःकक्ष में कोई दिखाई न पड़ा। अब आप विचार करने लगे कि अतीव विचित्र लीला है। पता नहीं कौन जोर से बोलता है और कौन धीरे से। ठीक उसी समय मन्दिर से किसी

परकाया-प्रवेश से मन का रुकना





के खाँसने की आवाज आई। पहुंचकर देखते हैं कि एक महात्मा मन्दिर के कोने में बैठे थे। साष्टांग प्रणाम करके उनके प्रकाश एवं भोजन की व्यवस्था किये। भोजनादि के उपरान्त सम्पूर्ण रात्रि सत्संग चलता रहा और आप चरण चापते रहे। सद्गुरु देव महाराज जी से आप बारंबार प्रश्न किये और वे शंकाओं का शमन करते हुए यथोचित उत्तर देते गये। त्रिदिवसीय अल्पावधि में ही साधन-भजन की युक्ति बताकर गुरु महाराज जी बाहर चले गये। अब आप घर से विरक्त रहकर तत्परतापूर्वक साधना में रत हो गये। इसी बीच श्वास पकड़ में आने लगी और ध्यान जमने लगा।

सद्गुरु के परकाया प्रवेश से मन का रुकना

पर्यटन करके चार माह पश्चात् जिस दिन सद्गुरु महाराज लौटे, उस दिन आपका मन भजन करने में अधिक रमा। आप गुरु महाराज से विनीत भाव से प्रार्थना किये कि क्या कारण है भजन में आज की तरह मेरा मन कभी भी स्थिर नहीं हुआ? आश्वासनपूर्ण सहज वाणी में गुरुदेव बोले कि मैं तुम्हारे मन को पकड़ ध्यानस्थ हो जाता हूँ। अब परमहंस महाराज जी विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुरु महाराज जी के छः शिष्यों का विकास शायद इसी कारण से नहीं हो पाया कि महाराज जी मन पकड़कर छोड़ देते हैं। फलतः मन की अस्थिरता के कारण कुछ समयोपरान्त उन्हें अशान्ति का अनुभव होने लगता है। आपने इस प्रक्रिया को समझकर सानुरोध गुरु महाराज जी से प्रार्थना किया कि कृपया मेरा मन न पकड़ा जाय, वरन् मेरे ध्यान में वह क्षमता प्रदान की जाय, जिससे मैं पूर्णरूपेण मन के चाञ्चल्य को अवरुद्ध कर स्थिर कर लेने में समर्थ हो सकूँ। मन यदि पकड़ने के उपरान्त पुनः आपके द्वारा छोड़ दिया जायेगा तो स्वाभाविक चाञ्चल्यता आ जायेगी। अतः आन्तरिक सम्बल प्रदान कर ही मुझे अनुग्रहीत करने की

कृपा करें। तब आशीर्वाद देते हुए गुरु महाराज जी ने कहा कि ऐसा ही होगा।

परकाया प्रवेश करके किसी के मन को उन्नतोन्मुख कर देना, मोड़ देना, ध्यानस्थ कर देना आदि गुरु महाराज जी के लिए एक साधारण बात थी परन्तु इस विलक्षण प्रक्रिया के द्वारा मुमुक्षु साधकों के लिए परम कल्याण का पथ प्रशस्त हो जाता है।

गृह में भयंकर उत्पात

जब परमहंस जी भजन करने में अनुरक्त हो गये तो उनके घरवालों के द्वारा श्री गुरु महाराज को जान से मार डालने के लिए षड्यंत्र होने लगे परन्तु अनिष्टाकांक्षियों के समस्त प्रयास स्वतः निष्फल हो गये। कुछ समय के उपरान्त घर में भयंकर उत्पात प्रारम्भ हो गया। इसका कारण चाहे जो भी रहा हो; अनायास घर के छप्पर की बरेड़ियाँ चर्र-चर्र करने लगीं। जिसके परिणामस्वरूप समस्त परिवार सशंकित हो गया। यहाँ तक कि आगे चलकर परिवार के सदस्यों का क्रमशः निधन होने लगा। एक सदस्य की अन्त्येष्टि क्रिया पूरी नहीं हो पाती थी कि दूसरा भी काल कवलित हो जाता था। पारिवारिक जन आपके समक्ष शव रखकर रुदन करते हुए कोसते थे कि जब से तुम भजन करने लगे तब से घर का सत्यानाश हो गया।

मृत्यु का यह क्रम यहाँ तक चला कि धीरे-धीरे परिवार के ग्यारह सदस्य काल के कराल गाल में पिस गये। इस प्रकार की रोमांचकारी घटनाओं का भावी संकेत देते हुए पहले ही गुरु महाराज कह जाते थे कि अब तुम्हारी परीक्षा है, सतर्क रहना। कभी अनुभव में, कभी प्रत्यक्ष। यह रोना-पीटना लगा ही रहता था परन्तु इस प्रकार की स्तम्भक घटनाओं के बीच भी आप अनवरत साधना-तल्लीन रहे। यह मात्र गुरु महाराज जी की कृपा ही थी।

साधनाक्रम

आप रात्रि दो बजे से प्रात: छ: बजे तक आत्म-चिन्तन में अनुरक्त रहते थे। प्रात:कालीन दैनिक क्रियाओं से निवृत्त होने के पश्चात् पुन: ध्यानरत हो जाया करते थे। आत्म-चिन्तन के लिए उपयुक्त एकान्त वातावरण चाहने के उपरान्त भी प्राय: सत्संग प्रेमियों से अनिच्छित भाव से सत्संग करते थे। निशा के प्रथम प्रहर में नौ बजे तक निवृत्त हो जाया करते थे। पुन: ब्राह्म मुहूर्त में उठकर इष्टोपासना में रत हो जाते थे। निरन्तर साधना रत रहने के परिणामस्वरूप परमहंस महाराज जी की यह स्थिति हो गई कि दिन-प्रतिदिन कृशकाय होने लगे और उनकी पाचन-शक्ति बिगड़ गई। पुत्र की इस शारीरिक दशा को देखकर माता का हृदय करुणा से भर गया। वह उनके साधना स्थल में ही पहुँचकर उन्हें स्वल्पाहारके लिए बाध्य किया करती थी। क्रमश: शारीरिक क्षीणता को देखकर जन समाज में यह संदेहास्पद चर्चा हो गई कि आप पीलिया के रोगी हैं न कि योगी। जब ऐसी संदिग्ध चर्चा व्यापक रूप से

श्री परमहंस जी की वाणी (निद्रा का विधान) - चौबीस घण्टे में चार घण्टे से अधिक सोना योगी के लिए अत्यन्त घातक है। तीव्र अनुराग एवं विरह वैराग्य वाले साधकों को निद्रा आती ही नहीं। उनका एक-एक दिन तो सदियों की तरह कटता है। इन लक्षणों से विहीन मायिक शत्रुरूपी निद्रा से पराजित होकर आज सोते हैं और जन्मान्तरों में भी सोना ही है। योगी के लिए स्वान-निद्रा का विधान बताया गया है। जिस प्रकार रात्रि में पत्ता हिलते ही कुत्ता उठकर भूँकने लगता है, उसी प्रकार योगी भी इस भय से चिन्तित निद्रा-लाभ लेता है कि कहीं विजातीय परमाणु न आक्रमण कर दें। विरही को नींद कब आती है। अत: मन को धिक्कारते हुए इससे सतत् संघर्ष करते रहना चाहिए।

होने लगी तो यदा-कदा उनके मन में भी खिन्नता की लहर दौड़ जाती थी। ऐसी विषम परिस्थिति में अन्तर्देश से आश्वस्त रहने के लिए अनुभव हुआ करे कि साधना में प्रवृत्त रहो, भावी उपलब्धि मंगलमय है।

इष्ट की व्यापकता में विश्वास

भजन कुटीर से थोड़ी दूर पर किसी सज्जन का बगीचा था। उस बगीचे से नित्य आम्र-फलों की चोरी हो जाया करती थी। बगीचे का मालिक आपको संदेहास्पद भाव से गालियाँ दिया करता था। एक दिन आपने अन्तर्देश के माध्यम से गुरु महाराज जी से विनयपूर्वक प्रश्न किया कि मैं फलों को न तो तोड़ता ही हूँ और न उन्हें पाने की इच्छा ही रखता हूँ, तब क्यों यह बागवान मेरे ऊपर मिथ्यारोपण करके भला-बुरा कहा करता है। नियमित रूप से सत्संग में भाग लेने-वाले सज्जनों को बागवान का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। एक दिन साग्रह रुककर कुछ लोगों ने प्रतिशोध की भावना से महाराज जी से पूछा कि आप रात्रि में हमें जगा दें, हम लोग फल तोड़ेंगे। देखते हैं कि बगीचे का मालिक किस तरह से अपने फलों की रक्षा करता है। इसी भाव से उत्प्रेरित होकर निद्रा-लाभ करने लगे। क्रमशः निस्तब्ध रजनी का अवसान हो रहा था, महाराज जी इसी विचार में निमग्न रहे कि तथा-कथित व्यक्तियों को फल तोड़ने के लिए जागृत कर प्रोत्साहित करना कहीं अनुचित तो नहीं होगा। ऐसी विचार वीथियों में उलझे हुए परमहंस महाराज जी पुनः वही अनुभव प्राप्त करते हैं कि कोई व्यक्ति कुटीर की ओर आता हुआ दिखाई देता है और उनके समीप पहुँचकर वह इस सूक्ति का उच्चारण करता है:-

जननी सम जानहिं पर नारी। धन पराव विष ते विष नारी ।।

विचार करना प्रारम्भ किया तो भयावह अपशकुन होने लगे। निश्चयात्मक निर्णय मिला कि तुम जिस कार्य में प्रवृत्त हो रहे हो, वह महान् पाप है। निशावसान में आम्र-फलों के तोड़ने की योजना बनाने वाले व्यक्तियों ने उठकर महाराज जी से सानुरोध प्रश्नात्मक शैली में विनय किया कि महाराज जी, रात्रि में हम लोगों को न जगाने का क्या कारण था? स्वाभाविक रूप से सरलतापूर्वक आपने उत्तर दिया कि इष्ट ने मना कर दिया था। यह है सर्वव्यापी इष्टदेव की व्यापकता। ठीक ही है:-

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना"

वह महाप्रभु अन्यान्य माध्यमों से हमें सतत् सजग रहने के लिए चेतना प्रदान करते हैं। वह व्यक्ति उसी रास्ते से चार वर्षों से रात्रि में अपने खेत आया-जाया करता था, परन्तु उक्त वर्णित सूक्ति का गायन कभी भी नहीं किया। इस तरह श्री परमहंस महाराज जी को साधनात्मक जीवन के आरम्भ में ही ईश्वर की सार्वभौमिकता का आभास हुआ।

भजन परीक्षा की कसौटी पर

साधनारत जीवन की परीक्षा लेने के लिए प्रतिस्पर्धा के आवेश में किसी सम्पन्न रईस के द्वारा आपके प्रतिकूल यह षड्यंत्र किया गया कि शासकीय व्यवधान पैदा कर इन्हें पथभ्रष्ट किया जाय। इसी भावना को कार्यान्वित करने के लिए उस सम्पन्न व्यक्ति ने उपेक्षा भाव से कहा कि ये पाखण्डी और ढोंगी हैं। हम देखते हैं कि हमारे द्वारा आयोजित मुकदमे को राम-नाम की पैरवी से कैसे जीतते हैं? तब आपने सहज भाव से उत्तर दिया कि जब पारिवारिक जीवन एवं आत्मीयजनों से ही सम्बन्ध-विच्छेद हो गया तो मुझे मुकदमे से क्या प्रयोजन? ग्राम्यवासियों ने व्यंग्यात्मक चुटकी ली कि यदि राम-नाम सत्य होगा तो ये अवश्य मुकदमा जीत जायेंगे। जिस दिन मुकदमे

का निर्णय था, अचानक एक दिन पूर्व गुरुदेव आ पहुँचे और दृढ़तापूर्वक आश्वासन देते हुए कहे कि जाओ ध्यानस्थ होकर न्यायाधीश के स्वरूप को अपने अन्तःकरण में पकड़ करके स्वानुकूल भावनात्मक परिवर्तन उसके हृदय-देश में कर लेना। तुम्हारी विजय होगी, कारण यह कि उस रईस ने राम-नाम को चुनौती दी है। यद्यपि न्यायाधीश का निर्णय आपके प्रतिद्वन्द्वी के अनुकूल होनेवाला था, परन्तु अन्ततः निर्णय आपके पक्ष में ही घोषित हुआ। फिर क्या था, गुरुदेव के चरणों में अपार श्रद्धा हो गयी।

धर्मपत्नी को उपदेश

सत्पथिक होने से पूर्व आपका एक भरा-पूरा खुशहाल परिवार था। आपके पारिवारिक जीवन में धर्मपत्नी एवं कुछ बच्चे और अन्य लोग थे। क्रमशः भजन में आपकी तल्लीनता देखकर एक बार आपकी धर्मपत्नी पूर्ववत्, शृंगार करके शान्त रजनी में आपसे मिलने की इच्छा लेकर कुटीर में पहुँची।

महाराज जी उनके भावों को परखते हुए स्वभावतः बोल पड़े कि अभी यह ठनगन समाप्त नहीं हुआ। उत्तर मिला कि क्या मैं विधवा हूँ? आपने कहा विधवा नहीं तो क्या, साधु होना और मरना बराबर है। बस! क्या था, करुण क्रन्दन की चीत्कार ने सारे वातावरण को स्तम्भित कर दिया। सुहाग के सभी अलंकरण धर्म-पत्नी ने उतार कर फेंक दिये। पत्नी का आर्तनाद सुनकर ग्राम्यवासी देखने आये। अन्ततः उन्हें इस रहस्यात्मक घटना का पता चला। धर्मदेवी नैराश्य भाव से गृह वापस आ गईं। घटनोपरान्त आने-जाने वाले व्यक्तियों से आप इसका दृष्टान्त दिया करते थे कि :-

"त्रिया चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः।"

मानवता-मार्ग पर चलनेवाले पथिकों को नारी का आकर्षण पथभ्रष्ट कर

देता है। अतः श्रृंगारिक हाव-भाव से बचकर ही हम साधनोन्मुखी हो सकते है। जैसा कि आप कहा करते थे :-

"जब माया परीक्षा लेती है तो नामर्द मर्द हो जाते हैं और बूढ़े जवान हो जाते हैं।" तात्पर्य यह है कि माया-बन्धन से साधक इष्टदेव की महती कृपा से ही बच सकता है।

क्षणासक्ति पर इष्ट-आदेश

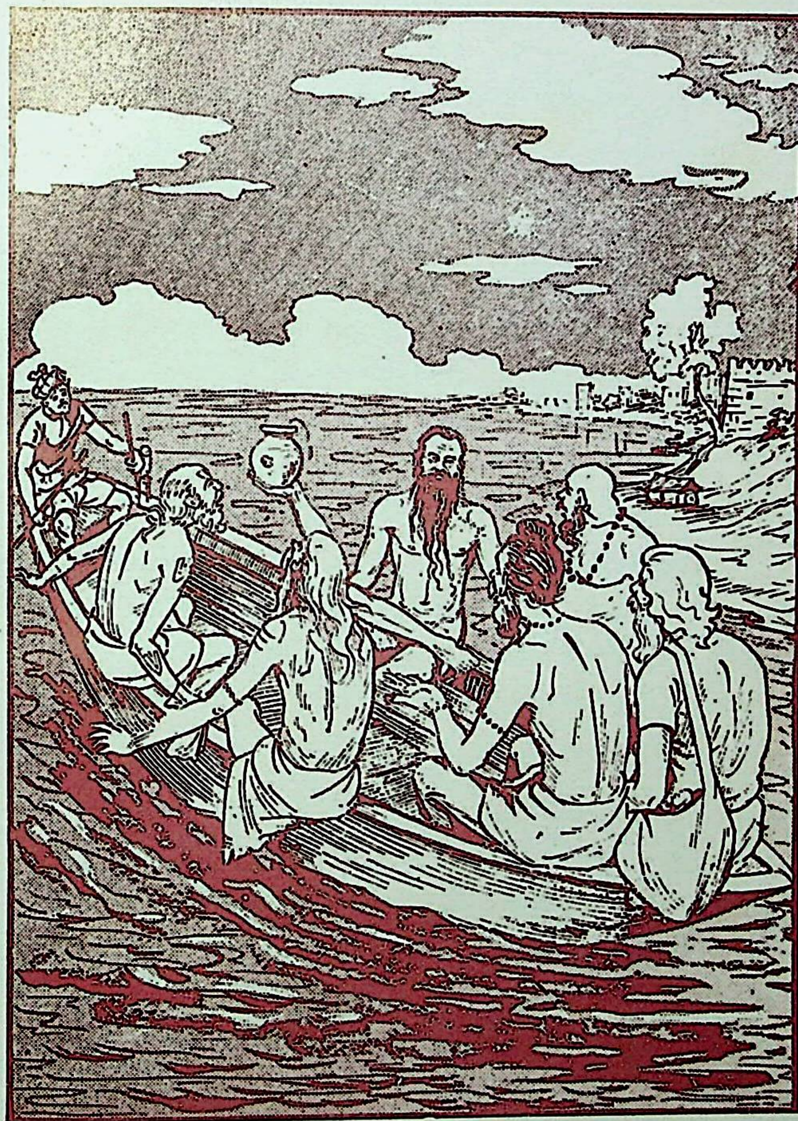
बगीचे के वृक्ष स्वादिष्ट फलों से लद गये थे, क्रमशः भजन में मन भी रमने लगा था। आपके अन्दर एक बार विचार आया कि भजन तो करना ही है, यहीं रहकर क्यों न किया जाय। मन में जैसे ही बगीचे के प्रति क्षणिक आसक्ति हुई, तत्काल अर्न्तजगत् से इष्ट का आदेश मिला कि "प्रयाग के लिए प्रस्थान करो।" बस ! क्या था, आदेशानुसार आप प्रयाग के लिए प्रस्थान कर दिये। प्रयाग पहुँचकर इष्टदेव से विनय किये कि अब क्या करें? तब आदेश हुआ कि "वस्त्रों को उतार कर रख दो और गंगा के किनारे-किनारे चलो।" थोड़ी-सी आसक्ति के फलस्वरूप वस्त्रों को भी त्यागकर उन्हें दिगम्बर होना पड़ा। अतएव **"अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः"** के सिद्धान्त का पालन पूर्णरूपेण साधक को अपनी साधना के दौरान करना चाहिए। अब आप इष्ट पर निर्भर होकर गंगा नदी के तटवर्ती क्षेत्रों में विचरने लगे। वहाँ आपके परिचय का कोई भी नहीं था परन्तु क्षण-क्षण में साधना-पथ में प्रवृत्त करनेवाला अन्तर्यामी ही उन्हें दृढ़ता प्रदान करता रहा। इसलिए महाराज जी समय-समय पर अपने उपदेशों के दौरान यह वाक्य दुहराया करते थे :- अरे ! साधु अपने से नहीं बना जाता बल्कि भगवान ही बना देते हैं।

प्रयाग की घटना

इस घटना के पूर्व ही आप एक बार प्रयाग आ चुके थे। उस बार कुछ लोग आपके साथ थे। संगम के बीच नौके पर होने वाले सत्संग के परिणामस्वरूप विभिन्न सम्प्रदायों को माननेवाले साधु-महात्माओं के साथ वाद-विवाद हो गया। तर्क-वितर्क में काफी तनाव बढ़ गया। इसके बाद आपने सत्संग करनेवाले महात्मा का अनजान में ही एक फूटा लोटा लेकर उसे जल से पूरित कर दिया। इस चमत्कारपूर्ण कार्य को देखकर तथाकथित महात्मा आश्चर्यचकित हो गये। परस्पर विचार-विमर्श करने लगे कि इस फूटे हुए लोटे में गंगा जल कैसे रुक गया। अन्ततः निश्चित करते हुए बोले कि यदि आपके स्पर्श मात्र से छिद्रित पात्र में भी जल रुक जाता है, तो आपकी वाणी निःसंदेह हर देश-काल, परिस्थिति में सत्य और हमारे लिए अनुकरणीय है। यह सुनकर आपके मन में बड़ा विस्मय हुआ। इष्टदेव से क्षमा माँगे कि मैं यह समझ भी नहीं पाता कि भगवन्! आप क्या-क्या चमत्कार दिखाते हैं।

इस घटना के बाद आप कई बार विशेष पर्वों पर प्रयाग पधारे। माघ का मेला था। चतुर्दिक गंगा के पावन कूल पर महात्माओं की धूनियाँ एवं तम्बू लगे थे। आपके पास कुछ भी नहीं था। ऐसी अवस्था में परिभ्रमण करते हुए आप त्यागियों की जमात में जा पहुँचे। वे सबके सब आपको देखकर बोल पड़े, "चल खड़िया कहीं का, बस! बनकर आ गये साधु, न तिलक का पता न माला का। लगे साधुओं की नकल करने। चलो-चलो दूर हटो।" सरल भाव से मुस्कराते हुए कुछ दूर जाकर गंगा के किनारे बालू पर बैठकर आप ध्यानस्थ हो गये।

उसी समय एक प्रतिष्ठित साधु-प्रेमी किसी सेठ द्वारा साधु-मण्डली निमंत्रित



प्रयाग की घटना



हुई और उन्हीं के साथ यह अज्ञात लोक में विचरण करनेवाला अवधूत भी निमंत्रित किया गया। साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावना से प्रेरित, उन साधुओं ने आपकी उपेक्षा करते हुए उस सेठ को ललकारा कि इस खड़िया को खिलाना है या साधुओं को। सेठ ने विनीत भाव से कहा कि ये चाहे जैसे भी हों पर मेरे निमंत्रित साधु हैं। मैं इनका तिरस्कार नहीं होने दूँगा। भोजन के पूर्व जैसे ही पत्तल पड़ना प्रारम्भ हुआ कि पास के साधुओं ने घृणास्पद भाव से कहना आरम्भ कर दिया कि ऐसा लगता है यह खड़िया कई दिनों से स्नान नहीं किया है परन्तु उस श्रद्धालु सेठ ने महाराज जी की भोजन-व्यवस्था बड़े अच्छे ढंग से की। आप कई दिनों से क्षुधा पीड़ित थे, जैसे ही दो या तीन ग्रास ग्रहण कर पाये कि निर्दय आकाश से बड़ी-बड़ी बूंदे टपकने लगीं। सन्तवाणी से उत्तेजित होकर इन्द्र के लिए दो-चार शब्द प्रस्फुटित हुए कि ऐसे ही समय में तुम्हें जलवृष्टि करना था। फिर क्या था, सन्त-महिमा के फलस्वरूप जलवृष्टि रूक गई और मेघाच्छन्न आकाश निर्मल हो गया। सारा समाज इस अलौकिकता को देखकर आश्चर्यचकित हो गया।

भोजन के उपरान्त जैसे ही निर्विघ्न हस्त प्रक्षालन करने लगे तो सभी उपस्थित साधुओं एवं गृहस्थों ने आपको घेर लिया। यह कहकर कि गंगा जी में हाथ धोऊँगा, चल पड़े। सारा समाज उनके पीछे हो लिया। वे शीघ्रता से गंगा जी में प्रवेश कर उस पार निकल गये और वहाँ बाँसों के एक प्रकोष्ठ में स्थिर मन होकर बैठ गये। उनके पीछे दौड़ने वाली भीड़ ने यत्र-तत्र उन्हें खोजने का प्रयास किया। कुछ लोग नौका लेकर उस पार पहुँचे परन्तु सारा प्रयास असफल रहा, वे लोग महाराज जी को पुनः न पा सके। अब हताश होकर एक-दूसरे को कोसने लगे कि हम दुर्भाग्यशाली हैं क्योंकि एक अद्भुत महापुरुष हमारे बीच से अन्तर्धान हो गये। हम लोग ठीक से दर्शन भी नहीं ले पाये। बस ! हाथ मींचना ही हाथ लगा। अपने प्रवचन के दौरान महाराज

जी यदा-कदा इस घटना की ओर संकेत करके कहा करते थे कि सुनो, भगवान ही वाणी को पूरा करते हैं; ऋद्धि, सिद्धि कुछ नहीं होती परन्तु पूर्ण विश्वास व स्थिरता होनी चाहिए।

प्रयाग-कुम्भ के मेले में

विभिन्न स्थानों का परिभ्रमण करते हुए एक बार पुनः कुम्भ मेले में आप प्रयाग पधारे। आप पागल की भाँति इतस्ततः भ्रमण कर रहे थे। कोई बैठने भी नहीं देता था। इसी बीच किसी धर्म-परायणा रानी द्वारा साधुओं को आमंत्रित किया गया। साधुओं की भीड़ में आप भी साथ-साथ चल पड़े। आपको देखते ही किसी सिपाही ने धक्का देते हुए दुत्कार कर कहा, "चल पगले कहीं का, यह भण्डारा महात्माओं के लिए है न कि तुम जैसे पागलों के लिए" और बरबस उनका हाथ मरोड़ कर उन्हें पीछे ढकेल दिया। क्षणिक करुणा का संचार मानस पटल में होने के फलस्वरूप वे विचार करने लगे कि जब सर्वव्यापी, सर्वनियन्ता महाप्रभु सबके हृदय से बोलता है तो मेरी यह विडम्बना कैसी ? ऐसा लगता है कि साधुत्व की सीमा को हमने उपलब्ध ही नहीं किया। इन विचारों के भँवर में पड़े हुए कुछ दूर पर दृढ़प्रतिज्ञ होकर बैठ गये कि अब मैं क्षुधा-तृप्ति के लिए किसी के यहाँ नहीं जाऊँगा। मुझे इस मार्ग में प्रवृत्त करनेवाला इष्टदेव ही मुझे भोजन प्रदान करेगा तो खाऊँगा, अन्यथा नहीं। कुछ समय व्यतीत होने के बाद ही एक सन्तसेवी सेठ ने वहाँ पहुँचकर आपसे भोजन के लिए आग्रह किया। आप निस्पृहतापूर्वक उत्तर दिये कि अगर भगवान यहीं भोजन देंगे तो करूँगा नहीं तो उपवास ही सह्य है। ऐसा सुनकर वह सेठ विभिन्न प्रकार के व्यञ्जनों का थाल उसी स्थान पर ले आया। भोजन से निवृत्त होकर आप घूमने-फिरने लगे और जाकर उसी स्थान पर पहुँचे, जहाँ कि सिपाही ने धक्का दिया था। देखते हैं कि सिपाही वहीं पड़ा कराह रहा है। उसे यह आभास हो रहा था कि

मैंने आज एक सन्त का अपमान किया है। हो सकता है कि उसी का प्रतिफल मुझे मिल रहा हो, आपकी इधर-उधर खोज हो रही थी। सौभाग्यवश आप स्वत: विचरते हुए वहाँ पहुँचे, जहाँ वह सन्तरी उदर-शूल से पीड़ित था। देखते ही लोगों ने आपको घेर लिया और विनम्र शब्दों में प्रार्थनीय ढंग से कहा कि महाराज क्षमा करें, यह प्रहरी आपसे अवगत नहीं था। सन्त स्वभावानुसार आपने उसके प्रति दयार्द्र होकर स्पर्श किया। तत्क्षण ईश्वर की अनुकम्पा से उसके पेट का दर्द समाप्त हो गया। ऐसा चमत्कारपूर्ण दृश्य देखकर रानी भी भाव विभोर हो गई। देखते ही देखते दर्शकों की अपार भीड़ उमड़ने लगी। आप किसी प्रकार रात्रि के घनान्धकार में उस स्थान का परित्याग कर आगे चल पड़े।

परिभ्रमण काल में जौनपुर

एक समय विचरण करते हुए आप जौनपुर जा निकले। वहाँ व्यक्तियों से भेंट न होने के कारण रात्रि के निस्तब्ध वातावरण में किसी समीपस्थ बगीचे में मीठे अमरूद के फल खाकर पुन: ध्यान और जप की प्रक्रिया में संलग्न हो जाते थे। संयोगवश एक दिन बागवान ने अमरूद तोड़कर खाते हुए देखा और उसने कहा कि भगवन्! मेरा यह बगीचा आपका ही है। स्वच्छन्दतापूर्वक आप फलास्वादन करें परन्तु आपको स्वत: अपने सुकोमल हाथों से फल तोड़ने का कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। मैं स्वयमेव आपकी सेवा में फलार्पण करूँगा। कुछ समग्र के पश्चात् वहाँ ग्रामीण लोगों का आवागमन प्रारम्भ हो गया। भाविकगण नियमित रूप से विविध भोज्य सामग्री आपकी सेवा में पहुँचाने लगे। आप सभी खाद्य सामग्रियों को एक साथ उबाल कर खा लिया करते थे। भोज्य पात्र के रूप में आपके पास मिट्टी की एक हंडिया थी, जो अमरूद की डाली में लटकी रहती थी। सामग्री समाप्त होने पर भाविक लोग पुन: उस हंडिया को भर जाते थे। इस तरह निस्पृह होकर आप भजन में मस्त रहते थे।

जौनपुर का कब्रिस्तान

एकान्तप्रिय होने के कारण जन-कोलाहल से दूर परिभ्रमण करते हुए आप शहर से बाहर कब्रिस्तान जा पहुँचे। प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण में सर्वत्र नीरवता छायी हुई थी। वहाँ एक कुआँ के सहारे आप ध्यान लगाकर बैठ गये। इसी बीच अनायास आपको अनेक प्रकार की कुत्सित आत्माओं की आवाजें सुनाई देने लगीं। महाराज जी का ध्यान जैसे ही टूटा, वे इतस्ततः देखने लगे तो वही भीमकाय विभिन्न प्रकार की आत्मायें अनेक आकार-प्रकार में दृष्टिगोचर होने लगीं। उनकी ओर से दृष्टि हटाकर पुनः ध्यान में बैठे तो तत्काल आपको संकेत मिला कि ये जिन्द आत्मायें हैं, जो अपने पूर्वजन्म के कुसंस्कारों का भोग भोग रही हैं। पूर्वजन्म के संस्कार व पाप इतने जघन्य थे कि न शरीर धारण करने योग्य हैं और न मुक्त होने योग्य ही। इसलिए यत्र-तत्र अपने-अपने कल्याण की खोज में भटक रही हैं। अन्तर्जगत् से संकेत प्राप्त करने के पश्चात् जब महाराज जी ने पुनः सामने दृष्टि डाली तो वही विविध आकार-प्रकार वाली दूषित आत्मायें आपके चरणों के नीचे गिड़गिड़ा रही थीं। उन आत्माओं ने विनय करते हुए कहा कि हमलोग पूर्वजन्म में व्यभिचार, कत्ल, चोरी आदि पापकर्मों में प्रवृत्त रहे। इसलिए दिशाविहीन होकर भटक रहे हैं। कृपा कर आप हमारा इस निकृष्ट योनि से छुटकारा दिलाकर कल्याण करें। सन्त स्वभाववश करुणार्द्र होकर महाराज जी उनके प्रति दयालु हो गये। द्रवीभूत हो उन्हें कल्याण का आशीर्वाद देकर आप वहाँ से प्रस्थान कर दिये। इस तरह अनायास ही सन्त-महात्माओं के सामीप्य में आने से जन्म-जन्मान्तर के पाप कट जाते हैं और मन निर्मल होकर कल्याण-पथ में प्रवृत्त हो जाता है।

विचरण-काल में निस्पृह आकाशवृत्ति

जौनपुर से प्रस्थान करने के पश्चात् आप इष्टदेव को हृदय में स्थापित कर निरावलम्ब विचरने लगे। काशी, आगरा, मथुरा, उज्जैन, अयोध्या, बम्बई, गोंडा आदि स्थानों का परिभ्रमण करते समय किसी से आप भिक्षाटन नहीं करते थे। स्वाभाविक रूप से जो कुछ भी रूखा-सूखा मिल जाता था, उसी का भोग लगाकर अलमस्त भजन में लगे रहते थे। आप क्षुधा-शान्ति की धारणा से कभी किसी के यहाँ माँगने नहीं गये, क्योंकि प्रारम्भ से ही यह विश्वास दृढ़ था कि "मोर दास कहाइ नर आसा"। तात्पर्य यह है कि ईश्वरावलम्बित होने पर सांसारिक लोगों से सहयोग की अपेक्षा रखना निरर्थक है। विचरणकाल में निरन्तर आठ-दस दिनों तक का उपवास भी आपके लिए साधारण बात थी। आपके अटपटे स्वरूप को देखकर बहुत से व्यक्ति आपको पागल की संज्ञा प्रदान करने लगते थे, परन्तु थोड़ी-सी वार्ता होने के पश्चात् उनके अज्ञानान्धकार से पूरित हृदय में सन्तवाणी की ज्ञान रश्मियाँ प्रवेश करने लगती थीं, ठीक वैसे ही वे आपके पीछे चल देते थे। उपेक्षा करने पर भी वे आग्रहपूर्वक संग नहीं छोड़ते थे। वे रात्रि के समय किसी आश्रम या गाँव का अवलम्ब लेकर इसलिए नहीं रुकना चाहते थे कि कहीं हृदय में प्रवाहित होने वाली अविच्छिन्न भजन की धारा टूट न जाय।

शिशिर काल में विकम्पित कर देनेवाली असहनीय ठण्डी की रात में भी आप बाँसों के प्रकोष्ठ में बैठकर भजन-ध्यान की स्थिति में लीन रहते थे। प्रातःकाल उठकर एक-दो घण्टा धूप में विश्राम किया करते थे। लोगों के उत्कण्ठापूर्वक यह पूछने पर कि महाराज जी आप सर्प-बिच्छुओं के अड्डे में किस तरह छुपे रहते हैं, तब आप मुस्कराते हुए उनसे कह दिया करते थे कि देखो, सर्प-बिच्छू लौकिक दृष्टि में ही हैं। साधक की दृष्टि इष्टमयी होती है।

इष्टदेव उसे जिस तरह रखते हैं, उन्हीं के आदेशों पर वह यंत्रवत् चलता रहता है।

शिशिर काल में दिगम्बरावस्था

परिभ्रमण काल की इसी शृंखला में आप काशी जा पहुँचे। वहाँ रात्रि के नीरव वातावरण में, बिच्छू-सा डङ्क मारने वाली सर्दी का अतिक्रमण करते हुए कई घण्टे भजन में निमग्न रहते थे। जब सुरति अंतर्देश में स्थिर हो जाती थी, तो बाह्य सर्दी का प्रभाव नगण्य हो जाता था। काशी में रुकने के बाद आप मैदानी क्षेत्र की तरफ बढ़ने लगे। कुछ देर चलने के बाद किसी गाँव के समीप दो लड़कियाँ महाराज जी को देखकर दौड़ती हुई उनके समीप आ गईं। आप पूर्णत: दिगम्बर थे। ऐसी स्थिति में आपको देखकर वे युवतियाँ हँसने लगीं और आपस में कहना प्रारम्भ कर दीं कि अरी! ये तुम्हें पसंद कर रहे हैं, दूसरी बोली नहीं तुम्हें पसंद कर रहे हैं। उनके वार्तालापों का आपके मन पर कोई असर नहीं पड़ा बल्कि अपनी मस्ती में ही डूबे रहे।

इसी बीच एक ग्रामीण व्यक्ति जाता हुआ दिखाई पड़ा। उसे देखकर वे लड़कियाँ शर्म के कारण चिल्ला कर भागने लगीं। उस व्यक्ति ने उन लड़कियों से पूछा कि क्यों भाग रही हो? उन लड़कियों ने उत्तर दिया कि इन्हें नग्न देखकर हमें भय लग रहा था। उनके इस कथन को सुनकर वह ग्राम्यवासी महाराज जी को देखते ही सन्त समझकर प्रणाम किया और आग्रह के साथ आपको गाँव ले जाने के लिए हठ करने लगा परन्तु आप गाँव के बाहर ही दस दिन उसके आग्रह करने पर रमे रहे। इसके पश्चात् उस स्थान को छोड़कर पुन: आप आगे बढ़ गये। ऐसी विषम परिस्थिति और एकान्त में भगवान ही वैराग्य की रक्षा करते हैं। नहीं तो बड़े से बड़े साधक भी काम की चपेट में आकर पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं।



(ईश्वरदेव के संरक्षण में)

कंचन-कामिनी से निवृत्ति



आगरा नगर विचरण-पथ पर

आप विचरण करते हुए आगरा पहुँचे। सम्पूर्ण दिन यमुना नदी के किनारे इधर-उधर घूमते रहे। संध्या बेला में आप गल्ला मंडी में घूमते हुए पहुँच गये। सेठ-साहूकार अपनी-अपनी दूकानें बन्द कर रहे थे। आपको वहाँ जहाँ कहीं भी अनाज के दो-चार कण बिखरे हुए दिखाई देते थे, उन्हें चुन-चुन कर चबाया करते थे। आपको यह करते हुए देखकर धनी मानी सेठ-साहूकारों में उत्कण्ठा जागृत हुई। वे परस्पर वार्तालाप भी करने लगे,परन्तु आपसे बोलने का साहस उन्हें नहीं हुआ। दूसरे दिन भी आपका यही क्रम देखकर उन सम्पन्न सेठों ने एक-एक मुट्ठी चना आपकी तरफ फेंकना प्रारम्भ कर दिया। आपको अनिच्छा से यह क्रम करते हुए देखकर क्रमशः सभी लोग आपके व्यक्तित्व की ओर आकर्षित होने लगे। यहाँ तक कि महाराज जी को रोककर उन लोगों ने अनवरत दो वर्षों तक सेवा की। उनके आवास-काल में श्रद्धालुओं का ताँता लगा रहता था। कोई उन्हें वस्त्राभूषण भेंट करता था, तो कोई सेवा द्वारा उन्हें संतुष्ट करना चाहता था, परन्तु आप सबको संतुष्ट करने के पश्चात् भेंट में प्राप्त वस्त्राभूषणों को दर्शनाभिलाषियों के बीच वितरित कर दिया करते थे। उनके भेंट-भाव से अलग रहकर आप निस्पृहतापूर्वक इष्ट के ध्यान में निमग्न रहते थे।

कंचन कामिनी से निवृत्ति

जहाँ आप मंदिर में निवास करते थे, वहाँ एक विधवा स्त्री भी विविध भेंट सामग्रियाँ लेकर पहुँच जाया करती थी, जिसे समीपवर्ती लोग बूआ कहकर सम्बोधित करते थे। धीरे-धीरे क्रमागत आने-जाने से उस नारी के हृदय में कुत्सित विचारों का अंकुरण हुआ। वह तत्काल सज-धजकर एक बड़ी धनराशि का प्रलोभन देकर कामेच्छा से आपके प्रति सर्वस्व न्यौछावर करने को उद्यत

हो गई और कहने लगी कि हम लोग इस धनराशि से खा-पीकर एक साथ भजन करेंगे, परन्तु साधकों का जीवन इतना लचीला नहीं होता कि वह दिशाहीन होकर किसी तरफ भी परावर्त हो जाय, फिर भी साधनावस्था में कुछ संस्कार पड़ ही जाया करते हैं। रात्रि में आपको स्वप्न-संकेत मिलता है कि आपके गुरुदेव दो ब्राह्मणों को पीले वस्त्र धारण करवाकर पहुँच गये और कहे कि यह औरत को लेकर भगा जा रहा है, इसको पकड़ो और शुद्ध करो। अनुभव में ही आपको स्नान कराकर मंत्रोच्चारण के साथ पवित्र किया गया और आदेश मिला कि शीघ्र ही इस स्थान का परित्याग कर दो, इसी में तुम्हारा कल्याण निहित है। इसी प्रकार स्थान-स्थान पर होने वाले प्रबल मायिक आक्रमणों से आपको इष्टदेव बचाते गये।

जैसा कि आप प्रायः सत्संग के दौरान कहा करते थे कि माया किस स्तर पर अनुकूल है और कब प्रतिकूल, यह साधक के समझ के बाहर की चीज है। भगवान अथवा सद्गुरु ही प्रेरक का स्थान ग्रहण करते हैं तब वह बच जाता है। भगवान सर्वत्र हैं और माया भी सर्वत्र है। किन्तु क्रिया रूप से हृदय में स्थान पा लेने से सद्गुरु ही सर्वत्र मिलते हैं। इस अवस्था में आप कहीं भी रहें, मानसिक विचारों के उठते ही वे आपकी रक्षा करेंगे।

इष्ट की आज्ञा का महत्व

इन्हीं दो वर्षों के अन्तर्गत आपने देहरादून की भी यात्रा की। एक बार रात्रि में आप वृक्ष की छाया में बैठकर आत्म-चिन्तन कर रहे थे कि इष्ट का आदेश हुआ, 'यहीं रहो तुम्हारा योगक्षेम पूर्ण होगा एवं मानवीय कल्याण-पथ तुम्हारे द्वारा प्रशस्त होगा।' अनुभव की शृंखला में ही महाराज जी देखते हैं कि सम्पूर्ण वातावरण प्रकाशित है और बार-बार अन्तर्जगत् से यह आदेशात्मक ध्वनि हो रही है कि 'आज कोई न कोई दूध लेकर आयेगा,

पीना मत।' प्रातःकाल लगभग ७ बजे आपके समक्ष एक व्यक्ति दूध लेकर प्रस्तुत हुआ। विनम्रतापूर्वक कहा कि महाराज जी मेरी क्षुद्र भेंट स्वीकार की जाय। बार-बार विशेष आग्रह करने पर अनुभव की अवहेलना कर आपने दुग्ध-पान कर लिया। तत्क्षण अकस्मात् आदेश हुआ कि यह स्थान छोड़कर चले जाओ। आपने क्षमा याचना की, भरसक प्रयास करके चरणों पर गिरकर रोये व गिड़गिड़ाये परन्तु आंशिक रूप से इष्ट की आज्ञा की अवहेलना का प्रायश्चित आपको भोगना पड़ा। इस घटना के उपरान्त अपने उपदेशों में आप कहा करें कि साधनावस्था में साधक को अन्तर्जगत् से प्राप्त होनेवाले इष्ट के आदेशों का अक्षरशः पालन करना चाहिए। ऐसा न करने पर लक्ष्य की प्राप्ति में व्यवधान उत्पन्न हो जाता है। यहाँ तक कि इष्ट की अवहेलना करनेवाले को रोने के लिए आँसू भी नहीं मिलते। समर्थ इष्ट की कृपा से ही साधक साधना- क्षेत्र में क्रमागत सफलता प्राप्त करता है।

मधवापुर ग्राम्यांचल में

परिभ्रमण काल में ही आपको ऐसा संकेत मिला कि यहाँ से कुछ दूर पर कोई देवालय है, वहीं जाकर रमो। आप उस देवालय की खोज में चल पड़े। बियावान कानन से पार होते समय अनुभव में आया कि अब वह देवालय समीप ही है। जैसे ही आगे दृष्टि डाली कि एक पुराना मन्दिर दिखाई पड़ा। आप वहीं रुककर भजन-ध्यान की नियमित प्रक्रिया में तल्लीन हो गये। समीपस्थ गाँव में विद्यालय था। वहाँ अध्ययनार्थ मंदिर के समीप वाले रास्ते से कुछ लड़के आया-जाया करते थे। लगातार सात दिन तक बिना अन्न व जल के आप ध्यानस्थ रहे। दुर्भाग्य कहिए या सौभाग्य, एक दिन बालकों द्वारा फेंका हुआ पत्थर आपकी पीठ में लग ही गया। आप जोर से गाली देते हुए लड़कों की तरफ दौड़े। वे सभी भागकर दूर खड़े हुए। इसके पूर्व भी लड़के प्रायः अपने बाल्यस्वभाव के कारण महाराज जी को पत्थर मारकर

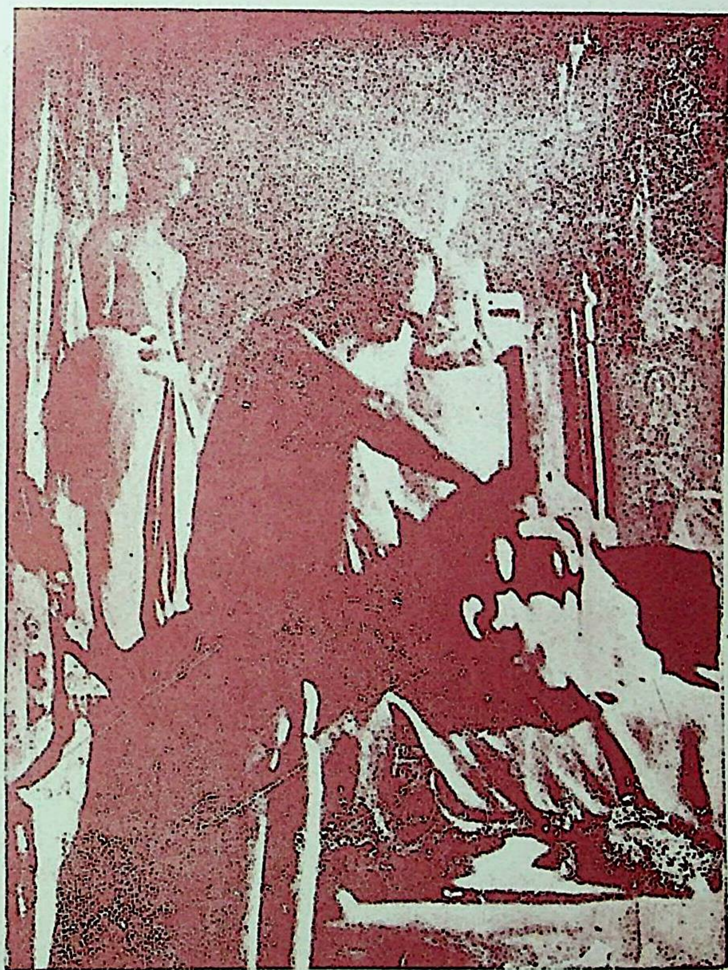
छेड़खानी किया करते थे। प्रतिदिन डाँटने-डपटने पर लड़के हँसकर भाग जाया करते थे परन्तु उस दिन रोते हुए अपने-अपने घर गये और आपके ऊपर दोषारोपण करते हुए पूरी घटना कह सुनाये। समस्त ग्राम्यवासी क्रोध से आग बबूला हो लाठी लेकर उसी स्थान में पहुँचे, जहाँ ध्यानरत थे। इन्हीं ग्राम्यजनों में से साधु-सन्त में विश्वास रखनेवाला एक वृद्ध पुरुष दोषारोपण करते हुए भी भावी अनिष्ट की आशंका से उनकी परीक्षा-हेतु यह पूछा कि महाराज जी आप मेरे इस दोहे का अर्थ बतायें-

एक बार हरि घोड़ा भये, ब्रह्मा भये लगाम।
चाँद सुरज रविका भये, चढ़ि गये चतुर सुजान।।

आपने मुस्कराते हुए उसे सम्बोधित किया कि साधना करते-करते साधक की एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जिस समय हरि अर्थात् इष्टदेव ही घोड़ा बन जाते हैं। ध्याता सवार हो जाता है। इष्टमयी बुद्धि ही लगाम बनकर नियंत्रण करने लगती है। इंगला-पिंगला ही योगी के चढ़ने के आधार हैं। चित्त का निरोध करनेवाला कोई-कोई चतुर सुजान ही इस स्थिति को प्राप्त करता है। तब क्या था! इतना कहते ही उसके हृदय के कपाट खुल गये। वह चरणों में गिर गया और सभी ग्राम्यवासियों को समझाया कि ये उच्चकोटि के सन्त हैं। इनकी अवज्ञा करने पर गाँव का कल्याण न होगा। तब से सभी लोग यथाशक्ति महाराज जी की सेवा में लगे रहते थे।

बिल्व फलों की रक्षा

मधवापुर में आप जहाँ निवास करते थे, उसके समीप ही एक स्वादिष्ट बेल के वृक्ष के फलों में (जो आज भी है) अत्यधिक मिठास होने के कारण, कीड़े पड़ जाया करते थे। ग्राम्यवासियों के विशेष आग्रह पर श्रीमद्भागवत् पुराण के पारायण का आयोजन किया गया। इस धार्मिक आयोजन से लाभान्वित



मरणासन्न का जीवनदान



होने के लिए विशाल जन-समूह उपस्थित हुआ। जब आप कार्यक्रम का निरीक्षण करते हुए प्रशान्त मुद्रा में बैठे कि एकाएक इसी बीच लगभग ढाई-तीन किलो वजन का एक बिल्व फल आपके सिर के ऊपर गिर पड़ा। आप सिर पकड़कर रह गये। थोड़ी देर में अपनी सरल वाणी में आपने उपस्थित विशाल जनसमूह के बीच यह घोषणा की कि आज से यह बेल कभी भी कीड़ों से सड़कर नहीं गिरेगा। आज तीस-पैंतीस वर्षों की एक लम्बी अवधि व्यतीत हो चुकी है परन्तु अद्यावधि एक फल भी सड़कर उस वृक्ष से नहीं गिंरा। मधवापुर ग्राम में आज भी उस बेल के फलों का वितरण प्रसाद-रूप में किया जाता है।

मरणासन्न को जीवनदान

ग्राम्यवासियों के महान अनुरोध एवं अनुकूल वातावरण होने के कारण महाराज जी कुछ दिनों तक मधवापुर में रुक गये। वहाँ एक भोला-भाला वनरक्षक शासकीय सेवा में रहता था। सन्त-प्रेमी होने के कारण महाराज जी में उसकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी। उसने चतुर्मास के निस्तार के लिए पर्याप्त लकड़ियों की व्यवस्था कर दिया और समय-समय पर पहुँचकर महाराज जी की यथासाध्य सेवा करता था। दैविक प्रकोप के फलस्वरूप वह ब्राह्मण एक बार हैजे की चपेट में आकर मरणासन्न हो गया। उसके मृतप्राय होने की सूचना आपके पास भी पहुँची। लोगों ने बताया कि महाराज जी, वह वनरक्षक मिश्रा, जो आपकी सेवा में रहता था, बिस्तर पर पड़ा हुआ अन्तिम साँस ले रहा है। यहाँ तक कि वैतरणी के लिए उसे गाय भी दी जा चुकी है। पता नहीं किस क्षण साँसों का क्रम टूट जाय। महाराज जी थोड़ी देर तक मौन रहे, फिर विभूति ले जाकर खिला देने की आज्ञा दिये। पहले तो लोगों को आपकी गरिमा पर विश्वास नहीं हुआ परन्तु क्रमशः जब ब्राह्मण के स्वास्थ्य

में आशातीत सुधार होने लगा तो श्रद्धालुओं का विश्वास आपके प्रति और सुदृढ़ हो गया। कुछ दिनों के पश्चात् वही व्यक्ति स्वस्थ होकर आपके दर्शनार्थ आया एवं पूर्ववत् सेवाकार्य में प्रवृत्त हो गया। यह थी भगवत् कृपा की अप्रतिम देन। आज भी इस घटना को प्रत्यक्ष देखने वाले व्यक्ति जीवित हैं, जो पूज्य परमहंस जी के शुभचिन्तक हैं।

उज्जैन के कुम्भ-पर्व पर

एक समय उज्जैन में कुम्भ-पर्व पर लाखों महात्माओं की भीड़ एकत्रित हुई थी। वहाँ आप भी पर्यटन करते हुए अनायास पहुँच गये। वहाँ पर बहुत से मठाधीश हजारों साधुओं को आमंत्रित कर भोजन करा रहे थे। किसी नागा बाबा के साथ आपको भी एक भण्डारे में जाना पड़ा। पहले तो आप जाने से इन्कार कर रहे थे परन्तु संगवश चले गये। वहाँ भीड़-भाड़ में बहुसंख्यक लोगों को भोजनार्थ आये देखकर यह विचार करने लगे कि यह कौन साधु है; जो हजारों सन्त-महात्माओं को निमंत्रित कर भोजन करा रहा है और एक मैं हूँ कि स्वतः भोजन की कामना से चला आया हूँ। इस प्रकार विचार-विमर्श में भटकती हुई आपकी बुद्धि इस निर्णय पर पहुँचती है कि मैं यहाँ से भण्डारे की उपेक्षा करके चला जाऊँगा और तत्काल लौट पड़े। शनैः-शनैः चलकर एक मील दूर क्षिप्रा नदी के तटपर किसी वृक्ष की छाया में बैठ जाते हैं। आश्वस्त होकर दृढ़तापूर्वक मन-ही-मन निर्णय लेते हैं कि अगर भगवान यहीं खिलायेंगे तो खाऊँगा अन्यथा नहीं। क्रमशः तीन दिन बीत गये, चौथे दिन प्रातःकाल ही एक महात्मा उस रास्ते से निकले और बोले कि बैठे रहिए, लक्ष्मी मिलेगी। ठीक उसके एक प्रहर उपरान्त ही एक माई हाथ में लोटा लिए वहाँ से निकली। किसी अज्ञात शक्ति से प्रेरित होकर उस माई ने महाराज जी के आसपास सफाई करके उनके भोजनादि की पूर्ण व्यवस्था की। वह अनवरत तीन-चार घण्टे तक सेवा में खड़ी रह गई। उसके

सेवाभाव को देखकर महाराज जी ने पूछा कि भवानी क्यों खड़ी हो? क्या चाहती हो? तुम कहाँ जा रही थी, और क्यों लौट पड़ी? तुम्हें क्या हो गया? तब उसने अति विनम्र भाव से कहा कि मैं स्नान करने जा रही थी कि अचानक मेरे मस्तिष्क में यह अदृश्य आवाज आई कि "इनकी सेवा करो, ये साधु हैं।" मैं आश्चर्य में पड़ गई कि कौन-सी सेवा करूँ? तब से मैं निरन्तर यही सोच रही हूँ कि आपकी सेवा किस तरीके से करूँ? मैं तो आपके चरण कमलों का दर्शन करके ही तृप्त हो गई। अब आपकी कृपा चाहिए। इसके पश्चात् वह नियमित रूप से वहाँ आने-जाने वालों को भोजन कराती थी व प्रसाद वितरण की व्यवस्था आदि करती थी। यह व्यवस्था श्री महाराज जी की तरफ से उस महिला के माध्यम से होती थी।

उपरोक्त महिला एक ख्यातिप्राप्त अधिवक्ता की धर्मपत्नी थीं। उनके पास कुछ धनराशि व्यक्तिगत रूप से थी, जिसे वह आपके सेवार्थ अर्पित करना चाहती थीं। बार-बार आग्रह करने पर भी आप विचलित नहीं हुए वरन् उस स्थान को त्यागकर अन्यत्र चले गये।

उज्जैन में ही कुम्भ के पुनीत पर्व पर परम्परानुसार चारों मठों के शंकराचार्यों ने अपने संन्यास में सम्मिलित होने की घोषणा की। उनके उद्घोष को सुनकर महाराज जी के मन में भी यह संकल्प उठने लगा कि मैं बहुत दिनों से इधर-उधर भटक रहा हूँ, क्यों न किसी के साथ संन्यास में सम्मिलित हो जाऊँ। उक्त विचार उठते ही उनके अन्तर्देश में हल-चल मच गई। उसी क्षण इष्ट का संकेत मिलता है कि तुम्हारे जैसा चेला और तुम्हारे जैसा गुरु कहीं है ही नहीं, तुम किस जमात में सम्मिलित होने जा रहे हो। यह सुनकर वे हार्दिक प्रसन्नता से उछल पड़ते हैं व इष्ट से क्षमा याचना करते हैं। अपने उपदेशों के समय आप इस घटना का दृष्टान्त देकर समझाया करते थे कि साधक को इष्ट के आधीन होकर लगनरत रहना चाहिए। समय-समय पर

अन्तर्जगत् से आदेश देकर इष्टदेव स्वतः उसे पथ-विचलित होने से बचा लेते हैं।

सन्त-कृपा से परमार्थ-पथ

भजन की सुविधा एवं जनस्नेह के कारण मधवापुर में आप दो बार रुके। रात्रि में लगभग ग्यारह बजे तक भाविक लोग बैठे रहा करते थे और आप को गाँजा बनाकर दिया करते थे। उनमें से एक गरीब पासी भक्त भी ठाकुरों के भय से दूर बैठा रहा करता था। जब सब सत्संग-प्रेमी वहाँ से चले जायँ तो वह महाराज जी के पास बैठकर विनय किया करे कि मैं अच्छी शराब बनाया हूँ, कृपया पान कर लिया जाय। आपने उसे डाँटते हुए कहा कि यह तुम लोगों के व्यवहार की वस्तु है। साधु-महात्माओं के प्रति ऐसा कहना अशोभनीय है। वह हठ करता रहा, तब महाराज जी उसके दुराग्रह को देखते हुए यह कहकर शराब होठों से लगा लिये कि पाप-दोष के भागीदार तुम होगे। प्रातःकाल ही सूचना मिली कि वह पासी पेट की पीड़ा से मर रहा है। जब कई बार लोगों ने पेट की पीड़ा की चर्चा की तो आप बोल पड़े कि रात में वह मुझे शराब पिलाने की हठ कर रहा था। हो सकता है कि उसी के दुष्परिणाम में वह असाध्य न हो जाय। अन्त में मरणासन्न स्थिति में ही वह महाराज जी के पास लाया गया। उसे स्पर्श करते हुए आपने उसे विभूति खिलाने के लिए आज्ञा दी। विभूति खिलाने के साथ ही वह पूर्ण स्वस्थ हो गया। तत्पश्चात् सदा-सदा के लिए वह शराब त्यागकर सन्त हो गया। उसके जीवन में यह विलक्षण परिवर्तन देखकर ग्राम्यवासी स्तब्ध हो दाँतों तले उँगली दबाने लगे। लोगों को विश्वास हो गया कि-

सठ सुधरहिं सत्संगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई।।

का आदर्श दृष्टान्त सत्य ही है। इसी प्रकार सहज दयालु सन्त किसी के द्वारा दुराग्रह करने पर भी उसका कल्याण कर देते हैं। "जिमि कुठार चन्दन

आचरनी" की ही भाँति उसका पथ प्रशस्त हो जाता है। ऐसा ही तिलस्मी परिवर्तन शराब पिलाने वाले पासी के जीवन में भी हुआ।

जन-कोलाहल के बीच ध्यानस्थ

मधवापुर से एक बार आपकी अभिलाषा जन्मभूमि की ओर जाने की हुई परन्तु जाने का निश्चय करते ही भयंकर अपशकुन होने लगा। तत्पश्चात् संकेत मिलता है कि जन्मभूमि का जाना हानिकारक होगा। आप जन्मभूमि जाने के विचार को त्यागंकर पश्चिम दिशा में विचरण करते हुए बम्बई पहुँच गये। बम्बई-जैसे व्यस्त एवं कोलाहलपूर्ण शहर में महाराज जी की स्थिति एक पागल की ही भाँति थी। घूमते-फिरते आप किसी सड़क के किनारे जन-कोलाहल के बीच ही ध्यान लगाकर बैठ गये। उनका ध्यान यहाँ भी ठीक उसी प्रकार स्थिर हो गया, जिस प्रकार एकान्त वातावरण में होता था। साधक जिस समय अपनी चित्तवृत्तियों को एकाग्र कर मन को स्थिर करते हुए साधनात्मक प्रक्रिया की क्षमता प्राप्त कर लेता है, ऐसी स्थिति में वह कहीं भी ध्यानस्थ हो सकता है। ध्यान में आप इस तरह लीन हो गये कि सारा दिन ध्यान-तन्द्रा में ही संसार को भूले रहे। क्रमशः ध्यान समाधि में परिणत हो गया। ध्यान टूटने पर वे अपने को भीड़ से घिरा हुआ पाते हैं और किसी तरह उनसे बचकर आप एकान्त की ओर चल पड़ते हैं।

जन्मभूमि की ओर

विचरण करते-करते जन्मभूमि की ओर जाने के लिए आपकी इच्छा पुनः बलवती हो गई। अपशकुन के बावजूद भी आप गन्तव्य स्थान के प्लेटफार्म पर पहुँच गये, परन्तु तत्क्षण उन्हें चेतावनी के रूप में इष्ट का आदेश होता है कि आ तो गये, उतरना मत। ऐसी इच्छा साधक के लिए अभिशाप है लेकिन दुराग्रह कर आप गाड़ी से नीचे उतर ही गये। उतरते ही उन्हें ऐसा

आभास होता है कि उनका इष्ट अन्तर्देश में कोसते हुए कह रहा है कि तुम साधु नहीं हो, घर चले जाओ। आप अवाक् किंकर्तव्यविमूढ़ होकर सोचने लगते हैं कि इतने में हृदय से एक प्रकाश पुंज निकलकर शून्य में विलीन हो जाता है। इस अपौरुषेय घटना से आपकी भावना पर ऐसा कुठाराघात हुआ कि आप डेढ़ वर्ष तक भजन कुटीर में पड़े निरन्तर रोते ही रह गये और साथ ही भगवान से क्षमायाचना करते रहे। आपने प्रतिज्ञा किया कि अब जन्मभूमि आने की अभिलाषा कभी न करूँगा। दयालु इष्टदेव उन्हें क्षमा करते हुए आदेश दिये कि अब तुम बाहर चले जाओ। रात्रि की नीरवता में जब वे गाँव से बाहर निकल रहे थे कि एक परिचित व्यक्ति से भेंट हो गई। उसको समझाते हुए आपने कहा कि अब मैं जन्मभूमि कभी भी वापस न आऊँगा। आप प्राय: अपने उपदेशों के दौरान यह कहा करें कि देखो साधु होना और मरना बराबर है। दुनिया में और कोई है भी परन्तु घर वालों के नाम पर कोई नहीं है। भगवान परम दयालु हैं वे ऐसे बातें करते हैं जैसे हम और आप।

जानि गरल जे संग्रह करहीं। कहउ उमा ते काहे न मरहीं।।

जब भगवान रक्षक हो जाते हैं तो विष भी नहीं पीने देते। ईश्वर के प्रति असीम विश्वास पूर्ण हृदय के साथ आप इसके उपरान्त सदा के लिए जन्मभूमि का ममत्व छोड़कर पुनः साधना के स्वस्थमार्ग में प्रवृत्त हो गये। इस घटना का उदाहरण देकर आप समझाया करें कि साधना काल में जन्मभूमि के प्रति किंचित् मात्र भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि इस भावना से प्रेरित होने पर पथ-भ्रष्ट होने की सम्भावना रहती है। साधुओं का मार्ग तो ऐसा है कि

"जो घर फूँके आपनो चलै हमारे साथ"

काश्मीर से चित्रकूट-प्रस्थान

उपरोक्त घटनोपरान्त आप काश्मीर की ओर प्रस्थान कर दिये और चलते-चलते जम्बू पहुँचे। वहाँ स्टेशन पर उतरकर खड़े ही हुए थे कि एक सरदार ने आकर प्रणाम किया और पूछा कि क्या महाराज जी आप काश्मीर जाना चाहते हैं? आप सहज वाणी में स्वीकारात्मक उत्तर दिये कि काश्मीर जाकर आजीवन समय बिताना चाहता हूँ। वह भावुक सरदार आपकी वेशभूषा को देखकर वस्त्रों के अभाव का अनुभव किया और विनययुक्त वाणी में बोला कि वहाँ सर्दी अधिक पड़ती है, आप वस्त्रविहीन रहकर सर्दी से किस प्रकार बचेंगे? यदि आप रुक जायँ तो वस्त्रों की व्यवस्था कर दूँ। उसने आपके पास कुछ देर में अंगूर लाकर सेवा में अर्पित कर दिया और स्वयं कपड़ा तैयार कराने की भावना से वहाँ से रवाना हो गया। उसके जाने के बाद आप यह विचार करने लगे कि जीवनपर्यंत किस तरह रहूँगा। अन्तर्द्वन्द्व में आपका मन अनिर्णित स्थिति में भटक रहा था कि इसी बीच आकाशवाणी हुई, "चित्रकूट चलो।" आप आध्यात्मिक सन्त थे, फिर यह शंका हुई कि चित्रकूट तो हृदय-देश में है, उस चित्रकूट के लिए या बाह्य चित्रकूट के लिए प्रस्थान करूँ। यथार्थतः जब चित्त कूटस्थ हो जाय तब वही चित्रकूट है। तत्काल इष्ट द्वारा निर्णय मिलता है कि शरीर से रहना हो तो बाह्य चित्रकूट के लिए प्रस्थान करो। उसी रात्रि में आप वहाँ से चल दिये। वस्त्रों की व्यवस्था करने वाले उस सज्जन को क्या सुख-दुःख हुआ होगा, यह कल्पनातीत है।

यात्रा-पथ पर काशी एवं प्रयाग (हठयोग)

इष्ट-वाणी के आदेशानुसार काश्मीर से काशी होते हुए प्रयाग पहुँचकर मार्ग में आपने एक दिन विश्राम किया। काशी में आपको अनुभव मिला कि सन्त हरिहर बाबा शिवस्वरूप हैं। श्री हरिहर बाबा गंगा नदी में एक बजड़े

(नौका) पर निवास करते थे। आप उनका साक्षात्कार करते हुए प्रयाग आ गये।

प्रयाग-बाँध पर कुछ हठयोगी निवास करते थे। आपको भजन में बैठे देखकर एक नवयुवक योगी ने प्रश्न किया कि मैं यह देख रहा हूँ कि आप दो बजे रात्रि से ही ध्यान में लगे हैं। अरे! जब अन्दर मल भरा है तो ध्यान कैसे होगा? मैं तो अभी तक यही समझ पाया हूँ कि पेट में मल रहते हुए भजन का होना असम्भव है। नेती-धौती आवश्यक है परन्तु आप इन क्रियाओं के किये बिना ही रात्रि के दो बजे से ध्यान में रत हैं। महाराज जी ने हँसते हुए उत्तर दिया कि मल तो मन में होता है। स्थूल शरीर की आँतों को साफ करने से क्या होगा? जन्म-जन्मान्तर के दूषित संस्कार ही हमारे लिए मल है। उन्हीं का पर्दा पड़ा हुआ है, इसीलिए मलावरण है और भजन में चित्त को चलायमान कर देता है इसीलिए विक्षेप है। ये सभी मल ही तो हैं। जिसके द्वारा मन का मल साफ हो जाय और मन रुक जाय, वही यौगिक प्रक्रिया है। यह साधन अनुभवी महापुरुषों द्वारा ही जागृत किया जाता है, जो जन्म-जन्मान्तरों के मलों को मिटाकर इष्ट में नियुक्त कर देता है। इन मानसिक चिंतन का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। गीता योग है किन्तु उसका एक भी सूत्र नेती-धौती बस्ती से सम्बन्धित नहीं है। रामचरित मानस भी उसी इष्ट से योग कराता है किन्तु इसमें भी नेती-धौती आदि का वर्णन नहीं मिलता। महर्षि पातञ्जलि और कबीर इत्यादि ने भी इसके लिए कहीं स्थान नहीं दिया। प्राचीन महापुरुषों ने इसका कोई वर्णन नहीं किया जबकि वे प्रभु की पूर्ण एवं अभिन्न स्थिति वाले थे। नेती-धौती व बस्ती इत्यादि शारीरिक उपचार हैं। पेट के विकार में धौती और नवली क्रिया करने से लाभ होता है। शीर्षासन करने से सिर के विकार दूर होते हैं। इस प्रकार कठिन से कठिन शारीरिक विकारों का शमन हम इन माध्यमों से कर सकते हैं परन्तु योग की पराकाष्ठा अर्थात् प्रभु को नहीं पा सकते। योग में पायी जाने वाली प्रक्रिया एक ही है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।

इस कल्याण मार्ग में निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है। अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओं में बँटी रहती है इसलिए अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं।

महात्मा जंगल में भजन करते थे, जहाँ अनेक प्रकार की बीमारियों का प्रकोप रहता था। औषधियाँ सुलभ न होने के कारण इसको चिकित्सा का माध्यम बना रखे थे। प्राचीन काल में आज की तरह चिकित्सा की सुविधायें न थीं। मलेरिया बुखार में तीन-तीन महीने तक लोग पड़े रहते थे। दीर्घकाल तक अस्वस्थ रहने के कारण चिंतन-क्रम टूट जाता था। इसलिए योगियों ने अपने भजन में से कुछ क्षण निकाल कर इस प्रक्रिया में लगाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार हठयोगियों को साधन-पथ की उपयुक्त दिशा देकर आप चित्रकूट के लिए चल पड़े।

चित्रकूट से अनुसुइया

आप चित्रकूट पहुँचकर संकेतानुसार अनुसुइया के निर्जन वन्य-प्रान्तर में प्रवेश करते हैं और उस भयावह वनस्थली के बीच मंदाकिनी के पावन दुकूल की ओर बढ़ने लगते हैं। समीप में ही ऊँची दृष्टि करके देखने पर श्री सिद्धबाबा के आश्रम के खण्डहर दृष्टिगोचर हो रहे थे। आप उन्हीं की तरफ चढ़ते जा रहे थे कि अनायास ही आपको आश्रम के भग्नावशेष मिले। उनके समक्ष पड़े हुए एक पुराने लकड़ी के तखत पर आसीन हो गये। वहाँ बैठते ही ऐसा बार-बार इष्टदेव का आदेश मिला कि नीचे चलो, नीचे चलो। आप वहाँ से उतरकर एक विशालकाय चट्टान पर बैठ गये, जिसे आज भी ब्रह्मशिला कहकर पुकारते हैं। थोड़ी देर बाद वहाँ से भी हटने का संकेत मिला तब

आप नीचे उतरकर वर्तमान आश्रम के चबूतरे पर बैठ जाते हैं और विचार करने लगते हैं कि क्या यह उठा-पटक बनी ही रहेगी। पुनः आपको निर्देश मिलता है कि अब ठीक है बैठे रहो। इष्ट के आदेशानुसार समाधिपर्यन्त आप वहीं विराजमान रहे।

हिंसक पशुओं एवं बर्बर डाकुओं के बीच

जैसा कि सर्वविदित है कि चित्रकूट के समीप अनुसुइया का भयावह वन्यप्रान्तर हिंसक पशुओं एवं बर्बर डाकुओं का केन्द्र था। ऐसी दुरूह और विषम परिस्थितियों के मध्य भी आप इष्ट के आदेशानुसार प्रकृति की प्रतिकूलताओं को स्वानुकूल बनाकर स्थिर चित्त से चिन्तन में लगे रहे। लगातार चौदह दिवसपर्यन्त आप एक ही आसन में बैठे रहे। भूख,प्यास और गर्मी के कारण शरीर कृशकाय हो गया व इन्द्रियाँ क्रमशः शिथिल पड़ने लगीं। चौदहवें दिन करुणा-सी आ गई और भगवान से प्रार्थना किये कि जब शरीर ही नहीं रहेगा तो भजन कौन करेगा? यहाँ जंगल में निरावलम्ब पटक दिया है, तो कैसे काम चलेगा? उसी दिन आदेश हुआ कि भोजन ही करना है तो कल से ग्रहण करना। दूसरे दिन प्रातःकाल ही सिद्ध बाबा की सीढ़ियों पर कुछ खाद्य सामग्री रखी हुई मिली। उसी को खाकर आप तृप्त हो गये और तब से आज तक आश्रम में किसी चीज की कमी नहीं हुई।

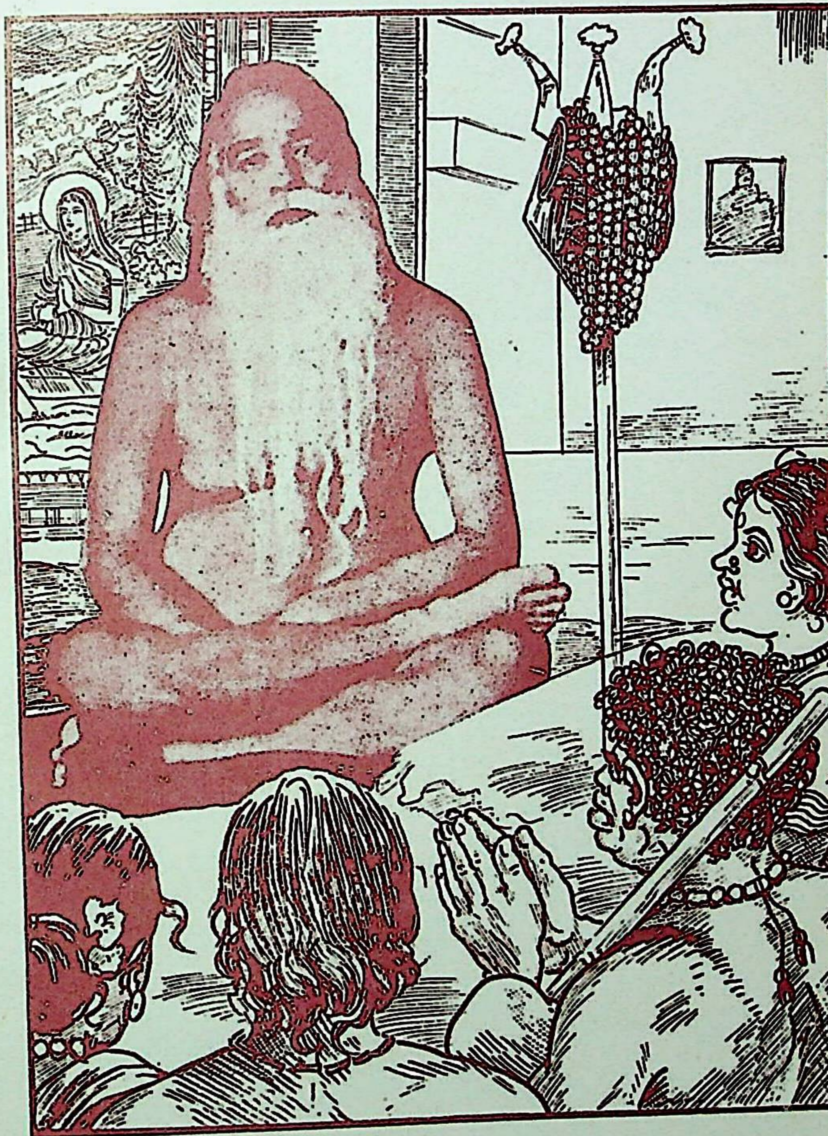
भजन का क्रम अहर्निशि चलता रहा परन्तु भयावह वन की नीरवता में हिंसक पशुओं एवं बर्बर डाकुओं का भय लोगों को बना ही रहता था। इस कारण से कोई भी महात्मा अनसुइया में स्थिर होकर रहने का साहस नहीं करता था। आस-पास के लोग भी वहाँ से आने-जाने में भयभीत रहते थे। यदि वहाँ किसी साधु व तीर्थयात्रियों द्वारा कभी रुकने का साहस किया भी जाता था तो निश्चित रूप से उन्हें प्राणों की बलि देनी पड़ती थी। आये

दिन ऐसी घटनायें महाराज जी के समक्ष भी होने लगीं, जिनमें से कतिपय महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

एक दिन आपने आसन के आस-पास घूमते हुए पुरानी कोठरी की तरफ विहंगम दृष्टि डाली तो उसमें रक्तयुक्त कई कंकाल-जाल पड़े थे। ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे हाल ही में किसी की हत्या की गई हो। सोचने लगे कि यहाँ कौन आता होगा। इसी विचार क्रम में जैसे रात्रि का अन्धकार बढ़ता गया त्योंही आपको एक चीता कोठरी की तरफ जाता हुआ दिखाई दिया। वह हिंसक पशु बार-बार आपकी तरफ देख रहा था और आप मुस्कराते हुए आसन से ही उसे गालियाँ दे रहे थे। चीते के चले जाने के पश्चात् आप यह निश्चय करते हैं कि इसी पशु के द्वारा ये अस्थियाँ एकत्रित की गई हैं। दूसरे दिन आप उस कोठरी से अस्थि-पंजरों को निकालकर फेंक देते हैं। इसके बाद आसपास में रहनेवाले पशु भी अपने स्थानों को छोड़कर सुदूर चले जाते हैं।

मंदाकिनी के किनारे आकर चोरी-डकैती करनेवाले अपने धनराशि का विभाजन किया करते थे। उस समय छोटी-छोटी रियासतों के कारण राज्य कर्मचारियों द्वारा सुरक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं था। आसपास गाँवों में आये दिन चोरी-डकैती एवं हत्याएँ हुआ करती थीं। एक बार कुछ डाकू आसन से निकट ही थोड़ी दूर पर बैठकर अपने धन का बँटवारा करने लगे और हास-परिहास के साथ शर्बत बनाने में लग गये। इसी बीच एक डाकू की नजर महाराज जी के ऊपर पड़ी। वह अपने साथी को सम्बोधित करते हुए कहता है कि यहाँ कोई बाबा भी बैठा हुआ है। उनमें से एक ने कहा कि बैठा है तो हम क्या करें। पहला डाकू कुछ उदार चित्त का था। उसने कहा कि बाबाजी को भी शर्बत दे दिया जाय, उसके तीन-चार बार कहने पर आग्रह के बावजूद महाराज जी यह कहते हुए कि मैं चोरी का धन नहीं खाता,

शर्बत लेने से इंकार कर दिये। इतना सुनकर एक क्रूर स्वभाववाला डाकू आग बबूला होकर हाथ में लाठी ले मारने के लिए सीढ़ियों पर चढ़ने लगा। तत्काल उसका दूसरा साथी हाथ से शर्बत फेंककर उसे पकड़ लिया और वापस नीचे आकर अपने-अपने हिस्सों को बाँटकर रात्रि में ही वहाँ से रवाना हो गये। आश्रम से लगभग दो मील दूर झूरी नदी पर उन्हें एक भयंकर घटना का शिकार होना पड़ा, जबकि वे दूसरे दिन घर से प्रतिशोध की भावना से चले थे। अचानक किसी व्याघ्र की भयंकर गर्जना सुनाई पड़ी। ऐसी घटना उनके समक्ष कभी भी नहीं घटी थी जबकि प्रायः वे उसी रास्ते से आया-जाया करते थे। परस्पर विचार-विमर्श करने लगे कि लगता है कि बाबा कुछ जानता है, उन्हीं की यह करतूति है। किसी तरह पुनः वे घर पहुँच गये, लेकिन उनमें जो लाठी लेकर मारने दौड़ा था, सन्निपात के भीषण रोग से पीड़ित हो गया। कई दिन निरन्तर उपवास करने के कारण वह मरणासन्न हो गया। उसका साथी जो शर्बत पिलाने को कह रहा था, पता नहीं किस अज्ञात प्रेरणा से प्रभावित होकर आपके पास कृपा-याचना के लिए पहुँचा। उसे देखते ही महाराज जी मुस्कराते हुए पूछे, क्या हाल है। आद्योपान्त वह सभी घटनाओं का विवरण देकर क्षमा-याचना करने लगा और विनम्र शब्दों में कहा कि महाराज जी मेरे साथी की हालत मरणासन्न है। अपनी स्वाभाविक दयालुता के कारण आपने विभूति ले जाकर खिलाने को कह दिया। इसके सेवन से उसे पूर्व स्वास्थ्य लाभ हो गया। स्वस्थ होने के उपरान्त अपने कुकृत्यों पर पश्चाताप करता हुआ, वह आपके चरणों में पड़कर क्षमायाचना किया और सदा-सदा के लिए चोरी का कार्य छोड़ दिया। इस अलौकिक हृदय परिवर्तन को देखकर जन-मानस में सन्त-महात्माओं के प्रति असीम श्रद्धा एवं विश्वास की लहर दौड़ गई। समस्त क्षेत्र इन बर्बर चोरों और डाकुओं के भीषण आतंक से मुक्त हो गया।



कोल-भीलों का हृदय-परिवर्तन



कोल-भीलों का हृदय-परिवर्तन

भगवान राम के समय से ही चित्रकूट की भूमि कोल-भीलों की निवासस्थली रही है। सन्त-महात्माओं को भला ये क्या जानें, क्योंकि स्वभावतः ये असभ्य एवं जड़बुद्धि हुआ करते हैं। एक समय कुछ कोल-भील अनुसुइया आश्रम के पास जंगल में शहद तोड़ने के लिए आये। उन्हें मना करते हुए आपने कहा कि तुम लोगों का आश्रम के पास शहद तोड़ना उचित नहीं है। कोलों ने प्रथम स्वीकारात्मक भाव प्रकट किया परन्तु थोड़े समय उपरान्त ही श्रीमुख-वाणी की अवहेलना करके पहाड़ के ऊपर चढ़कर शहद तोड़ने का प्रयास करने लगे। इसपर आपने पुनः बिगड़ना प्रारम्भ कर दिया। तब उनमें से एक ने कहा कि आप पूरा जंगल अपने अधिकार-क्षेत्र में ले रहे हैं। यह तो हमारा कार्य ही है। तत्पश्चात् एक अच्छी स्थिति के साधक विनम्रपूर्ण शब्दों में कहे कि महाराज जी! ये कोल-भील हैं। इन्हें क्या मालूम कि सन्त किसे कहते हैं। कहीं ऊपर पत्थर न फेंक दें। आप हँसते हुए आकर वर्तमान आसन पर विराज गये। इतने में ही जिस बाँस पर कोल चढ़ा था, शहद तोड़ने के पूर्व ही उसमें आग लग गयी। वह चिल्लाया, बचाओ! बचाओ! नीचे वालों ने बचाने के उद्देश्य से ज्योंही आगे बढ़ना चाहा कि छत के ऊपर एक भयानक सर्प दिखाई दिया। वे सभी किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति में आ गये और उनके देखते-ही-देखते बाँसों पर चढ़ा हुआ व्यक्ति धड़ाम से नीचे गिर पड़ा। उसके घायल हो जाने पर वे सभी आपस में चर्चा करने लगे कि लगता है बाबाजी ने कुछ कर दिया। वहाँ से कुछ दूर चलकर पुनः एक वट वृक्ष के ऊपर दूसरा कोल चढ़कर शहद तोड़ने लगा। पता नहीं कैसे अव्यवस्थित होकर तत्काल नीचे आ गिरा एवं उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई। उसके साथी उसे लादकर गाँव ले गये।

अब दूसरी घटना इस प्रकार घटित होती है कि उनके वहाँ पर पहुँचने

के दो-तीन दिन पश्चात् पूरा गांव भयंकर अग्नि-काण्ड के फलस्वरूप जलकर राख हो गया। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि कुछ लोग गाँव छोड़कर अन्यत्र चले गये। अग्नि शान्त होने के पश्चात् कुछ लोग महाराज जी के पास आकर विनय किये कि भगवान दया की जाय। हम लोग क्षमायाचना करते हैं। इन कोल-भीलों के अपराध के परिणामस्वरूप गाँव जलकर राख हो गया है। महाराज जी ने मुसकराते हुए उन्हें आश्वासन दिया कि अब भटकने की आवश्यकता नहीं है, जाओ कुशलतापूर्वक जीवनयापन करो। वे सभी प्रणाम करके वापस लौट गये। इस घटना के फलस्वरूप जड़बुद्धि कोल-भीलों का भी हृदय परिवर्तित हो गया और वे लकड़ी आदि पहुँचाकर यथा-शक्ति आश्रम की सेवा करने लगे।

साम्प्रदायिकता का शमन

अल्पावधि में ही अनुसुइया आश्रम में निर्विघ्न एवं शान्तिपूर्वक निवास करते हुए श्री परमहंस जी की प्रसिद्धि का प्रसार दूर-दूर तक होने लगा। साम्प्रदायिकता की संकीर्ण विचारधारा रखनेवाले गणवेषधारी सन्त-महात्माओं के बीच स्पर्धा की भावना अंकुरित हो उठी। परिणामतः इन रूढ़िवादी वेषधारियों ने आपको 'अघोरी', 'पाखण्डी' आदि शब्दों से अपमानित करने का विफल प्रयास आरम्भ किया। इन लोगों की हरकतों का प्रभाव महाराज जी के ऊपर किंचित् मात्र भी नहीं पड़ता था। आप सहज वाणी में उन लोगों को समझा दिया करते थे कि भगवत्-पथ में कोई सम्प्रदाय ऊँचा-नीचा नहीं है। यह मात्र रूढ़िवादिता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मैं स्वतः सभी मत-मतान्तरों से होकर आया हूँ परन्तु मेरा इन पर कोई विश्वास नहीं है और न मेरा कोई सम्प्रदाय ही है। धीरे-धीरे इन रूढ़िवादी साम्प्रदायिक सन्त-महात्माओं का भ्रम दूर हो गया व उनके हृदय में महाराज जी की साधुता के प्रति पूर्ण विश्वास एवं श्रद्धा हो गई।

अब भी महात्माओं का एक वर्ग ऐसा था, जो आपके विरुद्ध षड्यंत्र-रचना में क्रियाशील रहता था। उसी जमात के द्वारा किसी नागा बाबा को भड़काकर आपकी हत्याहेतु योजना तैयार की गई थी। तथाकथित नागा बाबा हत्या करने की कल्पना से छूरा सहित अनुसुइया आश्रम आ पहुँचा। दूर से ही आपको छूरा दिखाकर कहने लगा कि "परमहंस जी, यह पैनी धारवाला छूरा आपके लिए ही है।" रात्रि के घने अन्धकार में जैसे ही वह दुरात्मा षड्यंत्र की पूर्ति हेतु आगे बढ़ा कि तत्काल वह लकवा से प्रताड़ित हो गया। उसके अंग-प्रत्यंग अकड़ गये। रात्रि भर आश्रम के सामने ही अपने षड्यंत्र के प्रति पश्चाताप करता रहा। प्रातःकाल उठते ही महाराज जी की दृष्टि उस पर पड़ी। उसने लाठी के सहारे उठकर प्रणाम करते हुए क्षमा याचना किया। महाराज जी ने दयाभाव से उस नागा बाबा को प्रायश्चित भोग से मुक्त कर दिया। कालान्तर में उसके हृदय में महाराज जी के प्रति असीम श्रद्धा जागृत हो गई।

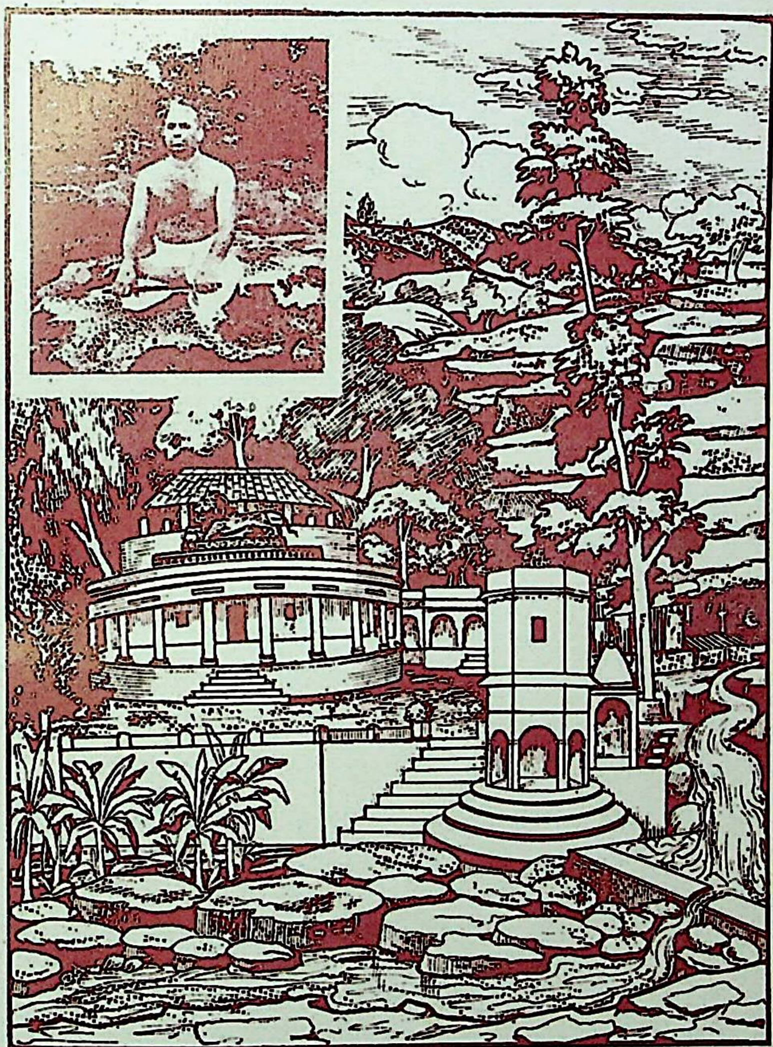
एक बार आप ज्वर से पीड़ित हुए। उस समय आप एकाकी निवास करते थे। आपके मन में अचानक कल्पना जाग उठी कि कोई सेवक उपलब्ध हो जाय तो अच्छा था। कुम्भ-पर्व पर एक वैरागी वैष्णव सन्त श्री रामलखन दास जी अनुसुइया आ पहुँचे। उनके अन्तःकरण में श्री परमहंस महाराज जी की सेवा करने का प्रभावपूर्ण उद्वेग हुआ। तदनुसार वे महाराज जी के चरणों का आश्रय लेकर चरणों में रत हो गये। वे सेवा-कार्य में तब तक पूर्णरूपेण तल्लीन रहे जब तक कि आपको स्वास्थ्य-लाभ नहीं हो गया।

एतदर्थ महाराज जी के पथ में आनेवाली समस्त विपत्तियों का स्वतः शमन हो गया। आप निर्विघ्न योग साधना में अनुरक्त रहकर जन-जीवन का कल्याण करने लगे। प्राय:महाराज जी साधकों को समझाया करते थे कि वस्तुतः जब

भगवान दया कर देते हैं तो विपत्ति ही सम्पत्ति बन जाती है। ध्रुव एवं प्रह्लाद के जीवन में भगवत् कृपा से विपत्तियाँ ही सम्पत्ति बन गई थीं। इसलिए निर्भीकतापूर्वक विपत्तियों का स्वागत करना चाहिए।

अनुसुइया आश्रम के पूर्व ब्रह्मचारी जी

पुरातन काल से ही अनुसुइया यौगिक साधना का केन्द्र रहा है। यह भूमि अत्रि, चन्द्रमा, दुर्वासा, सिद्ध बाबा आदि महर्षियों के तपश्चर्या की स्थली थी। प्राकृतिक सुषमा के बीच निर्जन गुफाओं में रहकर अनेकानेक मनीषियों ने यहाँ से आत्मानुभूति प्राप्त की है। ऐसे ही युग प्रवर्तक सन्त भजन की प्रारम्भिक अवस्था में बाल-ब्रह्मचारी के रूप में अनुसुइया की वनस्थली में तपश्चर्या प्रारंभ किये। श्री ब्रह्मचारी जी अनवरत दो माह तक कन्द-मूल-फल आदि का सेवन करते हुए भजन करते रहे। पहले ये परमहंस महाराज का दूर से ही दर्शन किया करते थे क्योंकि यह जनश्रुति हो गई थी परमहंस महाराज जादू जानते हैं। कुछ समयोपरान्त विचरण करते हुए ब्रह्मचारी जी जानकी-कुण्ड पहुँचकर वहाँ निवास करने लगे। उनके रहन-सहन एवं आभा को देखकर वहाँ के प्रसिद्ध संत श्री रणछोड़ दास जी, श्री ब्रह्मचारी जी को वहाँ का मालिक नियुक्त कर दिये। वे कहे कि मैं प्रायः बाहर रहता हूँ आप ही यहाँ का कार्य भार सँभालें। कुछ दिन वहाँ रुकने के पश्चात् श्री ब्रह्मचारी जी वहाँ की समस्त गतिविधियों से अवगत हो गये परन्तु मन शान्त नहीं हुआ। कारण कि आपकी अन्तश्चेतना परमशान्ति की उपलब्धि के लिए व्यग्र थी। परिणामतः आप जानकी-कुण्ड आश्रम को त्यागकर अयोध्या पहुँच गये। वहाँ पर सुनियोजित ढंग से भण्डारा करवाया, परन्तु इनके अन्तस्थल में यहाँ भी अर्न्तद्वन्द्व तरंगित होता रहता था और बार-बार इस हलचल के बीच श्री परमहंस महाराज जी की वही परम शान्ति मूर्ति मानस-पटल पर अंकित हो जाती थी।



पूज्य श्री १००८ स्वामी सच्चिदानन्द जी महाराज

एवं परम पावन घारकुण्डो आश्रम



श्री ब्रह्मचारी जी शिष्य के रूप में

इसी अन्तर्द्वन्द्व के बीच श्री ब्रह्मचारी जी को स्वप्न होता है कि अनुसुइया आश्रम चलो, वहीं परम शान्ति मिलेगी। साथ ही साथ श्री परमहंस महाराज जी को यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि एक युवा साधक आपकी शरण में आ रहे हैं, उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश करिये। उनमें महायोगेश्वर के लक्षण विद्यमान हैं। स्वप्न-संकेत के अनुसार ही श्री ब्रह्मचारी जी श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया के लिए प्रस्थान करते हैं। यहाँ महाराज जी भी अनुभव में निर्दिष्ट साधक की प्रतीक्षा ही कर रहे थे। तब क्या था, घूमते-विचरते श्री ब्रह्मचारी जी अनुसुइया आश्रम आ पहुँचे। यहाँ पर महाराज जी के चरणों के प्रथम दर्शन ने ही श्री ब्रह्मचारी जी के मानस में उठने वाले समस्त अन्तर्द्वन्द्वों का पूर्ण शमन कर दिया। हृदय गद्‌गद् हो गया, वाणी मूक हो गई। सदा-सदा के लिए उनके चरणारविन्दों में आत्म समर्पण कर ब्रह्मचारी जी आत्मविभोर हो गये। श्री परमहंस महाराज जी की छत्र-छाया में सतत् साधनार्थ जीवन व्यतीत करते हुए सद्‌गुरु देव की महती कृपा से कुछ ही वर्षों के उपरान्त श्री ब्रह्मचारी जी जीवनमुक्त होकर अपने स्वरूप में लीन हो गये। उन्हीं जीवनमुक्त श्री ब्रह्मचारी जी की पावन विभूति आज सुप्रसिद्ध परमहंस आश्रम धारकुण्डी को विभूषित कर रही है।

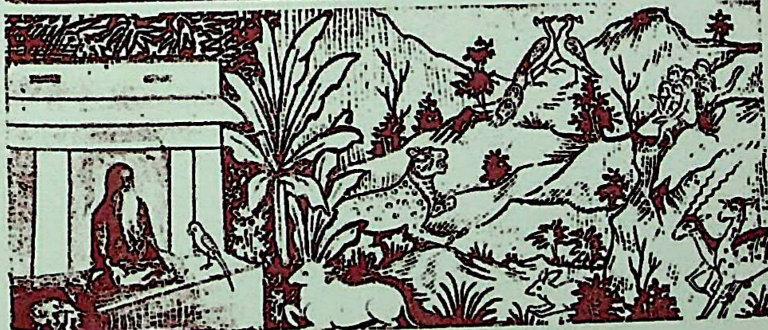
पशु-पक्षियों के प्रति समत्व भाव

ऋषि-परम्परानुसार आपके आश्रम में भी एक शुक पल रहा था। आप यह सोचा करते थे कि महात्माओं के तोता 'राम-राम' कहते हैं और दुष्टजनों के पालित पक्षी भी उनके आचरणानुकूल भला-बुरा कहना सीख लेते हैं। श्री परमहंस जी के सान्निध्य में रहने के कारण वह स्नेह से प्रतिपालित पक्षी भी 'राम-राम' रटने लगा। जरा-मरण का सम्बन्ध समस्त जीव-जगत् से है

ही, अत: वह तोता भी बीमार पड़ गया। आपको शरणागत पर दया आई, उसे गोद में रखकर पुचकारने लगे। आपने विचार किया कि यती-सती का बोलबाला है। सती सावित्री ने यमराज से अपने सतीत्व के बल पर पतिदेव को बचा लिया था। अब मैं देखता हूँ कि कैसे यह शुक काल-कवलित होता है। ऐसा कहकर आसन में बैठकर बार-बार उसके सिर पर स्नेह से हाथ फेरने लगे। उस समय आपके पास एक ब्राह्मण, एक नाई और श्री ब्रह्मचारी जी थे। जैसे ही दिवसावसान हुआ, आश्रम के सम्मुख वृक्ष के पास किसी अज्ञात सत्ताधारी के खाँसने की आवाज सुनाई पड़ी। सब लोग उस पर संदिग्ध हो गये। तत्पश्चात् वही आवाज नदी के उस पार सुनाई दी और यहाँ तक कि यत्र-तत्र-सर्वत्र से विलक्षणतापूर्वक खाँसने की आवाज आने लगी। बैठे हुए लोग भयभीत हो गये। तब आपने कहा कि शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह यमराज है, ऐसा कहते हुए सभी को विश्राम के लिए आदेश दिया और स्वयं भी आसन पर बैठ गये। अन्य व्यक्तियों को भी भय एवं जिज्ञासा की उथल-पुथल में नींद नहीं आई। खाँसने की वह चमत्कारपूर्ण आवाज रात्रि की नीरवता को लगभग एक घण्टे तक भग्न करती रही। यह उत्पात चल ही रहा था कि आप तोते को लेकर भीतर के आसन में बैठ गये और भजन करना प्रारम्भ कर दिये।

रात्रि में कुछ समयोपरान्त सहसा फाटक के खुलने की आवाज आई। तब आप छड़ी लेकर टार्च जलाते हुए इधर-उधर देखने लगे और किसी अज्ञात सत्ता को डाँटते हुए कहे कि धत् तेरे की! यहाँ तक आने की धृष्टता कर लिया। इसी बीच कुछ दूर पर दीवाल की ओट में छिपा हुआ नेवला दिखाई देता है। उसे देखकर आप विचार करने लगे कि मेरी अनुपस्थिति में काल कहीं दूसरे वेष में पहुँचकर उस तोते को खा न ले। आप दौड़ते हुए उस अबोध पक्षी के पास पहुँचते हैं और देखते हैं कि वह अभी जीवित था। पुनः बैठने के पश्चात् निश्चयात्मक शकुन मिलता है कि वह बच जायेगा।

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया जी



पशु-पक्षियों के प्रति ममत्व भाव



प्रातःकाल उठकर सबको जगाते हुए महाराज जी ने कहा, उठो तुम लोग अभी सो रहे हो। काल आया था और चला गया। अब तोता स्वस्थ होकर 'पढ़ो परवते सीताराम' की रट लगाने लगा। महाराज जी उसे डाँटते हुए कहे कि अब तुम्हें 'सीताराम' याद आया है। भजन ही करते तो काल काहे आता। आश्रम के आस-पास घूमनेवाले बन्दरों को आप प्रायः चना दिया करते थे। आपकी एक ही आवाज पर किलकारियाँ मारते हुए बन्दर इकट्ठा हो जाया करते थे। चना फेंककर आप उनको खिलाते और हँसते रहते थे। हिंसक पशुओं का भी शिकार आपने बन्द करा दिया था। इस प्रकार आपके स्नेह से प्रतिपालित पशु-पक्षी स्वच्छन्दतापूर्वक वन में विचरण करते थे।

शिष्यों की नियुक्ति

श्री ब्रह्मचारी जी के पहुँचने के पश्चात् क्रमशः शिष्यत्व प्राप्ति हेतु अनेकानेक श्रद्धालुओं का ताँता लगने लगा। परीक्षा की कसौटी पर खरा उतरने के बाद आपने आठ-दस मुमुक्षुओं को ही शिष्यरूप में स्वीकार किया। महाराज जी कहा करते थे कि अगर मैं शिष्य बनाता तो सहस्रों विरक्त शिष्य हो जाते परन्तु शिष्य-परम्परा कायम करना मेरे दृष्टिकोण में उचित नहीं है। इस भाव से तो संकीर्णता की तरफ झुकाव होने लगता है। जब आप के पास कोई व्यक्ति शिष्यत्व के लिए गिड़गिड़ाता था तो आप उसे यों कहकर टाल दिया करते थे कि दुनिया बहुत लम्बी और चौड़ी है। चित्रकूट, अयोध्या, ऋषिकेश आदि स्थानों में सर्वत्र महात्माओं का जमघट है। वहाँ कहीं भी जाकर शिष्य बन जाओ।

पुलिस अधीक्षक आश्रम में

बाँदा जिले के पुलिस अधीक्षक पहले से ही श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया के विषय में अनेक प्रकार की विलक्षण चर्चायें सुन चुके थे। जिज्ञासावश

वे सपरिवार सशस्त्र सैनिकों के साथ आश्रम आ पहुँचे एवं यथोचित दण्ड-प्रणाम करके बैठ गये। वार्ता के दौरान ही श्री महाराज जी से पुलिस अधीक्षक महोदय ने विनय किया कि रात में व्याघ्र व चीते प्रायः आते रहते हैं, यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं उनका शिकार करूँ। महाराज जी ने कहा कि यह सन्त-स्वभाव के प्रतिकूल है। तुम्हें स्वयं सोचना चाहिए कि हिंसा करना उचित नहीं है। रात्रि में पुलिस अधिकारी सपरिवार ऊपर ठहर गये और साथ के सशस्त्र सैनिक कुएँ की जगत पर लेट गये। सबके सो जाने पर सहसा रात्रि के दूसरे पहर में भयानक व्याघ्र-गर्जना सुनाई पड़ी। सारा वातावरण भयावह हो गया। पुलिस के सैनिक भागकर ऊपर कोठरी में चले गये और 'रक्षा करो, रक्षा करो' की आवाज करने लगे। अब महाराज जी बाहर आकर हँसने लगे और बोले कि छिपे हो शिकारियो! बाहर निकलो, शिकार आ गया है। तब विनम्रतापूर्वक अधीक्षक महोदय ने कहा कि महाराज जी, भय लग रहा है। आपके सामने हम क्या शिकार खेलेंगे। प्रातःकाल पुलिस अधीक्षक ने महाराज जी से क्षमा-याचना की और रात्रि में घटित होनेवाली घटना की चर्चा करके यथोचित सम्मान पूर्ण भाव से प्रणाम इत्यादि कर वापस चले गये। इसके बाद तब से वे समय-समय पर आश्रम की सेवा करते रहते थे।

ज्वरावस्था में श्री महाराज जी

आप प्रायः संस्कारों के भोग करनेवाले पापी व्यक्तियों को भी स्पर्श कर कुकर्म-भोग से उन्हें निवृत्त कर देते थे किन्तु उसके परिणाम को किसी न किसी रूप में आपको स्वयं भोगना पड़ता था। ऐसी एक संस्कारजन्य प्रक्रिया के फलस्वरूप आप ज्वर-पीड़ित हो गये। सतत् आप दो माह ज्वरावस्था में पड़े रहे। उस समय किसी सेवक या शिष्य के द्वारा उपचार करने का प्रयास भी किया जाता था तो इष्टदेव दवा ग्रहण करने से मना कर देते थे। आप विचार करने लगे कि जब मेरी निवृत्ति हो गई है तो बुखार क्यों आता

है? इष्टदेव से तत्काल निर्णय मिला कि दूसरों को स्पर्श करके उन्हें व्यथा से मुक्त कर उनके दूषित संस्कारों को अपने में ही समाहित कर लेते हो तो उनका भोग कौन करेगा? तब से आप दूसरों का कल्याण करते हुए भी उनके स्पर्श से वंचित रहने लगे। लगभग तीन महीने तक ज्वरावस्था में पड़े रहने के पश्चात् आप पूर्ण स्वस्थ हो गये। समीपवर्ती गाँवों में उसी समय बुखार का प्रकोप था। श्रद्धालु-जन अपनी व्यथा लेकर आपके पास कृपा-याचना करते थे। तत्काल आप मात्र कृपादृष्टि से ही उन्हें अच्छा कर दिया करते थे। आपको ज्वरावस्था में देखकर कुछ लोगों ने प्रश्न किया कि महाराजजी, क्या निवृत्ति के बाद भी बीमारी का आना सम्भव है? उन्हें समझाते हुए आपने कहा कि निवृत्ति हो जाने पर बीमारी नहीं आती, किन्तु यदि किसी के प्रायश्चित उतार दिये जायँ तो उसका भोग स्वयं करना पड़ता है। आगे बताते हुए आपने कहा कि, "काल न खाय कलप नहीं व्यापै, देह जरा नहीं छीजै" मैं जो बीमार हूँ वह मात्र तुम लोगों का पाप है।

आसामी पण्डित तीर्थयात्रा पर

एक बार आसाम से एक पण्डित अनुसुइया तीर्थाटन के लिए आया, स्वाभाविक भीड़भाड़ हो गई थी। उस पण्डित ने आधुनिक ढंग के अखाड़े और मन्दिरों की कल्पना करते हुए महाराज जी के पास संदेश भेजा कि चाहे दो सौ रुपया किराया ले लिया जाय परन्तु मुझे ठहरने के लिए एक कमरा स्वीकृत कर दिया जाय। आपने उस पण्डित के भाव को परखते हुए डाँटकर उससे कहा कि क्या यहाँ कोई व्यापार होता है? थोड़ी देर पश्चात् आपने एक शिष्य को बुलाकर ठहरने के लिए कमरा दिला दिया। एक दिन वहाँ रहने के पश्चात् वह पण्डित आपसे विनय करता है कि भगवन्! मेरी पत्नी सिर की वेदना से व्यथित है। इसकी चिकित्सा विशेषज्ञों द्वारा की गई परन्तु कोई राहत नहीं मिली। यहीं पर मुझे पता चला है कि आपकी कृपा

से असाध्य रोगी भी पूर्ण स्वस्थ हो जाते हैं। इसलिए मैं भी कुछ धृष्टता कर रहा हूँ, अपराध क्षमा किया जाय। आपने छड़ी से उसके पत्नी के सिर का स्पर्श किया और उसे तत्काल राहत मिल गई।

आश्रमीय वातावरण को देखकर पण्डित को आश्चर्य होने लगा कि यहाँ पैसा देने वालों को दुत्कारा एवं गाली दिया जाता है, जबकि अन्य मन्दिरों और अखाड़ों में धनार्पण करनेवालों को बड़े आव-भगत से लिया जाता है। अब उसे अटल विश्वास हो गया कि इसी तरह महापुरुष ज्ञात-अज्ञात में अटपटी वाणी द्वारा भाविकों का कल्याण कर दिया करते हैं। वह अपने आपको कृतकृत्य मानता हुआ वहाँ से दूसरे दिन वापस चल पड़ा।

मृतप्राय रोगी को जीवनदान

प्रात:काल श्री परमहंस महाराज जी कुछ सेवकों के साथ आश्रम के समक्ष ही टहल रहे थे। इसी बीच दो व्यक्तियों ने आकर आपको साष्टांग प्रणाम किया। आपने पूछा कि तुम लोग कहाँ रहते हो? इतने सुबह कैसे चले आये? वे शोकातुर हो रुदन करते हुए बोले कि हमारा भाई मरणासन्न है। पता नहीं किस क्षण उसके श्वाँसा का क्रम टूट जाय। आपकी कृपा ही उसे जीवनदान दे सकती है। उनके रुदन से आप द्रवित होकर आश्वासन पूर्ण शब्दों में कहे कि धूनी से विभूति ले जाकर खिला दो, जिन्दा न फूँक देना, वह बच जायेगा। आदेशानुसार वे दोनों व्यक्ति विभूति ले जाकर मरणासन्न रोगी को खिला दिया। क्रमशः नाड़ी की गति तीव्र होने लगी। शरीर में ताप का संचार हो उठा एवं सभी आत्मीय जनों का मुरझाया हुआ चेहरा खिल उठा। कुछ दिनों बाद वह व्यक्ति स्वस्थ होकर आपके दर्शनार्थ स्वयं आया। उसे देखते ही महाराज जी ने कहा, क्या समाचार है? उसने विनीत शब्दों में कहा कि महाराज जी आप मेरे जीवनदाता हैं। मैं जन्मभर आपका ऋणी रहूँगा। अभी

भी इस घटना के परिणामस्वरूप उस व्यक्ति के परिवार के लोग प्राय: श्रद्धानत होकर आश्रम आते-जाते रहते हैं।

डा. रामकुमार वर्मा आश्रम में

प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष डा. रामकुमार वर्मा भ्रमणार्थ चित्रकूट आये। अनुसुइया आश्रम के समीपवर्ती गाँवों के कुछ छात्र प्रयाग विश्वविद्यालय में अध्ययन करते थे। उनमें एक छात्र करवी का था जो डॉ. वर्मा के स्वागतार्थ हस्तिवाहन का प्रबन्ध करके चित्रकूट पहुँचा। श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया के विषय में छात्रों द्वारा चर्चा सुनकर डा. रामकुमार वर्मा उसी हाथी पर चढ़कर चित्रकूट से अनुसुइया आश्रम के लिए प्रस्थान कर दिये। मार्ग में वही छात्र विनम्रतापूर्वक प्रश्न किया कि श्रीमानजी, गोस्वामी तुलसीदासजी की चौपाई-

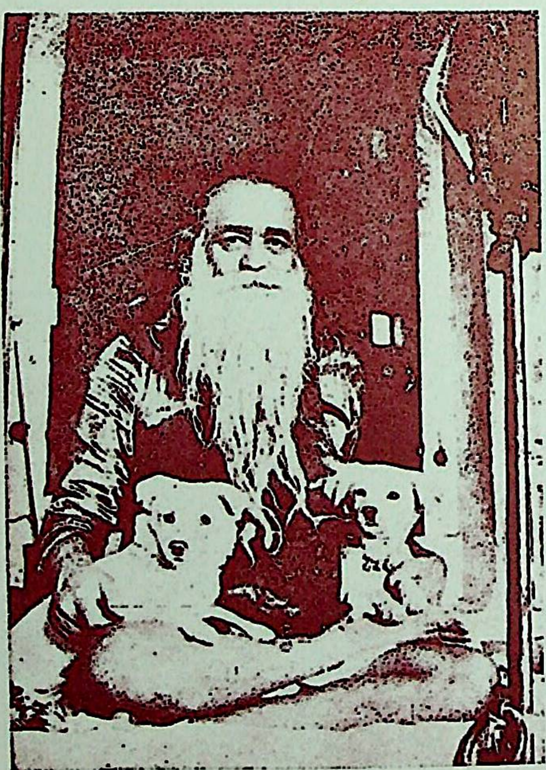
उलटा नाम जपत जग जाना। वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।

का आशय स्पष्ट किया जाय। डॉ. वर्मा विद्यार्थी की इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए करीब एक घण्टा तक विविध उदाहरण के साथ आशय समझाये, परन्तु विद्यार्थी को पता नहीं क्यों आत्म-संतोष नहीं हुआ। उसने कहा कि आपकी व्याख्या से मैं अनुग्रहीत हूँ। आपने अनेक तर्क एवं उदाहरणों के माध्यम से आशय को स्पष्ट किया है परन्तु मेरी आत्मा को यह अर्थ स्पर्श न कर सका। इसी तर्क-वितर्क में उलझे हुए डॉ. वर्मा सपरिवार कवि एवं छात्रों के साथ परमहंस आश्रम पहुँच गये। उनके साथ कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो आश्रम से पूर्व परिचित थे। उन लोगों ने डॉ. वर्मा का परिचय शिष्टता के साथ महाराज जी से दिया। वे प्रणाम करके बैठ गये। उक्त प्रश्न डॉ. वर्मा एवं छात्र के मस्तिष्क में चक्कर काट रहा था। ज्यों-का-त्यों वह प्रश्न आपके सामने रख दिया गया।

महाराज प्रश्न को सुनकर सहज वाणी में ही उन लोगों को सम्बोधित करते हुए कहे कि यह चौपाई मानस की है। गोस्वामी जी ने मानस में गम्भीरतम बातों को छिपाकर रक्खा है। उनके उल्टा नाम का अर्थ 'मरा मरा' जपने से नहीं है। राम-अवतार के पूर्व ॐ, शिव आदि नामों से उसी लक्ष्य की प्राप्ति हुई। इसके बाद राम, कृष्ण आदि नामों से आज भी उसी स्थिति की प्राप्ति होती है। भला विचार करें, बाहर का उल्टा क्या होता है- भीतर, सीधा का उल्टा क्या होता है- उल्टा, इसी प्रकार जप का उल्टा अजप होता है। इसलिए गूढ़तम बात को छिपाकर गोस्वामी जी ने उल्टा नाम लिख दिया है जिसका तात्पर्य-

अजपा नाम जपत जग जाना। वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।

से है। यह नाम जपना नहीं पड़ता बल्कि निरन्तर अभ्यास करने से धारावाही श्वास के क्रम में ढल जाता है। इसी नाम की परिपक्वावस्था में ब्रह्म से अभिन्न स्थिति मिल जाती है। महर्षि वाल्मीकि इसी नाम को जपते थे और इसी क्रिया विशेष से ब्रह्म की स्थिति को प्राप्त किये थे। श्री परमहंस महाराज जी द्वारा की गई व्याख्या को सुनकर डा. वर्मा अत्यन्त प्रभावित हुए परन्तु उसके साथ उनके मानस में यह प्रश्न खड़ा हो गया कि वाल्मीकि-जैसे डाकू को (जो आये दिन हत्यायें किया करते थे) अजपा-जैसी साधनात्मक प्रक्रिया की उच्च श्रेणी कैसे प्राप्त हो गई? उनकी शंका का निराकरण करते हुए महाराज जी ने बताया कि जिस समय वाल्मीकि जी को पूर्वजन्म के पुण्य के फलस्वरूप सुप्रसिद्ध महर्षि के दर्शन होते हैं तत्काल वे अपने अन्तर्जगत् से प्राप्त विशेषाधिकार द्वारा वाल्मीकी को अजपा की स्थिति प्रदान कर दिये। इसमें शंका का कोई स्थान नहीं हैं, कारण कि चिरकाल से होता आया है। वे चाहें तो अपनी कृपा से किसी भी व्यक्ति को उत्तम रहनी प्रदान कर सकते है। श्री परमहंस महाराज जी की अनुभूतिप्रद सरल वाणी को सुन डा. वर्मा



श्रद्धेय श्री सद्गुरुदेव पूज्य श्री परमहंस जी महाराज

(शूनि नेत्र श्वआके च पंडिता: समदर्शिन)



श्रद्धेय पूज्यपाद श्री स्वामी भगवानानन्द जी महाराज

(भक्तों के बीच में)



एवं छात्रों की समस्त शंकाओं का निर्मूल निराकरण हो गया। इसके बाद अनुसुइया के दर्शनीय स्थलों को देखते हुए डा. रामकुमार वर्मा अपने साथियों सहित वापस चले गये।

शिष्य श्री भगवानानन्द जी के बारे में भावी संकेत

दुर्गम पथ होने के कारण अनुसुइया आश्रम तक पहले आने-जाने की कोई सुविधा नहीं थी। विशेष भाविक एवं श्रद्धालु व्यक्ति ही पैदल चलकर यहाँ आया-जाया करते थे परन्तु कुछ वर्षों के उपरान्त यात्रियों की सुविधा के लिए सड़क का निर्माण हो गया। अब वहाँ चार-छः सवारी गाड़ियों के पहुँच जाने से सदैव भीड़ बनी रहती है। महाराज जी ने एक दिन हँसते हुए कहा कि एकान्त समझकर भजन करने के लिए यहाँ रमे थे लेकिन भीड़भाड़ होने के कारण वातावरण कोलाहलपूर्ण हो गया है। यह सुनकर समीप में बैठे हुए शिष्य श्री भगवानानन्द जी बोल पड़े कि महाराज जी आप कहीं एकान्त में रहें हमलोग आश्रमीय व्यवस्था देख लेंगे। आपने यह सुनकर मुस्कराते हुए कहा-अरे! यह तो हमारी गद्दी लेना चाहता है। श्री भगवानानन्द जी नतमस्तक होकर क्षमा-याचना करने लगे, परन्तु महापुरुषों के श्रीमुख से निःसृत वाणी कभी मिथ्या नहीं होती। वह कालान्तर में सत्य हुई और वे वर्तमान समय में गद्दी पर विद्यमान हैं।

अनुसुइया आश्रम के पूर्व आप बनारस के पास भागीरथी के पावन कूल पर स्थित श्री परमहंस आश्रम जगतानन्द में निवास करते थे। आपकी विद्वत्ता व साधुता के प्रभाव से जन-मानस में शान्ति और संतोष का संचार होने लगा था, परन्तु आपकी इच्छा न होने पर भी बरबस आपको श्री सद्गुरुदेव भगवान की प्रेरणा एवं श्री स्वामी धारकुण्डी महाराज जी की आज्ञा से परमहंस आश्रम अनुसुइया का कार्य-भार सँभालना पड़ा। श्री परमहंस महाराज जी

अपने उपदेश में कहा करते थे कि आश्रमों का कोई महत्व नहीं है। जब हृदय में महापुरुषत्व की उपलब्धि हो जाती है तो बाहर चाहे जहाँ बैठे रहें, कोई अन्तर नहीं पड़ता। श्री भगवानानन्द जी महाराज की छत्र-छाया में अनुसुइया आश्रम का कार्य सुचारु रूप से चल रहा है एवं क्षेत्रीय जनता में उनके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा है।

एक शिष्य का प्रवेश

एक ब्राह्मण लगभग ४० वर्ष से साधु-वेष में, लक्ष्यप्राप्ति की उत्कण्ठा से यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए एक बार अनुसुइया पहुँचे। पूज्य महाराज के विषय में चित्रकूट में ही उन्हें जानकारी हो गई थी। अतः उसी आधार पर सशंकित मन से आकर दर्शन किये। दर्शनोपरान्त महाराज जी में आस्था बढ़ गई परन्तु कर्मकाण्डी ब्राह्मण होने के कारण २० दिनों तक अलग एक मंदिर में निवास किये और साथ ही यह सोचते रहे कि महाराज जी महापुरुष हैं पर उनकी जाति क्या है? यदि ब्राह्मण आदि किसी ऊँची जाति के होते तो मैं अपने आपको उनके चरणों में अर्पित कर देता। विचरण करते हुए आज इतना समय बीत गया परन्तु लक्ष्य के विषय में कुछ भी आभास नहीं मिला।

यद्यपि उन्हें मालूम हो गया कि परमहंस जी एक महापुरुष हैं लेकिन ब्राह्मण होने से लोक प्रचलित रूढ़िगत संकीर्णता मस्तिष्क में छायी हुई थी। अतः प्रबल भाव होने पर भी बीस दिन उनको अलग रहना पड़ा। सद्विद्या के प्रबल जिज्ञासु उन सज्जन को बीसवें दिन स्वप्न में दिखाई पड़ा कि परमहंसजी ब्रह्मस्वरूप शुद्ध संन्यास की स्थिति में हैं। दौड़कर स्वप्न में ही प्रणाम किये, तब महाराज जी अपनाने का आश्वासन देते हुए कृपायुक्त वाणी द्वारा उनकी पूर्व शंकाओं का निराकरण किये और साथ ही भावी पथ की दिशा का संकेत

किये। निद्रा भंग होते ही वे तत्काल महाराज जी के पास आत्मसमर्पण की भावना से पहुँचे। अन्तर्यामी महापुरुष उनके मनोगत विचारों को पकड़ते हुए बोले कि भाई हमारी जाति तो बहुत खराब है-

माई धोबिन बाप चमार। ताकर जन्मल हम बनवार।।

अब वे निष्कपट भाव से बोले कि महाराज जी, आज बीस दिन से निरन्तर मैं आपकी जाति के विषय में सोचता रहा हूँ, परन्तु आज कृपा-प्रसाद मिल गया। मैंने आपको परमार्थ के शुद्धस्वरूप में देखा है। आप कुछ भी हों, मेरे लिए महान् आत्मा हैं। भगवन्, दया करके आप मेरा पथ-प्रदर्शन करें। सर्वप्रथम तो उस कविता की पंक्ति पर प्रकाश डालें जो कि अभी श्रीमुख से निकली है, जिससे कि मेरी भ्रान्ति का मूलोच्छेदन हो सके।

तब पूज्य महाराज जी हँसते हुए अर्थ का स्पष्टीकरण किये कि ध्यान ही धोबिन है (जिसके द्वारा जन्मान्तरों का मल साफ हो जाता है और गति मिलती है) और यह चित्त ही चमार है। कारण कि यह सदैव चमड़े का ही व्यापार करता आया है। यही चित्त जब विकारों से सिमट कर ध्यान से स्थिर हो जाता है तो तीसरी वस्तु ब्रह्म का प्रादुर्भाव होता है जो कि हमारा स्वरूप है। अनन्त जीवधारियों की खानि इस जगत् का द्वन्द्व एक जंगल है। ब्रह्म सर्वत्र है किन्तु इनसे वह निर्लेप है, और बहुमुखी अलौकिक प्रक्रिया के द्वारा रक्षा करता है, इसलिए हम बनवार हैं। हम इस जंगल में फँसे नहीं बल्कि इसके रक्षक हैं, क्योंकि ब्रह्म की स्थिति में लेशमात्र भी अन्तर नहीं पड़ता। यही कारण है कि मुमुक्षु सर्वस्व त्यागकर अथक श्रम करता है। वह सबके हृदय में प्रसुप्त है परन्तु ध्यान बिना उसका दिखाई देना असम्भव है। जब चित्त ध्यान के द्वारा पूर्णतया मिट जाता है तो वही सत्ता चेतन ब्रह्म प्रत्यक्ष हो जाता है। अतः साधना क्रम को समझकर कुछ काल बाद एक महापुरुष

के रूप में परिवर्तित हो गये। तत्पश्चात् आप अवध के पास मधवापुर-ग्राम्यांचल में रमण करते थे। पूर्व में तो यह जंगल था परन्तु आज यह आश्रम श्री परमहंस आश्रम मधवापुर (गोंडा) के रूप में आबाद है। श्रद्धेय श्री स्वामी अखण्डानन्द जी यहाँ निवास करते थे।

श्री ब्रह्मचारी जी एवं करपात्री जी के बीच वार्त्ता

भारत स्वतंत्र हो चुका था। प्रजातंत्र के विभिन्न दल अपना-अपना प्रचार बढ़ा रहे थे। उनमें से एक दल रामराज्य परिषद भी था, जिसका संचालन जाने माने विद्वान् स्वामी करपात्री जी कर रहे थे। वे धर्म का नारा लगाते हुए चित्रकूट आ पहुँचे। श्री करपात्री जी के बारे में जब महाराज जी सुने तो कहने लगे कि उनका तो बड़ा नाम था। वे ऐसे दलीय अन्तर्द्वन्द्व के फन्द में कैसे फँस गये। इसके बाद आपने रामराज्य की मीमांसा करते हुए कहा कि रामराज्य तो योगी के हृदय देश की एक विशेष स्थिति है। भूखंडों और पिण्डों में खोजने से रामराज्य की स्थिति कभी नहीं प्राप्त हो सकती। मानस का चर्चित रामराज्य इस प्रकार है। मानस कहते हैं मन या अन्तःकरण को, जब चित्तवृत्तियां राग-द्वेष से उपराम होकर निश्चल हो जाती हैं। ऐसी चर्चा अपने शिष्यगणों के बीच करने के बाद आप अपने परम शिष्य श्री ब्रह्मचारी जी से बोले कि तुम चित्रकूट जाकर करपात्री जी से पूछना कि राजनीति में भाग लेने के लिए कोई ऐसा अनुभव या आदेश अन्तर्जगत् से प्राप्त हुआ है या नहीं। महाप्रभु के आदेश के बिना किसी कार्य में सफलता मिलना असम्भव है।

सद्‌गुरु देव महाराज की आज्ञानुसार श्री ब्रह्मचारी जी करपात्री जी से मिलने के लिए चित्रकूट पहुँचे। गुरु के द्वारा आदेशित प्रश्नों के अनुसार वार्त्ता प्रारम्भ किये कि आपको क्या कोई ऐसा आदेश मिला है जैसा कि जगद्‌गुरु शंकराचार्य को सनातनधर्म की स्थापना के लिए वाणी हुई थी। योगेश्वर कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि 'निमित्तमात्र भव सव्यसाचिन्' युद्ध तो मुझे करना है तुम

निमित्त मात्र हो जाओ। विजयश्री अवश्य वरण करेगी। जब ऐसे प्रश्न करपात्री जी के सामने आये तो उन्होंने कहा कि आज समाज धार्मिकता की भावना से दूर हटता जा रहा है। उसमें नवचेतना एवं जागरूकता लाने के लिए रामराज्य दल की स्थापना कर सफल बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। गायों की हत्या हो रही है, समय नहीं है, हमें बहुत कुछ करना है। अनुभव एवं आदेश की प्रतीक्षा में कब तक बैठे रहेंगे। श्री ब्रह्मचारी जी ने ऐसा सुनकर उन्हें सजग करते हुए कहा कि आध्यात्मिक पथिक होने के नाते ईश्वर के आदेशों पर चलकर ही गन्तव्य स्थान की उपलब्धि सम्भव है। उसे बाह्य मान्यताओं द्वारा अर्जित करने की कल्पना करना भ्रम मात्र है। आप भले ही दलीय मोर्चे में फँसे रहें परन्तु सफलता सम्भव नहीं है। ऐसी ही कुछ महत्त्वपूर्ण चर्चा करने के लिए महाराज जी आपके पास भेजे हैं। उन्हें क्रियान्वित करना या न करना आपकी इच्छा पर निर्भर करता है। श्री परमहंस महाराज जी का नाम सुनकर करपात्री जी कुछ क्षणों के लिए अवाक् रह गये, परन्तु कालान्तर में बात अनसुनी कर दिये। महापुरुष की वाणी कभी मिथ्या नहीं होती। आज स्पष्ट है कि राजनैतिक दल के रूप में रामराज्य परिषद की स्थिति नगण्य-सी है।

दर्शन की छात्रा सत्य की खोज में

एक समय एक बुद्धिजीवी छात्रा गृह-कलह से ऊबकर चित्रकूट पहुँची। जहाँ-तहाँ चित्रकूट में वह लड़की चर्चा की विषय बन गई कि यह या तो कोई राजकीय गुप्तचर है अथवा इसमें कोई और रहस्य है। इसी प्रकार बहुत-सी भ्रान्तियों की निगाह से वह लड़की देखी जाने लगी । वह दर्शन-शास्त्र की छात्रा थी, इसलिए साधारण जीवन की अपेक्षा भजन करना ही सर्वोत्कृष्ट समझा। उसमें सभी सद्गुण थे। केवल विधाता ने उसका रंग श्यामवर्ण कर दिया था। किसी परिवार के एक महाशय ने इसी कमी का सहारा लेकर

शादी करने से इनकार कर दिया था, जबकि वह सदाचार में सैकड़ों में एक थी। परिवार के किसी सदस्य द्वारा अपने रूप की भर्त्सना के परिणामस्वरूप उसे घर का त्याग करना पड़ा। भजन-पथ में जाने के लिए उपयुक्त कारण पाकर वह सद्‌गुरु की खोज में चल पड़ी। दर्शन-शास्त्र की जानकारी होने के कारण उसे आध्यात्मिक जिज्ञासा हुई और वह तत्काल सद्‌गुरु की खोज में विभिन्न तीर्थस्थानों से होती हुई चित्रकूट स्थित शीर्षावन में पहुँची। वहाँ पर बाँदा क्षेत्र के एक सुप्रसिद्ध सन्त श्री परसुराम जी अपनी जमात सहित रुके हुए थे। अपनी जिज्ञासा-तृप्ति के लिए उस युवती ने उन महात्माओं से आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर जटिल प्रश्न किया। विचार-विमर्श में प्रश्नोत्तरों का क्रम बढ़ता गया। परन्तु उसे संतोष नहीं हुआ। अभी विवाद चल ही रहा था कि अनुसुइया आश्रम के श्री ब्रह्मचारी जी चित्रकूट से वापस जाते समय उस स्थान पर पहुँच गये। (वही श्री ब्रह्मचारी जी की पावन विभूति आज श्री परमहंस आश्रम धारकुण्डी को अपनी ज्ञान-गरिमा से अलंकृत कर रही है।)

श्री ब्रह्मचारी जी का परिचय देते हुए सन्त श्री परसुराम जी ने कहा कि आप एक पवित्र साधक हैं और साथ ही आसन बढ़ाते हुए कहा कि आइए स्वामी सच्चिदानन्द जी, बैठिये। उन्हें देखते ही वह बालिका उनकी दिव्य आभा से नत-मस्तक होकर विनम्रतापूर्वक बोली कि मेरे लिए तो सभी पूजनीय हैं। मैं स्वागत करती हूँ। आप ही उत्तर देकर मेरी शंकाओं का समाधान करें। वांछित प्रश्न इस प्रकार है -'प्रायः सभी महापुरुषों ने नारी की निंदा की है। नारी के लिए भजन का अधिकार यदा-कदा मिलता है। किन्तु निन्दा कहीं उससे अधिक है। इसलिए मेरे मन में संदिग्धता बनी रहती है कि नारी को भजन का अधिकार है अथवा नहीं?''

उत्तर- तुम लोगों की दृष्टि स्थूल अथवा पिण्डों में अर्थ खोजती है। यह

बाहरी दृष्टिकोण है। इस परिस्थिति में अर्थ असम्भव है। जब तक हमारी समझ अन्तर्मुखी न हो जायेगी तब तक आध्यात्मिक स्तर के अंग-प्रत्यंग को समझना दुरूह है। जो महापुरुष उस परमतत्त्व से सम्बन्ध रखते थे या हैं, उनकी जानकारियाँ सूक्ष्म शरीर अथवा मानस पर आधारित होती हैं। स्त्री हो अथवा पुरुष, गुण-अवगुण सब में समान ही हैं। इन विकारों का प्रसारण ही माया है- **'तिन्ह महँ दारुण दुखद माया रूपी नारि।'** यह माया ही नारी है। इसी का दूसरा नाम अविद्या है। इन सब विकारों का प्रसार पहले चित्त के द्वारा होता है। चित्त के साथ ही साथ लगे लिपटे ये विकार शरीर पर भी उभर आते हैं। अत: सिद्ध हुआ कि लोभ, मोह, काम और अविद्या इत्यादि इस चित्त के द्वारा ही प्रसारित होते हैं। इसलिए यह चित्तवृत्ति ही माया है। यही नारी है, न कि आप लोग।

परम कल्याण की उपलब्धि में बस यही बाधक है। अत: इनसे पार पाने पर परमपद है। उनसे छूटने का उपाय है, ध्यान व उसी से सम्बन्धित प्रक्रियाएँ। जब हम अपनी समझ के अनुसार एकान्त में स्थित हों, आँख बन्द कर ध्यान में लग जाते हैं, तब वहाँ सभी शत्रुओं को खड़ा पाते हैं। चित्त के अन्दर परस्पर सभी विकार एक दूसरे को आगे ढकेल कर अर्थात् काम-क्रोध आदि ही मन के अन्दर दिखाई देते हैं। कभी स्त्री के नक्शे बनते हैं और कभी पुरुषों के, तो कभी मोहमयी लहरें उठती हैं, जन-समूहों के स्नेह की। अब आप महापुरुषों की वाणी पर विचार करें। शायद पढ़ने में आ गया होगा कि काम-क्रोध इत्यादि शत्रुओं का रूप इतना भयंकर है कि अच्छे से अच्छे चिन्तकों को भी भ्रम में डाल देता है। जब इस विकार का प्रसार चित्त पर धारावाहिक होने लगता है तो बुद्धि को नष्ट कर देता है। वस्तुतः यदि चित्त विकारों में प्रवृत्त है तो हम केवल विचार करने से सम्हल नहीं सकते। योगेश्वर कृष्ण कहते हैं--

हे अर्जुन! भोग भोगने से कभी न तृप्त होने वाला यह काम एक दुर्जय शत्रु है। ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करने वाला तथा ज्ञानियों का निरन्तर काल सा वैरी है। संशय को काटकर संगदोष से अलग रहते हुए हृदय को निर्मल बनाइये एवं कामरूपी शत्रु को पराजित कीजिए।

मान लो किसी ने भजन, ध्यान प्रारम्भ कर दिया है और नियमित रूप से करता अवश्य है, परन्तु न चाहने पर भी विकारों का ताँता पिण्ड नहीं छोड़ता। अब विचार करें कि इन विकारों के अनुरूप ही यदि संग मिल जाता है तो उससे ९९ प्रतिशत दोष लगने की संभावना है। साधक साधक नहीं रह पाते, बल्कि पतित हो जाते हैं। यही रूप साधिकाओं का भी है क्योंकि यह काम बुद्धि को विकराल बनाये रहता है। संतुलन समाप्त कर देता है अत: स्त्री के लिए पुरुष का संग एवं पुरुष के लिए स्त्री का संग माया का रूप ले लेता है।

बाहर निर्जन में रहकर कल्याण प्राप्त करने की सफलतायें स्त्रियों को कम एवं पुरुषों को अधिक मिली हैं। कतिपय दुष्कृत्यों की वजह से स्त्रियों के भजन का विधान घर में ही रहा है। यही कारण है कि 'किं द्वारमेकं नरकस्य? 'नारी' कहकर साधकों को चैतन्य किया गया है क्योंकि बाहर भजन करने का विधान पुरुषों का ही रहा है और संग-दोष का कारण स्त्रियों का होना ही सिद्ध है। इसलिए इस कल्याण पथ में संग वर्जित है। विकारों के रहते हुए इष्ट का प्राप्त होना सर्वथा असंभव है। केवल बाहर से विकारों का त्याग कर दें और मन से उनका चिन्तन करते रहें तो इससे बड़ा विकार और क्या हो सकता है? पहले तो स्थूल शरीर के विकार बन्द करें, फिर मन के विकार काटने की प्रवृत्ति आयेगी। जब मन के विकार और स्थूल शरीर के विकार शान्त हो जायेंगे तब कारण शरीर के बन्धन काटने की स्थिति पैदा होगी। इस स्थिति के बाद चेतन सत्ता सब समझा लेती है।

महापुरुषों ने किसी पक्ष की कोरी निन्दा नहीं की है। चित्त-वृत्ति ही नारी है। संग-दोष से बचने पर विशेष बल दिया गया है। साधना-पथ पर रत स्त्री के लिए जिस प्रकार पुरुष का संग-दोष व्यवधान है, उसी प्रकार साधनोन्मुख पुरुष के लिए नारी का संग-दोष उसकी चित्तवृत्तियों को चंचल कर अधोपतित कर देने में पर्याप्त है। अतएव सतर्कतापूर्वक संग से अछूता रहकर भगवत् पथ पर चलने वाले पथिकों को गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ना चाहिए।

श्री ब्रह्मचारी जी द्वारा दिये गये निर्णय को हृदयंगम करके वह छात्रा पूर्ण संतुष्ट हो गई। अब श्री ब्रह्मचारी जी को काफी विलम्ब हो चुका था। वे मर्यादानुकूल सद्गुरु देव के भय से तत्काल आश्रम के लिए रवाना हो गये। वहाँ पहुँचकर श्री महाराज जी से समस्त घटना आद्योपान्त वर्णन किये। श्री ब्रह्मचारी जी के आश्रम पहुँचने के दो घण्टे बाद वह भजन-पथ पर चलने के लिए लालायित तरुणी भी श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया पहुँच जाती है। वह यथोचित दण्ड-प्रणाम करके शान्तिपूर्वक बैठ जाती है। कुशलता पूछने के पश्चात् वह ब्रह्मचारी जी के साथ हुए विचार-विमर्श की चर्चा महाराज जी से करती हुई शरण में ही रहकर भजन करने का आग्रह करने लगी। श्री परमहंस महाराज जी उसकी भावना को समर्थन देते हुए कहते हैं कि बेटी, बड़ा अच्छा विचार है। सभी प्राणियों को भजन करने का अधिकार है। तुम घर में ही जाकर भजन करो। वह दर्शनशास्त्र की छात्रा बार-बार अनुनय-विनय करके वहाँ रुकने की इच्छा को ही दुहराती रही। तब अन्तर्जगत् से संकेत लेते हुए महाराज जी कहते हैं कि अभी तुम्हारे लिए घर ही में रहकर भजन करने का विधान है, क्योंकि आजकल स्थान-स्थान पर साधुओं के जमातों में दोष आ गया है। तुम्हारी अवस्था भी कुछ ऐसी ही है कि तुम्हें संग-दोष से अवश्य बचना चाहिए। ऐसा कहने के पश्चात् आप उसे भजन का कुछ विधान बताए और ध्यान-जप क्रिया से अवगत कराये। वह

अनुग्रहीत हो महाराज जी का आशीर्वाद प्राप्तकर चली गई। अब उसका भावी जीवन भजन-पथ पर चलकर ही व्यतीत हो रहा है।

परगनाधीश चतुर्वेदीजी सेवा में

कर्वी परगनाधीश चतुर्वेदीजी आध्यात्मिक प्रेमी होने के कारण सन्त-महात्माओं में अधिक प्रेम रखते थे तथा उनकी अटपटी बानी में वे अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। चित्रकूट के समस्त महात्माओं से प्रश्न किया करते थे परन्तु संतोष हाथ न लगा। जिज्ञासा-तृप्ति न होने के कारण अन्त में साधुओं से कहा करें कि लगता है मैं ही अभी अधिक साधु हूँ। एक बार भाविक लोग उन्हें अनुसुइया आश्रम लिवा लाये। वे श्री परमहंस महाराज जी के दर्शन एवं सत्संग से लाभान्वित होकर अनुग्रहीत हो गये। परगनाधीश ने महाराज जी से विनय करते हुए कहा कि मैंने एक बार महात्मा को दण्ड दे दिया था, तब से अनवरत उदर-शूल से व्यथित हूँ। अब सोचता हूँ कि वे भले ही बुरे हों पर थें तो सन्त-वेष में। अपने जीवन के प्रारम्भिककाल में वाल्मीकि जी भी बुरे थे। महाराज जी ने पेट छूकर कहा-- विभूति खा लो, अब दर्द न होगा। जीवन-पर्यन्त उन्हें पुनः दर्द न हुआ।

उसी समय उत्तर प्रदेश में ग्राम-पंचायतों के प्रधानों का चुनाव चल रहा था, उसी तारतम्य में श्री चतुर्वेदी जी कुछ व्यक्तियों के साथ आश्रम आकर प्रश्न करते हैं कि महाराज जी! चुनाव में दो प्रतिद्वन्द्वियों के बीच कौन विजयी होगा? आपने हँसते हुए कहा कि लगता है कि एक ब्राह्मण चुनाव जीत जायेगा। वे सब महाराज जी को प्रणाम करके वापस लौट जाते हैं। चुनाव परिणाम घोषित होने के उपरान्त यह निश्चय हो गया कि चुनाव वही व्यक्ति जीता है जिसका नाम महाराज जी पूर्व ही बता दिये थे। वे सभी अलौकिक भविष्यवाणी से आश्चर्यचकित हो जाते हैं। चतुर्वेदी जी तब से जीवनपर्यन्त



परम श्रद्धेय श्री सद्गुरुदेव श्री अनन्त स्वरूप श्री परमहंस जी महाराज



भक्त श्री ओच्छव लाल एम० पारिख



भक्त श्री एस० डी० चतुर्वेदी

परगनाधीश (डी० एम०)



आश्रम के प्रति श्रद्धालु रहे। अत: इसी प्रकार सैकड़ों भाविकों व भक्तों के हृदय पटल पर पूज्य महाराज जी के दैविक विलक्षणता की छाप पड़ने लगी।

महाप्रयाण की बेला

साधन के द्वारा साध्य की उपलब्धि हो जाने पर लक्ष्य से तद्रूप रहते हुए महापुरुषों का साधन से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। शाश्वत अमरत्व के गुण से विभूषित हो जाने पर वे कालजयी हो जाते हैं। एक बार श्री परमहंस महाराज जी भी स्थिति का दिग्दर्शन करते हुए बोले कि मैं मरूँगा नहीं। काल से मुझे छुटकारा मिल गया है परन्तु किसी शिष्य द्वारा शब्द की गोली मारी जाने से शरीर अवश्य त्याग दूँगा।

शब्दै मारा गिर पड़ा, शब्दै प्राण पयान।।

किसी सम्भावित पुरुष के लिए शब्द की मार गोली से भी बढ़कर है। यह समझ लूँगा कि अब इनको मेरी आवश्यकता नहीं है। तब मैंने विनयपूर्वक आग्रह किया कि इन माध्यमों अथवा अन्य माध्यमों से शरीर-त्याग कर देने में क्या अन्तर है? आपने समझाते हुए कहा कि किसी-न-किसी बहाने से शरीर तो छोड़ना ही पड़ेगा। राम भी शरीर नहीं रख सके, लक्ष्मण का बहाना लेकर सरयू में कूद पड़े। श्रीकृष्ण ने बहेलिये के माध्यम से शरीर का त्याग किया। मैं भी किसी-न-किसी माध्यम को अपनाऊँगा। तत्पश्चात् मैंने महाराज जी से यह प्रश्न किया कि महाराज जी क्या शरीर रखा जा सकता है? उन्होंने मुझे सम्बोधित करते हुए कहा कि जिस उद्देश्य से यह शरीर धारण किया गया है, उसकी पूर्ति के उपरान्त चाहे जब त्याग दे, यह महापुरुष की इच्छा पर निर्भर करता है। शरीर त्यागने के एक दिन पूर्व ही मैंने महाराज जी से निवेदन किया कि आप के कथनानुसार पहले यहाँ अधिकारी लोग ही

लिए जाते थे परन्तु अब अनाधिकारियों को क्यों ले लिया गया? तब आप विस्मित स्वर में बोले कि मैं कैसे समझाऊँ, तुम लोग वाणीरूपी गोली का प्रहार कर रहे हो, जो शरीर को छेदती हुई चली जा रही है। उस दिन आप लगातार उपदेश देते गये एवं साधन-भजन पर विशेष बल देते हुए उनपर स्थित रहने के लिए शिष्यों को आदेश दिया। अन्तिम क्षणों में अनेक रूपकों के माध्यम से अपने शिष्यों को परमकल्याण का पथ निर्दिष्ट करते हुए देखते-ही-देखते आसनासीन उन महाप्रभु ने पंचतत्त्व से निर्मित इस पार्थिव शरीर का परित्याग सन्१९६९ में कर दिया। मैं उस समय प्रारम्भिक अवस्था का साधक था। इसलिए भूलवश अधिकारी एवं अनाधिकारी के विषय में महाराज जी से प्रश्न कर बैठा। अन्तर्जगत् की कसौटी पर महापुरुष ही समझ पाते हैं कि कौन उपयुक्त अधिकारी है और कौन अनाधिकारी। बाह्य दृष्टिकोण में जिसको हम अधिकारी समझते हैं, हो सकता है कि अन्तर्देश से वही अनाधिकारी हो।

यह था उनके जीवन का आदर्श एवं परमकल्याण का उत्कर्ष, जो समष्टि में व्याप्त होकर यावत् सृष्टि जन-मानस का कल्याण करता रहेगा। अब सन्तों एवं साधकों के बीच परम शान्ति-पथ निर्देशिका उनकी अमर वाणी, आत्मानुभूति के परिवेश में बारहमासी के माध्यम से प्रस्तुत है, जिसमें प्रवेशिका से लेकर पराकाष्ठा तक लक्ष्य की ओर बढ़ने का पथ-प्रदर्शन किया गया है।

भूमिका

जैसा कि लोग बाहर पढ़ते हैं वैसा कहीं हुआ नहीं। न तो पिण्डों के रूप में राम हैं और न भूखण्डों के रूप में अयोध्या ही। अब आप ही विचार करें कि जब घर-घर में रामायण है तो न कहने का क्या सवाल है? परन्तु गोस्वामी जी ने कहनेवाली बात छिपाकर लिखी है जिसे पाठकगण अपने-अपने स्वर में पढ़ते हैं। ऐसी धारणा आपकी गीता के प्रति भी थी। कबीर की वाणी आपकी जिह्वा पर अधिक मुखरित होती थी। आपके श्रीमुख से एक दिन बारहमासी की अमरवाणी प्रस्फुटित हुई। आपने अपने शिष्यों से कहना आरम्भ किया कि 'आकाश बोल रहा है लिखना हो तो लिख लो'। ऐसा कहकर आप गुनगुनाने लगे। शिष्यों ने उसे लिपिबद्ध कर दिया, जिसमें महापुरुष की प्रवेशिका से लेकर पराकाष्ठा तक का साधनक्रम समाहित है। चेतावनी से लेकर भजन की प्रवेशिका, मध्य और अन्त तक की रहनी की स्थिति का चित्रण है। बारहमासी का रूप प्रथम कुछ पदों में दिया गया है और पुनः बारह भागों में बाँटकर बारह महीनों के माध्यम से योग की सूक्ष्म भूमिकाओं का विस्तार किया गया है।

अब आप सर्वप्रथम बारहमासी के सम्पूर्ण कवित्त-छन्दों को देखें एवं तदनन्तर अर्थसहित उसकी विस्तृत व्याख्या को पढ़कर लाभान्वित हों। (इस अमरवाणी के पठन के पूर्व आपको इस बात का विशेष ध्यान रखना होगा कि महापुरुषों की दृष्टि सदैव उस परम लक्ष्य पर हुआ करती है न कि भाषा पर। भाषाएँ परिवर्तनशील हुआ करती हैं। बहुत सी मान्यता प्राप्त भाषाओं का आज सर्वथा लोप हो चुका है। यदि अर्थ वास्तविक है तो तत्सामयिक भाषाओं के माध्यम से जन-मानस में प्रवाहित होकर लक्ष्य विशेष का दिग्दर्शन करता रहेगा।)

बारहमासी

दोहा- चैत चहत चित चोर को, चेला चतुर सुजान।
चित के मिले न चौधरी, भइ चित में गलतान।।

चतुर क्या करी चतुर ने चतुराई,
हमारा चित चेत चकोर किया।
अपने चित चाँदनि चमकाई।।
चकचान अचानक चन्द चढ़ा,
चन्दा की चमक चित पर छाई।
चन्दा चहुँ ओर चकोर चला,
चित चेतन में गिरदी खाई।।

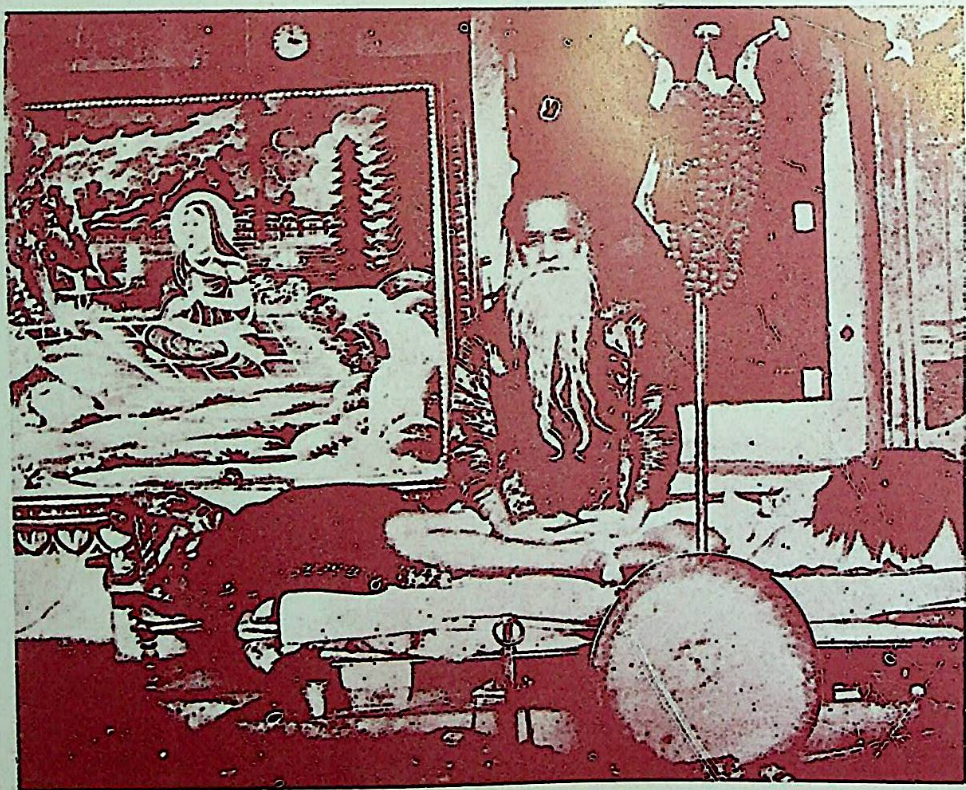
धरनी पर आया, चमक में खो दई काया।
चला गया चित चोर, चतुर जब तक चलने नहिं पाया।।

लावनी

लावनी सुन बारहमासी।
कटै जासे जनम मरण फाँसी ।।टेक।।
चैत में चिन्ता यह कीजे,
कि यह तन घड़ी घड़ी छीजै।
इससे करिये तनिक विचार,
सार वस्तु है क्या संसार?।।

दोहा-सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत प्रसार।
नित्यानित्य विवेकिया, लीजै बात विचार।।

आकाश बोलते है - आप से ही लयात्मक वेग का प्रस्फुटन हुआ - बारहमासी



ध्यानावस्थित सद्गुरुदेव पूज्य श्री १००८ श्री परमहंस जी महाराज



फिरै क्या मथुरा अरु कासी।
लावनी सुन बारहमासी।। १।।
वैसाख में वक्त तूने पाया,
यहाँ कोई रहन नहीं आया।
काल ने सबही को खाया,
कि यह सब झूठी है माया।।
दोहा-भोग लोक परलोक का, सबही त्यागे राग।
रहे न इनकी कामना, ताहिं कहैं वैराग।।
तितिक्षा तो सों परकासी।
लावनी सुन बारहमासी ।। २।।
जेठ में जतन यही करना,
मिटे जासे जनम और मरना ।
मन इन्द्रिय विषयों से परिहरना,
लीजिए सन्तों का सरना ।।
दोहा-श्रद्धा कर गुरु वेद में, कर मन का समाधान ।
कर्म अकर्म के साधन त्यागे, सहे मान अपमान ।।
जगत से रहना नित्य उदासी ।
लावनी सुन बारहमासी ।। ३।।
आषाढ़ में सत् संगति करना,
वहाँ तू पावे सब मरमा ।
तुझे वहाँ होवे जिज्ञासा,
तब लगे मोक्ष की आसा ।।
दोहा-परमानन्द की प्राप्ति, अरु अनरथ का नाश ।
यह इच्छा मन में रहे, कहे मुमुक्षा ताश ।।

हानि हो जिससे चौरासी, ।
लावनी सुन बारहमासी ।। ४।।
सावन में शरणागत होना,
पैर सद्गुरु के धो पीना ।
साफ जब होय तोहरा सीना;
रंग तब रहनी का दीना ।।
दोहा-तत्वमसी के अरथ को, तोय करूँ परकाश ।
संशय शोक मिटे तेरा, होय अविद्या नाश ।।
हानि हो जिससे चौरासी ।
लावनी सुन बारहमासी ।। ५।।
महीना भादों का आया भरम सब छीजै।
गुर की भक्ति चित्त धार प्रेम रस पीजै।।
ईश्वर से अधिक भक्ति गुरु की कीजै ।
इस मानव तन को पाय सुफल करि लीजै।।
दोहा-ब्रह्मवेत्ता वक्ता सुरति, गुरु के लक्षण जान ।
इच्छा राखे मोक्ष की, ताहि शिष्य पहचान ।।
होय अमरापुर (को) वासी ।
लावनी सुन बारहमासी ।। ६।।
क्वार में करना यही उपाय,
तत्वमसी श्रवणन मन लाय ।
जुगुति से मनन करो प्यारे,
खुले जासे अन्दर के ताले ।।
दोहा-निदिध्यासन के अन्त में, ऐसा होवे भान ।
ब्रह्म आत्मा एक लख, तब होय ब्रह्म का ज्ञान ।।

हानि हो जिससे चौरासी ।
लावनी सुन बारहमासी ।। ७।।
कार्तिक में करम सभी नाशा,
ज्ञान जब उर में परकाशा ।
तब अपना आप रूप भाषा,
उसी का लखो तमाशा ।।
दोहा-आप-पार हमरो नहीं, नहिं देश काल से अन्त ।
मैं ही अखण्डित एक हूँ, सब वस्तु का तन्त ।।
मैं ही चेतन अविनाशी ।
लावनी सुन बारहमासी ।। ८।।
अगहन में ज्ञान अगिनि जागी,
लोक सब दाहन कहँ लागी ।
फूँक दिये ब्रह्मा अरु विष्नू,
फूँक दिये राम अरु कृष्नू ।।
दोहा-जलत जलत ऐसी जली, जाको आर न पार ।
ईश्वर जीव ब्रह्म अरु माया, फूँक दियो संसार ।।
बिना ईंधन के परकासी ।
लावनी सुन बारहमासी ।। ९।।
पूष में पूरन आपै आप,
नहिं तहाँ पुन्य अरु पाप ।
कहो अब जपूँ कौन का जाप,
मिटा सब जनम-मरण सन्ताप ।।
दोहा-ज्ञाता ज्ञान न ज्ञेय कछु, ध्याता ध्यान न ध्येय ।
मम निज शुद्ध स्वरूप में, उपाध्येय नहिं हेय ।।

करूँ फिर किसकी तल्लासी ।
लावनी सुन बारहमासी ।। १०।।
माघ में मिटी मिलन की भूख,
तहाँ पर नहिं आसिक माशूक ।
इश्क फिर किसका होवे,
वृथा वक्त तूँ क्यों खोवे ।।
दोहा-व्यापक परमानंद में, नहिं आसिक माशूक ।
लक्ष्य रूप में मार निशाना, वृथा विलोवे थूक ।।
करावै क्यों जग में हाँसी ।
लावनी सुन बारहमासी ।। ११।।
बसन्त ऋतु फाल्गुन में आवे,
खेल यह प्रारब्ध रचवावे ।
इत्र गुलाल ज्ञान रोरी,
खेलते भर-भर के झोरी ।।
दोहा-होली अविद्या फूंकि के, हो गये गुप्तानन्द ।
समझे कोई सुघड़ विवेकी, क्या समझे मतिमंद ।।
जगत की धूल उड़ी खासी ।
लावनी सुन बारहमासी ।। १२।।
कटै जासे जनम मरण फाँसी ।।

स्पष्टीकरण

अब इस अमरवाणी बारहमासी का स्पष्टीकरण व्याख्यात्मक ढंग से किया जाता है। जिसके अध्ययन एवं मनन से योग के सूक्ष्म तत्त्वों की जानकारी संभव है। आपकी कविता का प्रारम्भ मास 'चैत' से है। प्राय: -

मोह निसा सबु सोवनि हारा ।
देखिय सपन अनेक प्रकारा ।। (मानस)

सभी लोग मोहरूपी रात्रि में अचेतावस्था में सोये हुए हैं। जो कुछ भी रात-दिन दौड़ लगाकर अर्जित करते हैं, मात्र स्वप्न है। अधिकांशतः लोगों ने अचेतावस्था मोह में ही चेत-अचेत की सीमा निर्धारित कर ली है। यथा--

कोई चुनाव प्रतिद्वंद्वी कहता है कि मेरे पड़ोसी पश्चाताप कर रहे हैं और मैं तो चुनाव के पूर्व ही चेत गया था। कुछ पूंजी चुनाव प्रतियोगिता में सफलता प्राप्त करने के लिए पहले ही एकत्रित कर लिया था। एक सेठ कहते हैं कि मैं तो बादल देखकर ही चेत गया था कि तिल के भाव में अवश्य परिवर्तन होगा लेकिन वस्तुतः ये सभी अचेत (पराधीन) ही हैं। चेता हुआ चित्त तभी कहलाता है, जब यह आत्मा अपने स्वरूप को पाने के लिए व्यग्र होने लगे। भरत और कागभुसुण्डि इसी श्रेणी के चेते हुए पुरुष थे। भरत अवध का सम्पूर्ण राज्य तृणवत् त्याग राम-स्नेह के लिए आतुर हो उठे। कागभुसुण्डि जब चेत की अवस्था में पहुँचे तो उनके मन से समस्त वासनाएँ समाप्त हो गईं। जैसा कि--

मन ते सकल वासना भागी।
केवल राम चरन लव लागी ।। (मानस)

वास्तव में चेत तभी सम्भव है जब केवल चित्तचोर की ही चाह रह जाय। भगवान ही चित्तचोर हैं जिनका स्पर्श करके चित्त उन्हीं में लीन हो जाता है। चुरायी हुई वस्तु तो सदा के लिए खो जाती है। इसी आधार पर इस अमरवाणी की शुरुआत है। पहले बारह महीनों का सारांश है और बाद में लावनी। सारांश शब्दों में देखें।

दोहा- चैत चहत चित चोर को, चेला चतुर सुजान ।
चित के मिले न चौधरी, भइ चित में गलतान ।।

भावार्थ-चेता हुआ चित्त तब समझे जब केवल चितचोर की ही चाह रह जाय। वही चेला की स्थिति है, वही चतुर है और सुजान की स्थिति वाला है। प्राय: लोग चतुर ही तो बने हैं, किन्तु महापुरुषों की दृष्टि में अन्यत्र कहीं भी चतुराई का स्थान है ही नहीं। जैसा कि--

चतुराई चूल्हे पड़ी, घूरे पड़े अचार ।
तुलसी राम भजन बिनु, चारो वरन चमार ।।

ऐसी चतुराई में आग लगे जो भगवत्‌चिन्तन विहीन हो और ऐसे आचार कूड़ा-करकट में जायँ जो हमें भगवत्-भजन से वंचित रखते हैं। चित्त चोर की चाह तो पैदा हुई किन्तु चित्त के चौधरी अर्थात् चित्त को स्थिर करने वाले सद्‌गुरु नहीं मिले तो ग्लानि बनी ही रह जाती है।

टिप्पणी- हम दो घण्टे भजन में बैठकर दस मिनट भी अपने पक्ष में नहीं पाते और अन्ततः हताश होकर बैठ जाते हैं। साथ ही यह कहा करते हैं कि मन ही नहीं लगता। जब तक चित्त के चौधरी अर्थात् उसकी गतिविधि को पकड़ने वाले सद्गुरु नहीं मिलते तब तक वह रुकता नहीं। वे महापुरुष हृदय देश से उस चित्त की गतिविधि पर नियंत्रण करते रहते हैं। बाहर से सम्बन्ध कम रहता है।

सम्बन्ध-आखिर चतुराई है क्या?

चतुर क्या करी चतुर ने चतुराई,
हमारा चित्त चेत चकोर किया ।
अपने चित चाँदनि चमकाई ।।

भावार्थ-चतुर ने भला कौन सी चतुराई किया? चूँकि महापुरुष ही बोलने वाले हैं, इसलिए इन्हीं महापुरुष की रहनी के प्रति अपने आपको चकोर बना लिया। ऐसा चकोर बनने पर महापुरुष के चित्त का प्रकाश अपने चित्त में पा जाता है। जैसा कि 'अपने चित चाँदनि चमकाई।'

चकचान अचानक चन्द चढ़ा,
चन्दा की चमक चित पर छाई ।

भला वह प्रकाश आता कैसे है? आप चकोर बनकर लग भर जायँ, अनायास ही वह प्रकाश चित्त पर बढ़ने लगता है।

टिप्पणी- यहाँ चन्दा आकाश का कोई चन्द्रमा नहीं बल्कि परमात्मा की वह प्रभा है, जो चित्त पर चकोर बनने से स्वाभाविक बढ़ती रहती है। महापुरुष बाहरी दृष्टान्तों के माध्यम से अन्दर की स्थितियों को समझाते आये हैं। इस भगवत्पथ में बाहरी चन्द्रमा से कोई प्रयोजन नहीं है, जैसा कि 'मन शशि चित्त महान'। मन ही चन्द्रमा है और शून्य ही आकाश है। जब शून्य में मन रुकने की क्षमता पा लेता है तो वही चन्द्रमा कहलाता है।(चन्द्रमा की संज्ञास्थिति यही है) इसी कारण वह चन्दा अन्यत्र नहीं चढ़ता बल्कि जो चेतन की चमक है वह चित्त पर छा जाती है। यह तभी सम्भव है जब चकोर के गुणधर्म आप में हों।

चन्दा चहुँ ओर चकोर चला,
चित चेतन में गिरदी खाई।।

अब उस चेतना का प्रकाश जो कि चित्त पर छाया हुआ है, चित्त तक ही सीमित न रहकर सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगता है। सर्वत्र वह स्वरूप ही दिखाई देता है। जैसा कि-

स्वर्ग नरक अपवरग समाना।
जहँ तहँ देखि धरे धनु बाना।।

चित्त में वह प्रकाश आ जाने के बाद न स्वर्ग स्वर्ग ही रह जाता है और न नरक नरक ही। जब तक एकता नहीं हो जाती, तब तक रास्ता शेष है। इसलिए **''चकोर चला चित चेतन में गिरदी खाई''**। जैसे कुछ और आगे चला तो चित्त उसी रूप का स्पर्श कर वही हो जाता है। सर्वत्र दिखाई देता है पर है तो अलग इसीलिए चकोर है। जहाँ स्पर्श किया तो उसी में विलीन हो गया।

धरनी पर आया, चमक में खो दई काया।

जब उसी रूप में अपने को खो ही दिया तो ऐसी सत्ता नहीं कि जिसके लिए खोज करे। आखिर यह स्थिति हुई कहाँ? इसी शरीररूपी पृथ्वी में ही। जैसा कि-

धड़ धरती का एकै लेखा।
जस बाहर तस भीतर देखा।।

धड़ कहते हैं शरीर और धरती कहते हैं बाहरी पृथ्वी को। जो कुछ भी अन्दर दिखाई देता है वह एक ही जैसा है। शरीररूपी पृथ्वी में चित्त चेतन ही जैसा हो गया और जन्म-मरण की प्रक्रिया खो दिया। काया जन्म-मरण का वह विधान है जो जीवात्मा को पिण्डों का रूप देता है। यह शरीर ही चला गया तो संसार कैसा? तद्रूप हो जाने पर एक में एक का भान नहीं होता, इसलिए चित्त चोर भी चला गया।

चला गया चित चोर, चतुर जब तक चलने नहिं पाया।।

इसके आगे चतुर की कोई चाह नहीं। उसके खो जाने की स्थिति तक

चतुर नहीं चल पाता। जहाँ तक मन-बुद्धि की पकड़ है वहाँ तक साधक चलता है। उसके बाद की कुछ ऐसी अवस्था है जिसे चेतन (इष्टदेव) ही समझा-बुझाकर अपनी स्थिति प्रदान कर देते हैं।

टिप्पणी- अब आगे के महीनों में इसी का विस्तार है, जिसे समझकर साधक साधना में सक्रिय भाग ले सकता है। किसी-न-किसी अवस्था में आगे यह सबके लिए सुलभ हो सकता है। भले ही हम किसी परिस्थिति में क्यों न हों।

लावनी

'लावनी' ले आने वाली को कहते हैं। भजनमयी प्रवृत्ति ही उस परम चेतना को लाने में सफल होती है। अतः चिन्तन की प्रवृत्ति को लावनी कहते हैं। लगन, लावनी, लव इत्यादि एक दूसरे के पर्याय हैं। इनमें से कोई भी शब्द कहा जाय तो तात्पर्य वही निकलता है, केवल थोड़ा-थोड़ा उतार-चढ़ाव है। जब कभी किसी की लगन चेतना को पाने के लिए प्रवृत्त हुई है तो उसका यही रूप रहा है।

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय।
सुरति डोर लागी रहे, तार टूटि न जाय ।।

आठों पहर सोते एवं जागते समय ऐसी लगन बनी रहे कि तार न टूटे। ऐसा नहीं कि गर्मी में न होगा तो जाड़े में होगा। हर देश-काल में सुरति की डोर लगाना है, इसलिए इसे बारहमासी कहते हैं। यह केवल सुबह-शाम तक ही सीमित नहीं है। सुबह-शाम भजन और अन्य समय में मन को अनियंत्रित रखना भजन नहीं है। यह तो केवल प्रयास मात्र है जिससे आगे पथ में बढ़ा जा सकता है। अब आइए इस पद पर-

लावनी सुन बारहमासी।
कटै जासे जनम मरण फाँसी ।। टेक ।।

अब आप उस लगन के बारे में सुनें, जिसमें आठों पहर बारहो महीने निरन्तर लगे रहने पर जन्म-मरण की फाँसी कटती है और परम चेतन स्वरूप को जीव प्राप्त हो जाता है। जैसे **"दिन-दिन बढ़त सवायो।"** प्रतिदिन उसमें सवाई बढ़ने पर ही भलाई है। ऐसी लगन का सदा महत्त्व रहा है जो जन्म-मरण की फाँसी को काटने में समर्थ है।

सम्बन्ध- अब यदि भजन करनेवाले के लिए ही कहा जाय तो सांसारिक व्यक्तियों के लिए कोई उपाय ही नहीं बचता। इसलिए जो जहाँ खड़ा है उसको वहीं से चेतने का विधान बताते हुए आगे क्रियात्मक विस्तार किया गया है।

साधनाक्रम में बारह महीने

चैत में चिन्ता यह कीजै,
कि यह तन घड़ी घड़ी छीजै।
इससे करिये तनिक विचार,
सार वस्तु है क्या संसार?

भावार्थ- जब हम परिस्थिति में हैं तो सिद्ध हुआ कि चैतन्यता नहीं है, अब चैतन्य होने के लिए शरीर की स्थिति पर विचार कीजिए कि यह हर घड़ी नष्टप्राय होता जा रहा है। हम सोचते हैं कि आयु बढ़ गई परन्तु ऐसा नहीं है। मान लिया जाय कि हमारी आयु ६० वर्ष की है और हम ५० वर्ष की अवस्था में पहुँच गये तब दस वर्ष ही तो शेष रहे। शरीर हर घड़ी काल के गाल में सिमटता जा रहा है और न चाहते हुए भी हम देखते हैं

कि अपने माता-पिता एवं परमप्रिय पुत्र को फेंक आते हैं। जब यह शरीर ही नाशवान् है तो भोग्य पदार्थ रहते हुए भी आप बरबस खींचकर पता नहीं कहाँ फेंक दिये जाते हैं। एक ग्रास भी अधिक नहीं खा सकते। भोग्य पदार्थ ही तो संसार है। जैसा कि-

मैं अरु मोर तोर तैं माया।

जब शरीर ही मरणधर्मा है तो विचार करें कि क्या संसार सत्य है? सिद्ध है कि संसार असत्य है।

टिप्पणी- याद रखें-

गो गोचर जहँ लगि मन जाई ।
सो सब माया जानेउ भाई ।।

इन्द्रियों और उनके विषयों में मन जहाँ तक उड़ान भर पाता है, वहाँ तक अपने भोग की ही सामग्री खोजता है। यही सब माया है जिसका नाम संसार है। अन्त में सब पदार्थ छूट जाते हैं। यही देखकर महात्मा बुद्ध को वैराग्य हुआ था। भगवान कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! यह शरीर क्षणभंगुर है पर है देवताओं को भी दुर्लभ। यही मेरे प्राप्ति का साधन एवं भव-बन्धन से छूटने का माध्यम है।

सम्बन्ध - जिस शरीर के लिए हमें भोग्य सामग्री अथवा संसार प्रिय है, वही नाशवान है, तो आखिर सत्य है क्या?

दोहा- सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत पसार।
नित्यानित्य विवेकिया, लीजै बात विचार।।

भावार्थ - सत्य वस्तु अथवा जो परम सत्य है, वह है आत्मा। यह महापुरुष

का निर्णय है। जगत् का प्रसार देखने में बड़ा सुन्दर है, परन्तु है सर्वथा झूठा। "नित्यानित्य विवेकिया" - सत्य क्या है और असत्य क्या है इस पर विवेक करें। विचारों के द्वारा इस वार्त्ता को लिया जाय, विचारहीनों के लिए यहाँ ठिकाना नहीं है।

टिप्पणी - विचारहीनता से धोखे ही धोखे में समय बीत जायेगा। विचारहीन के लिए बहुमूल्य मानव शरीर नगण्य है।

फिरै क्या मथुरा अरु कासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

काशी, मथुरा आदि तीर्थों में भ्रमण करने से इस लगन का कोई महत्त्व नहीं है। यह तो मानसिक प्रवृत्ति है जो प्रभु की ओर निरन्तर प्रवाहित होती रहती है और इससे जन्म-मरण का बन्धन टूट जाता है। लगन की इसी परिस्थिति में आगे बढ़ने का वक्त मिलता है।

वैसाख में वक्त तूने पाया,
यहाँ कोई रहन नहीं आया।
काल ने सबही को खाया,
(कि) यह सब झूठी है माया।

भावार्थ- वैशाख (विशेष सबूत) विशेष प्रमाण शरीर का काल के गाल में होने का संसार की नश्वरता से मिला है। इसकी नश्वरता पर विचार कर संसार की नश्वरता दिखाई देने से हम चिन्तित अवश्य होंगे, इसीलिए वक्त मिला है। वह भला किस प्रकार-

बड़े भाग्य मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सबग्रंथन गावा।
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा।।पाइ न जेहीं परलोक सँवारा।।

सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछताइ।
कालहि कर्महिं ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाइ।।

बड़े भाग्य से यह मानव-तन मिला है। यह साधन का धाम एवं मोक्ष का दरवाजा है। इसे पाकर जो अपनी आवागमन की स्थिति से छुटकारा नहीं पा लेता, वह सिर पटक-पटक कर पश्चाताप करता है। काल, कर्म और ईश्वर को व्यर्थ ही दोष देता है जब कि दोष उसी का है। मानव-तन ही संसार से पार होने का साधन है, शेष योनियाँ तो केवल भोग भोगने के लिए ही हैं। इसलिए महापुरुष कहते हैं, तुझे वक्त मिला है। निःसंदेह यह क्षणभंगुर है पर आज दिन तो सामने उपस्थित है। इस समय तो पास है। शायद अब भी दृष्टि संसार की तरफ झुके तो कहते हैं कि काल ने सबको बरबस ही खा लिया। राम, कृष्ण आदि कोई भी तो दिखाई नहीं पड़ते। इससे सिद्ध है कि माया सर्वथा झूठी है।

टिप्पणी- उन महापुरुषों ने शरीर के रहते ही परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया। वे शरीर से भिन्न व्यापक स्थिति को उपलब्ध कर चुके थे। यही तो करना है-

सन्तों! जीवित ही करु आशा।
जीवित में मरना भला, जो मर जाने कोय।
मरने से पहले मरे, अजर अमर सोइ होय।।

सम्बन्ध- माया के विषय में पुनः चेतावनी देते हैं, कारण कि एक बार समझने से यह पिण्ड नहीं छोड़ती है। प्रायः सभी तो पन्ने उलटते हैं पर हाथ कुछ भी नहीं लगता। इसीलिए महापुरुष वैराग्य की आवश्यकता पर बल देते हुए कहते हैं-

दोहा- भोग लोक परलोक का, (कि) सबही त्यागे राग।
रहे न इनकी कामना, ताहिं कहैं वैराग।।

इस लोक के भोग जो छोटी सी झोपड़ी से लेकर राष्ट्रों तक का सिलसिला है और जो परलोक, बैकुण्ठ आदि की मान्यतायें हैं, जब इनकी लेशमात्र भी कामना न रह जाय, तब वैराग्य की स्थिति समझना चाहिए (इसी का नाम वैराग्य है)। वैराग्य का तात्पर्य लगाव के न होने से है।

तितिक्षा तो सों परकासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

तितिक्षा (त्याग की इच्छा) इस त्याग की इच्छा की कसौटी तो साधक पर निर्भर करती है। यदि जन्म-मरण की फाँसी को काटना है तो त्याग की प्रबल इच्छा करनी होगी। तितिक्षा का प्रकाश तुम्हीं से होना है, इससे स्पष्ट है कि यह महापुरुष के क्षेत्र की बात नहीं है। वे तब देखेंगे जब हमारे अन्दर त्याग व पाने की प्रबल इच्छा होगी।

जेठ में जतन यही करना,
मिटे जासे जनम और मरना।
मन इन्द्रिय विषयों से परिहरना,
(कि) लीजिए सन्तों का सरना।।

भावार्थ- ज्येष्ठ (पहले पैदा होनेवाला)। साधन के प्रथम चरण में केवल यही यतन करना है ताकि जन्म-मरण का बन्धन छूट जाय। ऋद्धियों और सिद्धियों में उलझने की आवश्यकता नहीं है। भला वह कौन सा यत्न है? मनसहित इन्द्रियों को विषयों से उपराम रखते हुए सन्तों की शरण लेना!

सम्बन्ध - अब अन्य सन्तों के साथ-साथ सद्गुरु का विशेष स्थान दर्शाते हुए कहते हैं कि -

दोहा- श्रद्धा कर गुरु वेद में, कर मन का समाधान।
कर्म अकर्म के साधन त्यागे, सहे मान अपमान।।

सन्तों में जो सद्गुरु हैं, उनमें और उनकी विदित वाणी में मन का समाधान पूर्ण श्रद्धा से कर दें। इसके बाहर कहीं खोजने की आवश्यकता नहीं है। यदि खोजते हैं तो साधक नहीं। कर्म-अकर्म का तात्पर्य निष्काम भाव से करना है। बौद्धिक स्तर पर अकर्मता की स्थिति को बनाये रखना पड़ता है जिससे कि कहीं राग न आये। फल की इच्छा न जागृत हो जाय, ऐसी जिम्मेदारी त्याग दें। केवल उनके द्वारा मिलनेवाला मान-अपमान सहते जाओ।

टिप्पणी- जब मन को सद्गुरु के चरणों में समाधान करने की स्थिति आ गई तो कौन साधन बाकी है। जब मन को बाहर निकलने का स्थान ही नहीं मिलता तो कामना कैसे करेगा। क्रिया यही होती है परन्तु वह महापुरुष के ऊपर निर्भर रहता है।

जगत से रहना नित्य उदासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

जगत् से निरन्तर उदास रहना है। यदि जगत् से लगाव हुआ तो गुण धर्म और उनकी वाणी का अनुसरण सब कुछ छूट जायेगा। ऐसी स्थिति में मन का समाधान करना असम्भव है। यदि मन में उधर का लगाव हुआ तो श्रद्धा और समर्पण की कसौटी टूट जायेगी। उस चेतन तत्त्व को लानेवाली प्रवृत्ति के विषय में सुनो, जो निरन्तर प्रवाहित रहनेवाली है और जिसमें काल का भेद नहीं है।

सम्बन्ध - सन्तों में जो सद्गुरु हैं उनमें और उनकी वाणी में मन का समाधान बताया गया है किन्तु एकदम मन लगता नहीं। ऐसी परिस्थिति में कुछ करना है।

आषाढ़ में सत् संगति करना,
वहाँ तू पावे सब मरमा।
तुझे वहाँ होवे जिज्ञासा,
तब लगे मोक्ष की आशा।।

भावार्थ - आषाढ़ (आष + आढ़, पुरानी आशा)। वह आशा जो पुरातन है, जो परम पुरुष परमात्मा है, उसके प्रति जागृत हुए। बस जागृत होते ही आगे गति मिलने लगी। अब साधक को केवल सत्संग करना है। जिससे आगे का सम्पूर्ण भेद पा जायेगा। सत्संग का तात्पर्य केवल वार्त्ता नहीं, अपितु ध्यान और चिन्तन से है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि "सत्य वस्तु है आत्मा।" उस आत्मा में मन को खड़ा करना है। आत्मा सत्य तो है, पर दिखाई नहीं देती। ऐसे महापुरुष जो आत्मा को पाकर परमात्म स्वरूप में स्थित हैं, उनके ही स्वरूप में मन को समेट कर चिंतन के द्वारा लगाना या संग करना है। ज्यों-ज्यों गुप्त भेद मिलता जायेगा, त्यों-त्यों उसे जानने की इच्छा प्रबल होती जायेगी तब फिर मोक्ष की आशा लग जायेगी। वास्तव में इसी पथ में छुटकारा मिलता है तब तक सभी लोग कहते भर हैं; किन्तु :-

जाने बिनु न होय परतीती। बिनु परतीति होय नहिं प्रीती।।

टिप्पणी- सुग्रीव ने जब राम के अतुल बल का प्रमाण प्रत्यक्ष देखा, तभी उसकी आशा विश्वास सहित बलवती हो गई।

सम्बन्ध- मोक्ष की आशा लगी परन्तु वह मोक्ष अथवा मुमुक्षा है कैसी?

दोहा- परमानन्द की प्राप्ति, अरु अनरथ का नाश ।
यह इच्छा मन में रहे, कहे मुमुक्षा ताश।।

अनर्थ अथवा शुभाशुभ क्षेत्र का नाश हो जाय और परमानन्द स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति हो जाय। मन के अन्दर इतनी कामना के शेष रह जाने का नाम मुमुक्षा है।

हानि हो जिससे चौरासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

चौरासी लाख योनियों में आबद्ध संसार की हानि इसके द्वारा हो जायेगी। कुछ युक्तियों से यह (८४ लाख) भाव-मापदण्ड पूर्व से ही चला आ रहा है। आवागमन से छुटकारा दिलाने वाली लगन का विधान है कि यह अहर्निशि चलती रहे, जब तक कि वह तत्त्व दिखाई न पड़े। जैसा कि-

आठ पहर लागा रहे, भजन तेल की धार।
जगत बलाबलि खाख है, हरि रस है आधार।।

अब केवल मोक्ष की ही इच्छा शेष है। ऐसी स्थिति में साधक के क्या लक्षण हैं?

सावन में शरणागत होना,
पैर सद्गुरु के धो पीना।
साफ जब होय तोहरा सीना,
रंग तब रहनी का दीना।।

भावार्थ - श्रावण (श्रवण करना)। जो इष्टदेव से मिलनेवाले धारावाही आदेश हैं उसी के अनुसार अपने को ढालना है। जब धारावाही आदेशों का ताँता लग जाता है, तब सद्गुरु हृदय से पथप्रदर्शन करते हैं। उन्हीं के

पालन में इष्ट की शरण लेते हुए उनके चरणों को मन के द्वारा धोकर पीते जाओ। बाहर चरण धोने का विधान नहीं है। ज्यों-ज्यों हम सद्गुरु के चरणों में ध्यान करते जायेंगे, त्यों-त्यों वह रहनी हृदय में प्रगट होती जायेगी।

टिप्पणी - जन्म-जन्मान्तर से लगे हुए मल-आवरण या विक्षेप धुल जाने पर सन्तों की रहनी का रंग ढलता है अथवा स्थिरता आने लगती है। जैसे-

(हे हरि) कबहुँक लौं यहि रहनि रहौंगो।
शीतल मन पर दोष न देखत, सन्त स्वभाव गहौंगो।।

अब सन्तों की रहनी आने लगती है।

दोहा- तत्वमसी के अरथ को तोय करूँ परकाश।
संशय शोक मिटे तेरा, होय अविद्या नाश।।

जब हृदय के मलावरण व विक्षेप समाप्त होने लगे और रहनी आने लगे तब हृदय से पथ-प्रदर्शन करने वाले महापुरुष "तत्वमसी" के अर्थ का प्रकाश करते हैं अर्थात् वह परमतत्त्व परमात्मा तुझसे अभिन्न है, अनुभवी स्तर पर महापुरुष अनुभवों के माध्यम से उसका प्रकाश करते हैं। जिसके परिणामस्वरूप संशय-शोक सदा के लिए मिट जाते हैं और अविद्या नष्ट हो जाती है। यह तभी सम्भव है जब लगन न टूटे।

हानि हो जिससे चौरासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

यह चौरासी अर्थात् आवागमन को नष्ट करनेवाला साधन, है, जिसमें लगन के टूटने का विधान नहीं है।

सम्बन्ध - जब भक्त पर रहनी का रंग चढ़ जाता है, दूसरे शब्दों में साधक का हृदय इष्ट की रहनी में ढलने लगता है। जैसे भादों में फसल

सम्बन्धी भरपूरता रहती है, वैसे ही साधक के हृदय में इस स्थिति में भजन की भरपूरता रहती है।

महीना भादों का आया भरम सब छीजै।
गुरु की भक्ति चित्त धार प्रेम रस पीजै।।
ईश्वर से अधिक भक्ति गुरु की कीजै।
इस मानव तन को पाय सुफल करि लीजै।।

भावार्थ - भादों (भजन की भरपूरता)। अब इस भजन की भरपूरता में भरम का क्षीण होना, गुरु के प्रति अनुराग का होना और प्रेम रस में भींगे रहना स्वाभाविक ही है। कारण इन्हीं महापुरुषों की देन है कि आज ऐसी रहनी मिलने लगी, किन्तु इन महापुरुषों का आदेश है कि ईश्वर से अधिक भक्ति सद्‌गुरु की करनी है। महापुरुषों का कहना है कि भक्ति तो स्वाभाविक ही है परन्तु संदिग्ध भक्ति, भक्ति नहीं है। ईश्वर से अधिक गुरु की भक्ति होने पर ही यह मानव शरीर सफल हो सकता है। सफलता तो तभी है जब उस कार्य की पूर्ति हो जाय जिसके लिए यह तन मिला है। प्राय: लोग ईश्वर कुछ है और वह बड़ा है, इन विचारों की संदिग्धता में सद्‌गुरु को हृदय से नहीं पकड़ पाते। साक्षात्कार करने के लिए ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है। गुरु का गुरुत्व पाने पर ही ईश्वर दिखाई देता है, पहले नहीं। जनश्रुति है कि-

गुरु बिनु भव निधि तरइ न कोई। जो बिरंचि संकर सम होई।।

यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये सद्‌गुरु मिलें, तो भी सस्ता जान।।

भला वे गुरु कैसे हैं जिनकी हमें भक्ति करनी है।

दोहा- ब्रह्मवेत्ता वक्ता सुरति, गुरु के लक्षण जान।
इच्छा राखे मोक्ष की, ताहि शिष्य पहचान।।

ब्रह्म के विषय में जानने वाले हों एवं ब्रह्म के विषय में व्यक्त कर सकें, सुरति की गतिविधि में प्रवेश देनेवाले हों, वही गुरु हैं। यह योग का विषय है। केवल मोक्ष की इच्छा रखनेवाला, जिसे सिद्धियाँ और सम्मान की चाह न हो, वही शिष्य है।

होय अमरापुर (को) वासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

ऐसा संयोग बैठने पर ही जो अजर है, अमर है और शाश्वत है, ऐसे पुर में स्थान मिलता है। इष्ट की स्थिति को लानेवाली उस प्रवृत्ति के नियम को सुनो, जिसमें सतत् लगे रहने का विधान है।

सम्बन्ध - सद्गुरु में जब मन का समाधान होने लगता है तब उस परमतत्त्व का संचार अनुभवों में आने लगता है, जिसे लोग 'मैं हूँ' ऐसा कहा करते हैं।

क्वार में करना यही उपाय,
तत्वमसी श्रवणन मन लाय।
जुगुति से मनन करो प्यारे,
खुले जासे अन्दर के ताले।।

भावार्थ- क्वार (विकारों का कट जाना)। 'कु' कहते हैं दूषित को और 'अरे' कहते हैं काटने को। साधक के द्वारा ज्यों-ज्यों विकारों का शमन होता जायेगा, त्यों-त्यों उसे तत्त्वमसी का आदेश मिलने लगेगा, जैसा कि सद्गुरु पूर्व में ही कहते हैं कि जब हृदय शुद्ध हो जायेगा तो उस तत्त्वमसी का

संचार मैं करूँगा। अन्दर से मिलनेवाले आदेशों को श्रवण करना एवं उसी में मन को लगाना बस साधक के लिए इतने ही उपाय का विधान है। साधक मन को उस तत्त्व में स्थिर कर युक्तिसहित उसका मनन करता जाय, ताकि अन्दर के ताले खुल जायँ, जो आत्मा और परमात्मा में अन्तर डाले हुए हैं।

टिप्पणी- वह आदेश क्रमशः मिलता है। जब तक अंतिम स्थितिवाला आदेश नहीं मिल जाता, तब तक किसी न किसी रूप में ताला लगा ही रहता है। अब रही युक्ति से मनन करने की बात, उसके लिए हम जैसा कि राम नाम कहते हैं वैसा है नहीं। जब यही नाम मनन की स्थिति में आ जाता है, तब उसका वाणी से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता।

दोहा- निदिध्यासन के अन्त में, ऐसा होवे भान।
ब्रह्म आत्मा एक लख, तब होय ब्रह्म का ज्ञान।।

निदिध्यासन के अन्त में ऐसा भान होने लगता है कि ब्रह्म और आत्मा परस्पर एक ही है और इसी एकत्व दर्शन का परिणाम ही ब्रह्मज्ञान है।

टिप्पणी- हर पहलू की दो सीमाएँ हुआ करती हैं, एक अधिकतम और दूसरी न्यूनतम (प्रवेशिका एवं पराकाष्ठा)। उदाहरण के लिए भक्ति को लीजिए। जहाँ से भक्ति की शुरुआत है, वह उसकी न्यूनतम सीमा है और जहाँ वह लक्ष्य को प्रत्यक्ष करने की स्थिति में आ जाती है, वह अधिकतम सीमा कहलाती है। इसी प्रकार निदिध्यासन, जहाँ से चिन्तन के द्वारा हमारा जड़-अध्यास मिटने लगता है, वह प्रवेशिका है और चिन्तन की पूर्णता में जहाँ अध्यास समाप्त हो जाता है, वही पराकाष्ठा अर्थात् अन्त कहलाता है।

हानि हो जिससे चौरासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

यह वास्तव में आवागमन के हानि का अंतिम स्तर है अर्थात् अधिकतम मंजिल मिल रही है।

सम्बन्ध - जब ब्रह्म, आत्मा एक हो जाय तो भी क्या कर्म (चिन्तनक्रम) बना रहता है? नहीं, छूट जाता है। इसी पर आधारित है अगला महीना कार्तिक-

कार्तिक में करम सभी नाशा,
ज्ञान जब उर में परकाशा।
तब अपना आप रूप भाषा,
उसी का लखो तमाशा।।

भावार्थ- (कार्तिक अर्थात् कर्मों का त्याग) जब ब्रह्म और आत्मा अभिन्न स्थिति में दिखाई देने लगते हैं, तब भजन का कार्य समाप्त हो जाता है। कारण कि उसके आगे कोई भगवान् है ही नहीं, जिसको खोजें। इस प्रत्यक्ष दर्शन से सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। शुभाशुभ कर्म, शुभ वह कर्म है जो इष्ट की उपलब्धि के लिए किया जाता है और अशुभ जो जन्म-जन्मान्तर के संस्कार हैं। यह विषयोन्मुख प्रक्रिया है। ऐसा तभी सम्भव है, जबकि ज्ञान का प्रकाश हृदय में हो जाय। प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है न कि बकवास। वाक्यज्ञान तो अल्पावधि में ही आ जाता है परन्तु उस ज्ञान की तो यही पहचान है कि अपना स्वरूप प्रतिभासित होने लगे। उसी का तमाशा देखो। उसकी विशेषता को स्वयं देखो। दूसरा कोई देख ले, ऐसी बात नहीं है।

सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना।।

सन्त कबीर से किसी ने पूछा कि वह सुख कैसा है? तो वे बोले- **"कहैं कबीर गूँगे की शक्कर, खाय सोय पै जानै।।"**

टिप्पणी - जिसमें वह संचारित हो जाय, उसके तमाशे को वही देख सकता है। किसी को पकड़ाया नहीं जा सकता। क्रमशः चलकर तो महापुरुष देते ही हैं, जैसा कि उनका विधान है।

दोहा- आर-पार हमरो नहीं, नहिं देश काल से अन्त।
मैं ही अखण्डित एक हूँ, सब वस्तु का तन्त।।

अब उस खेल का रूप दर्शाते हैं कि ब्रह्म का कहीं न आर है न पार अर्थात् न आदि है न अन्त। अपने को उससे अभिन्न देखा, जो कि हर देश-काल से अबाधित है, इसलिए मेरा अन्त नहीं है। वह ब्रह्म अखण्डित एवं सब वस्तुओं का निचोड़ है। उससे अभिन्न होने से मैं भी अभिन्न और सब वस्तुओं का निचोड़ हूँ। इस प्रकार अखण्डित और सब वस्तुओं का तत्त्व मेरी ही संज्ञा है।

मैं ही चेतन अविनाशी।
लावनी सुन बारहमासी।।

ब्रह्म परम चेतन एवं विनाशरहित सत्ता है, उसी में मिट गया, स्वरूप है। अब वह लगन कार्य कर चुकी।

सम्बन्ध- जब कोई सत्ता है ही नहीं, तब लोक-परलोक, राम-कृष्ण, ब्रह्मा और विष्णु आदि इनका क्या स्वरूप है? क्या ये भी नहीं बचे? तब कहते हैं कि परम स्वरूप सबकी पराकाष्ठा है। पूर्व की स्थिति कब मिलती है और उसकी क्या विशेषताएँ हैं, इसी का चित्रण इस माह में है।

अगहन में ज्ञान अगिनि जागी,
लोक सब दहन कहँ लागी।

फूँक दिये ब्रह्मा अरू विष्नू,
फूँक दिये राम अरू कृष्नू।

भावार्थ- जैसा कि बताया गया है कि ईश्वर की प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ज्ञान है। उसकी जानकारी होने के कुछ क्षण पूर्व ही पाप समूल नष्ट हो जाते हैं।

अगहन (पाप के हनन की स्थिति)। पाप के निर्मूल होने की स्थिति में उस ज्ञान अग्नि का संचार होता है, जिसमें लोक, परलोक सभी जल जाते हैं। उस अभिन्न जानकारी के अंदर की बात है राम,कृष्ण, ब्रह्मा और विष्णु। उस अभिन्न स्थिति में ब्रह्मा और विष्णु, राम और कृष्ण की स्थिति सर्वथा विलीन हो जाती है। कारण कि यह वहाँ तक की अवस्थाओं का ऊँचा-नीचा नामकरण है। ब्रह्मा (जैसे वह चेतन) जिस प्रकार ब्रह्म की जानकारी का प्रसार करता था, विष्णु योग-क्षेम की रक्षा करता था, राम जिस प्रकार सर्वत्र रमण करते हुए व्यापकता दर्शाता था और कृष्ण जिस प्रकार आत्मा से कर्त्तव्य का पूरक था, आदि उसी स्थिति में विलीन हो गये। अभिन्न स्थिति के बाद कौन किसका पोषण करे, कौन किसका प्रसार करे, कौन रमण करे और किससे कर्त्तव्य की पूर्ति हो?

टिप्पणी - यह तो ब्रह्म जिन-जिन युक्तियों से योगी के सामने प्रसारित होता है, उसी का रूप है। अब वह इन शक्तियों के मूल सहज स्वरूप में ही स्थित हो गया तो किसका पथ-प्रदर्शन करे। विलगता में यही शाखाएँ प्रसारित होकर समझाती थीं। याद रखें, जो अवतार बाहर पाये जाते हैं, वे इसी के अपभ्रंश मात्र हैं। यह अपभ्रंश कालान्तर में हो जाया करता है किन्तु इन्हीं के द्वारा प्रेरित हो प्रत्यक्ष स्थिति पाने वाले के लिए इनका कोई स्थान

नहीं रह जाता। अन्तःकरण में जब तक वह इष्ट विशेष कृपा करके पथ-प्रदर्शन नहीं करता, तब तक ईसा, मूसा, मुहम्मद, राम, रहीम आदि की मान्यता है। उन्हीं के द्वारा माध्यमिक स्तर तक बढ़ा जाता है। इसके आगे वही इष्ट बाहर से सम्बन्ध तोड़कर भीतर अन्तर्देश से अपने स्वरूप में जोड़ देते हैं। इस स्तर वाला साधक सामान्य व्यक्तियों की दृष्टि में नास्तिक-सा प्रतीत होता है परन्तु सही कृपापात्र वही है।

दोहा - जलत जलत ऐसी जली, जाको आर न पार।
ईश्वर जीव ब्रह्म अरु माया, फूँक दियो संसार।।

ईश्वर की अभिन्न स्थिति का नाम ज्ञान है। यह रहनी ऐसी विचित्र है कि उसका आदि एवं अन्त नहीं है अर्थात् वह सर्वत्र है। इस स्थिति में माया एवं संसार तो मिथ्या है ही, साथ ही साथ ईश्वर और ब्रह्म की भी संज्ञा नहीं बनती अर्थात् विलीन हो जाती है, क्योंकि उससे भिन्न कोई सत्ता नहीं रह जाती, जिसे कि वह समझे। जब वही है तब किससे कहना और समझना। महात्मा बुद्ध जब इसी स्थिति में थे तो लोगों ने उनसे प्रश्न किया कि महाराज ब्रह्म की स्थिति क्या है? वे शान्त होकर बैठ गये और कोई उत्तर नहीं दिये। मतलब यह था कि ब्रह्म शान्त है, इसलिए शान्ति की तरफ संकेत किये, अनिर्वचनीय है इसलिए मौन हो गये। यही महाराज जी का भी अभिप्राय प्रगट है।

बिना ईंधन के परकासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

यह कोई सांसारिक अग्नि नहीं है, जो वस्तुओं के संयोग से जलती है। यह दृष्टान्त मात्र है परन्तु वास्तविक अग्नि इसी को कहा जा सकता है। आग

में डालने से जिस प्रकार वस्तुयें जल जाती हैं, ठीक उसी प्रकार इष्ट के मेल की अग्नि (योगाग्नि) में सम्पूर्ण जगत् सदा के लिए शान्त हो जाता है। वह बिना किसी सम्बन्ध के स्वयं प्रकाश स्वरूप है। निरन्तर अभ्यास से ही उस अग्नि का प्राप्त होना सम्भव है। कहीं शिथिलता की गुंजाइश नहीं है, इसलिए इसे लावनी कहते हैं, जिसका अर्थ है, निरन्तर लगनेवाली लगन।

टिप्पणी- इसी लगन को समझने के लिए "**राम काज कीन्हें बिना, मोहिं कहाँ विश्राम**" के तात्पर्य को समझना है। कुछ ही समय के बाद मन के मनोरथ प्रगट होने लगते हैं। इसी अवस्था में बहुत से साधक विश्राम करने लगते हैं। हनुमान जी समुद्र पार करने लगे तो मैनाक पर्वत ने उनके सम्मुख आकर कहा कि विश्राम करो। इस पर हनुमान जी ने उत्तर दिया कि "**राम काज कीन्हें बिना मोहिं कहाँ विश्राम**"।

संसार ही समुद्र है। मन के मनोरथों का प्रकट होना ही मैनाक है और मान को हनन करनेवाला वैराग्य ही हनुमान है।

सम्बन्ध- अब केवल सन्तों की रहनी का चित्रण अवशेष है। जो स्वयं प्रकाशित है, ऐसे प्रकाश में स्थिति आ गई तो क्या महापुरुष भजन नहीं करते? इसी पर पूज्य महाराज जी कहते हैं कि-

पूष में पूरन आपै आप,
नहिं तहाँ पुन्य अरु पाप।
कहो अब जपूँ कौन काजाप,
मिटा सब जनम-मरण सन्ताप।।

भावार्थ- पूष (पूर्णता) में पूर्ण अपने आप है। वहाँ न तो पाप है और

न पुण्य ही। वहाँ कोई भिन्न सत्ता भी नहीं है, तो भला बताइए कि मैं किसका जाप करूँ? अन्ततः जनम-मरण का संताप मिट चुका जो जाप के लिए प्रेरित करने वाला था।

दोहा- ज्ञाता ज्ञान न ज्ञेय कछु, ध्याता ध्यान न ध्येय।
मम निज शुद्ध स्वरूप में, उपाध्येय नहिं हेय।।

यहाँ न ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला है, न जानकारी की कोई युक्ति है और न जानने योग्य ही कोई शेष है। यहाँ न कोई ध्याता अर्थात् ध्यानेवाला है, न कोई ध्यान का क्रम है और न कोई ध्येय ही है। मेरे निज, शुद्ध स्वरूप में जो पूर्ण है, उसकी न तो कोई उपाधि ही है और न उसके नाश का ही विधान है।

करुँ फिर किसकी तल्लासी।
लावनी सुन बारहमासी।

जब कोई परम सत्ता अर्थात् परम लक्ष्य शेष नहीं, तो फिर किसकी खोज की जाय। ऐसी लगन के बारे में सुनें, जिससे यह स्थिति मिलती है और जिसमें निरन्तर लगे रहने का विधान है।

सम्बन्ध- पूष में पूर्ण तो है किन्तु पूर्णता का नशा पीछा किये हुए है। आगे चलकर महापुरुषों का यह तनाव भी उतर जाता है, कारण कि जब कोई भिन्न सत्ता ही नहीं है तो नशा किससे और किसको हो?

लोग जहाँ-तहाँ भूले रहते हैं, इसलिए यहाँ स्थिति प्रत्यक्ष करके अगले पद में सावधानी और आदेश प्रदान करते हैं। महापुरुष इस रहनी में आदेशात्मक शब्द कहते हैं। यदि इसके पूर्व स्थिति में कहते तो वह संदिग्ध है। जैसा कि-

भीतर तो हइये नहीं, बाहर में परकास।
कह कबीर कबलौं हरी, छपरा पर की घास।। (कबीर)

माघ में मिटी मिलन की भूख,
तहाँ पर नहिं आसिक माशूक।
इश्क फिर किसका होवे,
वृथा वक्त तूँ क्यों खोवे।।

भावार्थ- इस संदर्भ में गीता का यह दृष्टान्त विचारणीय है। भगवान कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! जगत् में मेरे लिए लेशमात्र भी स्वार्थ साधन शेष नहीं है। कुछ भी प्राप्त होनेवाली वस्तु अप्राप्य नहीं है। उसी का चित्रण इस माह में है। श्री परमहंस महाराज जी के शब्दों में वही चरितार्थ होता है कि मुझे किसी वस्तु की लेशमात्र भी भूख नहीं है।

माघ (महा अघ, अघालयम् अशाश्वतम्) इस संसार में मुझे लेशमात्र भी मिलने की भूख नहीं है क्योंकि जिसको मिलना था, वह भिन्न नहीं है। वहाँ न कोई आशिक ही है और न कोई माशूक। अब भला बताइये किससे प्रेम हो? अब आदेशात्मक वाणी है कि वृथा समय क्यों बरबाद करते हो, जबकि ऐसा स्वरूप उपलब्ध है। (ऐसे महान् स्वरूप की उपलब्धि संभव है।)

टिप्पणी- ऐसे महापुरुष में उपदेश की प्रवृत्ति रहती है। उसी में कल्याण है, कारण यह कि वह आँखों देखा हाल है। वास्तव में इस स्थिति वाले ही कहने का अधिकार रखते हैं, अन्य लोग नहीं। जैसे-

बिन देखे उस देशकी, बात कहै सो कूर।
आपै खारी खात है, बेचत फिरै कपूर।। (कबीर)

बौद्धिक स्तर पर कहनेवाले ही तो इन मत-मतान्तरों के रचयिता हैं किन्तु इस स्थिति वाले नहीं। कारण कि जिसने एक ही सत्ता को सर्वत्र देखा है,

वह समाज में दरार नहीं डाल सकता।

दोहा - व्यापक परमानन्द में, नहिं आसिक माशूक।
लक्ष्य रूप में मार निशाना, (क्यों) वृथा विलोवे थूक।।

वह व्यापक है, परम आनन्द है, वहाँ न कोई भजनेवाला है और न भजने के लिए ही कोई शेष रहता है। यही लक्ष्य स्वरूप की स्थिति है। इसी में निशाना मारो, क्यों व्यर्थ में विवाद करते हो, जबकि परिणाम कुछ भी नहीं मिलना है।

करावै क्यों जग में हाँसी।
लावनी सुन बारहमासी।।

क्यों जीव जगत् अर्थात् जीव योनियों में फँसकर हँसी करवाते हो? थूक विलोने से तो परिणाम में निराशा ही हाथ लगती है। उस लगन के विषय में सुनो, जो छुटकारा दिलानेवाली है अर्थात् परमात्मा जिससे प्रत्यक्ष होता है, किन्तु सम्भव तभी है जब तार न टूटे।

सम्बन्ध- अन्त में किस प्रकार के साधकों की पूर्ति तत्काल होती है, उनका महत्त्व तथा ज्ञान व पद की निर्लिप्त एवं विशेष स्थिति का चित्रण करते हुए अन्तिम पद की समाप्ति कर देते हैं। इस लगन में साधन की नितान्त आवश्यकता की पुष्टि करने के लिए केवल अविद्या को काटा है जो साधक के क्षेत्र की बात है।

बसन्त ऋतु फाल्गुन में आवे,
खेल यह प्रारब्ध रचवावे।
इत्र गुलाल ज्ञान रोरी,
खेलते भर-भर के झोरी।।

भावार्थ- फाल्गुन (विशेष फलदायक गुण), बसन्त ऋतु (स्थायी मस्ती)। सांसारिक ऋतुएँ तो आती-जाती रहती हैं परन्तु जब हृदय-देश में मस्ती छा जाती है, तो परिवर्तन नहीं होता अर्थात् सदैव कायम रहता है। यह स्थिति फलप्रद गुणों से ही आती है, परन्तु उस क्रिया में प्रवृत्त होने में प्रारब्ध भी सहायक है। इस साधन में प्रारब्ध का विशेष स्थान है।

इत्र- जगत् का एक सुगन्धित द्रव है। वह इस रहनी में एक प्रतीक मात्र है। जब ईश्वरोपलब्धि में यह सम्पूर्ण खेल सुलभ हो जाता है, तब योगी की इन्हीं इन्द्रियों में परमात्मा की सुगंधि का संचार हो जाता है। गुलाल-रोरी इत्यादि जो सर्वत्र लगाये जानेवाले पदार्थ हैं, योग की इस रहनी में ये सब ज्ञानसंचार के प्रतीक हैं, जो इस स्थिति के पुरुषों से प्रायः सदैव सबको मिला है। यह स्थिति हृदय में आती है, इसलिए हृदयरूपी झोली में वह रहनी एवं ज्ञान भरपूर रहता है। जैसा कि-

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्चते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

अर्थात् पूर्ण में से पूर्ण निकाल देने पर शेष पूर्ण ही बच रहता है, वह घटता नहीं।

टिप्पणी- यदा-कदा श्री महाराज जी के पावन मुख से यह बात निकला करती थी कि नाम के प्रभाव से असाध्य को भी साध्य बनाया जा सकता है। इस लावनी में प्रवेश और अंतिम पराकाष्ठावाली योग्यता तो लगने वालों के लिए है। यह स्वयं विचार की बात है कि यदि सर्वथा नहीं लग पाते हैं तो नाम का आश्रय ले लेना चाहिए।

मेटत कठिन कुअंक भाल के।

नाम के प्रभाव से कठिन कुअंक भी मिट जाते हैं। यदि लगन है, तो

वही प्रारब्ध बन जाता है। कोई महापुरुष कृपा कर दे और उठा दे तो दुर्गम पथ भी सुगम हो जाता है। सेवा से, समर्पण से अथवा सर्वस्व अर्पण करके भी हम उनके हृदय में स्थान पा लें। महापुरुष किसी के प्रायश्चित को स्वयं सहन कर उसको निवृत्ति दिला देते हैं।

दोहा- होली अबिद्या फूंकि के, हो गये गुप्तानन्द।
समझे कोई सुघड़ विवेकी, क्या समझे मतिमंद।।

अविद्यारूपी होली को फूँककर स्वयं आनन्द का स्वरूप बन जाते हैं। जो गुप्त है, आनन्द है, अलख है उसी के स्वरूप में लीन हो जाते हैं। इसको कोई सुलझा हुआ विवेकी ही समझ पाता है, बुद्धिहीन नहीं।

टिप्पणी- भाषा की जानकारी से बुद्धि नहीं होती। अनेक महापुरुष तो भाषा के नाम पर निरक्षर थे, पर थे परम विवेकी। महान् विवेक का स्रोत उनसे ही निकला है। जैसे कि कागभुसुण्डि को ही लिया जाय, "हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई" लेकिन नहीं पढ़े। स्वामी रामकृष्ण परमहंस आदि भी इसी प्रकार के थे।

जगत की धूल उड़ी खासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

जगत् अर्थात् जीव गति की धूलि पूर्णतया उड़ गई। जीव गति की नश्वरता विलीन हो गई और परम चेतन की गति बन गई। परम चेतन से अभिन्न स्थिति दिलाने वाली जो लगन है उसकी प्रक्रिया को सुनो, जिसमें पूर्तिपर्यन्त लगे रहने का विधान है। उसके बाद नहीं लगना पड़ता। उसके बाद तो "हरिजन भजन भेद से न्यारा।"

आँख न मूंदे कान न रुँधे, काया कष्ट न धारे।
उघरे नैना साहब देखे, सुन्दर बदन निहारे।।

अर्थात् भजन की आवश्यकता नहीं रहती किन्तु भजन बना ही रहता है।

निर्णय

इस अंतिम पद में सबका निर्णय देते हुए केवल अविद्या को ही क्यों फूँकते हैं जब कि इस पूर्णता में विद्या भी मिट जाती है। अधिकांशतः देखा जाता है कि मनुष्य साधन-श्रम नहीं करना चाहता, परन्तु योग्यता की ख्याति प्राप्त करना चाहता है, जबकि वह प्रत्यक्ष स्थिति है, ख्याति नहीं। अतः उस लगन के द्वारा अविद्या को फूंक दें। इष्ट के स्पर्श-काल में विद्या तो स्वयं मिट जाती है। उसमें आपके मिटाने की कोई प्रक्रिया नहीं है। विद्या तो वह रास्ता है जिसके द्वारा क्रमशः इष्ट की मंजिल तय करते हैं। दर्शन के साथ ही रास्ता समाप्त हो जाता है। यदि अविद्या के साथ विद्या को भी छोड़ने के लिए लिख दिया जाय तो कोरे वेदान्तियों को रास्ता मिल जायेगा। वे कहने लगेंगे कि विद्या झूठी है, इसे छोड़ो। करने की आवश्यकता नहीं है, हम तो पूर्ण हैं शुद्ध हैं, अजर-अमर परमात्मा हैं - आदि विशेषणों से अपने को अलंकृत कर लेंगे। ऐसा मानने से कुछ होता नहीं, स्वयं तो क्रिया व वस्तु से वंचित रह जाते हैं और दूसरों को भी बाधा पहुँचाते हैं। योग-पूर्ति के उपरान्त वास्तव में ऐसा ही है। इसलिए महापुरुष ने केवल इतना ही निर्णय दिया है, जिससे साधक को क्रिया में भ्रम न हो। इस प्रकार साधक को क्रिया द्वारा केवल अविद्या को मिटाना है, विद्या तो स्पर्श, दर्शन आदि के साथ ही मिट जाती है। कालान्तर में फैलनेवाली रूढ़ियों के निवारणार्थ यदा-कदा महापुरुषों को अन्तश्चेतना मुमुक्षुओं के भावीकल्याण के लिए जीवनानुभूति का अमरस्रोत बनकर श्रीमुख से लयात्मक वेग में अनायास ही प्रस्फुटित होने लगती है। परमपूज्य श्री महाराज जी की अमरवाणी से बारहमासी की अतुलनीय परमार्थवादी काव्य-लहरी ऐसी ही कल्याण-कल्पना से तरंगित

है। आप की चिन्तनरत 'भाव लहरी' में यह प्रेरणा प्रादुर्भूत होती है कि परमार्थ पथिक महापुरुषों का आश्रय लेकर साधन-पथ को क्रमशः प्रशस्त करने के लिए प्रयत्नशील होंगे। ऐसी स्थिति में उन्हें सम्बल प्रदान करने वाले निर्देशात्मक उपकरण यदि किसी तत्त्वदर्शी द्वारा अन्तःकरण में प्रगट हो जायँ तो प्रगति सुलभ हो जायेगी। इसी उद्देश्य कि पूर्ति-हेतु बारहमासी का संगीतमय वेग, उन्मुक्त भाव-प्रवणता के साथ प्रवाहित हुआ है।

इस कृति में लयात्मक छंद लावनी का प्रयोग सरल किन्तु हृदयस्पर्शी भाषा के परिवेश में सरस एवं बोधगम्य शैली में किया गया है। इसके प्रथम दर्शन एवं पठन से ही हृदय में प्रबल जिज्ञासा का प्रस्फुटन होने लगता है, परन्तु कल्याणात्मक उपलब्धि तभी सम्भव है, जब उसका प्रयोगात्मक पद्धति से अनुशीलन किया जाय। बारहमासी में चैत से लेकर फाल्गुन मास तक का क्रमागत वर्ष-विकास का सामंजस्य साधनात्मक ढंग से किया गया है। किस प्रकार अनुरागी के अन्तःकरण में लगन की ज्योति जागृत होती है, वह किस अन्तर्प्रेरणा से प्रभावित होकर महापुरुष की कृपा से लाभान्वित होता है तथा तदनन्तर उसमें किस तरह विलक्षण अनुभवों का प्रादुर्भाव होता है, आदि क्रियात्मक पद्धतियों का सूक्ष्मतम विश्लेषण किया गया है। वस्तुतः यह कृति (बारहमासी) उन्हीं के लिए अधिक उपयोगी है जो साधना-पथ पर चलनेवाले पथिक हैं। पूर्वकथित जागृति से पथ की बाधा, व्यवधान एवं उपलब्धियों का पूर्वाभास मिलता जाता है, जिससे कि साधक उस अदृश्य पथ पर निर्विघ्न रूप से बढ़ता रहता है। अब आप यह न भूलें कि यह जागृति केवल स्थितिप्राप्त महापुरुषों द्वारा ही मिलती है। हाँ, यह कठिनाई अवश्य है कि वे करोड़ों में एक होते हैं, परन्तु हैं सदैव।

ॐ

सदुपदेशों की झलकियाँ

सत्संग-शैली

परमश्रद्धेय महाराज जी की सत्संग-मुद्रा साधारण वार्ता के दौरान ही बन जाया करती थी। जैसा कि आप समझ गये होंगे कि यह आश्रम हिंसक पशुओं से परिपूर्ण घने जंगल के मध्य में स्थित है। पहले तो वर्षा ऋतु में चार-चार महीनों तक मानव दर्शन दुर्लभ था, परन्तु महाराज जी के निवासोपरान्त शनैः-शनैः भीड़ बढ़ती गई। टैक्सियों एवं पदयात्रियों आदि की भीड़ बनी रहने लगी। पूज्य महाराज जी की कृपा के फलस्वरूप सभी दर्शनार्थियों को सुविधा प्रतीत होने लगी एवं वे निर्विघ्न आने-जाने लगे। प्रायः लोग विभिन्न समस्याओं को लेकर महाराज जी के सामने उपस्थित होते किन्तु प्रणाम करने के उपरान्त किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर बैठ जाया करते थे। तब आप साधारण एवं मधुर स्वर में गालियाँ देना प्रारम्भ करते थे, जिससे जीवनोपयोगी सत्संग की भूमिका तैयार हो जाया करती थी। सत्संग को आत्मसात् करने के पश्चात् श्रोतागण तदनुकूल भावों में मुग्ध होकर मौन बैठे रहते थे और उनके अन्तःकरण में बार-बार यह लालसा तरंगित होने लगती थी कि हमलोग भी क्यों न परमशान्ति के पथ पर अग्रसर हों? ऐसा ही मौन प्रश्न करके महाराज जी की स्वीकारोक्ति सुनने के लिए उत्कण्ठित रहते थे। तब महाराज जी उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा करें कि बड़े भाग्य से यह मानव-शरीर मिला है। अधीर होने की आवश्यकता नहीं है। घर तो हर हालत में जाना ही पड़ेगा। वहाँ गये बिना किसी भी तरह से भलाई नहीं है। जाओ दुनिया में कहीं भी रहो मन से आया-जाया करना। जिस प्रकार तुम हमें यहाँ देखते हो, जहाँ भी रहो ठीक इसी प्रकार मन के अन्दर देखने का प्रयास किया करना। भगवान् एवं सद्गुरु सर्वत्र रहते और सँभालते हैं। मान लो कि आज तुम यहाँ रुक

ही गये और मन घर-द्वार इत्यादि में भटकता रहा तो यहाँ रुकने से कोई लाभ नहीं। वस्तुतः मानव वहीं रहता है जहाँ कि उसका मन। अगर तुम किसी समय अपने हृदय में हमारा स्वरूप देख लोगे तो तुमको भजन करने की क्षमता प्राप्त हो जायेगी।

एक बार आश्रम के सामने मंदाकिनी-तट पर कुछ महात्मागण पूजनार्चन में संलग्न थे। घड़ी-घण्टा और शंख-नाद के साथ प्रार्थना कर रहे थे, उनको देखकर कुछ सत्संगप्रेमी हँसना प्रारम्भ कर दिये। महाराज जी ने कहा कि यह हँसने की बात नहीं है, वे अभी अपनी साधना में तत्पर हैं। प्रायः सभी को यह स्तर पार करना पड़ता है। यह क्रमागत साधना का ऊँचा-नीचा स्तर है। वह क्षमता इस क्रिया के करने के बाद ही आती है, जिसको कि तुम लोगों ने अभी सत्संग में सुना। इस तरह महाराज जी के द्वारा साधना के क्रमागत विकास के स्तर का निराकरण होने के पश्चात् सत्संगियों ने प्रश्न किया कि :-

प्रश्न १. महाराज जी! भगवत्-पथ में इतने सम्प्रदाय क्यों हैं? कुछ लोग साम्प्रदायिक भेद से विरोध क्यों करने लगते हैं?

उत्तर- महाराज जी ने उन्हें समझाते हुए कहा कि भगवत्-पथ में कोई सम्प्रदाय नहीं होता, बल्कि कहीं साधन बुद्धि के क्षेत्र में चल रहा है तो कहीं इष्ट के क्षेत्र में, कहीं मनन की प्रवेशिका का प्रयत्न है तो कहीं योग की रहनी का। अवस्था-भेद से आकृतियाँ भिन्न-भिन्न दिखाई देती हैं। हाँ, साधक को अपनी श्रेणी स्वीकार करते हुए आगे के लिए यथाशक्ति प्रयास करना चाहिए। महापुरुषों के यहाँ जाति-विशेष, रंग विशेष और सम्प्रदाय-विशेष नहीं होते। बल्कि अधिकारी के गुण-दोषों का मूल्यांकन होता है।

प्रकृति में विभाजन होता है, परम पुरुष में नहीं। मानवीय-दर्शन में जिसे

ब्रह्म कहा जाता है वह अजन्मा, अलख और कण-कण में है। उसके स्फुरण के बिना कोई साँस नहीं ले सकता। यहाँ तक कि पत्ता भी नहीं हिल सकता परन्तु वह रूप-रंग विहीन है। खुदा और सुप्रीम गॉड की भी यही विशेषताएँ हैं। केवल भाषाओं के भेद से नाम पृथक्-पृथक् हैं। भाषा-भेद से रुढ़िग्रस्तता का फँसाव अविवेकी एवं संदिग्ध पुरुषों की ही देन है। जैसे किसी को प्यास लगी है तो अंग्रेजीवाला वाटर, फारसी वाला आब, हिन्दी वाला पानी और संस्कृत वाला जल कहकर माँगेगा, परन्तु पीने को वही तरल पदार्थ जल ही मिलेगा। अब हम उस इष्ट का नाम किसी भी भाषा में लें, लेकिन वह उसी स्वरूप में मिलेगा। नाम तो केवल उसकी प्रवेशिका है। उनके नाम में आनेवाले स्तर तो महापुरुष की शरण में रहकर साधना करने से ही उपलब्ध हो सकते हैं कि भजन का क्या रूप है एवं भजन कैसे होता है?

प्रश्न २.- कुछ विद्वानों ने आकर प्रश्न किया कि महाराज जी! परहित क्या है? लोकहितार्थ आपकी वाणी जनसमूह तक पहुँचनी चाहिए।

उत्तर- श्री परमहंस महाराज जी उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह अधिकारी के लिए है, न कि सबके लिए। हम क्या कहें, कोई सुनेगा भी नहीं। हम आँखों की देखी बात कह रहे हैं और तुम लोग कागज की लिखी बता रहे हो। भला बताओ, हमारा-तुम्हारा मन एक कैसे होगा? किसी को खाना-पीना, कपड़ा व इन्द्रिय तृप्ति की सामग्री देने का नाम परहित नहीं है। यह तो उसका एक अंग मात्र है। यह आत्मा प्रकृति से परे होने के कारण 'पर' कहलाता है। इसका हित हो जाय, बस यही परहित है। जैसा कि-

परहित सरिस धरम नहिं भाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई।।

इस आत्मा का हित हो जाय, इससे बढ़कर कोई धर्म नहीं है। यही पर

है, इसको अधोगति में रखना अर्थात् इसे योनियों के सिलसिले में छोड़े रहना, इससे बढ़कर कोई पाप नहीं है। आत्मा तो अजर-अमर, शाश्वत एवं सर्वत्र है। हमें उसी को प्राप्त कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना है।

प्रश्न ३.- महाराज जी! अजर, अमर और शाश्वत आत्मा का हित कैसा?

उत्तर- विद्वत् समूह को सम्बोधित करते हुए महाराज जी कहते हैं कि जिस गीता में आत्मा को अजर, अमर और शाश्वत कहा गया है उसी शास्त्र में यह भी मान्यता है कि आत्मा को अधोगति एवं नीच योनियों में न पहुँचावें बल्कि अपनी आत्मा का उद्धार करें। इसका पतन न होने दें।

आत्मा वस्तुतः अजर, अमर एवं शाश्वत है किन्तु यह तो किसी महापुरुष के द्वारा देखकर निर्णय किया गया है। गीता आत्मा की कोरी प्रशंसा नहीं करती बल्कि उसके स्वरूप को प्रत्यक्ष कराती है। इसलिए निर्णय दिया है कि तत्त्वदर्शियों ने ही इस आत्मा को देखा है। जब परमतत्त्व परमात्मा देखने में आ जाता है, तभी इन्हीं विभूतियों से युक्त यह आत्मा भी प्रत्यक्ष होता है। हम कहते भर हैं पर देखते तो नहीं। दिखाई तो यही शोक, संताप एवं संसार देता है।

इस प्रकार भजन के मनन की युक्ति समझो और करो। जब कभी भी आत्मा दिखाई देता है तो इसी रूप में। भजन के सिवाय उसे देखने का कोई अन्य उपाय नहीं है।

प्रश्न ४.- भाविकों द्वारा प्रार्थना सहित यह प्रश्न किया गया कि महाराज जी, हमारे कल्याण का कोई सरल उपाय बताने की दया की जाय?

उत्तर - इस पर पूज्य महाराज जी उनके प्रति अति मधुर वाणी में कहते हैं कि क्या कहूँ, अब कहने की आवश्यकता नहीं है। सभी बातें सब कोई जानते हैं। पन्द्रह-पन्द्रह पैसे में वेदान्त बिकता है। सब पढ़ते हैं और लिखते भी रहते हैं। बस साधन ही एक ऐसी वस्तु है जो लिखने में नहीं आती बल्कि किसी अनुभवी महापुरुष के द्वारा हृदय में जागृत हो जाती है। बनावटी इधर-उधर भटकने से तो अच्छा है कि किसी महापुरुष की शरण अपनाओ। उन्हीं के सान्निध्य, सेवा और सत्संग से तुम्हारे कल्याण का पथ प्रशस्त होगा। जैसा कि-

एक घड़ी आधी घड़ी, आधी में पुनि आध।
तुलसी संगति साधु की, कटै कोटि अपराध।।

प्रश्न ५.- महाराज जी, क्या घर में भजन नहीं हो सकता?

उत्तर- घर में पुण्य और पुरुषार्थ को बढ़ाया जा सकता है लेकिन उस भजन के द्वारा निवृत्ति नहीं हो सकती। सेवा, भजन उतनी ही तल्लीनता से जारी रखना चाहिए, जब तक कि उसकी कोई निर्धारित सीमा न मिल जाय। उस सीमा के उपरान्त ही स्वयं भगवान घर छुड़ा देते हैं। आज हम सोचते हैं कि घर छोड़ना असम्भव है परन्तु इष्टदेव के अनुकूल होने पर सब सुलभ हो जाता है।

प्रश्न ६.- जब घर में निवृत्ति नहीं होना है तो हम आपकी शरण में रहकर ही भजन करेंगे।

उत्तर- देखो, किसी के छोड़ने से घर नहीं छूटता है। एक चोर था, जब चारों तरफ से दण्ड के घिराव में आया तो साधू हो गया। जब सब महात्मा लोग विश्राम करने लगते तो वह अपनी खोज जारी रखता था। खोज करने से कुछ भी न मिलने पर "वह करे कमण्डलाचार"- रात भर महात्माओं

का कमण्डल ही इधर-उधर किया करे। किसी का बाहर रख दे और किसी का अन्दर, यही उसके रात भर का क्रम था। उसके इन क्रिया-कलापों से महात्माओं के भजन में व्यवधान पड़ने लगा। बारीकी से जाँच करने पर एक दिन वह पकड़ में आ गया। जब पूछा गया कि इस वेष में आने के पूर्व तुम कौन थे? तब उसने चौर्य कार्य का पूर्ण विवरण कह सुनाया। चूँकि वह पहले चोर था, इसलिए स्वभावगत संस्कार उसका पीछा नहीं छोड़ा। घर छोड़ने से स्वभाव नहीं छूटता। असली गृहस्थी तो मन है जो ग्रसा हुआ है। केवल बाहर के त्याग से मन की गृहस्थी का त्याग नहीं होता। जब तक इष्टदेव आज्ञा न दें, तब तक घर छोड़ना पाप है और जब आज्ञा दे दें, तब घर में रहना महान् पाप है। इसलिए घर में ही रहकर आज्ञा की स्थिति प्राप्त करो। सहसा छोड़ने से मन का ग्रसन (गृहस्थी) नहीं छूटता, पुराने गुणधर्म पीछे लगे रहते हैं-

''गुण स्वभाव त्यागे बिना दुर्लभ परमानन्द''

x x x

बिना विचारे जो करे सो पीछे पछताय।
काम बिगारे आपनो जग में होत हँसाय।।

यदि जल्दबाजी करनी ही है तो प्रार्थना इत्यादि में करो, बाहर की जल्दबाजी में काम बिगड़ जाता है।

प्रश्न ७.- महाराज जी, कृपा बनी रहे, जिससे मैं भजन कर लूँ।

उत्तर- तुम भजन कहाँ से कर लोगे, कैसे पता पाओगे कि भजन क्या है? जो कुछ भी शुरू करते हो, यह केवल भजन की प्रवेशिका मात्र है, जिसे प्राथमिक स्तर की संज्ञा दी जाती है। हमारे स्वरूप को हृदय से पकड़ो।

धीरे-धीरे जब पकड़ कार्य करने लगेगी तब आत्मा रथी बनकर हृदय से पथ-संचालन करने लगेगा। ऐसी स्थिति में तुम समझ सकोगे कि भजन कब होता है और कब नहीं होता? आँख बन्दकर प्रयास करना तो प्रवेशिका का प्रयत्न मात्र है। जबतक इष्टदेव हृदय से रथी होकर शुभाशुभ और ऊँच-नीच की स्थिति नहीं समझाने लगते, तब तक भजन नहीं होता। हाँ, प्रयास निरर्थक नहीं जायेगा क्योंकि यही प्रवेश करने का माध्यम है। भजन कोई करता नहीं बल्कि सद्‌गुरु ही कराते हैं।

प्रश्न ८.- महाराज जी, भजन की पराकाष्ठा क्या है?

उत्तर- 'यथा नाम तथा गुण' भजन का अर्थ होता है - भज न। तात्पर्य यह हुआ कि भागो मत। चिन्तन में वृत्ति का अचल होना ही भजन की पराकाष्ठा है। चित्त की गति का सर्वथा रुक जाना ही भजन की परिपक्वावस्था है। चित्त की यह स्थिति जहाँ पैदा हुई कि भगवान स्वयं ही उठा लेते हैं। बनने की आवश्यकता नहीं है। वे स्वयं प्रत्यक्ष होकर अपने में समाहित कर स्थिति प्रदान कर देते हैं। ऐसी स्थिति में तुम्हें स्पष्ट हो जायेगा कि मैं क्या हूँ और मेरा स्वरूप क्या है।

प्रश्न ९.- महाराज जी, क्या भगवान मिलते हैं?

उत्तर- हाँ, मिलते क्यों नहीं, यदि वास्तव में कोई सच्चा अधिकारी है तो न मिलने पर वह जीवित ही न रह सकेगा। हमें मिलकर ही यह स्थिति दिये हैं। उसका निर्णय हम इस भौतिक बुद्धि से नहीं कर सकते। **रिनिक धिनिक धुनि अपने से उठे।** जब सांस में उठनेवाली ध्वनि पकड़ में आने लगती है अर्थात् जब साधक उस पर विचरने लगता है, तब भगवान ऐसे बोलते हैं, जिस तरह हम लोग परस्पर बातें करते हैं। जब शब्द और सुरति

एक हो जाती है तब वह ऐसे ही देखने में आता है जैसे कि शीशे में स्वरूप, किन्तु वह अन्तर्दृष्टि अनुभव से देखने में आता है। तुम्हारा तो यह वाक्य-ज्ञान का झगड़ा है कि नहीं मिलते। जब वे हृदयदेश से पथ-प्रदर्शन करने लगते हैं तभी समझ में आता है।

प्रश्न १०.- महाराज जी, ब्रह्म तो शून्य है, जिसका अभिप्राय कुछ भी नहीं होता। इससे भ्रान्ति हो जाया करती है कि क्या करें?

उत्तर - यह किसी आडम्बरी या निशाप्रधान ने बता दिया कि ब्रह्म शून्य है। ब्रह्म ही एक ऐसी सत्ता है जो शून्य नहीं बल्कि परम चेतन है। उस ब्रह्म की चेतनता के अंश मात्र से यह सम्पूर्ण जगत् चेतन प्रतीत होता है। जैसा कि उसके बगैर कोई सांस नहीं ले सकता और यहाँ तक कि उसके स्फुरण के बिना पत्ता भी नहीं हिल पाता। यह तो किसी महापुरुष ने प्राप्ति की स्थिति का चित्रण किया है कि हमारा मन एवं चित्त सतत् चिन्तन में प्रवृत्त होकर सूक्ष्म होते-होते सअस्तित्व मिट जाने की स्थिति में पहुँच जाय, जिससे कि वह लक्ष्य प्रत्यक्ष होता है। जब तक चित्त का स्वरूप संस्कार मात्र शेष है तब तक वह ब्रह्म प्रत्यक्ष नहीं होता। चित्त के संस्कार एवं तरंग के सअस्तित्व मिट जाने पर ही वह ब्रह्म प्रत्यक्ष होता है। जो हमारी मानसिक शून्यावस्था है। बस योगी या लक्ष्य में प्रवृत्त पुरुष चित्त की तरंगरहित ऐसी शून्य अवस्था के प्रवेश काल में उस ब्रह्म को प्रत्यक्ष पा लेता है जो कि परम चेतन है। उस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए हमारे मन और चित्त को शून्य होना है, न कि ब्रह्म शून्य है। किसी स्थिति प्राप्त महापुरुष से चिन्तन-क्रम समझो और करो। वस्तुतः हम चलना ही नहीं जानते। वह परम दयालु है। हम हृदय से समर्पण करके चलना प्रारम्भ करें तो वही स्रोत मिल जायेगा, जो दुःख से ऊपर उठा लेता है।

प्रश्न ११.- महाराज जी, निशाचर का क्या स्वरूप है?

उत्तर- जो निशा-प्रिय हो, जिसे प्रकाश में न दिखाई पड़े, वही निशाचर है। यहाँ उदय-अस्त होने वाले रात्रि-दिन से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अदृश्य सत्ता के द्वारा प्रसारित जीवधारियों का पालनक्रम है। जैसा कि-

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। (गीता, अ. २/६९)

यह सम्पूर्ण जगत् ही रात्रि है, जिसमें संयमी पुरुष जग जाते हैं। यही रूप मानस इत्यादि हर परमात्म तत्त्व अवगत पुस्तिका में है -

एहि जग जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच वियोगी।।

जगत्रूपी निशा में योगी लोग जग जाते हैं। परमतत्त्व के लिए आर्त एवं विधाता के प्रपंच को त्याग देते हैं। यहाँ विधाता का प्रपंच ही निशा है। इस निशा में जागते किस प्रकार हैं?

नाम जीह जपि जागहिं जोगी।
बिरति बिरंचि प्रपंच वियोगी।।

नाम के प्रभाव से योगी लोग जग जाते हैं। वास्तव में राम नाम इतना ही नहीं, जितना कि हम जिह्वा से रटते हैं। जैसा कि-

राम नाम में अन्तर है।
कहीं हीरा है, कहीं पत्थर है।।

उस रात्रि का प्रसार, जहाँ तक विधाता का प्रपंच है, उसके लगाव का सर्वथा त्याग कर देते हैं। नाम-चिन्तन की युक्ति के द्वारा परमात्म तत्त्व को

पाना ही प्रकाश है। अब जो इन मायिक प्रवृत्तियों को सत्य समझकर उसी में व्यस्त हैं, वही निशाचर हैं। दूसरों को मारकर खुद जीनेवाले, सृष्टि के छिट-पुट ऐश्वर्यों में मदान्ध, दुर्व्यसनों में रत एवं भगवत्‌विस्मृत स्वभाव वाले ही निशाचर हैं। कारण कि जगत्‌रूपी रात्रि में ही उनकी सूझ-बूझ है और परम प्रकाशमय उस परमात्म तत्त्व से वंचित हैं।

प्रश्न १२.- प्रायः लोग आप से प्रश्न किया करें कि "महाराज जी! क्या गाँजा पीने से ध्यान में मदद मिलती है?"

उत्तर- आप हँसते हुए उत्तर दें कि गाँजा तो मैं भी पीता हूँ परन्तु औषधि के रूप में। भजन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। एक बार मुझे अस्वस्थ देखकर उत्तराखण्ड के एक स्वामी जी कहे कि पहाड़ी पानी बहुत लगता है। महाराज जी, आप दो-चार चिलम गाँजा पिया करें जिससे पहाड़ी पानी का असर न पड़े। तब से मैं भी पीने लगा परन्तु इसका भजन से कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसा कि -

गांजा पीके धरे ध्यान, गृहस्थ होके कूँटे ज्ञान।
साधू होके कूँटे भंग, कहै कबीर तीनों ढंग।।

अमल-गाँजा, भाँग, चरस आदि का सेवन करने और भजन, ध्यान करने से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि इनके माध्यम से ध्यान लग जाय तो सभी औषधि खाकर अचेतावस्था में ध्यान करने लगें। साधना के प्रशस्त पथ में पहुँचकर हमारा अभ्यास एवं लगन ही ध्यान के रूप में परिणित हो जाते हैं।

प्रश्न १३.- महाराज जी, प्रबल पिपासु होने पर भी बहुत-सी भ्रान्तियों में बहता रहता हूँ। वस्तुतः सनातन धर्म है क्या? कोई ऐसा

रूप बताइये जिसका सभी पालन कर सकें।

उत्तर- जिसे तुम भ्रान्ति कहते हो, वही अंतिम योग्यता को क्रमशः दिलानेवाला होता है। जितने भी तीर्थ या देवी-देवता हैं, उन्हीं का अनुसंधान ही आज तुम्हें इधर प्रेरित कर रहा है। इन्हीं के द्वारा सनातन धर्म के लिए हम जागरूक होते हैं। अतः ये सभी सनातन धर्म की शृंखला की कड़ी के रूप में हैं। हृदय में श्रद्धा व भावों को जागृत कर, पुरुषार्थ व पुण्य का कोष बनकर यही क्षमता वास्तविक लक्ष्य की दिशा प्रदान करती है। अब आइये सनातन के यथार्थ दिशा पर।

सनातन धर्म मायिक अनिष्टों को समाप्त कर इष्ट की उपलब्धि करा देता है। क्रियात्मक दृष्टि - जो इस जीवात्मा को परमात्मा में प्रवृत्त कर दे, वही सनातन है। यह योग अथवा क्रिया की पूर्तिकाल में प्रत्यक्ष स्थिति दिलाने वाला है। सनातन कहते हैं अनादि को जो सर्वव्यापी हो, सर्वशक्तिमान हो, जिसका नाम परब्रह्म परमात्मा है, जो अस्तित्व सहित इन्द्रियों का निरोध करके साधना की परिपक्वावस्था में स्थिति प्रत्यक्ष कराने वाला है। लोग चाहे जो भी समझें परन्तु प्रत्येक महापुरुष की रमण-स्थली यही रही है। महावीर स्वामी, जिन्हें जैनधर्म का प्रवर्त्तक माना जाता है, इसी धर्म की सच्ची रहनीवाले थे कि "वह आत्मतत्त्व मैं ही हूँ।" बौद्ध भी इसी धर्म के पुजारी थे कि "तथागत मैं उस तत्त्व से अवगत हूँ, वह मुझसे भिन्न नहीं है।" श्री शंकराचार्य भी इसी स्तर में खड़े हुए कि "मैं वही स्वरूप हूँ।" अब आप ही विचार करें कि यह भेद कैसा? यह तो उन व्यक्तियों की देन है जिन्होंने महापुरुषों का आश्रय ले उनको अपने प्रचार का माध्यम बना लिया। यह कहना तो सर्वथा भूल ही होगी कि सनातन धर्म की नींव शंकराचार्य के द्वारा डाली गई, तब तो वह हजार वर्ष का ही हुआ, जितनी की शंकरपर्यन्त अवधि है। जिस

गीता का भाष्य शंकराचार्य ने किया, वह बौद्ध इत्यादि से भी हजारों वर्ष पुरानी है और अपनी विशेष देन सनातन धर्म को ही बतलाती है।

यदि कोई उसका जन्मदाता है तो सनातन या अनादि कैसे हो सकता है? सनातन धर्म के नाम पर जो अच्छाइयों के स्थान पर कुछ रूढ़ियाँ आज प्रचलित हैं, वे कृष्ण-काल में भी थीं। हो सकता है कि उनका कोई अन्य रूप रहा हो। सनातन धर्म की एक प्रचलित मान्यता का स्मरण होते ही अर्जुन युद्ध की इच्छा को त्यागकर, धनुष रखते हुए योगेश्वर कृष्ण से कहने लगा कि भगवन्! मैं अपने ही कुल को युद्ध-स्थल में पाता हूँ। पिण्डोदक क्रिया, वर्णसंकर आदि का उदाहरण देते हुए उसने कहा कि कुल-धर्म सनातन है। हमें सनातन धर्म की रक्षा करनी चाहिए। इस युद्ध से तो सनातन धर्म नष्ट हो जायेगा। तब योगेश्वर कृष्ण ने कहा कि तुम्हें इस विषम स्थल में अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? जैसा कि तुम कहते हो, न कभी श्रेष्ठ पुरुषों ने इसका आचरण किया और न परम कल्याण ही करने वाला है। तब अर्जुन विनीत भाव से योगेश्वर कृष्ण से प्रार्थना करने लगा कि "शिष्यस्तेऽहम्" मैं आपका शिष्य हूँ। मुझ शरण में आये हुए की रक्षा कीजिए। मुझ पर अनुग्रह करते हुए बताइए कि वह सत्य एवं सनातन है क्या? जिससे कि मैं श्रेय को प्राप्त हो सकूँ। तब समझाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि सत्य वस्तु का कभी तीनों कालों में अभाव नहीं है और असत्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है। अब प्रश्न पैदा होता है--जिसका किसी भी काल में अभाव नहीं है वह स्थिर रहने वाला सत्य क्या है? तब श्रीकृष्ण स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि यह आत्मा ही परम सत्य है, यह मिटता नहीं। यह आत्मा ही सनातन है, यही शाश्वत है, यही पुरातन है और यही अजर-अमर है। वहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं है। जब वह आत्मा सब में है तो फिर खोजा किसको जाय? इसके उत्तर में योगेश्वर कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! इस आत्मा को इन

विभूतियों से युक्त तत्त्वदर्शियों ने देखा। भला वह तत्त्वदर्शिता है क्या? बाह्य दृष्टि में जैसा कि उन मान्यताओं का प्रचलन है - पाँच तत्त्व, पचीस प्रकृतियों, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और भूमिका आदि का सत्रह, पाँच, पचीस में तारतम्य बाँधकर कह देते हैं कि यही तत्त्वदर्शन है किन्तु योगेश्वर कृष्ण के अनुसार, तत्त्व की चाह वाले पुरुषों को चाहिए कि वे इन्द्रियों को विषयों से पूर्णतया समेटकर मन को ध्यान में लगावें। ध्यान का लक्ष्य वास्तविक होना चाहिए क्योंकि योग की निर्धारित क्रिया एक ही है। दीर्घकालीन अभ्यास के फलस्वरूप काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मायिक प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है और शान्ति, क्षमता, एकाग्रता इत्यादि सद्प्रवृत्तियों का अभ्युदय हो जाता है। इष्ट की एकाग्रता, लक्ष्य इत्यादि जो इष्ट को दिलाने वाले परम स्रोत हैं उनका हृदय में धारावाही प्रवाह हो जाने पर ही पराभक्ति की स्थिति आती है। इसी स्थिति में वह ब्रह्म को पूर्णतः जानता है। तत्त्व को जानता तो है किन्तु वह तत्त्व है कैसा?

तत्त्व का स्पष्टीकरण करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि, मैं जो हूँ, जिस स्थिति वाला हूँ, जिन लक्षणों से युक्त हूँ, उसको जानता है और जानने के तत्क्षणोपरान्त उसी में लीन हो जाता है। सिद्ध हुआ कि ईश्वर की प्रत्यक्ष जानकारी का नाम तत्त्वदर्शन है। प्राप्तिकाल में जिसको भगवान मिले हैं, उसके दूसरे क्षण ही वह अपनी आत्मा को उन्हीं भगवत् गुणधर्मों से परिपूर्ण पाता है। जिसके लिए वे संकेत करते हैं कि वह मुझमें स्थित है और वही सनातन है। अब जिस क्रिया से वह आत्मतत्त्व प्राप्त हो जाय, उसका पालन ही सनातन धर्म का पालन है। उस क्रिया की पूर्तिकाल में ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही इस आत्मा में परमात्मा के गुण-धर्म प्रवाहित होने लगते हैं। आत्मा ब्रह्म के साथ तद्रूप हो जाती है, इसलिए यह आत्मा प्राप्तिकाल में सनातन है न कि पहले। अब बहुत से पूजा के ऐसे भी विधान पाये जाते हैं कि

लोग महापुरुषों के शब्दों का सहारा लेकर यह आत्मा सनातन है, शाश्वत है, यही मेरे अन्दर है, यही मेरा स्वरूप है - ऐसा कहकर बोध लगाने लगते हैं परन्तु यह सनातन धर्म की कोई पूजा नहीं है। जब क्रिया की पूर्तिकाल में ही वह प्रत्यक्ष होता है तो कहने से क्या लाभ?

अब यदि हमें वास्तव में सनातन धर्म को पाना है तो सर्वप्रथम उस क्रिया को समझना होगा, जिसके द्वारा वह प्रत्यक्ष होता है। वह क्रिया किसी भी स्थितिप्राप्त महापुरुष के द्वारा हृदय में जागृत हो जाती है, केवल लिखना तो प्रेरणा मात्र है। श्रीकृष्ण ने उसको इस प्रकार बताया है कि - हे अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में आत्मा को प्रत्यक्ष करानेवाली क्रिया एक ही है। अब प्रश्न उठता है कि क्या अनेक क्रियाओं को करनेवाले भजन नहीं करते? तब कहते हैं कि वे भजन नहीं करते। अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली हुआ करती है, इसलिए बहुत-सी क्रियाओं का विस्तार कर कल्पित बुद्धि से अत्यन्त मनोरम रूप देते हुए उसको व्यक्त करते हैं। उनकी वाणी का प्रभाव जिनके चित्त पर पड़ता है उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अर्जुन ने जब श्रीकृष्ण से पूछा कि भगवान् हम इस ज्ञान को कैसे प्राप्त करें? तब वे कहते हैं कि हे अर्जुन! तत्त्वदर्शी, जो उस परमतत्त्व आत्मा को प्रत्यक्ष कर चुके हैं या उस तत्त्व की स्थिति वाले हैं, उनके समक्ष शुद्ध अन्तःकरण से कल्याण की कामना करते हुए; निष्कपट भाव से सेवा व प्रश्न के द्वारा उस विधि को प्राप्त कर, जिसके अन्दर ईश्वर की प्राप्ति एवं साधना की पराकाष्ठा निहित है।

अब एक नवीन समस्या सामने खड़ी हो जाती है कि जीवात्मा परमात्मा में कैसे स्थित हो? जीवात्मा और परमात्मा कोई अलग सत्ता नहीं हैं। केवल कुछ रुकावटों की वजह से जीव-ईश्वर इत्यादि के विशेषण लगते हैं। यह उन पर्दों के नाम हैं, जो उस अजर-अमर सत्ता के बीच में पड़े हुए हैं।

जब इस मानव के विचरने का क्षेत्र अविद्या एवं अज्ञान ही जानकारी है अर्थात् अविद्या से प्रेरित हो अज्ञान को ही ज्ञान समझता है, तब यही पुरुष जीवात्मा कहलाता है। जिस पुरुष के अन्तःकरण में विद्या का ही क्षेत्र है एवं ज्ञान अथवा वास्तविकता ही जिसकी जानकारी है अर्थात् विद्या से प्रेरित हो ईश्वर या परम सत्य का ही जिसे ज्ञान है वह ईश्वरात्मा कहलाता है। विद्या-अविद्या से परे जिसका क्षेत्र एवं रहनी है और ज्ञान-अज्ञान से परे जिसकी जानकारी है, वही परमात्मा की संज्ञा से विभूषित होता है।

देखिये आत्मा वही है, जीव एक विशेषण लग गया है इसलिए जीवात्मा की संज्ञा दी जाती है। फिर चिन्तन के द्वारा इष्ट की जानकारी की अवस्थाकाल में उसी आत्मा में एक ईश्वर विशेषण लग जाने से वह ईश्वरात्मा कहलाता है। जब साधक उसमें प्रवेश पा जाता है तो ऐसी अवस्था में वही आत्मा-परमात्मा के नाम से जाना जाता है। यह सब तभी सम्भव है जब शनैः-शनैः चलकर अभ्यास करते हुए मन सहस्तित्व इन्द्रियों सहित सर्वथा निरोध की अवस्था में आ जाता है, तभी साक्षात्कार होता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म को जानने की क्षमता आ जाती है एवं लक्षण भी उसके जैसा ही हो जाता है। इसी स्थिति का नाम तत्त्वदर्शन है। हम चाहे देश में जन्मे हों चाहे विदेश में, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि इस निर्दिष्ट क्रिया का सम्बन्ध सीधा उस परमात्मा से है, जो सबका नियन्ता है। यह देश-विदेश तो जीवन-झगड़ों से मिलनेवाले नाम हैं जो अस्थिर हैं किन्तु उस लक्ष्य की प्राप्ति के पूर्व इस दुनिया में कोई सुखी नहीं होता। लक्ष्य-प्राप्ति के लिए किसी महापुरुष का सान्निध्य परमावश्यक है अन्यत्र तो माया का ही प्रसार है।

प्रश्न १४.- एक बार एक वृद्ध सज्जन विनीत शब्दावली में अपनी व्यथा व्यक्त करते हुए प्रार्थना करते हैं कि - "महाराज जी, जीवन पर विचार करने से सर्वाधिक पाप ही दिखाई पड़ता है। इसलिए अब

कल्याण हेतु मृत्युपर्यंत मैंने अवध में ही निवास करने का निश्चय किया है। कारण कि अवध में शरीर-त्याग करने से आवागमन के बन्धन टूट जाते हैं। जैसा कि-

चारि खानि जग जीव अपारा।
अवध तजे तन नहिं संसारा।।

उत्तर- मेरी भी यही धारणा है कि अवध में शरीर-त्याग करने से पुनर्जन्म नहीं होता परन्तु वह अवध ही दूसरा है। जैसा कि हमने अनेक बार बताया है कि यह मानस है। मानस का तात्पर्य मन से है। रामचरित मानस में वही अंकित है जो प्राय: सबमें प्रसुप्त एवं किसी-किसी में ही जागृत रहता है। मानस के रचयिता गोस्वामी जी ने गम्भीरतम विषय को छिपाकर लिखा है, ताकि उपयुक्त अधिकारी प्राप्त कर लें और अनाधिकारी प्रयास करें। मानस में चर्चित अवध का तात्पर्य इस प्रकार है- वध कहते हैं नाशवान को, मरणधर्मा को और अवध कहते हैं जिसका वध न किया जा सके अर्थात् अनश्वर हो।

यह भगवान के साथ मिलनेवाली भगवत् रहनी है, जो काल से अबाधित है। साधक के हृदय में जब भगवत् तत्त्व का संचार होता है तो उस समय यह विघ्न सहित है। उसी की प्रेरणा से सम्पूर्ण विकारों के शमनोपरान्त जब रामराज्य की स्थिति का अभ्युदय हो जाता है, तत्क्षण सेवक का कार्य समाप्त हो जाता है और स्वामी की ही रहनी मात्र शेष रह जाती है। भूखण्डों में कहीं भी अजर-अमर होने का प्रमाण नहीं मिलता और न तो ऐसा सम्भव ही है। अब आइए प्रश्न की प्रवेशिका पर कि जिस महापुरुष की यह वाणी है उन्होंने राम के साथ अवध को चलता-फिरता धाम कहा है-

अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइ दिवसु जहँ भानु प्रकासू।।

जहाँ सूर्य प्रकाशित है वहीं दिन है और जहाँ राम हैं वहीं अवध है। यथार्थतः राम तो सर्वत्र हैं परन्तु प्रेममयी साधना द्वारा ही किसी-किसी के हृदय-देश में प्रगट हुआ करते हैं और उस राम के प्रगट होते ही अवध की स्थिति आ जाती है। उस अबाध्य स्थिति में, शरीर का चाहे जब जहाँ भी परित्याग कर दिया जावे किन्तु मृत्यु से सम्बन्ध नहीं रहता। केवल शारीरिक निधन ही मृत्यु नहीं कहलाती।

अवध प्रभाव जान तब प्रानी।
जब उर बसहिं राम धनु पानी।।

अवध का प्रभाव, जैसा कि अजर-अमर कर देने की विशेष योग्यता है, वह मानव के लिए तभी प्रत्यक्ष होता है अर्थात् पुरुष तभी जान पाता है जब इष्ट (राम) की स्थिति ध्यान के माध्यम से हृदय में आ जाय। क्योंकि जहाँ राम रहते हैं, वहीं अवध है। अतएव जब तक राम की स्थिति नहीं मिल जाती, तब तक अवध में प्रवेश नहीं कर सकते। याद रखें-ईश्वर का निवास स्थान हृदय है, उन्होंने जब कभी भी विश्राम करने के लिए स्थान पाया है तो हृदय में ही, अन्यत्र कहीं नहीं। समस्त विकारों के शमनोपरान्त आकाशवत् निर्विकार स्थिति द्वारा हृदय-देश में राम के आने का समय हो गया अर्थात् स्थिति वहाँ तक पहुँच गयी, जहाँ कि राम के साम्राज्य का स्थान है। अब आप यह स्मरण रखें कि भगवान का निवास स्थान हृदय है, हम चिन्तन के द्वारा ज्यों-ज्यों इष्ट के करीब होंगे, त्यों-त्यों भयरहित अबाध्य स्थिति का संचार हृदय-देश में प्रसारित होने लगता है किन्तु राम की पूर्ण स्थिति जिस क्षण इस शरीर के अन्दर आ जायेगी, उसी समय यह सम्पूर्ण शोभा की

खानि हो जाती है। यही जीवात्मा अवध्य हो जाती है। इसलिए-

अवधपुरी प्रभु आवत जानी।
भई सकल सोभा कै खानी।।

जहाँ राम निवास करते हैं वहाँ अवाध्य स्थिति का प्रसार हो जाता है। जब भगवत्-प्राप्ति की स्थिति में आ जाते हैं तो यह शरीर स्वतः सम्पूर्ण शोभा की खानि बन जाता है और इससे अवाध्य स्थिति का चित्रण होने लगता है। इष्टदेव के शब्दों से ही इस स्थिति की जानकारी प्राप्त होती है। अन्यत्र इससे अवगत होने का कोई उपाय नहीं है। इसीलिए राम समझाते हुए कहते हैं कि-

सुनु कपीस अंगद लंकेसा।
पावन पुरी रुचिर यह देसा।।

यह प्राप्ति-स्थिति अत्यन्त पुनीत, रमणीय एवं अलौकिक है। यद्यपि सर्वत्र बैकुण्ठ की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है परन्तु अवध सदृश्य मुझे वह भी प्रिय नहीं है। इस मार्मिक प्रसंग को कोई विरला ही समझ सकता है। बैकुण्ठ, कामधेनु, अमृत इत्यादि यौगिक शब्दकोष हैं। इन शब्दों के माध्यम से महापुरुषों ने इष्ट के सामीप्य की ऊँची-नीची अवस्थाओं को व्यक्त किया है। इसलिए अंगद कहता है कि- अरे बुद्धिहीन रावण! क्या बैकुण्ठ कोई नगरी बसी हुई है, जहाँ पहुँचकर डेरा डाल दोगे? कुण्ठ कहते हैं किनारे को अर्थात् जो माप-तौल में आ सके एवं बैकुण्ठ कहते हैं बेहद को, जिसका किनारा न मिल सके। जब तक साधक का चिन्तन माप-तौल के अन्दर है (२ घण्टे, ४ घण्टे या ८ घण्टे चलता है) अतः संख्या निर्धारित हो जाने से कुण्ठित है अर्थात् किनारा मिल गया। यदि वही भजन धारावाही होने लगे (जिसमें माप-तौल, किनारा आदि नहीं होते) तो यही स्थिति बेहद या बैकुण्ठ कहलाती है-

यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ।

किन्तु इस प्रसंग को कोई-कोई ही जान पाता है। जिसके अन्दर यह स्थिति प्रत्यक्ष आ जाती है उसी के लिए जानने का विधान है। आगे-

अति प्रिय मोहि इहाँ के वासी।
मम धामदा पुरी सुख रासी।।

जो क्रमशः साधना-पथ में चलकर अबाध्य स्थिति प्राप्त कर लेता है वह मुझे अत्यन्त प्रिय होता है और एक अत्यन्त प्रिय, जैसे कि प्राण। जब तक भगवान का स्वरूप हृदय-देश में प्रगट नहीं होता तब तक अवध का प्रभाव एवं स्वरूप ही पकड़ में नहीं आता। अबाध्य स्थिति एवं इसका प्रकटीकरण एक दूसरे के पूरक हैं अर्थात् स्वरूप के साथ ही साथ अबाध्य स्थिति भी तत्क्षण प्राप्त हो जाती है। पुनश्च-

उत्तर दिशि बह सरयू पावनि।

यजनपूर्ण स्वर ही सरयू है। उत्तर दिशा का तात्पर्य है उर्ध्वरिता या उपराम। इस प्राप्तिकाल में यजनपूर्ण स्वर उर्ध्वरिता अथवा उपराम हो जाता है। ऐसी स्थितिवालों का मज्जन व संग करनेवाले मेरा सामीप्य पाते हैं।

हरषे सब कपि सुनि प्रभु बानी।
धन्य अवध जो राम बखानी।।

ऐसा सुनकर सब हर्षित हुए एवं विशेष अवध से अवगत होकर बोले कि वह अवध धन्य है जिसकी प्रशंसा राम ने स्वयं की है। इसलिए सिद्ध है कि अवध बहुत हैं। महात्मा तुलसीदास इन त्रुटियों से अवगत थे, इसीलिए कल्याणकारी अवध पर बारम्बार क्रियात्मक युक्तियों द्वारा विशेष बल दिये हैं, जिससे कि मानव अपने जीवन में अवध के परिणाम का सही उपयोग

कर सके। जब रामराज्य अवध में स्थापित हो गया तो उस विशेष रामराज्य की स्थिति का चित्रण करते हुए व्यक्त किया गया है।

गरुड़ का सन्देह इतना बढ़ा कि कहीं उसका निवारण न हो सका। वे नारद-शंकर आदि के पास से होते हुए कागभुसुण्डि के पास जा पहुँचे। उनका सम्पूर्ण संदेह आश्रम एवं महापुरुष के दर्शन से ही प्रायः दूर हो गया। कारण कि वे महापुरुष राम के अनन्य भक्त एवं प्रत्यक्षदर्शी थे। वे ही प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष जिस अवध में राम का राज्य है उसका चित्रण करते हुए कहते हैं-

जब ते राम प्रताप खगेसा।
उदित भयउ अति प्रबल दिनेंसा।।
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका।
बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका।।

हे गरुड़ जी! वह रामराज्य क्या था, वह एक प्रकार का प्रचण्ड सूर्य प्रगट हुआ था जिससे तीनों लोकों में पूर्ण प्रकाश छा गया। उस प्रकाश में बहुतों को सुख हुआ एवं बहुतों को दुःख।

जिन्हहि सोक ते कहउँ बखानी।
प्रथम अविद्या निसा नसानी।।
अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने।
काम क्रोध कैरव सकुचाने।।

जिन्हें शोक हुआ, उनका वर्णन सुनें-

प्रथम तो अविद्यारूपी निशा का सदा लिये अन्त हो गया एवं अविद्या में पलनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि उल्लू जहाँ-तहाँ छिप गये अर्थात्

मायिक प्रवृत्ति का नाश हो गया। जो विकसित हुए, उनका वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना।
ये पंकज बिकसे बिधि नाना।।

धर्मरूपी तालाब में विवेक वैराग्य, शम, दम इत्यादि ईश्वरोन्मुखी प्रवृत्ति पूर्णरूपेण विकसित हो गई अर्थात् इष्टोन्मुख समस्त सद्गुणों का विकास हो गया किन्तु इस रामराज्य की स्थापना जिस अवध में हुई वह है कहाँ?

यह प्रताप रबि जाके, उर जब करइ प्रकास।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे, कहे ते पावहिं नास।।

रामराज्य का यह प्रकाश जिसके हृदय में जिस समय व्याप्त हो जाता है तब पीछे दर्शाये गये सभी इष्टोन्मुखी सद्गुणों का पूर्णतया विकास हो जाता है और अधोगति में ले जाने वाले मायिक दुर्गुण समूल नष्ट हो जाते हैं।

अब स्पष्ट हुआ कि राम के साक्षात्कार के साथ मिलनेवाली अबाध्य स्थिति ही अवध है, जो हृदय में प्रत्येक प्रयत्नशील (साधक) के लिए सम्भव है। यह इष्ट के स्थितिवाले किसी महापुरुष के अन्तर्देश की स्थिति है। वे जिस किसी को हृदय से पथ-प्रदर्शन करने लगे उसी के लिए सुलभ हो जाता है। इस अवध की स्थिति की जानकारी वे इष्ट स्वयं कराते हैं। कारण कि वह परमात्मा मन-बुद्धि के क्षेत्र के सर्वथा परे है। यह क्रमशः चलनेवाला क्रियात्मक पथ है, जहाँ परामर्श का स्थान नहीं। यदि जीते-जी किसी को यह स्थिति मिल गई तो वहाँ मृत्यु का प्रशन ही नहीं खड़ा होता।

चारि खानि जग जीव अपारा।
अवध तजे तन नहिं संसारा।।

चारों खानियों में जो अपार जीव-शृंखला है उसमें से यदि कोई इस अवध को पाकर त्याग दे, तो उसका आवागमन नहीं होता। आपको इस प्रकार की संकीर्ण भावना नहीं रखनी चाहिए। वृद्धा और युवावस्था का भगवत्-पथ में कोई विशेष बन्धन नहीं है। भाग्य से ही ऐसी भावना आपके अन्तःकरण में जागृत हुई है। यदि आपको फलदायी अवध में पहुँचना है तो श्रम करिये। क्रियात्मक ढंग से ही लाभान्वित होना सम्भव है, किसी अन्य माध्यम से नहीं।

प्रश्न १५.- महाराज जी, अवध प्रसंग में पावन मुख से यह सुनने में आया कि यजनपूर्ण स्वर ही सरयू है। अब इसको पकड़ने की कोई युक्ति बताने की कृपा की जाय और साथ ही यह भी बताया जाय कि श्वास पर श्वास की क्रिया की स्थिति क्या है?

उत्तर - प्रारम्भिक अवस्था में श्वास पर श्वास का उपयोग तुम्हारे लिए न हो सकेगा। निरन्तर अभ्यास के कुछ काल बाद यही सरल हो जाती है। जिस प्रकार वह हमारे समझ में आती है और जीवन में ढलती है, उस प्रकार से लोग करना नहीं चाहते। लोग सीधे उसी योग्यता को चाहते हैं, जो उसकी स्थिति है।

जहाँ-तहाँ उल्टी-सीधी मान्यताओं का आधार लेकर समझाना भी प्रारम्भ कर देते हैं। बहुत से लोग तो काफी मात्रा में श्वास को खींचकर पेट को घड़े की तरह भर लेते हैं और कहते हैं कि श्वास पर श्वास की क्रिया हो रही है। शारीरिक व्यायाम और मन के निरोध से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी उलझन में पड़ने से तो जल्दी के बजाय दूरी ही पैदा हो जाती है। यह एक ही नाम की ऊँची-नीची श्रेणी है, जो क्रमशः चलकर ही सुलभ हो सकती है। जैसे किसी बच्चे का संरक्षक उसको उच्चश्रेणी की शिक्षा दिलाना चाहता

है, यदि वह प्रारम्भ में ही उसे किसी उच्चश्रेणी की शिक्षा के स्थान पर बैठा दे तो बताओ क्या परिणाम निकलेगा? यदि वास्तव में संरक्षक की चाह उच्चश्रेणी की शिक्षा दिलाने की है तो वह प्राथमिक शिक्षाहेतु सभी सम्भव प्रयत्न करेगा। ठीक इसी प्रकार श्वास पर श्वास की क्रिया को यदि पाना है तो क्रमिक रूप से ही समझना होगा।

एक ही नाम-यजन की चार श्रेणियाँ हैं। अतएव वे चारों श्रेणियाँ एक ही नाम की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं-- जो बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परा के नाम से जानी जाती हैं। इसी विशेष पथ की आधी दूरी तय करने पर श्वास पर श्वास की योग्यता आ जाती है। जपने वाले नाम अथवा मंत्र का तात्पर्य "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" नहीं है। वह तो एक प्रार्थना है जैसा कि ॐ शब्द से उच्चरित परात्पर ब्रह्म, सबकी श्वास में वास करनेवाले भगवन्! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। "ॐ नमः शिवाय" इत्यादि भी इसी प्रकार की प्रार्थनाओं के रूपक हैं।

अब आप किसी एक छोटे से नाम को ले लें। जैसे कि तुलसीदास जी ने अपने चिन्तन-क्रम में दो अक्षर का नाम राम रखा। कबीर और नानक जी ने भी वही नाम चुना। पूर्व के महर्षियों में ॐ, सोहम् इत्यादि चलता था। इस प्रकार किसी दो या ढाई अक्षर के शब्द का नियमित रूप से ऐसे गति से उच्चारण करें कि आसपास वालों को भी सुनाई पड़े। व्यक्त होने के कारण यह **बैखरी** वाणी का जाप कहलाता है। जितना नियम से निभा सकें उतना नियम से जपें और इसके अतिरिक्त हर वक्त जपने का विधान है।

मध्यमा - उसी नाम को ऐसे ढंग से जपें कि आपके अतिरिक्त कोई और न सुन सके। यह केवल कण्ठ से ही जपी जानेवाली वाणी है। नाम

जपने से आवाज तो निकलती है, परन्तु मध्यम होने के कारण मध्यमा कहलाती है। इसको तब तक निरंतर जपना पड़ता है जब तक कि ध्वनि न बँधे और मन ध्वनि में न फँस जाय।

पश्यन्ति - पश्य का अर्थ होता है देखना। इस वाणी से नाम जपा नहीं जाता बल्कि देखा जाता है। इसकी प्रवेशिका में नाम श्वास के साथ ही जपा जाता है जिससे कि वह नाम श्वास में ढल जाय। नाम की इसी अवस्था को पश्यन्ति कहते हैं। मन को द्रष्टा के रूप में खड़ा कर दें और श्वास में उठने वाले शब्द को सुनें। संगदोष से मन कभी इतना विकृत हो जाता है कि सुनने की क्षमता ही नहीं रहती। ऐसी स्थिति में जब साधक बरबस अपने मन को लगाता है तो सिर में दर्द होने लगता है। संगदोष से बचने के लिए इस मन को सावधानी से लगाना पड़ता है। यहीं से श्वास पर श्वास की क्रिया का प्रवेश है। इसमें श्वास को घटाना या बढ़ाना नहीं पड़ता बल्कि शारीरिक शक्ति के अनुसार श्वास की स्वाभाविक गति में नाम को ढालने का प्रयत्न करना चाहिए। उसी श्वास की गति के साथ नाम को जपें। महापुरुषों का तो कहना है कि श्वास नाम के अतिरिक्त और किसी भी चीज का उच्चारण नहीं करती, परन्तु जब आप लोग सुनने का प्रयत्न करते हैं तो सन्न-सों सुनाई देता है, कारण की शुद्ध अवस्था से प्रकृति के द्वन्द्व में लगे इतना दूर हट गये हैं कि स्पष्ट सुनाई नहीं पड़ता, क्रमशः सुनाई देगा।

पश्यन्ति के चिन्तन में तो मन को सुनने के लिए बाध्य किया जाता है, किन्तु परावाणी में मन स्वाभाविक रूप से ही लग जाता है। न साधक जपे और न मन को जपने के लिए विवश करे। यदि इतने पर भी जाप धारावाही होता रहे तो बस यही अजपा की प्रवेशिका है। इसी की पूर्तिकाल में श्वास में उठने वाला शब्द नाम मात्र ही शेष रह जाय और जपने वाले के इस मन की स्थिति उसमें विलीन हो जाय तब वह क्रम परमात्मा अथवा परम

चैतन्य चिन्मय भगवान की स्थिति में परिवर्तित हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह प्रभु स्वयं ही समझा देता है कि बेटा हम ऐसे हैं और तुम्हारा यह रूप है। इस स्थिति के बाद अपने में प्रवेश दे देते हैं।

यजनपूर्ण स्वर ही सरयू है- अजपा की स्थिति में स्वर यजन से परिपूर्ण रहता है। यह इष्ट के समीपवाली वाणी का जाप है। उसके बाद जाप का कोई विधान नहीं है। इस स्थिति में यजनपूर्ण स्वर ही सरयू है। इस सरयू के महत्त्व को दर्शाते हुए कहते हैं कि-

जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा।
मम समीप नर पावहिं वासा।।

इसमें मज्जन करने से नर मुक्ति पा जाता है या मेरे समीप निवास करता है, परन्तु कार्यरूप में देखने से वह गुण नहीं मिलता। उदाहरण के लिए पाकिटमार चोर सबसे प्रथम ही स्नान कर लेते हैं। यदि भक्त चार बजे सुबह डुबकी लगाता है तो वे दो बजे रात्रि में ही स्नान करके राम-सीताराम की ध्वनि लगाना प्रारम्भ कर देते हैं। वे लोग भक्त के डुबकी लगाते ही उनका सामान लेकर चम्पत हो जाया करते हैं। परम मुक्ति तो दूर रही, कम से कम उनका यह दुष्कर्म तो छूट जाता। देखें-

वस्तु कहीं खोजे कहीं, कैसे पावे ताहि।

तीर्थ और उसका फल अपनी जगह पर है। वह सामीप्य मुक्ति और साक्षात्कार यजनपूर्ण स्वररूपी सरयू में मज्जन करने से ही सुलभ हो सकता है।

उत्तर दिसि बह सरयू पावनि।

इस स्थिति में श्वास प्रकृति से उपराम हो जाती है। अध्यात्म में यही

उत्तर दिशा है, जिसे उर्ध्वरिता कहते हैं। चिन्तन की इस योग्यता में मन पर दबाव नहीं देना पड़ता बल्कि वह स्वाभाविक ही होने लगता है। ऐसे यजनपूर्ण स्वर में मज्जन करनेवाला निश्चय ही सामीप्य मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। बैखरी, मध्यमा के चिन्तन में स्वर से सम्बन्ध नहीं रहता। पश्यन्ति काल में स्वर में खींचातानी मची रहती है और परावाणी के चिन्तन-काल में यजन से परिपूर्ण रहती है। इसी में मज्जन करने वाला व्यक्ति सामीप्य मुक्ति प्राप्त करता है।

बहइ सुहावन त्रिविध समीरा।
भइ सरयू अति निर्मल नीरा।।

प्राय: सबकी श्वास् सात्त्विक, राजस, तामस तीनों गुणों के उतार-चढ़ाव में प्रवाहित रहती है। जब श्वास यजन की क्रिया तीनों गुणों से उपराम हो जाती है तो शुभ से ओत-प्रोत रहती है। शुभ का अर्थ है सत्य, कहने का तात्पर्य यह है कि वह विकारों से रहित हो जाती है। इस स्थितिवाले स्वर का मज्जन करनेवाला ही सामीप्य मुक्ति का अधिकारी है। जन्म-जन्मान्तरों के मनोमल के मज्जनार्थ यही सरयू है। मन में विकारों के रहते भगवत्-स्थिति प्राप्त करना असम्भव है। शारीरिक मल तो बाह्य मज्जन से ही छूट जाता है, परन्तु आन्तरिक मल की धुलाई चिन्तन-भजन के द्वारा ही होती है। देखो, यह रामचरित मानस क्रियात्मक होने से क्लिष्ट है। इस योग्यता की उपलब्धि क्रियात्मक ढंग से ही हो सकती है।

प्रश्न १६.- कबहुँक करि करुना नर-देही।
देत ईस बिनु हेत सनेही।।

जैसा कि चौरासी लाख योनियों का दण्ड देखकर भगवान करुणा करके नर का शरीर प्रदान करते हैं, जिसे आवागमन से मुक्त होने का साधन बताया गया है, तो क्या उस नर का यही स्वरूप है जो रात्रि-

दिन जन्म लेते रहते हैं या और कोई?

उत्तर - देखो, माया ही नारी है। माया का उतार-चढ़ाव चित्त के ऊपर है इसलिए चित्तवृत्ति ही नारी है। जब कभी प्रयत्नशील पुरुष के हृदय से चित्तवृत्ति द्वारा कार्य करनेवाली माया का प्रभाव निकल जाता है तो वह नर की स्थिति में आ जाता है। जिसका संचालन माया द्वारा होता है, वह नारी है न कि नर? देखो, यह मानस मन की सूक्ष्म स्थितियों का चित्रण है। इन स्थितियों का निर्णय इष्टदेव के शब्दों से ही होता है। साधक इन स्थितियों को इष्ट की वाणी द्वारा पाता है। इस मानस की रचना के साथ-साथ मानस-रोग भी बताये गये हैं। इन मानस-रोगों के माध्यम से उस नर-स्वरूप का निर्णय दिया गया है। उन रोगों के प्रसुप्त हो जाने पर नर-स्वरूप की योग्यता आ जाती है। सम्पूर्ण व्याधियों का मूल मोह है जो अनन्त रोगों के विस्तार का कारण है। काम वात, क्रोध पित्त और लोभ कफ है, अहंकार डमरूआ है, तृष्णा उदर रोग है। इसी प्रकार पन्द्रह-पचीस रोगों को बताया गया है और साथ ही निर्णय दिया गया है कि नर पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः जो इन विकारों से प्रभावित नहीं होता, वही नर है। जैसा कि-

एक व्याधि बस नर मरहिं, यह असाधि बहु व्याधि।
पीड़हिं सन्तत जीव कहुँ, सो किमि लहै समाधि।।

इन व्याधियों में से यदि एक भी व्याधि नर का स्पर्श कर देती है तो नर मर जाता है और जिसके पास ये सभी रोग हैं तो निरन्तर पीड़ित रहनेवाला जीव है। भला वह समत्व की स्थिति कैसे प्राप्त कर सकता है? अब आप विचार करें कि इनमें से कोई रोग है या नहीं। यदि है तो वह नर नहीं। नर तो एक ऐसा स्वरूप है कि प्रकृति के सभी पहलू काम-क्रोधादि जिनका नाम मानस-रोग है. जीवित अवश्य रहते हैं, पर वह उनसे प्रभावित नहीं होता। संयोगवश यदि कोई एक भी दोष कार्य करने लगता है तो नर मर

जाता है और जहाँ सभी दोष हैं, वहाँ तो नर का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। गोस्वामी जी के कथनानुसार वह जड़-जीव है। जब भगवान राम ने अन्दर ही अन्दर यह निश्चय किया कि मैं पृथ्वी निशाचरहीन कर दूँगा तो सीता को सम्बोधित करते हुए कहते हैं-

सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला।
मैं कछु करबि ललित नर लीला।।
तुम्ह पावक महुं करहु निवासा।
जौ लगि करौं निशाचर नासा।।

निशा कहते हैं रात्रि को एवं निशाचर कहते हैं रात्रि में विचरण करनेवाले को। महापुरुषों की दृष्टि में बाहर कहीं रात्रि है ही नहीं। बाह्य निशा तो जीव-जगत् की जीवनी है।

एहि जग जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच वियोगी।।

यह जगत् ही रात्रि है, "मोह निशा सब सोवनि हारा" --मोह ही निशा है। इसमें चलाने वाले काम, क्रोध, मद, मत्सर इत्यादि का विस्तार ही निशाचर है। आत्मा का रथी होकर संचालन करना ही राम है। उस आराध्य देव के आदेशानुसार जब मनुष्य इन्हें काटने में प्रवृत्त होता है तो वही नर-लीला है। जब पुरुष इन विकारों के प्रभाव से ऊपर उठ जाता है तब वह नर कहलाता है। यहाँ मोहरूपी रावण एवं उसका प्रसार आसुरी सम्पत्ति होने से निशाचर है। भजन कोई लाख करे परन्तु जबतक इष्टदेव रथी नहीं हो जाते, तबतक इन विकारों का शमन नहीं होता। किसी के हृदय में यदि इन विकारों पर विजय मिली है तो अनुभव के द्वारा। विजय का परिणाम प्रेरक पर आधारित रहता है। श्रम साधक करता है परन्तु उसका अस्तित्व निमित्त मात्र है। अतः

इष्टदेव से प्रेरित विकारों से त्राण पाने के लिए साधक प्रयत्नशील रहता है। यह नरत्व की स्थिति का प्रयास मात्र है।

यौगिक दृष्टि से नर मन की एक श्रेणी है, न कि स्थूल शरीरधारी कोई जीव। यह नरत्व की श्रेणी क्रमागत साधना के फलस्वरूप उसी परम प्रभु (इष्ट) की अनुकम्पा से मिलती है जो मोक्षदायिनी एवं साधन का धाम है, ऐसी स्थितिवाले साधकों को चेतावनी देते हुए भगवान स्वयं कहते हैं-

नर तन पाइ विषय मन देही।
पलटि सुधा ते सठ विष लेही।।

बहुमूल्य नर-तन पाकर यदि विषयों में मन लगाता है तो वह अमृत के बदले विष ग्रहण करता है। उपरोक्त नर की स्थिति हम किसी महापुरुष की सेवा एवं सान्निध्य से ही प्राप्त कर सकते हैं।

प्रश्न १७.- महाराज जी! कामधेनु एवं कल्पवृक्ष की क्या मान्यता है? अब तक तो हम लोग इन्हें पशु एवं वृक्ष ही मानते आये हैं।

उत्तर - प्राचीन शास्त्रों में 'गो' शब्द की महिमा विलक्षण ढंग से वर्णित है। गो ही लोक-परलोक एवं सब कुछ प्रदान करनेवाली है। कालान्तर में 'गो' शब्द ने धीरे-धीरे एक भ्रान्ति का रूप ले लिया। कतिपय लोगों में यह धारणा बनने लगी कि महर्षियों के यहाँ कोई ऐसी क्षमता वाली गाय रहती थी जो कि तत्काल इच्छित वस्तुओं को प्रदान कर देती थी। उदाहरण के लिए वशिष्ठ आदि महर्षियों के यहाँ नन्दिनी एवं कामधेनु आदि के रहने की मान्यता है। इसी प्रकार कल्पवृक्ष, शेषनाग, बैकुण्ठ इत्यादि बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके विषय में लगभग आठ या दस शताब्दी से लोगों में विभिन्न मान्यताओं की कल्पना हो गई है किन्तु ये सभी यौगिक शब्द हैं। गोस्वामी

जी इन्हीं भ्रान्तियों के शमनहेतु यथार्थ स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि-

राम मनुज कस रे सठ बंगा।
धन्वी काम नदी पुनि गंगा।।

अंगद के माध्यम से रावण के प्रति इस प्रकार कहते हैं- "रे बुद्धिहीन रावण, राम क्या किसी का रूप है? कामदेव क्या कोई धनुर्धारी है? वह तो एक विकार मात्र है-"

काम कुसुम धनु सायक लीन्हें।
सकल भुवन अपने बस कीन्हें।।

कुसुम कहते हैं फूल को, लतिका से जैसे विकसित पुष्प विलग होकर तत्काल मुरझा जाता है, उसी प्रकार काम भी फूल की तरह एक नाजुक विकार है, जो कि आया और तुरन्त मुरझा गया, परन्तु इतना सशक्त एवं प्रबल है कि सम्पूर्ण जगत् को अपने वश में कर सकता है। इसीलिए महापुरुषों ने काम के भयंकर प्रवाह को सशक्त शूल समझकर एक धनुर्धारी की संज्ञा दी है। आगे कहते हैं- रे अभागे! गंगा क्या किसी नदी का नाम है?

पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा।
अन्न दान अरु रस पीयूषा।।

कामधेनु क्या किसी पशु का नाम है? कल्पवृक्ष क्या कोई पेड़ है? अन्न क्या कोई दान है? (अपने को सद्गुरु के प्रति समर्पण करना ही दान है) अमृत क्या कोई तरल पदार्थ है?

रे मति मंद लोक बैकुण्ठा।
लाभ कि रघुपति भगति अकुण्ठा।।

रे मतिमंद! बैकुण्ठ क्या कोई नगरी है? भगवान की अगाध भक्ति क्या कोई लाभ है? वह तो एक सर्वोपरि स्थिति है, जिसमें लाभ-हानि का उतार-चढ़ाव नहीं है। बुरी स्थिति को देखकर भलाई का ज्ञान होता है अर्थात् बुरे चिन्हों को देखकर ही अच्छाई का भान किया जा सकता है किन्तु भक्ति में लाभ-हानि का कोई प्रश्न ही नहीं। भग-इति से भक्ति (भगति), भग कहते हैं गुण-दोषमयी प्रवृत्ति और उसका अन्त ही भक्ति कहलाती है। अत: स्पष्ट हो गया कि यह लाभ नहीं बल्कि स्थिति है।

बैनतेय खग अहि सहसानन।
चिन्तामनि पुनि उपल दसानन।।

जैसा कि क्रमिक प्रसंग में कहते आ रहे हैं ठीक उसी प्रकार यहाँ भी कहते हैं कि रे मतिमंद! गरुड़ क्या कोई पक्षी है? और शेषनाग क्या कोई सर्प है, जो पृथ्वी का भार वहन करता है? आज के युग में आये दिन राकेट पृथ्वी का चक्कर लगाया करते हैं परन्तु कहीं भी शेषनाग दिखाई नहीं पड़ते। अरे विंशति चक्षुओं से भी अन्धे दशानन! चिन्तामणि क्या कोई पत्थर है? जब दावे के साथ बुद्धिहीन,नीच,अन्धे आदि शब्दों से सम्बोधित करके अंगद के द्वारा स्पष्ट किया गया है तो वस्तुत: ये हैं क्या? यह सबके सब आजकल निरन्तर खटकने वाले शब्द हैं। अरे! यह तो आध्यात्मिक शब्दकोष है, जिसके द्वारा महापुरुषों ने योग में आनेवाली विशेष स्थितियों को समझा था। अब प्रश्न के प्रारम्भ पर विचार करें कि कामधेनु और कल्पवृक्ष क्या हैं? जब साधन के सही संचालन में पड़कर यह हमारा अयुक्त मन प्रवृत्तियों सहित सर्वथा निरोध की स्थिति में प्रवेश पा जाता है तत्क्षण अधोन्मुखी प्रकृति-जन्य सम्पूर्ण विकारों का क्रियात्मक क्रम परिवर्तित होकर भगवत् स्थिति को प्रदान करनेवाले सद्‌गुणों में प्रवाहित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप चेतन

को प्राप्त कर उसी रूप में साधक परिवर्तित हो जाता है, जिसे कि कायाकल्प कहते हैं। इस प्रकार कायाकल्प की स्थिति वालों के लिए इच्छा ही सब कुछ है। हृदय से किसी के कल्याण की इच्छा प्रगट कर दें अथवा स्वयं के लिए किसी इच्छा का अभ्युदय हो जाय तो तत्काल स्वयं ही पूरी होने लगती है। मनोवांछित फल प्रदान करना ही कल्पवृक्ष का गुणधर्म माना जाता है।

कामधेनु- 'गो' नाम इन्द्रियों का है। यही मनसहित इन्द्रियाँ साधना से निरोधावस्था प्राप्त कर ब्रह्म-पीयूष रस को फैलाने लगती हैं। उस समय योगी को मिलनेवाला आनन्द ही नन्दिनी है। यही स्थिति महर्षि वशिष्ठ की थी। यही गो योगी के स्वरूपस्थ होने पर कामधेनु बन जाती है। शरीर के रहते हुए उस स्वरूप की स्थिति मिल गई, इसलिए उसकी समस्त कामनायें पूर्ण हो चुकीं। कारण कि आगे ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसके लिए कामना करे। उस परम कामना की पूर्ति स्थितिप्राप्त महापुरुषों से ही सम्भव है। देखने में इन्द्रियों का खोखा वही है जो अन्दर ही अन्दर उस परमतत्त्व की पूर्ति हो जाने से कामधेनु के विशेषण से अलंकृत हो जाती है। यदि हमारी इन्द्रियाँ विषयोन्मुख हो गईं तो पशुता में बदल जाती हैं और यदि साधन में प्रवृत्त हो गईं तो ब्रह्म-रस का संचार करने के कारण नंदिनी कहलाती हैं। नंदिनी अर्थात् आनंद देनेवाली स्थितियाँ। यही पराकाष्ठा दिलाने पर कामधेनु कहलाती हैं। यही इन्द्रियाँ ब्रह्म की स्थिति वाली हैं जहाँ समस्त कामनाओं की पूर्ति है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या गाय को न माना जाय? मानने को कुछ भी मानो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। चाहे गाय मानो या पीपल, कोई मदीना की मिट्टी माने तो कोई ईसा-फाँसी का दृश्य। इसी प्रकार यहूदी इत्यादि प्रत्येक समाज की भिन्न-भिन्न मान्यताएँ होगीं। यह द्वन्द्व में रहनेवाले

प्राणियों को ईश्वरोन्मुख करने का उपाय है। इससे हृदय में श्रद्धा का वेग बढ़ता है व धर्म में अभिरुचि जागृत होती है। शनैः-शनैः प्रकृति से ऊबकर सत्य-प्राप्ति की जिज्ञासा प्रबल हो जाती है, किन्तु वास्तविक क्रिया जो परम चेतन से मिलाने वाली है, उसमें प्रवेश मिल जाने पर उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। जबतक हमारी योग्यता उस क्रिया को पकड़ने में सक्षम नहीं हो जाती, तबतक इसका पालन नितान्त आवश्यक है। भगवत्-पथ की प्रवेशिकापर्यन्त कुछ ऐसे ही माध्यम अपनाये गये हैं।

योगेश्वर कृष्ण कहते हैं कि देवताओं के स्थान पर देवता नाम की कोई वस्तु नहीं है किन्तु मनुष्य की श्रद्धा जब किसी स्थान पर झुक जाती है, तब मैं स्वयं ही उस स्थान पर खड़ा होकर फल देता हूँ परन्तु वह फल सीमित है। उनको मेरे अव्यक्त स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। अतः मेरी प्राप्ति के लिए उन्हें उस क्रिया को करना पड़ेगा, जो मेरे द्वारा निर्दिष्ट की गई है। जबतक भगवत् स्वरूप को दिलाने वाली क्रिया न मिले तब तक यह प्रयास करना परमावश्यक है।

प्रश्न १८.- महाराज जी, क्या अध्यात्म में युद्ध अनिवार्य है?

उत्तर- अध्यात्म ही एक ऐसा स्थल है जहाँ युद्ध अनिवार्य है, अन्यत्र कहीं नहीं। संसार में बड़े-बड़े संघर्ष होते हैं परन्तु इनका उद्देश्य इन्द्रिय तृप्ति है न कि परमार्थ। मोह से पराधीन होकर सांसारिक शक्तियों के मद में इन्द्रिय तृप्ति के लिए लोग विशाल जनसमूहों में लड़ते हैं, जिसे युद्ध की संज्ञा दी जाती है। ऐसे युद्ध में असंख्य लोग मर मिटते हैं किन्तु जीत जीवित रहनेवालों की भी नहीं होती। अरे, यह प्रवृत्ति मार्ग है। जो जिसको जितना दबाता है, परिणाम में उसे भी उतना ही दबना पड़ता है। आज जो शरीर

के अभिमान में पड़कर अपने को शेर समझता है, कल उसे गीदड़ भी बनना पड़ेगा। कारण कि बदले की भावना को हर हालत में भोगना ही पड़ता है। यह मानव-शरीर क्षणभंगुर है एवं कल के लिए कुछ भी निश्चित नहीं है। तो फिर इसके लिए एकत्रित भोग्य सामग्री कब सत्य हो सकती है? अत: ऐसी प्राप्ति पूर्णतया अप्राप्ति ही है। थोड़ा गीता पर विचार करें- कृष्ण कहते हैं कि इन्द्रिय सुख को चाहने वाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है, अत: तू इनके वश में न हो। आगे जन्मान्तर में मिलनेवाली योनियों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! मृत्युकाल में जो जिसका चिन्तन करते हुए शरीर का त्याग करता है, प्राय: वह उसी स्तर की योनि को प्राप्त करता है और जो मेरा चिन्तन करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त करता है। यदि ऐसा सरल उपाय है तो सभी मरण-काल में भगवान का चिन्तन कर लेंगे, परन्तु कहते हैं कि- हे अर्जुन! उस प्रयाण-काल में बरबस आकर वही चिन्तन होने लगता है जिसका कि जीवन में अधिक अभ्यास हुआ रहता है। मरण-काल में बुद्धि भ्रमित रहने के कारण जीवन के भले-बुरे कार्यों का बरबस स्मरण होने लगता है। इसलिए तू निरन्तर मेरा ही चिन्तन कर, जिससे प्रयाण-काल में मेरा ही चिन्तन तुझमें प्रसारित हो सके। आजीवन जिसमें मार-काट, झगड़े-फँसाद एवं जीवों के सताने की भावना रही है प्रयाण-काल के बाद भी वह मरने और जीने की परिधि में जन्म लेता है। झगड़ने की प्रवृत्ति जीव श्रेणी का स्वभाव है। अत: काम-क्रोध, मोह-लोभवश झगड़े अवश्य होते हैं जिसका परिणाम अधोगति है। जहाँ इसकी उपलब्धि है वहाँ विजय का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अब एक दृष्टि मानस पर भी डालें। जब रावण युद्धस्थल में आया तो विभीषण को बड़ी चिन्ता हुई और उसके पराक्रम का स्मरण कर वह विचार करने लगा कि-

रावनु रथी बिरथ रघुबीरा।

रावण रथारूढ़ है, भगवान राम विरथ हैं, उनके पाँव में जूते भी नहीं हैं तो इस भयंकर शत्रु को कैसे जीतेंगे?

याद रखें, यहाँ गोस्वामी जी के शब्दों में राम एवं रथादि का चित्रण प्रतीकों के रूप से प्रत्यक्ष है। यहाँ पर मोह ही रावण एवं उसका रथ ही मोह का प्रसार है। हम मोहमयी दृष्टि से जिधर भी देखें वह वहीं से गति पकड़ने लगता है। बस यही वह रथ है जो मोह को अपने में आसीन कर घुमाता रहता है। ऐसा विचार कर विभीषण बोला-

नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना।
केहि विधि जितब वीर बलवाना।।

भगवन्! न आपके पास रथ है और न पाँव में जूते ही हैं, इस महाभयंकर शत्रु को आप कैसे जीतेंगे? उसके बल से वह भली-भाँति परिचित था। इस पर भगवान राम उसके प्रेम को देखकर कहते हैं कि-

सुनहु सखा कह कृपानिधाना।
जेहिं जय होई सो स्यंदन आना।।

भगवान राम बोले- "जिससे विजय होती है वह रथ ही दूसरा है।" आखिर उसका स्वरूप क्या है?

सौरज धीरज तेहि रथ चाका।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।।

शौर्य एवं धैर्य ही उस रथ को चलाने वाले चक्के हैं। सत्य (जो तीनों कालों में अबाधित है) एवं शील (सत्य का अनुसरण) -यही दोनों ध्वजा

और पताका. हैं। याद रखें, ध्वज सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतीक होता है। उसके खिलाफ कोई कार्य हो ही नहीं सकता। यदि उसके खिलाफ कोई कार्य होता है तो राष्ट्र समाप्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार सत्य से विपरीत कोई कार्य नहीं हो सकता।

बल बिवेक दम परहित घोरे।
छमा कृपा समता रजु जोरे।।

शक्ति, विवेक, इन्द्रियों का दमन एवं परम वस्तु से हित ही घोड़े हैं जिनके द्वारा सही दिशा अर्थात् वास्तविक गति मिलती है। क्षमा, कृपा एवं समत्व रूपी रस्सियों में बँधकर ये घोड़े कार्य करते हैं-

ईस भजनु सारथी सुजाना।
बिरति चर्म संतोष कृपाना।।

ईश का भजन सुजान सारथी है। वैराग्य ही वह ढाल है, जिस पर विकारों का असर नहीं पड़ता। संतोष ही कृपाण है।

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा।
बर बिग्यान कठिन कोदंडा।।

दान ही परशु एवं बुद्धि ही प्रचण्ड शक्ति है। विशेष अनुभूतियों का संचार ही वह धनुष है जिसमें प्रकृति का पहलू एक बार जितना समाप्त हुआ, पुनः जीवित नहीं होता।

कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा।
एहि सम बिजय उपाय न दूजा।।

ब्रह्म में स्थित महापुरुष व उनमें जो सद्गुरु हैं, उनका मन-कर्म-वचन

से पूजन ही अभेद्य कवच है। इसके समान विजय का कोई दूसरा उपाय ही नहीं है।

महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मतिधीर।।

अत्यन्त दुर्जय संसाररूपी शत्रु को वही वीर जीत सकता है, जिसके पास उपरोक्त रथ की स्थिति दृढ़ता के साथ प्राप्त हो। राम ने रथ द्वारा विजय प्राप्त की थी और स्वयं कहते हैं कि दूसरे रथों से विजय कदापि नहीं हो सकती। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या उन्होंने किसी सोने या चाँदी के रथ में बैठकर विजय प्राप्त किया था?

यह मानस है, इसका बाह्य दृष्टिकोण से यथार्थ अर्थ नहीं मिल सकता। हाँ, भगवत्-पथ की एक निर्धारित सीमा पार की जा सकती है। एकाग्रता के बाद जो मन का स्वामित्व है, वही इन्द्र है। ऐसी एकाग्रता में ही उपरोक्त रथ का होना संभव है। जैसा कि शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, ईश-भजन, निरन्तर चिन्तन, सद्‌गुरु का पूजन इत्यादि का संचार एवं उनमें स्थायित्व आने पर ही इन्द्र ने रथ को प्रदान किया था। वस्तुतः इन्द्रियों के निरोध काल में वह दैविक सम्पत्ति, जिसके द्वारा परमदेव परमात्मा का साक्षात्कार होता है, ढल जाती है। इसी के द्वारा आवागमन से मुक्ति एवं इष्टोपलब्धि होती है। यहाँ मोह ही रावण है। जैसा कि-

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।
पुनि तेहि ते उपजइ बहु सूला।।

सम्पूर्ण व्याधियों का मूल मोह (रावण) ही जब मिट जाता है, तो

रहा न कुल कोउ रोवनि हारा।।

अब कोई नहीं बचा अर्थात् संसाररूपी शत्रु पर विजय मिल गई। याद रखें, भगवान संसाररूपी शत्रु को जीतनेवाले रथ का वर्णन करते हैं। जब तक उपरोक्त रथ की योग्यता नहीं आती तब तक विजय नहीं मिलती। भगवान राम की वास्तविक विजय से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि राम-रावण युद्ध किसी महापुरुष के अन्तःकरण की लड़ाई है, जो प्रायः सभी के अन्तःकरण में प्रसुप्तावस्था में विद्यमान है। वह किसी-किसी प्रयत्नशील पुरुष के अन्तःकरण में अनुभवी महापुरुष द्वारा जागृत कर दी जाती है।

प्रिय पाठकगण! मैं अपना सौभाग्य समझूँगा, जबकि आप लोग इसको हृदयंगम कर कार्यरूप में परिणित कर सकेंगे। अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ हैं, पहली सजातीय एवं दूसरी विजातीय, दैवी सम्पद् एवं आसुरी सम्पद्। रावण, आसुरी सम्पद् को निर्जीव बनाकर आध्यात्मिक युद्धहेतु कल्याण-क्षेत्र में उतर आओ। यदि थोड़ा भी करते बन गया तो संस्कार प्रबल हो जायेंगे।

प्रश्न १९.- महाराज जी! अमृत का प्रभाव है कि जिसके ऊपर पड़ जाय, जिला दे किन्तु युद्ध की समाप्ति में अमृत-वर्षा से बानर-भालू तो जी उठे लेकिन निशाचरों पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, क्या कारण है? जैसा कि-

सुधा वृष्टि भइ दोउ दल ऊपर।
जिये भालु कपि नहिं रजनीचर।।

उत्तर- जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि मानस अन्तःकरण की लड़ाई है। अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ दैवी सम्पद् एवं आसुरी सम्पद् सब में हैं परन्तु उनकी जानकारी सबको नहीं है। किसी विरले प्रयत्नशील, पुण्यात्मा के हृदय में यह आत्मा प्रत्यक्ष होकर कार्य करने लगती है, तब दोनों प्रवृत्तियों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इनको केवल वाचिक निर्णय से ही हम नहीं

पकड़ सकते। शब्द-संकेतों से तो केवल भगवत्-पथ की दिशा ही मिलती है। दैवी सम्पद्-आसुरी सम्पद्, विद्या-अविद्या, सजातीय-विजातीय आदि के रूप में महापुरुषों ने इन दोनों प्रवृत्तियों का नामकरण किया है। जैसा कि-

"विद्या हि का ब्रह्म गतिप्रदाया"

अर्थात् विद्या उसे कहते हैं जो ब्रह्मगति को प्रदान कर दे। इन्हीं दो प्रवृत्तियों का पारस्परिक संघर्ष ही राम-रावण युद्ध है, जिसमें मोहरूपी रावण, क्रोधरूपी कुम्भकरण, कामरूपी मेघनाद, लोभरूपी नारान्तक, प्रकृतिरूपी सूपनखा आदि आसुरी प्रवृत्तियाँ जब कार्यरूप ले लेती हैं तो इनकी संख्या अनन्त हो जाती है। उदाहरण के लिए सबके मर जाने पर जब रावण युद्ध के लिए चला तो उसने अनन्त सेना का निर्माण कर लिया। तात्पर्य यह है कि यदि अविद्या का एक भी सदस्य जीवित है तो उसी का प्रसार हो जाता है।

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।

यह मोहरूपी रावण सकल व्याधियों का मूल होने से राजा है। दसो इन्द्रियों के मुख अपने-अपने विषयों की ओर खुले हैं इसलिए दशानन कहलाता है। जब विषयों से इन्द्रियों का निरोध हो जाय तो मोह का स्वरूप मिट जायेगा जो सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्ति को चलाता है।

दसो इन्द्रियों का दमन ही दशरथ है, जो दैवी सम्पत्ति को जन्म देता है। जिस समय भक्तिरूपी कौशल्या, कर्मरूपी कैकेयी, सुमतिरूपी सुमित्रा और साथ ही कुमतिरूपी मन्थरा (भगवत्-पथ की आधी दूरी तक चलने वाला कुतर्क) आदि दैवी प्रवृत्तियों का जागरण हमारे हृदय में हो जाय, उसी समय विज्ञानरूपी राम, विवेकरूपी लक्ष्मण, भावरूपी भरत और सत्संगरूपी शत्रुघ्न आदि प्रगट हो जाते हैं। विश्वासरूपी विश्वामित्र एवं श्वास-प्रश्वास का जप ही श्रृंगी ऋषि हैं। मोह के पूर्णतया मिट जाने पर ही यह दैविक सम्पत्ति स्वस्थ होती है।

अमृत कोई तरल पदार्थ नहीं है कि उठाकर पी लिया जाय। "रस पीयूषा"- अंगद कहते हैं कि रे बुद्धिहीन रावण! अमृत क्या कोई रस है? मृत कहते हैं नाशवान या मरणधर्मा को और अमृत कहते हैं अविनाशी को। महापुरुषों के शब्दों में अमृत की स्थिति आत्मा व परमात्मा का एकता-काल है। इस एकता-काल में परमात्मा के अजर, अमर, शाश्वत, एकरस इत्यादि गुणधर्म आत्मा में प्रसारित होने लगते हैं। अत: मनीषियों ने आत्मा की इस अवस्था काल को अमृत अर्थात् मृत्यु से परे बताया है किन्तु मोहजनित विकारों के रहते हुए आत्मा परमात्मा में स्थित नहीं होता। इस गुण वाला यह अमृत निशाचरों की जड़ रावण के मिट जाने पर ही मिला। मोह के सअस्तित्व विलय होने पर चिदाकाश से मायिक स्फुरण व तरंग शान्त हो जाती है। ऐसे निर्दोष चित्त में ही अमृत-संचार सम्भव है। यही कारण है कि विकारों से निर्लिप्त होते ही अमृत तत्त्व का संचार हुआ जिसके परिणामस्वरूप अविद्या, आसुरी सम्पद् सदा के लिए विलीन हो गई एवं आत्मा की स्थिति दिलानेवाली विद्या (दैवी सम्पद्) अंशों सहित विकसित हो गई। अधोगति में ले जाने वाली प्रवृत्ति का एक भी सदस्य जीवित है तो अमृत कैसा? वस्तुत: अमृत तत्त्व का संचार होने पर मृत्यु के कारण सदा के लिए मिट जाते हैं। पुन: अमृत का महत्व बताते हुए गोस्वामी जी कहते हैं-

जियत वारि बिनु जे तनु त्यागा।
मुए करइ का सुधा तड़ागा।।

यदि वारि के बिना शरीर चला गया तो मरने के बाद अमृत का कोई उपयोग नहीं है।

राम भगती जल मम मन मीना।
किमि बिलगाइ मुनीस प्रवीना।।

राम की अभेद्य भक्ति ही जल है, जिसमें कि हे मुनीश्वर! मेरा मन मछली

हो गया है। भला वह विलग कैसे हो सकता है? भक्तिरूपी जल के द्वारा ही वह अमृत तत्त्व प्रत्यक्ष होता है। यदि जीते जी भक्तिरूपी रस नहीं प्राप्त कर सके तो मरने के बाद उस अमृत का कोई उपयोग नहीं है। कोई अनुभवी सद्गुरु रथी बन जाय तो भवरोग के लिए वैद्य और पार कर देने के लिए कर्णधार होगा। उनकी असीम कृपा के द्वारा ही अमृत तत्त्व की उपलब्धि सम्भव है।

प्रश्न २०.- आश्रम घोर जंगल में है, कोई रास्ता भी नहीं है। अतः दस बजे के पूर्व किसी भी यात्री का पहुँचना असम्भव है। एक बार कुछ सशस्त्र दर्शनार्थी बहुत सुबह ही पहुँचकर प्रणाम इत्यादि किये, तब महाराज जी ने कहा कि इतनी जल्दी कैसे आ गये? वे उत्तर देते हुए कहे कि महाराज जी, हम लोग शिकार के लिए आये थे। कुछ मिला नहीं तो सोचे कि महाराज जी का दर्शन ही कर लें। इस पर आप बोल पड़े- तुम अहीर, तुम ठाकुर, पर तुम ब्राह्मण होकर यह क्या कर रहे हो?तब वह अति विनम्र शब्दों में बोला कि भगवन्! इसमें मेरा क्या दोष है? ''उर प्रेरक रघुवंस विभूषण'' उनकी प्रेरणा के वगैर पत्ता भी नहीं हिलता, मैं तो उन्हीं के हाथों का यंत्र हूँ।

उत्तर- देखो, इस मानस में तो बहुत कुछ लिखा गया है, उन सभी स्थलों पर विचार करना चाहिए।

किस स्थिति में भगवान प्रेरणा करते हैं और किस बिडम्बना में माया। सबके लिए कहीं मोह प्रेरणा करता है तो कहीं काम, कहीं काल प्रेरक है तो कहीं स्वभाव और गुण। ऐसी दुविधा में भगवत् प्रेरणा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जहाँ वासनाओं का ही बाहुल्य है, वहाँ तो-

फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल करम स्वभाव गुन घेरा।।

जब तक भगवत्-पथ की एक निर्धारित सीमा को नहीं पार कर लेते तब तक माया ही प्रेरक है और उस सीमा को पार कर लेने के बाद भगवान प्रेरक बन जाते हैं। अतः साधन, चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए जिससे कि वे प्रेरक बन जायँ। भगवान के प्रेरक बन जाने पर साधक को माया का भय नहीं रह जाता । जैसा कि-

करि न सकहि तहँ निज प्रभुताई।

x x x

माया खलु नर्तकी विचारी।।

कागभुसुण्डि अनेक जन्मों से चलनेवाले पथिक थे। अबकी बार वे भक्त की श्रेणी में आये। उनका प्रत्येक कदम भगवत्-प्रेरणा पर उठता था। उनमें जो कमी थी, उसे महामुनि लोमश में प्रेरणा कर भगवान ने पूरी कर दी। भरत ने खड़ाऊँ व चरणों के ध्यान के माध्यम से भगवत्-प्रेरणा प्राप्त कर राज्य का कार्य सँभाला। लक्ष्मण का भी कार्य प्रेरणा पर ही आधारित था। अतः कागभुसुण्डि, भरत, लक्ष्मण और हनुमान आदि कुछ ही सदस्य ऐसे थे, जिनके उर में भगवान प्रेरणा करते थे। आकाश में फेंका हुआ पत्थर पृथ्वी के ऊपर आकर गिरता है। यदि ग्रेवटी के ऊपर फेंक दिया जाय तो नीचे न आकर अन्य ऊपरी ग्रहों पर चला जायेगा। इसी प्रकार भगवान और माया के बीच एक ग्रेवटी की सीमा है, जिसके पूर्व माया प्रेरणा करती है और बाद में भगवान। इसके बाद हम गिरना भी चाहें तो नहीं गिर सकते। जिस प्रकार नारद गिरना चाहते हुए भी भगवत्-प्रेरणा से बच गये।

प्रश्न २१.- महाराज जी, आपकी वाणी सुनने से ऐसा प्रतीत होता है कि रामचरित मानस सबके अन्दर की वस्तु है। इसको समझने की कोई दिशा बतायें।

उत्तर- प्रत्येक मानव बाहर खड़ा है एवं वहीं से सिमट कर शनैः-शनैः अन्दर की जानकारी प्राप्त करता है। अतः ऐसा नहीं समझना चाहिए कि बाहर वाला व्यक्ति गलत है। भगवत्-पथ की एक सीमा को पार कर लेने पर भजन के वास्तविक स्वरूप की जानकारी उसे होने लगती है। ऐसी स्थिति के बाद मानस की एक भी चौपाई का उपयोग बाहर नहीं रह जाता। जैसा कि-

बाल्मीकि नारद घट योनी।
निज-निज मुखन कही निज होनी।।

मानस के प्रथम रचयिता एवं मानस के विशेषज्ञ इन महापुरुषों ने अपने-अपने मुखों से अपनी-अपनी होनी को व्यक्त किया है, न कि अन्य किसी राम एवं उनकी कथा को। शीर्षक का विस्तार अन्दर की पंक्तियों में हुआ करता है। उदाहरण के लिए यदि पुस्तक का नाम 'घर का डाक्टर' है तो उसके अन्दर दवाइयों का ही विवरण रहेगा। उसमें यदि हम कर्म-काण्ड और देश-नीति खोजें तो नहीं मिलेगी। गोस्वामी जी की इस रचना का नाम है रामचरित मानस, जिसका अर्थ होता है- राम के वे चरित्र, जो अन्तःकरण में समाहित हैं। अब आप ही बतायें कि राम का घर हृदय है या पुस्तक? भगवान का घर हृदय ही बताया गया है। जैसा कि-

जाके कपट दम्भ नहीं माया।
ताके हृदय बसहु रघुराया।।
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे।
तिन्हके हिय तुम कहँ गृह रूरे।।

इसी प्रकार सम्पूर्ण मानस में भगवान के रहने के जितने भी स्थल बताये गये हैं, वे सभी हृदय अथवा विशेष अवस्था वाले अन्तर्मन हैं। सम्पूर्ण मानस में यही रूप है। अतः यह हृदय की वस्तु है। कृतिकार के शब्दों में इसका शीर्षक है "रामचरित मानस" अर्थात् राम के वे चरित्र जो अन्तःकरण में समाहित हैं। मानस का अर्थ मानसरोवर नहीं हुआ करता।

जे यहि वारि न मानस धोये।
ते कायर कलि काल विगोये।।

अर्थात् मानस एक ऐसी वस्तु है जो धोयी भी जा सकती है। कलियुग के भयंकर वेग को देखकर भगवान शंकर ने विचार किया कि मानव की बुद्धि विकल है। यदि उन्हें साक्षात् भगवान भी मिल जायेंगे तो वे उनसे उदरपूर्ति ही करायेंगे। बुद्धि कुण्ठित है अतः पूर्व साधनक्रमों से कल्याण नहीं हो सकता, इसीलिए द्रवित होकर कल्याणकारी साबर मंत्र की रचना किये।

कलि विलोकि जगहित हर गिरिजा।
साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा।।

कलि के भयंकर प्रवाह को देखकर शंकर जी ने साबर मंत्र की रचना की जो जगत् के लिए कल्याणकारी है। वह साबर मंत्र है कैसा?

अनमिल आखर अरथ न जापू।
प्रगट प्रभाव महेस प्रतापू।।

न तो अक्षरों की ही संगति बैठती है और न अर्थ -जाप का ही कोई सिलसिला है। तब तो सिद्ध हुआ कि यह निरर्थक है किन्तु शंकर जी के प्रभाव से प्रत्यक्ष फल देने की यदि क्षमता है तो साबर मंत्र में। कलियुग में दूसरा कल्याण का कोई उपाय नहीं है। इसलिए उन्होंने स्पष्ट व्यक्त किया है कि-

सो उमेस मोपर अनुकूला।
करहुं कथा मुद मंगल मूला।।

वही शंकर जी मुझपर अनुकूल हैं अत: यह कथा मैं कल्याणहेतु कहने जा रहा हूँ। इस कथा को सर्वत्र एवं सभी से नहीं कहना चाहिए। जैसा कि-

यह न कहिअ सठही हठसीलहि।
जो मन लाइ न सुन हरि लीलहि।।
कहिअ न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि।
जो न भजइ सचराचर स्वामिहि।।
द्विज द्रोहिहि न सुनाइय कबहूँ।
सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ।।

यह हठधर्मी, कामी एवं क्रोधी के प्रति नहीं कहना चाहिए। भला आप ही बताइए कि इन दोषों से रहित हृदय कितने मिल सकते हैं? यहाँ तक कि इन दोषों से युक्त इन्द्र के समान प्रतिभाशाली पुरुष के प्रति भी नहीं कहना चाहिए। जब इन्द्र के समान प्रतिभाशाली होगा तो हजार-पाँच सौ विद्वानों को बुलाकर सुन लेगा। जब घर-घर में रामचरित मानस (रामायण) है तो न कहने का क्या सवाल है। यदि एक-एक चौपाई में हम बहुत से अर्थ करें तो भी कहने-सुननेवाली बात से वंचित रह जाते हैं क्योंकि यह साबर मंत्र है। जैसा कि-

राम कथा के तेइ अधिकारी।
जिन्ह के सत्संगति अति प्यारी।।
गुरु पद प्रीति नीति रत जेई।
द्विज सेवक अधिकारी तेई।।

रामकथा के अधिकारी वे ही हैं जिन्हें सत्संग अति प्रिय है और गुरु के चरणों में अत्यन्त प्रेम है। लक्ष्य की रीति अर्थात् नीति (विधान) आशक्त

हैं, वही इसके अधिकारी हैं। यह शीघ्र समझ में आनेवाली वस्तु नहीं है बल्कि अधिकारी पाकर शनैः-शनैः हृदय-देश में ढलने लगती है।

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत।।

प्रत्येक शास्त्र के तीन अर्थ हुआ करते हैं- रोचक, भयानक और यथार्थ। रोचक का अर्थ--जो रुचि पैदा करनेवाला हो, जैसे-रामलीला इत्यादि। भयानक उसे कहते हैं, जो प्रकृति से भय पैदा करने वाला हो। जिस अर्थ से भय प्रकट और निवारण-हेतु हम भगवान की आवश्यकता समझें एवं प्राप्ति का उपाय करने लगे। यथा-

नर तनु भव वारिधि कहुँ बेरो।
सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो।।
करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा।
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।।
जो न तरइ भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मंद मति, आत्माहन गति जाइ।।

जो ऐसे तन को पाकर खो देता है, वह अपनी आत्मा का हत्यारा है।

तिन्ह कर काल रूप मैं भ्राता।

उनके लिए मैं ही कालरूप बन जाता हूँ। जिनसे मोक्ष की आशा है जब वही कालरूप बन जाते हैं तो भय का संचार होता है और किसी न किसी रूप में उसे प्राप्त करने के उपाय होने लगते हैं। यथार्थ का ऐसा स्वरूप है जैसा कि हमने सुना है, वैसा प्रत्यक्ष अपने में देखता भी जाय। उत्पत्ति से पूर्तिपर्यन्त की लीला हमें दिखाई पड़े, रटना दूसरी चीज है। यह तभी सुलभ हो सकता

है, जब किसी महापुरुष का साक्षात्कार हो। इन्हीं का रूप पकड़ने से परम चेतन की जागृति सम्भव है। सभी अधिकारी की योग्यता पा जाएँ, ऐसा कदापि सम्भव नहीं। निरन्तर पढ़नेवाले भी डिग्री का अधिकार खो बैठते हैं। इसलिए महापुरुषों ने शास्त्र को तीन भागों में रचा है। यदि आप प्रवेशिका में हैं, तो मानस के अध्ययन से दिशा मिलेगी। यदि आपकी स्थिति सूक्ष्म है तो यही प्रत्यक्ष दर्शाते हुए राम की स्थिति से अवगत करा देगा। अब रही बात यह कि मानस की अन्तिम क्रिया हम कैसे समझें?

श्री गुरु पद नख मनि गन जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।।

गुरु महाराज जी के चरणों की ज्योति मणि-माणिक्य के तुल्य है। उनके स्मरण से हृदय में दिव्य-दृष्टि का संचार होता है।

बड़े भाग्य उर आवहिं जासू।

वे बड़े भाग्यशाली हैं, जिनके हृदय में ध्यान के द्वारा गुरु के चरण आ जायँ।

उघरहि विमल विलोचन ही के।
मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।।

इस प्रक्रिया विशेष के द्वारा ही आँखें खुलती हैं जिससे कि रामचरित मानस प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। ध्यान में सद्गुरु के चरण आ गये तो-

जथा सुअंजनि अंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।

याद रखें कि गोस्वामी जी ने श्री गुरुदेव के चरण-रज को अंजन विशेष की संज्ञा दी है, जो हृदय के नेत्रों को खोलने वाला है किन्तु यह तभी सम्भव

है जब चरण ध्यान में आ जायँ। यह भगवत्-चिन्तन में लगे हुए साधक के लिए ही सम्भव है, जिनकी संख्या औसतन बहुत कम है। अतः चिन्तन में प्रवृत्त साधक ही इसको प्राप्त करता है और उसके बाद सिद्ध व सुजान हो जाता है। उस अंजन का स्पर्श कर, जो लिखने में आ गया है एवं जो लिखने में नहीं आया है, वे सब प्रत्यक्ष हो जाते हैं। कारण कि मनोगत सम्पूर्ण भाव लिखने में नहीं आते। गोस्वामी जी अन्त में इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि मैं इतना ही लिख पाया हूँ, जैसे कि आकाश में मक्खी उड़ती है और थाह नहीं पाती।

प्रश्न २२.- एक बार एक भक्त ने आकर प्रणाम किया एवं अति विनीत स्वर में बोला कि महाराज जी, मैं गंगोत्री का जल लेकर दस बार रामेश्वर जा चुका हूँ और अब पुनः ग्यारहवीं बार दर्शन हेतु जा रहा हूँ। वैसे तो रामेश्वर-दर्शन का प्रभाव गोस्वामी जी ने इतना बताया है कि-

मम कृत सेतु जो दरसन करिही।
सो बिनु श्रम भवसागर तरिही।।

अर्थात् एक बार रामेश्वर का दर्शन कर लेने पर मानव भव-सागर से पार हो जाता है। उसे साधन-श्रम नहीं करना पड़ता। यथा-

जो गंगाजलु आनि चढ़ाइहि।
सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहि।।

भगवन्! गंगा जल चढ़ाने से सायुज्य मुक्ति प्राप्त हो जाती है परन्तु मेरे चित्त में तो अभी तक शान्ति नहीं मिली।

उत्तर- महाराज जी हँसते हुए अत्यन्त गम्भीर स्वर में उत्तर देना प्रारम्भ कर दिये कि तीर्थ-माहात्म्य के द्वारा कल्याण-कामना तो अपने भावों की देन

है। हर व्यक्ति परम कल्याण एवं शान्ति पाने के लिए प्रयत्नशील है किन्तु उनके साधनीय स्तर अलग-अलग हुआ करते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में हमें बाह्य तीर्थों को मान्यता देनी पड़ती है परन्तु क्रमागत साधना के विकास के साथ ही साथ इन तीर्थों का रूप भी बदलता जाता है। जैसा कि आप रामेश्वर का अर्थ समझ रहे हैं, साधन-पथ में बढ़ने के लिए यही उदीयमान लक्षणों के अंकुरण हैं, लेकिन कल्याण प्राप्त करने के लिए यह प्रयास पर्याप्त नहीं है। इसलिए यथार्थ की पृष्ठभूमि में प्रयोगात्मक साधना प्रारम्भ करनी पड़ती है। द्रष्टव्य है-

नाथ नाम तव सेतु, नर चढ़ि भवसागर तरहिं।

भगवन्! आपका नाम ही वह सेतु है जिस पर चढ़कर मनुष्य भवसागर पार हो जाता है। इस नाम का उतार-चढ़ाव श्वास के ऊपर है। यहाँ इसी आशय को स्पष्ट किया गया है।

जे रामेस्वर दरसनु करिहहिं।
ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं।।

रामेश्वर का अर्थ होता है राम और ईश्वर। राम सबके मानस में रमण करनेवाली सर्वव्यापी सत्ता है और इस स्वर के सर्वथा निरोध में वह दिखाई पड़ती है। ईश्वर का आशय इस स्वर से है। श्वास के उतार-चढ़ाव में नाम का अनवरत भजन करने से स्वर के सर्वथा निरोधकाल में उस व्यापक सत्ता का साक्षात्कार हो जाता है। वस्तुत: जिस महापुरुष ने स्वर का साक्षात्कार कर लिया है, उसी को यह स्थिति सुलभ हुई है।

जो गंगा जलु आनि चढ़ाइहि।
सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहि।।

प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है और यह ज्ञान ही गंगा है। स्वर के माध्यम से ज्ञान का स्पर्श जब उस चेतन सत्ता से हो जाता है, तदुपरान्त तादात्म्य स्थापित करने की स्थिति प्राप्त हो जाती है, जिसे सायुज्य मुक्ति कहते हैं। सायुज्य मुक्ति का अर्थ है--प्रभु के समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेना। लक्ष्य की प्रत्यक्ष जानकारी के बाद ही प्रभु के समस्त ऐश्वर्य अपने में आ जाते हैं। जैसा कि-

जानत तुमहि तुमहिं होइ जाई।।

उपरोक्त परम पावनी गंगा ही मुक्तिदात्री है। लौकिक चक्षुओं से दृश्यमान होने वाली गंगा तो छुटपुट मलों को ही धोती है, जो अलगाव होते ही पुनः बढ़ने लगता है परन्तु इस गंगा का अवगाहन शाश्वत शान्ति से मेल कराता है। अतः रामेश्वर के दर्शनार्थ किसी महापुरुष की शरण एवं सान्निध्य परम आवश्यक है, जिनकी कृपा से शनैः-शनैः उस प्रयोगात्मक पथ पर हमें वह स्थिति सुलभ हो सकती है।

प्रश्न २३.- महाराज जी! समुद्र के जलचर समुद्र से भी बड़े एवं असंख्य थे तो वे रुके कहाँ? सतयोजन समुद्र के बराबर एक-एक जलचर का शरीर था और कुछ तो इतने बड़े थे कि उन्हें खाने की क्षमता रखते थे।

उत्तर- विषयरूपी जल से परिपूर्ण यह संसार ही समुद्र है। यदि हम कुछ नहीं करते तो यह अथाह समुद्र है किन्तु ज्यों-ज्यों चिन्तन में लगते जायेंगे, इसका आयतन भी घटता जायेगा।

सतयोजन तन- सत्य में आयोजित प्रक्रिया की पूर्ति कर लेने पर संसार या भव का पार मिल जायेगा। वैराग्य एवं अनुभवकाल में यही इस समुद्र का आयतन है। जब 'लव' में अंकुर आना बन्द हो जाता है तब-

गोपद सिन्धु अनल सितलाई।।

जितना हमारी इन्द्रियों का विस्तार है, उतना ही समुद्र है। लगनकाल में इन इन्द्रियों के एक-एक हरकत पर नियन्त्रण रहता है, पूर्व में नहीं। वही नाम-यजन जब परावाणी के पूर्तिकाल में पहुँच जाता है, तब यही समुद्र सूख जाता है। जैसा कि-

नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं।।

नाम इतना ही नहीं है जितना कि हम लोग जुबान से कहते हैं। यह तो उसकी प्रारम्भिक अवस्था है। आगे चलकर यही नाम सूक्ष्म हो जाता है, परन्तु उसकी जानकारी का पैमाना इष्ट-प्रेरणा पर आधारित रहता है। जबतक अनुभवी सद्‌गुरु नहीं मिलते तबतक नाम की सूक्ष्म जानकारी असम्भव है। अब सिद्ध हुआ कि संसार ही समुद्र एवं योगी की आत्मिक प्रवृत्ति ही जलचर है। जब हम भजन नहीं करते, तब आत्मा से मिलने वाली प्रवृत्ति सबके हृदय-देश में छिपी रहती है और विषयरूपी जल का प्रवाह ऊपर छाया रहता है। दृष्टिगोचर न होने के कारण यही जलचर है। श्वास के निरोध काल में यही यौगिक प्रवृत्ति ऊपर उठकर परिपक्व हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप विषय का वेग कम हो जाता है। एक-एक साधन इतना परिपक्व हो जाता है कि उसकी आड़ में विषयरूपी तरंग आती ही नहीं। उनके यौगिक नाम इस प्रकार दिये गये हैं-

मकर- करना मेरा कर्त्तव्य है और मुझे करना है।

नकर- करते हुए भी मैं कुछ नहीं करता हूँ। मैं मात्र यंत्र हूँ, करनेवाला कोई और है।

नाना झक व्याला- इसी प्रकार की मानसिक भजनमयी प्रवृत्तियाँ हैं।

तिन्हकी ओट न देखिय वारी।
मगन भये हरि रूप निहारी।।

ध्यान की मस्ती एवं स्वरूप का आभास तभी होता है, जबकि विषयरूपी वारि भजनमयी प्रवृत्तियों के प्रबल प्रवाह में पूर्णतया आवृत्त हो जाय। जबतक एक भी तरंग बाधक है, तब तक ध्यान की मस्ती नहीं मिल सकती। यह मानस है। सबके हृदय में छिपी हुई स्थितियाँ किसी महापुरुष के द्वारा ही जागृत होती हैं।

प्रश्न २४.- महाराज जी! तीर्थ-यात्रा में जानेवाला हूँ परन्तु आपकी वाणी से विदित हुआ कि तीर्थ की योग्यता अन्तर में अधिक पाई जाती है। कृपा करके बतावें कि बाह्य तीर्थों का क्या महत्त्व है?

उत्तर- देखो, भगवत्-पथ की प्रत्येक क्रिया बाहर से चलकर अन्दर की ओर मोड़ लेती है। हर व्यक्ति बाहर खड़ा है इसलिए इन तीर्थों को छोड़ने का विधान नहीं है। जब भगवान ही कृपा करके अन्तरंग तीर्थों की ओर मोड़ते हैं, तब इनकी आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसा कि-

जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं।
तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं।।

जिस समय अन्तःकरण में भगवान का अवतार व अवतारी कार्य संचारित हो जाता है, उस समय समस्त तीर्थ अन्तराल में प्रगट हो जाते हैं। बाहर की अपेक्षा अधिक विशेषता या महत्त्व अन्दर में हो जाने के कारण प्रायः उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसा कि-

तीरथ गये एक फल, सन्त मिले फल चारि।
सतगुरु मिले अनन्त फल, कहैं कबीर विचारि।।

तीर्थ जाने से एक फल है कि पुण्य और पुरुषार्थ बढ़ता है (दर्शन, स्पर्श, इच्छा न होने पर भी देखा-देखी दान इत्यादि का करना आदि पुरुषार्थ स्वाभाविक रूप से होने लगता है)। महापुरुषों की तपोभूमि होने के कारण वहाँ का वायुमण्डल शुद्ध रहता है। चूँकि महापुरुषों ने मन का निरोध कर साक्षात्कार कर लिया है, इसलिए वहाँ निरोध के परमाणु अधिक रहते हैं और विषय के कम। वहाँ बैठकर जब हम चिन्तन करेंगे तो घर की अपेक्षा मन अधिक लगेगा। यदि तीर्थों में सन्त मिलन हो जाय तो चारों फल, अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष--और कहीं सद्गुरु मिल जायें तो अनन्त फल मिल जाता है। प्रकृति का अन्त महापुरुषों द्वारा हो चुका है, अनन्त तो परम ब्रह्म परमात्मा का नाम है, वह सुलभ हो जाता है।

प्रश्न २५.- महर्षि विश्वामित्र राम को अधिकारी पाकर वह कौन सा मंत्र प्रदान किये, जिससे भूख-प्यास नहीं लगती थी। क्या कलियुग में इस प्रकार का मंत्र नहीं प्राप्त किया जा सकता?

उत्तर- मान लिया कि तुम्हारी दृष्टि में आज कलियुग है और तब नहीं था। अब जरा विचार करो कि मंत्र के क्या गुण थे? मंत्र में इतनी क्षमता बतायी गई है कि वह भूख-प्यास दोनों से रक्षा करती थी, परन्तु उनकी पालन-क्रिया न तो महर्षि विश्वामित्र में ही पायी गई और न राम में ही। जैसा कि मंत्र के आदान-प्रदान के कुछ समय उपरान्त जब जनक की यज्ञस्थली में पहुँचे तो-

भोजन करि मुनिवर विग्यानी।
लगे कहन कछु कथा पुरानी।।

पहले महर्षि विश्वामित्र ने भोजन-प्रसाद ग्रहण किया तत्पश्चात् पुराण पुरुष अर्थात् प्राचीन कथाओं को विस्तृत ढंग से कहना प्रारम्भ किया। राम के लिए

जनकपुर की बात छोड़ ही दी जाय तो बनवास काल में ही देखिए, कहीं कोल-भीलों के कन्द-मूल फल खाये और कहीं महर्षियों का आतिथ्य स्वीकार किये। उस त्रेता-जैसे शुद्ध-युग में जब उन मंत्रज्ञ महापुरुषों के ऊपर उस मंत्र का कोई प्रभाव न रहा तो कलियुग, सत्ययुग आदि युगधर्मों के माध्यम से प्रश्न का हल असम्भव-सा है। अब मंत्र में शायद पौष्टिकता की कमी रही हो तो ऐसी भी बात नहीं थी -

अतुलित बल तन तेज प्रकासा।

वह मंत्र इसी तन में अतुलनीय शक्ति प्रदान करनेवाला था। अब वस्तुओं की कल्पना व शरीरों की निर्बल-सबल आकृतियों पर दृष्टि डालने से इसका अर्थ नहीं मिलेगा। यह मानस है, यह किसी योगी के अन्तःकरण में घटित होनेवाले उस व्यापक राम की पकड़ का तारतम्य है। मानस कहते हैं मन को, जो साधना की सही स्थिति में मिलनेवाली अवस्था विशेष है। विज्ञानरूपी राम अर्थात् जिस परमात्मा की हमें चाह है जब वही हृदय से रथी बनकर पथ-प्रदर्शन करने लगता है और जिस स्तर पर हम खड़े हैं, वहीं से प्रेरक बनकर उठाने लगता है तब साधक का विश्वास दृढ़ हो जाता है, इसी का नाम विज्ञान है। विश्वासरूपी विश्वामित्र अर्थात् जब विश्वासपूर्ण यज्ञ का आरम्भ हुआ तो तर्कनारूपी ताड़का, स्वभावरूपी सुबाहु और मन का मैलरूपी मारीच आदि मारे जाते हैं। इष्ट के आदेशों में विश्वास दृढ़ होने पर ही तर्कनारूपी ताड़का समाप्त होती है और वहीं से श्वास-प्रश्वास का यज्ञ सुचारु रूप से चलता है। जब तक इष्टदेव हृदय से रथी होकर विश्वास नहीं दिला देते कि बेटा तुम तो निमित्त मात्र हो, कर्ता-धर्ता तो मैं हूँ, तब तक यजन (यज्ञ) नहीं हो पाता। जब यज्ञ की प्रक्रिया तर्कनाओं से उपराम हो जाती है तो अनन्त बल देकर ही शान्त होती है अन्यथा नहीं। प्रकृति का बल भी तो महापुरुषों द्वारा तौल लिया गया है। अनन्त या अतुलित बल

उस परमात्मा में है जिसमें शुभाशुभ जगत् हवन-सामग्री के रूप में है। वह भजन-क्रम, जप, यज्ञ अथवा भजन की विधि तर्कनाओं से ऊपर उठकर विश्वास या प्रेरक के बल का आश्रय पा जाती है। फिर वही मंत्र एवं यजन (यज्ञ) उस परमात्मा को पैदा करनेवाला होता है जिसकी उपलब्धि के बाद किसी प्रकार की क्षुधा या तृष्णा नहीं रह जाती। बाहर जैसा कि हम ढूंढते हैं, उसका इस स्थल पर कोई उपयोग नहीं है। कलियुग की विकलता को देखकर शंकर जी द्रवित हो गये और उद्धार की पूर्तिहेतु इस कथा का निर्माण किया। जब कलियुग में उद्धार की विशेष सम्मति है, तब प्रभाव क्यों नहीं होगा?

देखो, भोजन दो प्रकार का होता है। जितनी खाद्य सामग्रियाँ हैं, वे केवल स्थूल शरीर का पोषण करती हैं, परन्तु उनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा को पूर्ण पुष्टि एवं तृप्ति प्रदान करनेवाला भजन ही भोजन है। भजन के द्वारा ही वास्तविक अन्न मिलता है जिसको पाकर यह आत्मा परमात्म स्वरूप अमृत से पूर्ण तृप्त हो जाती है। यह केवल इसी मंत्र (भजन) द्वारा सम्भव है। साधारण भजन अतुलनीय सत्ता परात्पर ब्रह्म की उपलब्धि नहीं करा सकता। इसलिए ब्रह्म से प्रेरित पूर्ण विश्वास से युक्त एवं तर्कनाओं से उपराम हो जाने पर वह मंत्र अतुलनीय सत्ता परमात्मा को दिलाने की क्षमता रखता है।

प्रश्न २६.-महाराज जी! अनेक धार्मिक ग्रन्थों में अवतार का वर्णन पाया जाता है। क्या अवतार का यही रूप है अथवा कोई और? उदाहरण के लिए गीता को लें-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

उत्तर- हाँ, अवतार सत्य है परन्तु उसका रूप कुछ और ही है। भला उसका समर्थन कौन नहीं करेगा? वही कल्याण का यथार्थ मार्ग है किन्तु वह अवतार किसी योगी के हृदय में होता है बाहर नहीं। सभी शास्त्रों में अवतार का वास्तविक रूप यही है। किसी अनुभवी महापुरुष के द्वारा वह विशेष प्रक्रिया जागृत होती है जो अवतार का कारण है। जैसा कि अभी आपने गीता की चर्चा की कि -

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

जब-जब धर्म के विषय में ग्लानि उत्पन्न हो जाती है (परमात्मा ही परमधर्म है, उस परमात्म-धर्म के पालन के विषय में ग्लानि बढ़ जाती है।) तब-तब अधर्म को नष्ट करने के लिए मैं अपने स्वरूप को रचता हूँ। यह ग्लानि मन में होती है और उसके प्रगट होने का स्थान हृदय है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

साधूनाम्--साध्य वस्तु में एकता दिलानेवाले विवेक, वैराग्य, निरन्तर चिन्तन, प्रवृत्ति व भाव-श्रद्धा इत्यादि को निर्विघ्न संचालित करने के लिए व दुष्कृताम्-(दूषित कृत्यों के माध्यम) जिनसे दूषित क्रियाएँ होती हैं, जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, अनन्त आशा एवं तृष्णा इत्यादि को समाप्त करने के लिए और धर्म की स्थिति को दिलाने के लिए हर युग में प्रगट होता हूँ।

यह युग-धर्म मन की स्थिति पर अवलम्बित है। अब अपने प्रगट होने का तरीका बताते हुए कहते हैं कि -

मैं योग की पूर्ति से प्रगट होता हूँ। मैं अजन्मा, भूतों के श्वास में स्थित होने पर भी आत्मिक प्रक्रिया से सम्पूर्ण माया को वश में करके प्रगट हो जाता हूँ। 'आत्ममायया' आत्मा को दिलानेवाली माया अर्थात् यौगिक प्रक्रिया (जिसकी पूर्ति में ईश्वर का वह स्वरूप है) के द्वारा प्रगट होता हूँ। अब प्रश्न उठता है कि जब ऐसे प्रगट होते हैं तो देखने में कैसे आयेंगे? अन्त में श्रीकृष्ण का भी यही निर्णय है।

जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नेति मामेति सोऽर्जुन।।

मेरा वह जन्म व कर्म दिव्य (अलौकिक) है, जिसको तत्त्वदर्शी ही जानता है। इस जानकारी का नाम तत्त्वदर्शन है। इसे जानकर जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आता बल्कि मुझमें स्थित हो जाता है।

प्रत्येक योगी का यही उद्देश्य रहा है कि 'आत्ममायया' (भजन की क्रिया) के द्वारा माया को स्वाधीन कर उस परमतत्त्व परमात्मा की स्थिति पा ले। वही तत्त्वदर्शी एवं स्थितिवाला है। श्रीकृष्ण के शब्दों में वह अवतार तत्त्वदर्शी के सामने प्रत्यक्ष रूप में है जिसको पाकर वह भी वही हो जाता है । इस स्थिति वाले महापुरुष ही कल्याण स्वरूप हैं। उनका सान्निध्य प्राप्त करो।

प्रश्न २७.- महाराज जी! सगुण एवं निर्गुण उपासना में क्या अन्तर है? ऐसी धारणा है कि तुलसी व मीरा इत्यादि सगुण उपासक थे और कबीर व जायसी इत्यादि निर्गुण, जब कि अभी आपके श्रीमुख से यह सुनने में आया कि कबीर अपने चिन्तनकाल में राम-नाम का आधार लिए थे।

उत्तर- देखो, यह प्रश्न आज मानव-समाज के अन्दर एक विवादग्रस्त

विषय के रूप में है; किन्तु इस जगत् में निर्गुण-उपासना नाम की कोई वस्तु नहीं है। निर्गुण कोई उपासना नहीं है बल्कि सन्तों की एक रहनी है। लक्ष्य प्रत्यक्ष होते ही वह गुणातीत हो जाता है अर्थात् गुणों के बन्धन से छूट जाता है और उसके बाद की रहनी निर्गुण है। सन्त कबीर ने वैदिक तत्त्व को इतने सूक्ष्म तरीके से और इतने गोपनीय रूप में दर्शाया है कि वह लोगों की समझ के बाहर की वस्तु हो गई है। यही एकमात्र कारण है कि प्रायः कबीर को लोग निर्गुण उपासक की संज्ञा दिया करते हैं। यदि हम कबीर की प्रारम्भिक अवस्था पर दृष्टिपात् करें तो -

साहब का घर दूर है, जैसे पेड़ खजूर।
चढ़ै तो चाखै रामरस, गिरै तो चकना चूर।।

साहब कहीं दूर हैं और स्वयं कहीं अलग। उस दूरी को तय करने के लिए चढ़ना और गिरना लगा ही हुआ है और सगुण क्या होता है? निर्गुण स्थिति में अपने से अलग कोई सत्ता नहीं होती। पुनः आगे कहते हैं कि-

राम न रमसि कवन दण्ड लागा।
मरि जइबे का करिबे अभागा।।

राम का भजन क्यों नहीं करता, इसमें क्या तेरा कुछ खर्च हो रहा है? रे अभागे! मर जायेगा तब क्या होगा?

रा और म के बीच में कबिरा रहा लुकाय।

'रा' और 'म' दो अक्षरों के अन्तराल में कबीर ने अपने मन को खड़ा कर लिया था। कबीर नाम के प्रभाव से भली-भाँति परिचित थे। बैखरी से मध्यमा, पश्यन्ति और परावाणी के उतार-चढ़ाव के मर्म को वे अच्छी तरह जानते थे। जैसा कि -

जाप मरे अजपा मरे, अनहदहूँ मरि जाय।
सुरति समानी शब्द में, ताहि काल ना खाय।।

जाप मरे, कब? जब अजपा पकड़ में आ जाय। अजपा मरे कब? जब अनहद पकड़ में आ जाय। अनहद मरे कब? जब सुरति शब्द के साथ तद्रूप हो जाय अर्थात् शब्द में समा जाय। जब सुरति शब्द में प्रवेश पा जाती है तब वहाँ काल नहीं पहुँच जाता। इसलिए नाम को आधार बनाते हुए अग्रिम सोपान दर्शाते हैं। वही कबीर क्रमशः आगे चलकर जब उस इष्ट को पा गये तो कहते हैं कि -

अवधू बेगम देश है मेरा।
जहाँ न उपजे मरे न बिनशे, नाहिन काल का फेरा।
तहाँ न ईश्वर जीव न माया, पूजक पूज्य न चेरा।।
कहैं कबीर सुनो भई साधो, नहिं तहँ द्वैत बखेड़ा।।

अर्थात् मुझसे भिन्न कोई सत्ता नहीं, यही निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप है। गोस्वामी जी भी इसी प्रकार अपने उपासनाकाल में रोते-गाते, चलते-फिरते प्रार्थना के परिणामस्वरूप जब आराध्य देव को पाते हैं तो -

श्री हरि कृपा संत समागम पाइये।
सपनेउ नहिं दुख द्वैत दर्शन बात कोटिक को कहै।

भगवत्-कृपा से सन्त की रहनी आई, स्वप्न में भी दुःख का आभास नहीं, कौन करोडों बातों को कहे। अब आखिर कबीर ही कौन लाठी मारते हैं, बस यही तो कहते हैं कि द्वैत का बखेड़ा नहीं है। गोस्वामी जी भक्ति के पूर्तिकाल में यही निर्णय देते हैं कि -

रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार सो जानै सो जेहि बनि आई।

भगवान की भक्ति कहने में सरल और करने में अत्यन्त कठिन है। जानता वही है जिसका लहान बैठ जाता है। पुनः कहते हैं कि छोटी मछली गंगा की धारा के विपरीत चल लेती है और बड़ा हाथी बह जाता है । इसी प्रकार भक्ति भी एक कला है। भक्ति की पूर्तिकाल में इसके पराकाष्ठा का चित्रण करते हुए कहते हैं कि-

सकल दृश्य निज उदर मेलि निद्रा तजि सोवे योगी।
सो हरि पद अनुभवइ परम सुख अतिसय द्वैत बियोगी।।

सम्पूर्ण दृश्य को समेटकर हृदय में केन्द्रित कर लेते हैं और निद्रा का त्यागकर सुप्त हो जाते हैं। यह स्थिति जिसकी भी आ गई, वही भगवान का दर्शन करता है। भला वे हैं कैसे? 'अतिसय द्वैत वियोगी' जहाँ द्वैत की कल्पना नहीं है। जब गोस्वामी जी पाये तो किस रूप में, कि मुझसे भिन्न कोई सत्ता नहीं। सन्त कबीर भी इसी रहनी वाले थे। मीरा रोती एवं विनय करती रही, परन्तु उपलब्धि के बाद किस प्रकार राणा को ललकार कर कहती है-

राणा जी मैं तो गिरिधर रंगवा राती।
सबके पिया परदेश बसत हैं, लिखि लिखि भेजत पाती।
मेरे पिया मेरे हिये बसत हैं, नहिं कहुं आवत जाती।।

राणा जी, मैं तो गिरिधर के रंग में रंग गयी हूँ। दूसरों के प्रियतम परदेश में निवास करते हैं और पत्र लिख-लिख कर भेजते हैं। मेरे प्रियतम मेरे हृदय में निवास करते हैं।

उपासना के तीन अंग होते हैं--ध्याता (साधक), ध्येय (लक्ष्य) और ध्यान (लक्ष्य को पकड़ने की युक्ति)। इन तीनों में से यदि एक भी खण्डित है तो उपासना नहीं बनती। ध्याता नहीं है तो भजेगा कौन? ध्याता है और

भजनेवाली वस्तु ध्येय (ईश्वर) नहीं है तो भजेगा किसको? यदि ये दो वस्तुएँ हैं और उपासना की युक्ति नहीं है तो भी उपासना नहीं बनती। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि निर्गुण कोई उपासना नहीं है। कबीर सगुण से चलकर निर्गुण में आये, जो सन्तों की एक रहनी है, तुलसी भी ठीक इसी प्रकार सगुण से चलकर निर्गुण में आ गये। निर्गुण ब्रह्म का चित्रण करते हुए आगे संत कबीर कहते हैं -

सबहि संत हैं राम के, सबहि राम के आस।
सरगुण राम प्रसाद भै, निर्गुण पलटत दास।।

सभी सन्त राम के हैं और सभी को राम की ही आशा है। सरगुण (सगुण) जब परावाणी साध्य की अवस्था में आ जाती है तो भगवान जो हैं, जिस प्रभाव वाले हैं, जिन विभूतियों व गुणधर्मों से युक्त हैं आदि समक्ष दिखाई पड़ने लगता है। यदि इन वाणियों की प्रक्रिया सद्गुरु से उपलब्ध नहीं तो सगुण नाम की कोई वस्तु नहीं है और जब प्रत्यक्ष हो गया तो -

जानत तुम्हहि तुम्हहिं होई जाई।

जो उसको जानता है वह उसी में फना हो जाता है। गोस्वामी जी के शब्दों में सेवक सदा के लिए खो जाता है और स्वामी ही शेष बचा रहता है। अन्त में कहते हैं -'निरगुण पलटत दास' -सगुण रहा उसी में गया, वह दास अथवा उस दास की रहनी निर्गुण है न कि निर्गुण कोई उपासना।

ॐ

संध्याकालीन वंदना के पश्चात् साधकों एवं भाविकों के बीच प्रणाम का महत्त्व बताते हुए

श्री परमहंस जी

पूज्य महाराज जी साधकों के मनोगत भावों को पकड़कर तदानुकूल उपदेश दिया करते थे और सामूहिक कार्यों में किसी न किसी त्रुटि का बहाना लेकर चिन्तन-पथ प्रशस्त कर दिया करते थे। आरती हो रही थी, सब लोग पूर्ण तन्मयता के साथ प्रार्थना में संलग्न थे। आरती समाप्त होने के उपरान्त सभी लोगों ने प्रणाम किया। जिन साधकों ने मन से सम्बन्ध जोड़, हृदय में स्वरूप पकड़कर प्रणाम किया उन्हें कुछ समय लगा; किन्तु कुछ नवीन साधक शीघ्र ही प्रणाम कर इधर-उधर ऐसे देखने लगे जैसे कि उनकी पूजा पूरी हो चुकी हो। उन भोले पथिकों की ऐसी विकृति देख आप स्नेहपूर्वक बोले-बैठ जाओ। देखो, जैसा कि अभी आरती होने पर सभी ने प्रणाम किया है। दो-एक साधकों को इंगित करते हुए कहे कि ये लोग तो इस प्रकार खुश हुए जैसे कि सिर का बोझ उतर गया हो। तुम लोगों को शर्म नहीं लगती? यह तो तुम्हारे अन्त:करण की हाजिरी है। यदि यही क्रम तुम लोगों का अधिक दिनों तक चलता रहेगा तो अपनी साधना में असफल हो जाओगे।

प्रार्थना या आरती जो कुछ भी हम करते हैं, अपने भावों से सद्गुरु को समर्पण करते हैं। उसके बाद प्रणाम का यह मतलब नहीं हुआ कि हम ड्यूटी पूरी करके निकल जायँ, जैसे फर्ज अदायगी। जब प्रार्थना से चित्त शान्त हो जाता है, मन से संकल्पों की लहर हल्की हो जाती है, तब ऐसे समय में थोड़ा चिन्तन भी कर लें। इससे भजन में मदद मिलेगी। प्रणाम ही सब कुछ है किन्तु जो वास्तविक प्रणाम है, वह सिर झुकाना ही नहीं बल्कि सामने खड़े होकर उन्हीं सद्गुरु के स्वरूप को हृदय में पकड़ना चाहिए, जिस प्रकार

कि ध्यान में पकड़ते हो। पाँच मिनट समय भले ही लग जाय, परन्तु पूर्णरूप में सुरति के द्वारा स्वरूप को हृदय में पकड़कर प्रणाम करना चाहिए। पहले अन्दर तत्पश्चात् बाहर से प्रणाम कर लो। यदि तुम्हारा यह क्रम जारी रहेगा तो धीरे-धीरे तुम्हें ध्यान में मदद मिलेगी क्योंकि दिन में चार-पाँच बार प्रणाम करने का अवसर मिलता है। स्नान करने के बाद, सुबह-शाम एवं आरती आदि सब मिलाकर दिन में २० या २५ मिनट हो जाते हैं। यही उस ध्यान में सहायता प्रदान कर हमें परम कल्याण की ओर प्रेरित करता रहेगा। जो केवल ऊपर से प्रणाम करते हैं, शनैः-शनैः उनका ऊपरी भाव समाप्त होने लगता है और प्रणाम केवल फर्ज अदायगी के रूप में ही शेष रह जाता है। वस्तुतः वह उस कल्याण को नहीं दे पाता जिसके लिए कि हम प्रणाम करते हैं। यदि हमने लक्ष्य-प्राप्ति के लिए गृह-त्याग किया हो तो हृदय में स्वरूप पकड़कर प्रणाम करें। वैसे तो हजारों आकर प्रणाम करते हैं किन्तु भगवान के यहाँ भावों का ही महत्त्व है और दुनिया में फर्ज अदायगी एवं एक्टिंग का। हमारा प्रबल भाव ही उधर से कृपा बनकर लौटता है। यदि भावों में कुछ भी संदिग्धता है तो वही हमारे लिए घातक बन जायेगा, जैसे कि हनुमान जी संजीवनी लेकर आते समय गर्व किये कि अगर आज मैं न होता तो राम के भाई लक्ष्मण को कौन जिलाता? अतः यह लड़ाई मेरे ही बल पर हो रही है। इष्ट के प्रति अभाव उत्पन्न हो गया, जिसके परिणामस्वरूप भरत की तरफ से एक ऐसा सींक का बाण लगा कि हनुमान जी गिर पड़े। जिसके ऊपर बड़े-बड़े अस्त्र एवं वज्र का भी असर नहीं होता था, वह एक साधारण सींक के लगने से धराशायी हो गया।

वस्तुतः वैराग्य ही हनुमान है एवं भाव ही भरत है। हमारे भावों का दूषित हो जाना ही भरत का बाण है। जब हमारे भाव दूषित हो जाते हैं तो वही हमारे लिए घातक सिद्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में वैराग्यवान पथिक गिर जाता

है। यदि एकाध बार गिरने के बाद समझ काम कर गयी तो वह प्रभु (सद्गुरु) जो दया के सागर हैं, सँभाल लेते हैं किन्तु हमें उनकी परम दयालुता पर अटल विश्वास होना चाहिए। हम चाहे जिस परिस्थिति में हों, पर अपना नियम न छोड़ें। चाहे बुखार आ जाय, चाहे वज्र पड़ जाय, लेकिन नियम नहीं टाला जा सकता।

'दिन दिन बढ़त सवायो'

हमारे चिन्तन-क्रम में उत्तरोत्तर वृद्धि होनी चाहिए। प्रतिदिन सायंकाल निरावलम्ब एकान्त में बैठकर हमें यह हिसाब करना चाहिए कि आज मेरा भजन कितना है और कल कितना था। यदि किसी प्रकार की कमी रह गई तो प्रयत्नपूर्वक चौबीस घण्टे के अन्दर ही पूर्ण करें। इस प्रकार पूर्तिपर्यन्त हमें प्रयास करना है। हम जो सेवा करते हैं, उसका बहुत बड़ा महत्त्व है। आज हम एकान्त में जाकर बैठ गये। दस दिन भजन करेंगे, किन्तु ग्यारहवें दिन अवश्य भागना पड़ेगा। भजन करने की क्षमता हम लोगों में नहीं है, वह तो किसी स्थितिप्राप्त महापुरुष के द्वारा ही हृदय में प्रवाहित होती है। अतएव उनकी सेवा एवं सान्निध्य परम आवश्यक है। इस प्रकार सेवा करते-करते मन के निरोध की धारा जो सद्गुरु के अन्दर सतत् प्रवाहित रहती है, वही साधक में उतरने लगती है, जिसके परिणामस्वरूप कुछ समय बाद हमारे अन्दर वह क्षमता आ जाती है जिससे कि पूर्ण संतोष का आभास होने लगता है।

ॐ

अवतरण-विधि

प्रश्न - महाराज जी ! आपने बताया कि अवतार किसी योगी के हृदय में ही होता है किन्तु मानस में पृथ्वी ब्रह्मा के पास गई तब भगवान का अवतार हुआ। कृपया मानस के आधार पर बतायें कि अवतार किस प्रकार होता है?

उत्तर- देखिये, मानस में भी वही है जो गीता में है। एक समय पृथ्वी पर निशाचरों की वृद्धि होने लगी। खल,चोर,लम्पट, लोभी, जुआरी इतने बढ़ गये कि पृथ्वी अकुलाने लगी। **''परम सभीत धरा अकुलानी''** परम भयभीत होकर धरती उससे मुक्ति पाने के लिए छटपटाने लगी। पहले वह गाय का रूप धारण कर देवताओं के पास गयी। देवताओं और मुनियों ने कहा कि हम सहायता अवश्य करेंगे, किन्तु पूर्ण कल्याण करने की सामर्थ्य हममें नहीं है। ब्रह्मा के पास सभी गये। ब्रह्मा ने सब कुछ जान लिया कि ये क्यों आये हैं? इन्हें कितना कष्ट है? उन्होंने कहा, 'देखो! हम कोई सीधा उपाय नहीं कर सकेंगे। तुम्हें युक्ति बताते हैं, तुम इस प्रकार भगवान की प्रार्थना करो, हम भी तुम्हारे साथ रहेंगे।' प्रार्थना की गयी तो भगवान की गगन-वाणी से निर्देश मिला कि, 'सभी देवता पृथ्वी पर उतर जायँ। पृथ्वी! तुम उसी तरह धैर्य के साथ मेरी प्रतीक्षा करो। हम तुम्हारा भार दूर कर देंगे। पूर्णतया मुक्ति दिला देंगे।' बस इतनी ही तो बात है अवतरण की।

यह अवतरण-विधि विचारणीय है। क्या अमेरिका, इग्लैंड, भारत, जापान, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, समुद्र एवं पहाड़ों से घिरी यह पृथ्वी गाय का स्वरूप धारण करने गयी? नहीं, यह शरीर ही एक पृथ्वी है, कबीरदास जी कहते हैं -

धड़ धरती का एकै लेखा।
जो बाहर सो भीतर देखा।।

जो कुछ बाहर पृथ्वी पर दिखायी देता है, सब हृदय में देखने को मिला। विनय पत्रिका में गोस्वामी जी कहते हैं -

असन बसन पशु वस्तु विविध विधि सब मनि महँ रह जैसे।
सरग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे।।१२४।।

बहुमूल्य मणि की कीमत में जिस प्रकार भोजन, वस्त्र, पशु और अनेक प्रकार की वस्तुएँ निहित हैं, ठीक इसी प्रकार स्वर्ग-नरक, चर-अचर, अनेकानेक लोक मन के अन्तराल में छिपे हैं। बाहर तो मात्र मृत्युलोक है, भले ही उसका नाम हम भारत या अमेरिका रख लें, किन्तु मन के भीतर बहुत से लोक हैं, यहाँ तक कि परमतत्त्व परमात्मा का परमधाम भी इसी में निहित है। जिन महर्षियों ने इस मन का निरोध कर लिया, तत्क्षण उन्हें मन के अन्तराल में वह परमधाम भी मिला। इस प्रकार यह शरीर ही पृथ्वी है। छान्दोग्य उपनिषद, अष्टम अध्याय के प्रथम खण्ड में वर्णन आता है कि जितना यह भौतिक आकाश है, उतना ही आकाश हृदय के अन्तर्गत भी है। द्युलोक और पृथ्वी दोनों लोक सम्यक् प्रकार से हृदय के भीतर ही स्थित हैं। इसी प्रकार अग्नि और वायु, सूर्य और चन्द्रमा, विद्युत और नक्षत्र तथा इस आत्मा का जो कुछ भी इस लोक में है और जो नहीं है; वह सभी सम्यक् प्रकार से हृदय में स्थित है।

इस शरीर के अन्तराल में दो प्रवृत्तियाँ हैं - एक दैवी सम्पद् और दूसरी आसुरी सम्पद्। एक सजातीय तथा दूसरी विजातीय। आसुरी सम्पद् अधोगति एवं नीच योनियों का सृजन करती है तो दैवी सम्पद् परम कल्याण करनेवाली है एवं शाश्वत स्वरूपपर्यन्त दूरी तय कराती है। विनय पत्रिका में गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं -'वपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंका' (५८)। यह शरीर ही सुव्यवस्थित ब्रह्माण्ड है जिसमें मायिक प्रवृत्ति ही लंका है। इसमें मोहरूपी रावण है, जो दशानन है। क्रोधरूपी कुम्भकर्ण, लोभरूपी

नारान्तक, अहंकाररूपी अहिरावण, प्रकृतिरूपी सूपनखा इत्यादि आसुरी सम्पद् इस लंका में हैं। ये मोहरूपी प्रवृत्तियाँ अनंत है। क्रोधरूपी कुम्भकर्ण, कामरूपी मेघनाद, लोभरूपी नारांतक इत्यादि दुर्धर्ष योद्धाओं की समाप्ति के पश्चात् जब रावण दुर्ग से निकला तो वह भी अपार सेना लेकर निकला। सब तो मर गये थे। फिर अपार कहाँ से आ गये? वस्तुतः मोह ही रावण है और **'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहुशूला।। (७/१२०/२९)।।** सम्पूर्ण भव-रोग का मूल कारण मोह है। यदि मूल जीवित है तो उसमें शाखायें, डाल, तना, टहनियां, पत्ते सब कुछ विद्यमान रहते हैं। यदि मोह जीवित है तो सभी विकार उससे प्रस्फुटित हो जाते हैं। अतः मोह के रहते यदि साधक असावधान हुआ तो यह पनप कर साधक को अनन्त दिशाओं से आवृत्त कर लेता है। साधक अपने श्रेय साधन से परावर्त हो जाता है- **श्रृंगी को भृंगी करि डारी, पाराशर के उदर विदार।'** भगवान से एक इंच की भी दूरी है, तब तक माया सफल हो जाती है।

रावण जब मर गया तो **'रहा न कोउ कुल रोवनिहारा'** (७/१०३/१०) आसुरी सम्पत्ति सअस्तित्व मिट गयी। 'मूलो नास्ति कुतो शाखा'? जब मूल ही कट गया तो बचेगा क्या? अब पत्ते, टहनियाँ, शाखायें झाड़ने की आवश्यकता नहीं है। वे तो स्वतः सूख जायेंगे। इस मोह के निर्जीव होते ही अमृत-तत्त्व का प्रस्फुटन होता है जहाँ मृत्यु का समावेश नहीं है। उस अमृततत्त्व के संचार में आसुरी प्रवृत्ति सदा-सदा के लिए शान्त हो जाती है तथा दैवी सम्पत्ति पूर्णतया विकसित हो उठती है -

सुधा वृष्टि भइ दुहुँ दल ऊपर। जिये भालु कपि नहिं रजनीचर।।

दूसरी ओर यह शरीर ही अवध है क्योंकि इसमें अवध्य स्थिति का

सूत्रपात् होता है। इसके अंतराल में दसों इन्द्रियों की निरोधमयी प्रवृत्ति ही दशरथ है -

राम नाम सब कोइ कहै, दशरथ कहै न कोय।
एक बार दशरथ कहै, कोटि यज्ञ फल होय।।

राम नाम सभी कहते हैं, दशरथ कोई नहीं कहता। यदि एक बार कोई दशरथ कह दे तो करोड़ों यज्ञ का फल होता है। फल तो इतना बड़ा, फिर भी दशरथ-दशरथ कोई नहीं जपता। सब राम-राम ही जपते हैं। जपना भी चाहिए। वस्तुत: दसों इन्द्रियों की निरोधमयी प्रवृत्ति ही दशरथ है। दसों इन्द्रियों को संयत करके 'राम' का उच्चारण ही तो शुद्ध जप है। निरोध के साथ जप में करोड़ों यज्ञों का फल निहित है, किन्तु इन्द्रियाँ विषयोन्मुख हैं और जिह्वा राम-राम रटती है तो उसका यथार्थ प्रभाव नहीं होता। परम कल्याण तो नहीं ही होता; हाँ, पुण्य-पुरुषार्थ अवश्य बढ़ता है, जो कल्याण करनेवाला होता है। अत: दसों इन्द्रियों की निरोधमयी प्रवृत्ति ही दशरथ है। पहले तो यह मन उधर ही दौड़ता है **''जहँ-जहँ इन्द्रिन्ह ताने''** किन्तु जब दसों रथ की लगाम रथी के हाथ आ जाती है; तभी पुरुष दशरथ बन जाता है।

इस प्रकार इसी शरीर के अंतराल में दसों इन्द्रियों की निरोधमयी प्रवृत्ति दशरथ है। इसी में भक्तिरूपी कौशल्या है। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। इसके कोश में लव अर्थात् लगन दिलानेवाली कौशल्या है। कर्मरूपी कैकेयी, सुमतिरूपी सुमित्रा, कुमतिरूपी मन्थरा, विज्ञानरूपी राम, विवेकरूपी लक्ष्मण; इस प्रकार यह दैवी सम्पत्ति भी अनन्त है। ब्रह्म आचरणमयी प्रवृत्ति ही बानरी सेना है जिसमें अनुरागरूपी अंगद, वैराग्यरूपी हनुमान, सुरतिरूपी सुग्रीव, साधनरूपी जामवन्त इत्यादि असंख्य बानर हैं--

बानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरख जो करन चह लेखा।।

(रामचरित मानस, ४-२१-१)

भगवान शंकर कहते हैं - उमा! मैंने बानरी सेना देखी। वह मूर्ख है जो उसकी गणना करना चाहता है। अर्थात् बानरी सेना अगणित थी। इधर अगणित बानरी सेना; उधर रावण की अनगिनत निशाचरी सेना। युद्धस्थल लंका। आज कुल पाँच लाख की जनसंख्या है वहाँ! छठें या सातवें लाख के लिए भी स्थान नहीं है। भारतीयों को वहाँ नागरिकता नहीं मिल रही है; क्योंकि स्थानाभाव है। उस समय करोड़, नील, पद्म तथा महाशंख से भी अधिक, असंख्य निशाचर और असंख्य बानरी सेना थी। कहाँ टिके थे वे सब? लड़ते कहाँ थे? खाते क्या थे? क्या घटनाएँ नहीं घटीं?

घटनाएँ घटित हुईं, इसमें संदेह नहीं है। अन्यथा इतिहास न बनता, दृष्टान्त न बनते। बाह्य घटनाओं के माध्यम से महापुरुषों ने अन्तःकरण की घटनाओं को भी इंगित किया। इन घटनाओं के माध्यम से महापुरुषों ने कुशलतापूर्वक जीवनयापन करने का मर्यादित उदाहरण प्रस्तुत किया, किन्तु सदाचारपूर्वक जी लेने मात्र से ही हमारा परम कल्याण सम्भव नहीं है। इसीलिए मनीषियों ने ऐतिहासिक कथानकों के माध्यम से परम कल्याण की क्रियाओं का, अन्तःकरण के संघर्ष का तथा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के युद्ध का भी पथ प्रशस्त किया। वास्तव में शरीर ही ब्रह्माण्ड है, पृथ्वी है। इसके अन्तराल में चर-अचर, अनन्त लोक और असंख्य शरीर विद्यमान हैं। यह असंख्य निशाचरी और बानरी सेना एवं नाना प्रकार के शरीर मन में ही हैं--

मन में यथा लीन नाना तन, प्रकटत अवसर पाये।

(विनय पत्रिका, १४२)

इस प्रकार शरीर में दैवी एवं आसुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं। आसुरी प्रवृत्तियों से एवं मोह के द्वन्द्व से आकुल होकर मनुष्य तीर्थों में जाता है। देवताओं और मुनियों की शरण में जाता है। ऐसी ही विकलता मनु को हुई थी--

हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु।।

(रामचरित मानस, १।१४२)

हृदय ग्लानि से भर गया और मनु निकल पड़े देवताओं और मुनियों की शरण में। नैमिषारण्य पहुँचे। नियम ही नैमिषारण्य है। नियम करने कहीं जाना नहीं पड़ता। केवल "धेनुमति तीरा" इन्द्रियों को बुद्धि के अधीन करना पड़ता है। इसी प्रकार यह शरीररूपी पृथ्वी भी **"गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी"** (रामचरित मानस, १-१८३-७), देवी-देवताओं की शरण में जाती है, तीर्थों का आश्रय लेती है। तीर्थों से प्रेरणा मिलती है, पुण्य-पुरुषार्थ बढ़ता है; सहयोग भी मिलता है किन्तु उतने से परम कल्याण सम्भव नहीं होता। मुनियों से उपदेश मिलता है। पुण्य और बढ़ता है, भजन की विधा बढ़ती है, फिर भी इतने से ही परम कल्याण नहीं हो जाता। तीर्थों ने, मुनियों ने सहयोग दिया और पृथ्वी के साथ ब्रह्मा तक गये। **'अहंकार शिव बुद्धि अज, मन शशि चित्त महान** (रामचरित मानस, ६।१५ क)। ब्रह्मा अर्थात् ब्रह्मस्थित महापुरुष, जिनकी बुद्धि मात्र यन्त्र है, जिनके माध्यम से परमात्मा ही प्रसारित होता है। ऐसे ही महापुरुषों की वाणी का संकलन वेद है। इसीलिए वेद अपौरुषेय हैं, क्योंकि उन महात्माओं की वाणी में अव्यक्त पुरुष मुखरित होता है।

तीर्थों एवं मुनियों के उपदेशजनित पुण्य से शरीर ब्रह्मस्थित सद्गुरु तक पहुँचता है। उन्होंने देखते ही जान लिया कि साधक किस स्तर का है। ऐसे महापुरुषों के पास जब तक केवल शरीर से आते-जाते हैं, कल्याण संभव नहीं है। इसके लिए तो मनसहित इन्द्रियों का सर्वतोभावेन समर्पण अपेक्षित है। ब्रह्मा ने कहा- "हमसे भी कल्याण नहीं होगा। मैं विधि बताता हूँ, तुम चिन्तन करो, मैं भी तुम्हारे साथ ही रहूँगा। तुम्हारा निश्चित कल्याण होगा।"

सद्गुरु साथ देने लगे। जहाँ चिंतन में प्रविष्ट हुए, आकाशवाणी हुई। इष्ट से आदेश मिला कि "तुम्हारा निश्चित कल्याण होगा। पृथ्वी पर (शरीर में) देवताओं को उतारो।" साधक मनसहित इन्द्रियों के अंतराल में दैवी सम्पत्ति

को शनैः-शनैः अर्जित करता है। जब दैवी सम्पत्ति पूर्ण रूप से परिपक्व हो जाती है तहाँ भक्तिरूपी कौशल्या ("भग इति सः भक्ति"। भग अर्थात् प्रकृति से उपराम करा देनेवाली प्रक्रिया-विशेष का नाम भक्ति है। उस भक्तिरूपी कौशल्या) की गोद में विज्ञानरूपी राम का आविर्भाव होता है।

'रमन्ते योगिनः यस्मिन् सः राम' - जिसमें योगी लोग रमण करते हैं, उसी का नाम है राम। योगी दिन-रात किसमें रमण करते हैं?

जदपि ब्रह्म अखण्ड अनन्ता। अनुभव गम्य भजहिं जेहि सन्ता।।
३।१२।१२।।

योगी अनुभव में रमण करते हैं। अनुभव भव से अतीत एक जागृति है, विज्ञान है; जिसके द्वारा परमात्मा के निर्देश प्राप्त होते रहते हैं। वही राम हैं जो पहले संचालन, पथ-प्रदर्शन के रूप में आते हैं। विवेकरूपी लक्ष्मण, भावरूपी भरत, सत्संगरूपी शत्रुघ्न सभी एक दूसरे के पूरक हैं। प्रारम्भ में संकेत, इष्ट का निर्देश बहुत संक्षिप्त एवं क्षीण रहता है। राम बालक रहते हैं। क्रमशः उनका उत्थान होत-होते वह योगरूपी जनकपुर में पहुँचते हैं। जनक वह है जिसने जना, जन्म दिया। सृष्टि में शरीरों का जन्म माता-पिता से होता है, किन्तु निजस्वरूप का दिग्दर्शन एवं जन्म योग से ही होता है। योग से स्वरूप की अनुभूति होती है इसलिए वह जनक है। योगरूपी जनकपुर। जनक एकवचन है किन्तु यहाँ जनकपुर है; क्योंकि एकमात्र योग से ही अनन्त आत्माओं ने अपना स्वरूप पाया है और भविष्य में भी योग ही माध्यम है। योग का आश्रय पाकर राम शक्ति से संयुक्त हो जाते हैं, आसुरी प्रवृत्तियों का शमन करके सर्वव्यापक हो जाते हैं और फिर रामराज्य की स्थिति चराचर पर छा जाती है। योग की पकड़ आते ही अनुभव जागृत हो उठते हैं। जागृतिरूपी जयमाला मिलती है और अनुभवरूपी राम शक्तिरूपी सीता से संयुक्त हो जाते हैं। यह योग की प्रवेशिका है।

शनैः-शनैः राम शक्ति के साथ आगे बढ़ते हैं, व्यवधान आते हैं और जब मोह का समूल अंत हो जाता है तो अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है, सुधावृष्टि होती है। अमृत कोई घोल पदार्थ नहीं है कि पानी की तरह वर्षा हो। अंगद ने रावण से कहा--

राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी काम नदी पुनि गंगा।।
पशु सुर धेनु कल्पतरु रूखा। अन्न दान अरु रस पीयूषा।।

(रामचरित मानस, ६।२५।५-६)

बुद्धिहीन रावण! राम क्या मनुष्य हैं? गंगा क्या किसी नदी का नाम है? कामधेनु क्या किसी पशु का नाम है? काम क्या कोई धनुर्धर है? अमृत क्या कोई घोल पदार्थ है कि उठाकर पी लोगे या छिड़क दोगे? जब अमृत घोल पदार्थ नहीं है तो है क्या? वस्तुतः मृत नाशवान को कहते हैं जो मरणधर्मा हो। अमृत वह है जो अक्षय है, अक्षर है, शाश्वत है। परात्पर ब्रह्म ही अमृत है, जहाँ पहुँचकर यह मरणधर्मा मनुष्य पुनर्जन्म का अतिक्रमण कर जाता है।

उस अमृतत्व के संचार के साथ ही क्रमशः उत्थान करते-करते भक्त खो जाता है और राम ही शेष बचते हैं :-

राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका।।

(रामचरित मानस, ७।१९।७)

उस अन्तःकरण में पूर्णरूपेण रामराज्य की स्थिति आ जाती है, जहाँ पर तीनों लोकों में भव-सम्बन्धी शोक-संताप सदा के लिए मिट जाते हैं। तीनों लोकों में आवागमन का कोई स्थान नहीं रह जाता। उसके लिए सर्वत्र राममयी स्थिति आ जाती है। वह परमात्मा ही छा जाता है और उसी के अन्तराल में आत्मा लीन हो जाती है, द्रष्टा स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही राम

की पराकाष्ठा है, और जहाँ से साधन प्रारम्भ होता है, उनका प्रगटीकरण होता है, वही अवतरण की निम्नतम सीमा है।

इस प्रकार अवतार किसी विरले योगी के हृदय की वस्तु है, न कि बाहर कहीं अवतार होता है। जिस पुरुष में यह अवतरित हो जाता है वही जीवात्मा परमात्मा में विलय हो जाती है। उसके पश्चात् "जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।" सेवक सदा-सदा के लिए खो जाता है और स्वामी ही शेष बच रहता है, राममयी स्थिति ही शेष बचती है--

सरग नरक अपवरग समाना। जहँ-तहँ देखे धरे धनु बाना।।

(रामचरित मानस, २।१३०।७)

न स्वर्ग स्वर्ग के रूप में, न नरक नरक से रूप में रह जाता है। जहाँ भी दृष्टि पड़ी, आराध्य देव का स्वरूप ही दिखाई पड़ता है। विलय के पश्चात् वह सत्ता अपने में ही दिखायी देती है। "साई सन्त अतीत" अपने से भिन्न कोई सत्ता नहीं रह जाती। शाश्वत ही शेष बच रहता है। शरीर तो रहने का एक मकान मात्र रह जाता है। इसके पश्चात् महापुरुष जब तक संसार में रहता है, लोककल्याण के लिए ही उसका उपयोग है। स्वयं के लिए उसका कुछ भी उपयोग नहीं होता।

निर्विवाद है कि अवतार किसी विरले योगी के हृदय की वस्तु है। गीता में भी इसी अवतरण प्रक्रिया का निरूपण है। बाहर पिण्ड-रूप में अवतार की खोज में भटकने वाले भ्रम में हैं; क्योंकि अवतार दिव्य और अगोचर होता है। जो वस्तु मनसहित इन्द्रियों अथवा इन आँखों से दिखायी पड़े, वह माया है, अवतार नहीं--

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।

(रामचरित मानस, ३।१४।३)

ॐ

राम का वास्तविक स्वरूप

प्रश्न - महाराज जी! राम का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर- देखिये, सती की भी यही जिज्ञासा थी। उनका एक जन्म तो संशय में चला गया कि नर-तन धारण करनेवाले राम भगवान कैसे हो सकते हैं? दूसरे जन्म में उन्होंने अथक परिश्रम किया, घोर तपस्या की, भगवान शंकर को पुनः प्राप्त किया और तत्पश्चात् सत्संग आरम्भ हुआ। पिछले जन्म में प्रश्न जहाँ से छूटा था, सत्संग वहीं से प्रारम्भ हुआ। शैलजा ने प्रश्न रखा कि राम भूप-सुत कैसे हुए? राम का स्वरूप क्या है? नर भगवान कैसे हो सकता है? शंकर जी ने पहले तो बहुत डाँटा, बोले--

कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखंडी हरि पद विमुख, जानहिं झूठ न साच।।

(रामचरित मानस, १-११४)

ऐसा अधम नर कहते हैं जो मोहरूपी पिशाच से ग्रसे हैं। जिनके हृदय में विषयरूपी काई लगी है, वे ही ऐसा कहते हैं। गिरिजा तूने वेद-असम्मत वाणी कही है, यद्यपि तुम्हारा भाव अच्छा है। तत्पश्चात् उन्होंने उत्तर देना आरम्भ किया तो राम का स्वरूप बताया--

विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता।।
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।।

(रामचरित मानस, १।११६।५-६)

अर्थात् विषय, विषयों को करनेवाली इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के देवता और जीवात्मा उत्तरोत्तर एक दूसरे के सहयोग से सचेत होते हैं, एक दूसरे के सहयोग से जागृत होते हैं और इन सबको प्रकाश देनेवाली जो मूल सत्ता

है, वही हैं राम। इन सबका जो परम प्रकाशक है वही अवधपति राम हैं। वास्तव में इन्द्रियाँ एवं मन तो चराचर में सर्वत्र पाया जाता है इसीलिए "जगत प्रकास्य प्रकासक रामू" जगत् प्रकाश्य है और राम प्रकाशक हैं। वे मायाधीश हैं, ज्ञान और गुण के धाम हैं। राम तो सर्वत्र एक जीवनी शक्ति के रूप में हैं तभी तो पेड़ हरा-भरा है। यही उनका प्रकाश है।

गिरिजा को भ्रम हुआ था कि राम भगवान कैसे हो सकते हैं। इसीलिए शंकर जी कहते हैं--

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई।।

(रामचरित मानस, १।११७।३)

ऐसा भ्रम जिसकी कृपा से मिट जाता है वही कृपालु रघुराई हैं। वह भ्रम जब कभी किसी का मिटा है तो अनुभव से मिटा है। जब कभी किसी ऋषि-महर्षि ने उस भ्रम का निवारण पाया तो अनुभव के द्वारा ही पाया है। महर्षि मारकण्डेय ने अनुभव में महाप्रलय की लीला देखी और अन्त में प्रलय के बाद भी उस शाश्वत सत्ता को जीवित पाया। उसके स्पर्श के साथ ही महर्षि का भ्रम दूर हो गया। कगभुशुण्डि ने हजार-लाखों वर्ष तक भगवान के उदर में पर्यटन किया। वहाँ राम का अवतार भी देखा। अपने आश्रम को देखा। विविध रूप में भरतादिक भ्राताओं को देखा--

भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति विचित्र हरि जान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन।।

(रामचरित मानस, ७।८१ क)

अगणित भुवनों में भटका। सभी शक्तियाँ तो भिन्न-भिन्न रूप में थीं किन्तु राम को दूसरे प्रकार का नहीं देखा। भरत दूसरे प्रकार के थे, लक्ष्मण दूसरे

प्रकार के थे, माता कौशल्या दूसरे प्रकार की थीं, लेकिन राम ठीक उसी प्रकार के थे - जैसा बाहर देखा था। वह सदैव एकरस रहनेवाली सत्ता है। सुनने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि कागभुशुण्डि ने भगवान के पेट के अन्दर प्रवेश कर यह सब देखा; लेकिन नहीं, यह भी एक अनुभव था-

उभय घरी महँ मैं सब देखा। भयउँ भ्रमित मन मोह विसेषा।।

(रामचरित मानस, ७।८१।८)

अगणित तो वे नगर देखते रहे, लोक-परलोक देखते रहे, बहुत-सा समय अपने आश्रम में भी बिताया, युग पर युग बीतते गये और अन्त में निर्णय देते हैं "उभय घरी"- दो ही घड़ी में मैंने सब कुछ देखा। सिद्ध है कि वह एक अनुभव था। चिन्तन में आनेवाला, ध्यान में मिलनेवाला, इष्ट से प्रसारित एक 'रील' थी। समाधिजन्य एक दृश्य था। ऋतम्भरा प्रज्ञा की अनुभूति थी। जब ऐसा भ्रम होता है कि राम सगुण हैं या निर्गुण हैं? कहाँ पैदा होते हैं? कैसे रहते हैं? ऐसा भ्रम जिस युक्ति से दूर हो जाता है, बस वही राम हैं। "जासु कृपा अस भ्रम" जैसा कि तुमको हुआ, "मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई।।" अर्थात् विज्ञानरूपी राम।

सोइ सच्चिदानन्द घन रामा। अज विज्ञान रूप बल धामा।।

(मानस, ७।७१।३)

राम कैसे हैं? उनका स्वरूप कैसा है? विज्ञानरूपी उस राम का कार्य-कलाप कैसा है? कैसे वे चलते हैं? कैसे युद्ध कराते हैं? कैसे भक्त के साथ रहते हैं? शंकर जी बताते हैं--

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।

तन बिनु परस नयन बिनु देखा। गहइ घ्रान बिनु बास असेषा।।
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।।

(मानस, १।११७।५-८)

वह बिना कान के सुनता है, बिना आँख के देखता है, बिना पैर के चलता है, बिना हाथ के सम्पूर्ण कृत्य करता है। इस प्रकार राम की करनी सब तरह से अलौकिक है। सिद्ध है कि वह अनुभवगम्य हैं, अर्थात् विज्ञानरूपी राम-- ऐसा शंकर जी का निर्णय है।

राम का जन्म भी विचारणीय है--

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन विगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति वस, कौसल्या के गोद।।

(मानस, १।१९८)

जो कभी व्यक्त नहीं होता, बिना पैरों के चलता है, बिना आँखों के देखता है, बिना शरीर के शरीरधारी है, वही अजन्मा, अव्यक्त, शाश्वत राम प्रेमरूपी भक्ति के द्वारा कौशल्या की गोद में आता है। वस्तुतः प्रेममयी भक्ति का ही दूसरा नाम 'कौशल्या' है। अतः 'भक्तिरूपी कौशल्या'। कोश कहते हैं सम्पत्ति के केन्द्र को। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। उस स्थिर सम्पत्ति का संग्रह भक्ति में है इसलिए उसका नाम कौशल्या है।

इसी क्रम में राम के नामकरण पर भी विचार कीजिए। जब भगवान राम इत्यादि का जन्म हो गया तो दशरथ हर्षोल्लास के साथ गुरु वशिष्ठ के पास पहुँचे कि इनका नामकरण किया जाय। वशिष्ठ ने कहा, इनके नाम अनेक और अनन्त हैं, गिने नहीं जा सकते किन्तु व्यवहार में सम्बोधन के लिए उन्होंने चारों पुत्रों का क्रमशः नाम दिया और यह भी कहा कि ये साधारण पुत्र नहीं हैं बल्कि वेद के तत्त्व हैं--

धरे नाम गुरु हृदय बिचारी। बेद तत्व नृप तव सुत चारी।।

(मानस, १।१९७।१)

हृदय में विचार करके वशिष्ठ ने नाम रखा और अन्त में निर्णय दिया कि राजन्! ये साधारण पुरुष नहीं हैं। ये चारों सुत वेद के तत्त्व हैं। परमतत्त्व, जो विदित नहीं है, उसको भी विदित करा देनेवाला वेद है, उसके तत्त्व हैं। अब चारों भाइयों का नाम देखें--

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।।

(मानस, १।१९६।७)

जो विश्व के भरण-पोषण की क्षमता रखते हैं, उनका नाम भरत है। चारों भाइयों में भरण-पोषण की क्षमता यदि किसी में थी तो भरत में थी, इसीलिए उनका नाम भरत पड़ा। किन्तु कार्यक्षेत्र में वैसा लक्षण नहीं पाया जाता, जैसा वशिष्ठ जी ने कहा। जब माता कैकयी के आदेश से राम बनवास के लिए चले गये तो बिलखते हुए भरत राम के पीछे चित्रकूट पहुँचे। लोगों ने भरत से राज्य करने का आग्रह किया किन्तु भरत ने उसे नहीं स्वीकारा। राम ने कहा अच्छा, कम से कम चौदह वर्षों तक ही प्रजा का पालन-पोषण करो; किन्तु भरत खड़ाऊँ पर भार छोड़कर नंदिग्राम में एक कन्दरा में जाकर बैठ गये। चौदह वर्षों तक बाहर ही नहीं निकले। विश्व-पोषण तो गया भाड़ में, मात्र अयोध्या के भरण-पोषण का जहाँ प्रश्न आया, भरत कंदरा में बैठ गये; उलटकर देखा तक नहीं। संयोग से मंत्री अच्छे और स्वामिभक्त थे अतः व्यवस्था चलती रह गई। किन्तु नामकरण जिस विशेष गुण के आधार पर हुआ था, व्यवहार में वैसा नहीं पाया गया। दूसरे पुत्र का नामकरण देखें-

जाके सुमिरन ते रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा।।

(मानस, १।१९६।८)

शत्रुओं को नाश करने की क्षमता थी तो एकमात्र शत्रुघ्न में थी। उनके स्मरण मात्र से ही शत्रुओं का नाश हो जाता है। इसलिए तो उनका नाम शत्रुघ्न पड़ा। लेकिन 'मानस' के अवलोकन से ज्ञात होता है कि राम लड़े, लक्ष्मण लड़े, आवश्यकता पड़ने पर भरत ने भी एक बाण हनुमान को मारा, लेकिन शत्रुघ्न ने तो एक चूहिया तक नहीं मारी। जब कि नामकरण में, चारों भाइयों में शत्रु-दमन की क्षमता थी तो एकमात्र शत्रुघ्न में थी। हाँ, कुबरी को शत्रुघ्न ने लात अवश्य मारा था क्योंकि वह बेचारी घूमकर मुक्का भी नहीं चला सकती थी। शत्रुघ्न ने देखा कि वह कुछ कर नहीं पायेगी फिर भी एक लात पीछे से लगाया, तभी तो कूबड़ पर लगा। यही उनका पराक्रम था, किन्तु कार्यक्षेत्र में ऐसा पाया नहीं जाता। इसी प्रकार लक्ष्मण के नामकरण का आधार देखें--

लच्छन धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार।
गुरु वसिष्ठ तेहिं राखा, लछिमन नाम उदार।।

(मानस, १।१९७)

जो लक्षणों के धाम हैं, जगत् के आधार हैं, राम के प्रिय हैं; गुरु वशिष्ठ ने उनका नाम लक्ष्मण रखा। वे शुभ लक्षणों के धाम थे, एक भी दुर्गुण नहीं था उनमें, इसीलिए लक्ष्मण कहलाये। जबकि लक्ष्मण महान क्रोधी थे, क्रोध एक दुर्गुण है। यद्यपि भरत सहृदयता के साथ राम को मनाने जा रहे थे, किन्तु लक्ष्मण उन्हें आते देखकर धनुष उठाकर छलाँग भरने लगे। लक्ष्मण का क्रोधी स्वभाव प्रसिद्ध है। धनुर्भंग, वनवास, किष्किन्धा, लंका सर्वत्र उनका यह स्वरूप दिखायी देता है फिर भी वे लक्षणों के धाम कहे गये। जब सीता चोरी चली गई तो "लछिमनहू यह मरम न जाना" केवट मरम जान गया था किन्तु 'लच्छन धाम' नहीं जान सके। युद्ध में मेघनाद से सामना होने पर, यह जानते हुए भी कि शत्रु कमजोर नहीं है उसका प्रबल शस्त्र सामने

से चला आ रहा है, लक्ष्मण सीना तानकर मूर्च्छित हो जाते हैं। लक्ष्मण एँड़े अवश्य हैं, लेकिन जहाँ तक लक्षण का प्रश्न है, वे कोरे दीखते हैं। लक्षण तो तब होता जब वे शत्रु के इरादों को पहले ही भाँप जाते। **"कहेउ न तात लखन लरिकाई"** साथ-साथ पैदा हुए किन्तु राम के और उनके स्वभाव में कितना अन्तर था। चारों भाइयों में सम्पूर्ण शुभ गुण लक्ष्मण में थे किन्तु व्यवहार में वैसा नहीं पाया जाता। अब, राम के नामकरण पर दृष्टिपात् करें-

जो आनन्द सिन्धु सुख रासी।
सीकर ते त्रैलोक सुपासी।।

(मानस, १।१९६।५)

वे आनन्द के समुद्र हैं, सुख की राशि हैं, अपनी एक बूँद से त्रैलोक्य को सुपास प्रदान करनेवाले हैं--

सो सुखधाम राम अस नामा।
अखिल लोक दायक बिश्रामा।।(मानस, १।१९६।६)

वे सुख के धाम हैं, इसलिये उनका नाम राम है। वे सम्पूर्ण लोकों को विश्राम प्रदान करनेवाले हैं। राम आनन्द के समुद्र, सुख के धाम तो थे जिन्हें दुःख स्पर्श ही नहीं करता था लेकिन यदि राम का जीवनवृत्त देखा जाय तो वे सुख-शान्ति से कभी नहीं रहे। बचपन में ही उन्हें विश्वामित्र ले गये, ले जाकर ताड़का से लड़ा दिया। इसके उपरान्त शादी-विवाह हुआ, कुछ सफलता मिली, राजपाट के सुख का समय आया तो मन्थरा गले पड़ गयी। राम को राज्य की जगह चौदह वर्ष का वनवास मिला। वनवास में किसी तरह समय काट रहे थे कि सीता चोरी चली गयी फिर तो "हाय मृगलोचनी! हाय गजगामिनी! हाय सीते! मुझे छोड़कर कहाँ चली गई।" "लता-तरु-पाती" से पूछते विलखते रहे। नारद को उनकी दशा देखकर महान पश्चाताप

हो रहा था कि मेरे शाप के कारण राम दुःखों का बोझ सहन कर रहे हैं। यह बात अलग है कि राम ने हँसते हुए दुःख झेला, किन्तु थे तो दुःख ही।

राम ने सेना का संगठन किया, रावण को जीता, सीतासहित अवध के सिंहासन पर आसीन हुए तो एक धोबी ने फाँसी दे दिया। संयोग से धोबी की पत्नी रात भर किसी के यहाँ उत्सव के कारण रुक गयी। धोबी बोला - मैं राम नहीं हूँ जो दूसरों के घर रहने वाली स्त्री को पुनः अपना लूँ। राम ने ऐसा सुना तो लोकरंजन के लिए सीता का परित्याग करके असह्य दुःख झेला; यद्यपि सीता की निर्दोषता प्रमाणित थी। वाल्मीकि और लवकुश के प्रयास से जब जनता ने सीता को निर्दोष मान लिया और राम ने सीता से अयोध्या वापस चलने का आग्रह किया तो सीता अँगूठा दिखाकर पृथ्वी में समा गयीं। राम के दुःख की क्या कोई सीमा थी? अन्त में एक बात पर लक्ष्मण सरयू में प्रविष्ट हो गये। राम को इतना कष्ट हुआ कि वे भी सरयू में कूद पड़े। जिसका जीवन ही दुःख से भरा पड़ा हो, वशिष्ठ उसे कहते हैं-- "सो सुख धाम" जिन्हें दुःख स्पर्श ही नहीं करता, उनका "राम अस नामा। अखिल लोक दायक विश्रामा।" वे ही सम्पूर्ण लोकों के विश्रामदाता हैं।

इस प्रकार जैसा नामकरण किया गया, वैसा कार्यक्षेत्र में पाया नहीं जाता। क्या वशिष्ठ जी ने दक्षिणा के लिए ऐसी प्रशस्ति कर दी अथवा तुलसीदास जी झूठ लिखते थे? नहीं; मानस अक्षरशः सत्य है। एक भी चौपाई गलत नहीं है। लेकिन "**वस्तु कहीं, ढूंढ़े कहीं कैसे पावै ताहि**" वह वस्तुस्थिति ही कहीं अन्यत्र है। देखिये, प्रत्येक शास्त्र का निर्माण दो दृष्टियों से होता है - एक तो ऐतिहासिक घटना-क्रम जीवित रखना और दूसरे उस घटित

घटना के माध्यम से आध्यात्मिक प्रक्रिया द्वारा परमतत्त्व तक की दूरी तय करा देना। ऐतिहासिक घटनाओं से हम मर्यादित जीवन की प्रेरणा ग्रहण करते हैं। किन्तु कुशलतापूर्वक जी-खा लेने मात्र से मनुष्य का कल्याण नहीं हो जाता। अतः संसार में जब तक रहें तब तक शिष्टजन अनुमोदित विधि से जीवन-यापन करें, इस दृष्टि से ऐतिहासिक घटनाओं को जीवित रखा जाता है, साथ ही इस प्रकार जीते-खाते समझ बूझ काम करने लगे तब उस परम प्रभु के अंक में प्रवेश पाने के लिये आध्यात्मिक विद्या का सृजन मनीषियों ने किया। घटना हुई न होती तो दृष्टान्त कहाँ से बनते? उसी घटना को माध्यम बना कर ऋषियों ने उस आध्यात्मिक संघर्ष का विस्तार से वर्णन किया, जिनका परिणाम परमशान्ति और परमतत्त्व है। रामचरित मानस में भी इन्हीं वस्तुओं को छिपाकर लिखा गया है। मानस को मात्र इतिहास मान लेना भयंकर भूल होगी।

'रामचरित' का अर्थ है राम का चरित्र। तो क्या शरीर में या भूखण्डों में जो राम हुए थे, तुलसीदास उनका चरित्र लिखने जा रहे हैं। गोस्वामी जी कहते हैं नहीं, अपितु 'मानस' लिख रहे हैं। मानस मन को, अन्तःकरण को कहते हैं। अतः रामचरितमानस का तात्पर्य राम के उस चरित्र से है जो मन के अन्तराल में प्रसारित हैं। हैं तो सब में किन्तु दिखाई नहीं देते। यहाँ तो रात-दिन काम का चरित्र, लोभ का चरित्र, मोह और छल-छद्म का चरित्र ही दिखायी देता है। राम के चरित्र तो मन में दिखाई ही नहीं देते। हैं सब में। वे जिस प्रकार मन में जागृत होते हैं और जागृत होकर राम तक की दूरी तय कराते हैं वहाँ तक का साधन-क्रम इस मानस में अंकित है।

याद रखें, जो पुस्तक के शीर्षक में होता है, उसी का पट-प्रसार, उसी का विस्तार पंक्तियों में हुआ करता है। रामचरितमानस का आशय राम के

उस चरित्र से है जो मन के अंतराल में प्रसारित है। प्रश्न उठता है कि किस प्रकार प्रसारित है? अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं। एक आसुरी सम्पद्, दूसरी दैवी सम्पद्। आसुरी सम्पत्ति अधोगति एवं नीच योनियों में फेंकनेवाली है और दैवी सम्पद् परमकल्याण करनेवाली होती है। 'विनय पत्रिका' में तुलसीदास जी कहते हैं "वपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंका दुर्ग, रचित मन दनुज मय-रूप धारी ।।५८।। यह शरीर ही सुव्यवस्थित ब्रह्माण्ड है जिसमें "प्रवृत्ति लंका" मायिक प्रवृत्ति, शारीरिक अनुरक्ति ही लंका है। तुलसीदास जी रोचक कहते-कहते कहीं-कहीं यथार्थ का भी संकेत करते चलते हैं। मनरूपी मय दानव ने इस प्रवृत्तिरूपी लंका का निर्माण किया है, जिसमें--

मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहंकार, पाकारिजित काम विश्रामहारी।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदरदुष्ट, क्रोध पापिष्ठ-विवुधान्तकारी।।

(विनय पत्रिका, ।।५८।।)

मोह की रावण है जो "सकल व्याधिन्ह कर मूला" है, इसीलिए राजा है। इस लंका में क्रोधरूपी कुंभकर्ण, लोभरूपी नारान्तक, अहंकाररूपी अहिरावण, प्रकृतिरूपी शूर्पनखा है और इन्हीं के बीच जीवरूपी विभीषण है जो है तो दुष्टों के बीच, मोह इसका सगा भाई है, किंतु उसकी दृष्टि सदैव राम पर रहती है। जीवात्मा वास्तव में मोह के कारण फँसा है। मोह के संयोग से ही तो इसका नाम जीव पड़ा। यह जीव अपने परिवार, बाल-बच्चों के भरण-पोषण इत्यादि की चिन्ता में रहता है लेकिन साथ ही इसकी दृष्टि परमात्म तत्त्व पर भी रहती है। अभी आश्रम में एक अमेरिकन सज्जन आये थे। हमने पूछा कि इतने व्यस्त अमेरिका में भी क्या लोग भगवान को मानते हैं? वह बोले-- "यह तो 'नेचुरल' है। न मानने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। हाँ, यह बात अलग है कि हम लोग यह नहीं जानते कि किस रास्ते से उन्हें ढूँढ़ा जाय? इसीलिए तो भारत आये हैं।"

इसी प्रकार यह आसुरी सम्पद् क्रमशः चलकर असंख्य अधोमुखी प्रवृत्तियों का कारण बनती है। युद्ध में सबके मिटने के बाद रावण जब दुर्ग से निकला तो उसके साथ असंख्य सेना थी। सब तो मर गये थे यह अगणित सेना अभी शेष ही थी। लेकिन है कुछ ऐसा ही। मोहरूपी रावण है न! वह सम्पूर्ण व्याधियों का मूल है। यदि मूल जीवित है तो शाखाओं और पत्तियों का पुनः हरा-भरा हो जाना स्वाभाविक है। उस मूल में सभी निहित हैं। इसीलिये सभी जीवित माने जाते हैं।

दूसरी ओर यह शरीर ही अवध है। इसमें अवध्य स्थिति का संचार है, इसलिये यह अवध कहलाता है; जिसमें दस इन्द्रियों का निरोध ही दशरथ है। इसमें भक्तिरूपी कौशल्या, कर्मरूपी कैकेयी, सुमतिरूपी सुमित्रा, मलिन मति मंथरा और ज्ञानरूपी वशिष्ठ हैं। खाना-पीना, उठना-बैठना सब ज्ञान से ही होता है, क्या यही ज्ञान? इष्ट को वश में करनेवाली जानकारी ही वशिष्ठ है। यही जानकारी ही सच्चा ज्ञान है। तो भला वह कौन सी युक्ति-विशेष है जिससे वह इष्ट वश में होता है? वह है श्वासरूपी शृंगी ऋषि। शृंगी ऋषि ने यज्ञ किया। "यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि"- जप ही यज्ञ है, श्वास प्रश्वास का यजन ही यज्ञ है। हृदय की विकलता ही हवि है। जहाँ ऐसा यज्ञ हुआ तहाँ भक्तिरूपी कौशल्या की गोद में विज्ञानरूपी राम प्रकट हो जाते हैं। अनुभवी सूत्रपात् होने लगता है। साथ ही विवेकरूपी लक्ष्मण, भावरूपी भरत, सत्संगरूपी शत्रुघ्न का प्रादुर्भाव हो जाता है। साधक के हृदय में जब वे अनहोनी वस्तुएँ जागृत होती हैं तो उसका विश्वास दृढ़ हो जाता है। इसीलिए विश्वासरूपी विश्वामित्र का आगमन होता है-

जाने बिनु न होई परतीती।
बिनु परतीति होई नहिं प्रीती।।(मानस, ७।८८।७)

जब तक वह जानने में नहीं आता तब तक विश्वास नहीं होता और बिना विश्वास हुए प्रीति नहीं होती, हार्दिक लगाव नहीं होता--

प्रीति बिना नहीं भगति दृढ़ाई।
जिमि खगपति जल कै चिकनाई ।। (७।८८।८)

बिना प्रीति के भक्ति दृढ़ नहीं होती। भक्त तो सभी बनते हैं किन्तु वह भक्ति ऐसी ही होती है जैसे जल की चिकनाई। पूरब की हवा चली तो पश्चिम के कोने में चिकनाई इकट्ठी हो गयी और दक्षिण की हवा चली तो चिकनाई उत्तर चली जाती है। संग-दोष रूपी वायु कभी-कभी न रहने से वह जल पर छायी हुई दिखाई देती है लेकिन यह क्षणिक है। जहाँ कुसंग मिला तहाँ सारी भक्ति किनारे चली जाती है। जब साधक में अनुभव, भाव, विवेक, सत्संग का सूत्रपात् होने लगता है तभी इष्ट की सर्वव्यापकता में विश्वास होता है। लोग कहते हैं विश्वास करो, किन्तु करे भी तो कैसे? आँख मूंदकर विश्वास करोगे तो अन्धविश्वास होगा। जब अनुभवी सूत्रपात् मिलने लगता है तहाँ "विश्वासरूपी विश्वामित्र" विश्वास का होना स्वाभाविक है। तब विश्वास के साथ उसी यज्ञ को करने लगे। यज्ञ कोई दूसरा नहीं है। उसी यज्ञ को करने लगे जो पहले करते थे किन्तु अब विश्वास के साथ कर रहे हैं, विश्वामित्र भी साथ ही हैं। तहाँ तर्करूपी ताड़का, स्वभावरूपी सुबाहु, स्वभाव में मैलरूपी मारीचि विघ्न डालते हैं किन्तु अनुभव से, विज्ञानरूपी राम द्वारा शान्त हो जाते हैं। फिर "अवध हृदय लय सः अहिल्या" की गति प्राप्त होती है।

यहाँ से दैवी सम्पत्ति का प्रारंभ है। क्रमशः चलकर दैवी गुण भी अनन्त हो जाते हैं। दैवी सम्पद् का तात्पर्य ब्रह्म आचरण की प्रवृत्ति है--

बानर कटक उमा मैं देखा।
सो मूरख जो करन चह लेखा।। (मानस, ४।२१।१)

भगवान शंकर कहते हैं- उमा मैंने बानर कटक देखा। वह निपट मूर्ख है जो उसकी गणना करना चाहता है। आज चार अरब ही विश्व की जनसंख्या है फिर भी खाद्य-समस्या विश्वस्तर पर बनी ही हुई है। उस समय भगवान शंकर के शब्दों में असंख्य बानर थे। वे बुद्धिहीन हैं जो गणना करना चाहते हैं। स्पष्ट है कि यह सेना भी सद्‌गुणों की है जो मन के अंतराल में ही है। ब्रह्म आचरणमयी प्रवृत्ति ही बानरी सेना है। इसीलिये जब गुरु वशिष्ठ ने नामकरण किया तो स्पष्ट बताया कि मानस के राम हैं। उन्होंने कहा-

विश्व भरण पोषण कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।।

भाव ही भरत है। 'भावे विद्यते देवा' भाव में वह शक्ति है कि परमदेव परमात्मा तक विदित हो जाता है। "भाव वस्य भगवान, सुख निधान करुना अयन", भगवान अन्य किसी युक्ति से वश में नहीं होते। एकमात्र भाव से ही भगवान वश में होते हैं, जो सुख के निधान और करुणा के धाम हैं। अतः भावरूपी भरत। विश्व में किसी ने किसी का भरण-पोषण किया है, पूर्ण तृप्ति प्रदान की है, तो एकमात्र भाव से। जिन-जिन के हृदय में भाव हार्दिक लगाव जागृत हुआ है; इष्ट से सीधा सम्बन्ध जुड़ा है। मनुष्य अपूर्ण है। भौतिक वस्तुओं से, रुपयों पैसों से मनुष्य पूर्ण नहीं बन जाता। वह तो जब भी पूर्ण होगा, आत्मदर्शन से ही होगा और उस आत्मदर्शन की एकमात्र क्षमता भाव में ही संभव है। इन आत्माओं को कभी भी तृप्ति मिली है तो ईश्वर-दर्शन से ही मिली है और वह ईश्वर भाव के वश में है। इसलिये भाव ही भरत है। भाव में ही वह क्षमता है जो इन आत्माओं को विश्व में पूर्ण तृप्ति कर दे। इसीलिये उसका नाम भरत पड़ा। ऐसा नहीं कि आजकल के नेताओं की तरह भरत जनता का पेट भरते। आज तो जिसके पास बैल थे, ट्रैक्टर आ गया है; लेकिन पेट नहीं भरता। उसे दस बसें दे दी जाएँ,

पेट खाली ही रहता है। 'बिरला' की फैक्टरियां मिल जाएँ, किन्तु तृष्णा तब भी कम नहीं होगी। हाँ, शोषण की भावनाएँ अवश्य बढ़ती जाती हैं। कब किसको तृप्ति मिली? महावीर, बुद्ध को राज्य भी तृप्ति नहीं दे सका। जब कभी किसी को तृप्ति मिली है तो परमात्मा के अंक में ही मिली है। वही यथार्थ भरण और पूर्ण पोषण है। वह पोषण कैसे मिलेगा? भाव के द्वारा। अतः भाव ही भरत है। यह वेद का तत्त्व है अर्थात् जो तत्त्व विदित नहीं है, अलख-अदृश्य-अव्यक्त है उसे विदित करा देनेवाला तत्त्व है भरत; न कि कोई हाड़, मांस और चमड़ी का भरत रहा होगा।

तदनन्तर शत्रुघ्न का नामकरण करते हैं--

जाके सुमिरन ते रिपु नासा। नाम शत्रुघ्न वेद प्रकासा।।

जिसके सुमिरन से शत्रुओं का नाश होता है, उनका नाम शत्रुघ्न है, 'वेद प्रकाशा'-वेदों का ऐसा निर्णय है। गुरु वशिष्ठ ने उसी निर्णय पर विश्वास किया और स्वयं भी वही निर्णय दिया। वेद और महर्षि दोनों का मत एक है कि शत्रुघ्न के सुमिरन का विधान है। इतना होते हुए भी शत्रुघ्न का सुमिरन कोई नहीं करता। इस वेदाज्ञा और सद्गुरु आज्ञा पर चलनेवाला कोई दिखायी नहीं देता। सुमिरन तो सभी राम का ही करते हैं। 'शत्रुघ्न-शत्रुघ्न' जपनेवाला आज तक दिखायी ही नहीं दिया। आपने कही सुना है? नहीं, यह है मानस का सत्संगरूपी शत्रुघ्न।

सत्संग दो प्रकार का होता है। एक सत्संग तो वह है जो वाणी से किया जाता है, जो सुनने में आता है, जैसा आप सत्पुरुषों की सभाओं में सुनते हैं। दूसरा सत्संग क्रियात्मक है। वस्तुतः सत् की संगति ही सत्संग है, यथा

सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत पसार।
नित्यानित्य विवेकिया, लीजे बात विचार।।

सत्य और शाश्वत तो वह आत्मा ही है, उसका संग ही सत्संग है। यह सत्संग ध्यान, समाधि, चिंतन, भजन के द्वारा होता है। यह अंतरंग सत्संग केवल मन से होता है इसलिए सुमिरन से ही सत्य की संगति संभव है। मन सब ओर से सिमटकर उस आत्म-चिंतन में रत हो जाय, श्वास की संगत करने लगे, उस आत्मा के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने लगे, बस उसी दिन से सत्य की संगति-- सत्संग का प्रारंभ हो जाता है। चिंतन ज्यों-ज्यों सूक्ष्म होता जायेगा, मन सब ओर से सिमटकर इष्ट में केन्द्रित होता जायेगा, त्यों-त्यों शत्रुओं का नाश होता जायेगा। मन का सुमिरन और इष्ट जब तद्रूप हो जाते हैं तब मायिक शत्रुओं का उन्मूलन हो जाता है। अजेय शत्रु तो हमारे भीतर ही हैं -"महा अजय संसार रिपु जीति सके सो वीर।। (मानस ७।८० क)" काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि वास्तविक शत्रुओं को महापुरुषों ने शोध निकाला है। बाहरी लड़ाई तो मोह का द्वन्द्व मात्र है--

जलचर वृन्द जाल अंतर्गत, होत सिमिट एक पासा।
एकहि एक खात लालच वश, नहिं जानत निज नासा।।

(विनय०, ९२ पद)

वास्तव में चराचर के शत्रुओं का उन्मूलन; मोहरूपी रावण इत्यादि सम्पूर्ण शत्रुओं का समूल नाश सत्संग के माध्यम से ही हुआ है। राम तो अनुभव से सूचित करनेवाले यंत्र का नाम मात्र है। सुमिरन और चिंतन से ही मायिक शत्रुओं के नाश का विधान है। सुमिरन चिंतन पर ही सत्संग का उतार-चढ़ाव निर्भर है इसीलिए सत्संगरूपी शत्रुघ्न। "जाके सुमिरन ते रिपु नासा"- जिसके स्मरण से काम, क्रोध, मोहादि शत्रुओं का शमन हो जाता है- "नाम शत्रुघ्न वेद प्रकासा"- उसका नाम शत्रुघ्न है। राजन्! यह वेद तत्त्व है, जो परमात्मा विदित नहीं है उसको विदित करा देनेवाला तत्त्व है, न कि पाँच भौतिक पिण्डधारी कोई शत्रुघ्न थे। इसी प्रकार--

लच्छन धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार।
गुरु वशिष्ठ तेहिं राखा, लछिमन नाम उदार।।

(मानस, १।१९७)

जो सम्पूर्ण लक्षणों के धाम हैं, राम के प्रिय हैं; "सकल जगत आधार। गुरु वशिष्ठ तेहिं राखा, लछिमन नाम उदार।।" विवेकरूपी लक्ष्मण! सत्य क्या है? असत्य क्या है? इसकी जानकारी और जानकारी के पश्चात् सत्य पर आरूढ़ रहने की क्षमता का नाम विवेक है। सत्य और शाश्वत तो एकमात्र ईश्वर है; आत्मा है। उस पर आरूढ़ होने की क्षमता जिसमें आ गई, वही लक्ष्मण है, वही लक्षणों का धाम है--

दच्छ सकल लच्छन युत सोई। जाके पद सरोज रति होई।। ७।४८।८

उल्लेखनीय है कि उत्तरकाण्ड का यह निर्णय भी वशिष्ठ जी का ही है। वही लक्षणों का धाम है, वही राम का प्रिय है। सत्य वस्तु आत्मा पर ही जिसकी दृष्टि होती है, भगवान को वही प्रिय होता है--

पुरुष नपुसंक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्वभाव भज कपट तज, मोहिं परम प्रिय सोइ ।।

(मानस, ७।८७ क)

पुरुष हो, नपुंसक हो, नारी अथवा नर हो, कपट का त्याग करके सर्वतोभावेन जो भी मुझे भजता है, वही मुझे परमप्रिय है। इस प्रकार परम सत्य परमात्मा की ओर अग्रसर रहने की क्षमता का नाम ही 'लक्ष्मण' है, 'विवेक' है। जिसमें यह क्षमता होगी, वही राम को प्रिय होगा, वही सकल जगत् का आधार है। इष्ट या लक्ष्य का मनन ही लक्ष्मण है। मनन करते-करते मन इष्ट के तद्रूप होकर ईश्वरमयी स्थिति प्राप्त कर लेता है जो सम्पूर्ण जगत् का आधार है। राजन्! यह अविदित परब्रह्म को विदित करा देने वाला

तत्त्व है, लक्षण है; न कि कोई व्यक्ति विशेष!

जो आनन्द सिन्धु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी।।

(मानस, १।१९६।५)

जो आनन्द के समुद्र हैं, सुख की राशि हैं, अपनी एक बूंद से त्रैलोक्य को सुपास प्रदान करनेवाले हैं, वे राम हैं। कभी-कभी साधक घबड़ाने लगता है, वहाँ भगवान एक बूंद फेंक देते हैं। कहते हैं तुम चिन्ता न करो, तुम्हें मुक्ति दे देंगे। बस एक बूंद मिला। यद्यपि मुक्ति अभी अलग है किन्तु मात्र इतने आश्वासन से, जो राम द्वारा मिलता है, साधक त्रैलोक्य में सुपास पा जाता है, उसे भय नहीं रह जाता। वह पुनः साधना में लग जाता है। फिर घबराहट हुई तो बोल देते हैं, 'तुम्हारी साधना ठीक है, बस थोड़ी-सी वृत्ति रुकी हुई है।' सन्तोष प्रदान कर दिया, एक बूंद दे दिया। इसी प्रकार अलौकिक अनुभूतियों के द्वारा, अंग स्पन्दन के द्वारा, ध्यानजनित दृश्यों के द्वारा, स्वप्न के द्वारा, आकाशवाणी के द्वारा ईश्वरीय संकेत का नाम 'राम' है। यह राम के अनुभूति की प्रारंभिक अवस्था है। राम बिना मुँह के बोलते हैं, ध्यान में बोलते हैं, हृदय एवं मस्तिष्क में बोलते हैं, मन में बोलते हैं, उस बोली का नाम राम है। वह बिना पैरों के चलते हैं, साधक के साथ-साथ चलते हैं, उनका नाम राम है। वह विज्ञान, अनुभवी उपलब्धि ही राम हैं। 'भव' कहते हैं संसार को और 'अनु' अतीत को कहते हैं अर्थात् भव से बाहर करनेवाली जागृति-विशेष (अनुभव) का नाम ही राम है। वह है उस परमात्मा की आवाज का हृदय में प्रस्फुटन! वह संदेश भीतर सुनायी पड़ता है, दिखायी पड़ता है। इष्ट जब साधक की आत्मा से अभिन्न होकर जागृत हो जायँ, हृदय में दिखाई पड़ने लगें, पथ प्रदर्शन करने लगें, वही राम हैं। वह स्वयं 'आनन्द सिन्धु' और 'सुखराशि' हैं। "सीकर ते त्रैलोक सुपासी" एक बूंद भी जिन

साधक को देता है, उसे त्रैलोक्य में सुपास दे देता है, निर्भय बना देता है। "सो सुख धाम राम अस नामा।" वह सुख का धाम है उसका नाम राम है। 'अखिल लोक दायक विश्रामा' सम्पूर्ण लोक को विश्राम देने वाला वही एक स्थल है। यही अनुभव चलते-चलते जब ईश्वर के समीप की अवस्था आ जाती है तो अनुभवगम्य स्थिति ही मिल जाती है। यह अनुभव साधक भक्त को अपने में विलय कर लेता है। यजनपूर्ण स्वर ही सरयू है। राम सरयू में विलीन हो जाते हैं। राम कहीं चले नहीं जाते बल्कि श्वासरूपी सरयू में प्रविष्ट हो जाते हैं, हर श्वास के साथ रहते हैं। अवधवासी भी, साथ ही, सरयू में लीन हो जाते हैं अर्थात् अवध्य स्थिति, अजर-अमर, शाश्वत स्वरूप साधक को प्राप्त हो जाता है। यही राम की पराकाष्ठा है।

प्रकृति में स्थित जीवात्मा प्रकृति से परे परमात्मा में लय हो जाय, उससे मिल जाय यही तो 'योग' है। एक में मिलने का नाम 'योग' है। दूध में जल मिल जाता है, शरीर से वस्त्र मिल जाता है, टार्च आपके हाथ से मिलती है यह योग नहीं है। यह तो मैटर-क्षेत्र की वस्तुएँ ही परस्पर टकरा रही हैं। पदार्थ पदार्थ से टकरा रहा है। योग तो दो भिन्न तत्त्वों का होता है। प्रकृति में स्थित जीवात्मा क्रमशः उत्थान करते-करते प्रकृति से भिन्न परमात्मा से मेल कर ले, वही योग है। प्रकृति नश्वर है, पुरुष शाश्वत है। दोनों दो भिन्नतत्त्व हैं। उनके मिलन और विलय का नाम 'योग' है। मिलन के साथ-साथ प्रकृति, जो कमजोर है, विलय हो जाती है और जो शाश्वत है वही शेष बच रहता है। यही 'योगरूपी जनकपुर' है।

योगरूपी जनकपुर में ध्यानरूपी धनुष है। चित्तचढ़रूपी चाप है। चित्त के चांचल्य को तोड़ना ही चाप का तोड़ना है। जिस चित्त की चंचलता टूट जाती है ध्यान उसी से होता है-

नाथ शंभु धनु भंजनिहारा। होइहिं कोउ एक दास तुम्हारा ।।

(मानस, १।२७०।१)

भगवन ! वह स्वयंभू धनु, स्वयं को उपलब्ध करानेवाला ध्यान, उस ध्यान में आने वाली चंचलता को समाप्त करनेवाला विरला ही कोई आपका दास होगा। किसका दास? महापुरुष का दास! किसने पूछा था ? एक महापुरुष ने पूछा था कि किसने तोड़ा, तो "होइहिं कोउ एक दास तुम्हारा।" चित्त चढ़रूपी चाप'-जब चित्त के चाञ्चल्य का क्रम टूट जाता है तहाँ वही स्थिति ध्यान में बँध जाती है। ध्यान की योग्यता आ जाती है। जब चित्त चलायमान ही नहीं तो ध्यान ही तो लगेगा। तुरन्त शक्तिरूपी-सीता मिलती है। सीता कौन थी? राम की शक्ति थी। तो शक्तिरूपी सीता! जो अनादि शक्ति है वही अनुभवों (राम) में संचारित हो जाती है। विज्ञानरूपी राम! विज्ञान और अनुभव एक दूसरे के पर्याय हैं। पहले तो अनुभव आते हैं किन्तु वे क्षीण होते हैं। चार-छः महीने किसी महापुरुष का साथ करें तो कुछ न कुछ देखने लगेंगे। परन्तु प्रारंभ में अनुभव अनियमित होते हैं। जान-बूझकर गलती करने पर अनुभवों का संचार बन्द भी हो जाता है। कितु जब चित्त के चांचल्य का निरोध हो जाता है तहाँ शक्तिरूपी सीता मिल जाती है। अनुभवों में शक्ति का संचार हो जाता है। फिर अनुभव में जो कुछ मिलेगा वह अकाट्य होगा। ऐसा अनुभव इष्ट का मौलिक निर्णय होगा।

फिर तो "जागृतिरूपी जयमाला।" साधक जब पहले भजन करने बैठता है तो निद्रा आ जाती है किन्तु चित्त की चंचलता टूटने पर, अनुभवों में शक्तिरूपी सीता का संयोग होने पर निद्रा का वेग मन्द पड़ जाता है। वह इस मोह निशा से सचेत हो जाता है, नींद नहीं आती क्योंकि लक्ष्य आगे दिखायी देने लग जाता है।

इस योगरूपी जनकपुर में भरत को माण्डवी मिली। भाव पहले खंडित होता रहता है। आज भाव है तो कल अभाव में परिणित हो जाएगा किन्तु चित्त की चंचलता समाप्त होते ही, अनुभवों में गति आ जाने पर माण्डवी मिलती है। पहले जो भाव खंडित हो जाता था, वही भाव अब मंडित हो जाता है। फिर टूटता नहीं, कभी नहीं टूटता।

विवेकरूपी लक्ष्मण को उनकी शक्ति उर्मिला मिली। पहले विवेक बौद्धिक स्तर पर होता है। क्या सत्य है, क्या असत्य है? बुद्धि के द्वारा विचार कर निर्णय करना पड़ता है। विचार के द्वारा विवेकी बनना पड़ता है। किन्तु जब चित्त के चांचल्य की समाप्ति से ध्यान बँध जाता है तहाँ फिर 'उरमिला' विवेक हृदय से मिलने लगता है। बौद्धिक निर्णय लेने की आवश्यकता शिथिल पड़ जाती है। सत्य और असत्य का निर्णय इष्ट ही हृदय में कर देते हैं।

सत्संगरूपी शत्रुघ्न को उनकी शक्ति 'श्रुति कीर्ति' मिली। सत् का संग सुमिरन से होता है। सुमिरन करते तो सभी हैं किन्तु इष्ट के चरणों में सुरति नहीं लगती। भजन करते समय शरीर अवश्य बैठा दिखायी देता है, किन्तु मन अन्यत्र भटकता रहता है। मन कभी मोटर देखता है, कभी घर देखता है, कभी कुछ देखता है। भजन बैठकर ही होता है। खड़े-खड़े, चलते-फिरते, खाते-सोते भजन का विधान नहीं है। किन्तु केवल शरीर से बैठने मात्र से क्या होता है? जब तक इष्ट के चरणों में सुरत न लग जाय, उनका रूप हृदय में धारावाही दिखायी न पड़ने लगे तब तक सत्संग नहीं होता। योगेश्वर श्रीकृष्ण का निर्देश है कि अर्जुन! काया, ग्रीवा और शिर को एक सीध में रखकर, दृढ़ होकर नासिका के अग्रभाग को देखता हुआ, अन्य किसी भी ओर न देखता हुआ मुझमें चित्त लगावे और मेरे सिवा कुछ भी न देखे ।गीता, अध्याय ६। प्रारंभ में तो ऐसा नहीं होता, किन्तु जब चित्त के चांचल्य का

क्रम टूट जाता है तहाँ 'सुरत कृत्य' जो सुरत लगायी जाती थी उसमें कृतार्थता आ जाती है, सफलता मिल जाती है। इसीलिए श्रुतिकीर्ति के बिना शत्रुघ्न अपूर्ण हैं। सत्य की संगति करते-करते जब सत् और सुरत पूर्णतः तद्रूप हो जायेंगे तो मायिक विकारों का, चराचर के शुभ-अशुभ संस्कारों का समूलोच्छेद हो जायगा। इस प्रकार भाव, विवेक, सत्संग, विज्ञान सभी एक दूसरे के पूरक हैं, सहयोगी हैं। साधना के समस्त सोपानों से क्रमशः पार होकर साधक अनुभवगम्य स्थिति ही प्राप्त कर लेता है। सर्वत्र राममयी स्थिति ही हो जाती है। यही राम का वास्तविक स्वरूप है।

प्रश्न - महाराज जी! क्या राम हुए ही नहीं?

उत्तर - राम अवश्य हुए। ऐतिहासिक घटना घटी। वास्तव में राम एक महापुरुष थे, हुए थे, जिनके द्वारा आदर्श व्यवस्थाओं की स्थापना हुई, इसलिये वे मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाये। ऐतिहासिक बातें अपने स्थान पर सही हैं किन्तु जहाँ तक "रामचरित मानस" का प्रश्न है, यह विलक्षण ग्रन्थ है। यह इतिहास मात्र नहीं है। यह लौकिक मर्यादा और पारलौकिक उपलब्धियों का अद्भुत समन्वय है। राम के जीवन क्रम से हमें सांसारिक जीवन की सुव्यवस्थित मर्यादा मिलती है तो उसी 'मानस' में साधना का सांगोपांग क्रम भी सुरक्षित है। 'मानस' साधनापरक ग्रन्थ है। इसे पढ़ने के लिए चर्मचक्षु नहीं "मानस चख चाही" हृदय के नेत्रों की आवश्यकता है। वैसे, राम की ऐतिहासिकता में कोई सन्देह नहीं है। हुए न होते तो दृष्टान्त कहाँ से बनता? आधार कहाँ से मिलता?

प्रश्न - महाराज जी! राम यदि अनुभव गम्य हैं तो जो लोग राम के चित्र का ध्यान करते हैं, उन्हें इष्ट मानकर उनकी मूर्ति पूजते हैं, क्या वह निरर्थक है?

उत्तर - नहीं, निरर्थक नहीं है। महापुरुष कोई भी हो, सदैव रहता है। क्योंकि कोई भी महापुरुष जब स्वरूप की उपलब्धि कर लेता है तो अजर-अमर हो जाता है। आप अत्रि का ध्यान करें, कृष्ण का ध्यान करें अथवा किसी भी महापुरुष का ध्यान करें, वे मिलेंगे और वर्तमान में जो महापुरुष हैं, उनकी सेवा करने का निर्देश दे देंगे कि वे मेरे ही रूप हैं उनमें-मुझमें कोई अन्तर नहीं है, उनकी सेवा करो। उन अनुभवी महापुरुष की टूटी-फूटी सेवा से, उनके सान्निध्य एवं सत्संग से आपके अंदर वह चेतना जागृत हो जायगी जिससे आप अपने अन्तःकरण में परम प्रकाशक राम की अनुभूति प्राप्त करते जायेंगे, स्वयं राम बन सकेंगे, अनुभवगम्य स्थिति के होंगे। कृष्ण गीता में कहते हैं-

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।७।२१।।

जो-जो भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है जिसकी श्रद्धा जहाँ झुकती है उसी देवता के प्रति उसकी श्रद्धा को मैं स्थिर करता हूँ। मेरे ही विधान से उस देवता द्वारा वह पुरुष इच्छित भोगों को निःसन्देह प्राप्त करता है।

ॐ

'मानस' में नारी का स्वरूप

प्रश्न - महाराज जी! गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरित मानस' में स्त्रियों को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा है। प्रतीत होता है कि मानस में उन्होंने पुरुष के लिए पक्षपात किया है। इस पर आपके क्या विचार हैं?

उत्तर - पूज्य परमहंस महाराज बताते थे- 'होऽ... एक बार मैं हरिद्वार में हर की पैंड़ी पर बैठा चिन्तन कर रहा था। थोड़ी ही दूर पर महिलाओं का एक शिविर लगा था। महिलायें वहाँ एकत्र हो रही थीं। समय-समय पर तालियों की गड़गड़ाहट भी सुनायी पड़ जाती थी। कुतूहलवश हम भी चले गये। मंच पर अधेड़ महिला बता रही थी कि तुलसीदास की रामायण घर में रखना महिलाओं के लिये अपमानजनक है। कैसा लिख मारा कि 'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी। ए सब ताड़न के अधिकारी।।''- हम सब डंडों और जूतों के अधिकारी हैं! ऐसा रामायण घर में रखना भी अपराध है। लिखा है-- ''अवगुण आठ सदा उर रहहीं'' देखो न! ये पुरुष दूध के धोये हैं, इनमें एक भी अवगुण नहीं और हम लोगों में आठ अवगुण सदैव रहते हैं। ऐसी रामायण फूंक देनी चाहिए।'' ऐसा कहकर जब वह रामायण को मेज पर पटकती तो बड़े जोर की तालियां बजती थीं। उस सभा में स्कूल की छात्राएँ थीं, जो अबोध थीं। महाराज जी ने हम लोगों से बताया-- ''होऽ जब सब उन्हीं लोगों का गोल था तब हम क्या बताते।'' यद्यपि महाराज जी महापुरुष थे, वास्तविकता उनको विरासत में मिली थी, तथापि उस समय वे विरक्त स्वरूप में विचरण कर रहे थे। क्या प्रयोजन कि कौन क्या कह रहा है?

इन्हीं चौपाइयों को लेकर रामायण के पन्ने फाड़ने की घटनाएँ भी यत्र-

तत्र सुनने में आती रहती हैं। संसद एवं विधानसभाओं में चर्चा होती है कि रामायण समत्व में बाधक है।

लिखा तो वास्तव में ऐसा ही है; लेकिन शास्त्र कोई विरला ही महापुरुष जानता है और उनके सरंक्षण में कोई विरला अधिकारी ही पढ़ता है। सब न पढ़ते हैं, न जानते हैं; क्योंकि पूरी की पूरी रामायण एक साबर मंत्र के रूप में है। कलियुग के भयंकर प्रवाह को आते देखकर भगवान शंकर ने विचार किया कि अब वेद इत्यादि संस्कृत-गर्भित पुरातन शास्त्रों से जीव का कल्याण संभव नहीं है। तब उन्होंने जगत् के परम कल्याण के लिये एक साबर मन्त्र का सृजन किया।

कलि विलोकि जगहित हर गिरिजा। साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा।।

भगवान शंकर ने देखा कि कलियुग में मनुष्य की स्मृति भ्रमित है, बुद्धि विकल है, वह यथार्थ को सहसा ग्रहण नहीं कर सकेगा। इस तरह की विकृति देखकर भगवान शंकर ने जगत् के हित के लिये 'साबर मन्त्र' की रचना की। यह मंत्रजाल है कैसा?

अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रकट प्रभाउ महेश प्रतापू।।
(१।१४।६)

"अनमिल आखर" न तो उसमें अक्षरों की संगति बैठती है, न अर्थ का ही विधान है और न उसके जप का ही क्रम है! ऐसा है मंत्रजाल! तब तो निरर्थक होना चाहिए! किन्तु निरर्थक नहीं है-- "प्रकट प्रभाउ महेश प्रतापू" शंकर जी के कृपा-प्रसाद से यदि कहीं प्रत्यक्ष प्रभाव है, कल्याण कर देने की क्षमता है, तो वह साबर मंत्र में ही है, जिनमें अक्षरों की संगति नहीं बैठती, न अर्थ का विधान है और न जप का ही सिलसिला है। सिद्ध है कि व्याकरण से उस साबर मंत्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। भाषा में यदि बड़ी

मात्रा के स्थान पर छोटी मात्रा लग जाय तो परीक्षक लाल लकीर खींच देते हैं, विद्यार्थी अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। इस साबर मंत्र में तो "अनमिल आखर"- अक्षरों की संगति ही नहीं बैठती! अतः अक्षरों की संगति बैठानेवाला अथवा भाषा का ज्ञाता, भले वह दस भाषाओं का ज्ञाता ही क्यों न हो, भाषा के बल पर इस 'मानस' को पहचान नहीं सकता।

प्रश्न खड़ा होता है कि जब कलियुग में साबर मंत्र से ही जगत् का कल्याण सम्भव है तो तुलसीदास जी कौन-सी गाथा कहने जा रहे हैं? क्या वे इस साबर मंत्र से भिन्न कोई नयी कथा कहने जा रहे हैं? नहीं -

सोइ उमेश मोहिं पर अनुकूला। करहिं कथा मुद मंगल मूला।।
(१।१४।७)

उसी साबर मंत्र के रचयिता भगवान शंकर मुझ पर अनुकूल हैं। मैं उसी "मंगल मूल साबर मंत्र" की रचना करने जा रहा हूँ। अर्थात् यह पूरी की पूरी रामायण एक साबर मंत्र के रूप में है जिसे भाषा के बल पर पहचाना नहीं जा सकता। इसलिए जो लोग समय-समय पर तर्क-कुतर्क करते हैं वह उनके लिए स्वाभाविक ही है। कुछ न करने से करनेवाला श्रेष्ठ होता है इसी बहाने वे कुछ पढ़ते तो हैं।

जब रामायण का समापन होने लगा तो प्रश्न खड़ा हुआ कि यह कहा किससे जाय?

यह न कहिअ सठही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरि लीलहि।।
(७।१२७।३)

यह शठ से नहीं कहना चाहिए, हठधर्मी से नहीं कहना चाहिए, जो मन लगाकर नहीं सुनता उससे भी नहीं कहना चाहिए -

कहिय न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहि।।
(७।१२७।४)

यह लोभी से, क्रोधी से, कामी से नहीं कहना चाहिए। यहाँ तक कि उपर्युक्त विकारों से युक्त इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली नरेश ही क्यों न हो, उससे भी नहीं कहना चाहिए -

द्विज द्रोहिहि न सुनाइय कबहूँ। सुरपति सरिस होई नृप जबहूँ।।
(७।१२७।५)

भला जो इन्द्र के समान प्रतिभाशाली नरेश होगा तो वह हजारों पण्डित बैठाकर पढ़-सुन लेगा जबकि रामायण बाजार में मिलनेवाली पुस्तक है। फिर उससे न कहने का क्या अभिप्राय है? परन्तु नहीं, इस प्रकार भले ही कोई रामायण पढ़ ले, कंठस्थ कर ले, बाल की खाल निकालकर समझ ले, फिर जो समझने और समझाने वाली वस्तु है उससे वह पुरुष कुछ दूर ही खड़ा रहेगा। यह मानस है; साबर मंत्र के रूप में है।

कामी, क्रोधी, लोभी, मोही को यह रामायण नहीं कहनी चाहिए। कितने व्यक्तियों में ये विकार नहीं हैं? क्या आप में नहीं हैं? तो बताइये कहा किससे जाय? क्या हमारे लिए रामायण नहीं है? लेकिन है हमी आप के लिए! हाँ, इन विकारों में ज्यों-ज्यों न्यूनता आयेगी, त्यों-त्यों रामायण आपकी समझ में ढलती जायगी। इसके लिए तो नितान्त सुलझे हुए, अनुभवी महापुरुष का सान्निध्य ही समझने का एकमात्र माध्यम है, और रहेगा। जिनके अन्दर काम, क्रोध, लोभ, मोह का दबाव नहीं है वे ही इसके वास्तविक जानकार होंगे।

यही कारण है कि अबोध लोगों को 'मानस' में स्त्रियों की निन्दा दृष्टिगोचर होती है। वे 'मानस' के कतिपय प्रसंगों का उल्लेख करते हैं, जैसे भरत ननिहाल से लौटकर आये, माता की करतूत पर विचार किया तो बोले--

"भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरनकाल विधि मति हरि लीन्ही।।" राजा ने तुम्हारा विश्वास कैसे कर लिया? नहीं, राजा का दोष नहीं है। ब्रह्मा, जिसने सृष्टि की, वे भी नारी को नहीं जान सके फिर राजा तो धर्म में रत और सरल स्वभाव के थे। वे भला त्रियाचरित्र क्या जानते?

विधिहुं न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी।।
सरल सुशील धरम रत राऊ। सो किमि जानै तीय सुभाऊ।।
(२।१६१।५)

आगे कहते हैं-

काह न पावक जारि सके, का न समुद्र समाइ।
का न करैं अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ।।२।४७।।

ऐसी कौन-सी वस्तु है जो समुद्र में नहीं समाती? कौन-सी वस्तु है जिसे आग जला नहीं डालती? कौन ऐसा प्राणी है जिसे काल खा नहीं लेता और कौन सा ऐसा कृत्य है ज़ो अबला नहीं कर डालती? अबला क्यों? वह तो साक्षात् काल है, समुद्र है, अग्नि है! इससे अधिक नारी-निन्दा क्या होगी? अत: विचारणीय है कि वह अबला है क्या बला? 'मानस' में नारी का स्वरूप क्या है?

नारी के लिये अन्यत्र कहते हैं--

बुधि बल शील सत्य सब मीना। बंसी सम तिय कहहिं प्रबीना।।
(३।४३।८)

बुद्धि, बल, शील और सत्य सभी मछली के तुल्य हैं और त्रिया उस कँटिया के समान है जिसे बच्चे चारा चिपका कर पानी में फेंक देते हैं। जहाँ मछली ने पकड़ा तहाँ उठाकर बाहर पटक देते हैं। इस प्रकार स्त्री बुद्धि,

बल, शील, सत्य इत्यादि के लिए काल ही है। 'मानस' में यहाँ तक लिखा गया है कि भगवत्पथ में यदि कोई रुकावट है तो केवल नारी ही है, अन्य कोई रुकावट है ही नहीं--

जप तप नेम जलाश्रय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी।।
(३।४३।२)

जप, तप, नियम, भजन सभी जल के झरने हैं और नारी प्रबल ग्रीष्म के तुल्य है जो इन सम्पूर्ण झरनों को सूखा डालती है। जप-तप, यम-नियम, चिन्तन इत्यादि भगवत्-पथ के ही माध्यम हैं और यदि इनमें कही रुकावट है, सुखा डालने की कोई प्रक्रिया है तो वह एकमात्र नारी ही है। भगवत्-पथ में यदि कोई बाधा है तो केवल नारी!

जब नारी भगवत्-पथ में बाधा है, तो नारी के लिये भजन का विधान नहीं होना चाहिए? नारी रुकावट है तो स्वयं भजन क्या करेगी? जो दूसरों को डुबाती है वह स्वयं पार क्या जायगी? किन्तु नहीं, नारी के लिये भी भजन का अधिकार पुरुषों के समान ही है--

पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्वभाव भज कपट तजि, मोहिं परम प्रिय सोइ।।(७।८७ क)

पुरुष हो, नपुंसक हो, नारी अथवा नर हो, हिंदू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, ऐसा नहीं कहा, क्योंकि--

अखिल विश्व यह मोर उपाया।
सब पर मोहि बराबरि दाया।।

सम्पूर्ण विश्व भगवान की रचना है, सब पर समान दया है। इनमें से जो मद-माया का त्याग करके भगवान को भजता है वही उन्हें परमप्रिय है। सम्पूर्ण

विश्व का अर्थ क्या भारत होता है? क्या यूरोप होता है? नहीं, सारा जगत्! जगत् का कोई भी पुरुष हो! नपुंसक हो, नारी हो अथवा नर हो, सम्पूर्ण भावों से सिमट कर, कपट का त्याग करके जो भजता है; भगवान कहते हैं, वह मुझे परमप्रिय है। प्रिय ही नहीं, परमप्रिय है। इस प्रकार माताओं के लिये भी भजन का उतना ही विधान है जितना पुरुषों के लिये। नारी के लिये पहले तो भजन का विधान नहीं होना चाहिये था क्योंकि वे ही तो साक्षात् बाधा हैं किन्तु उन महापुरुष के शब्दों में विधान भी समान ही है तब तो कम से कम नारियों के लिये भजन में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए **''मोह न नारि नारि के रूपा।।''** (७।११५।२) परन्तु बाधा भी समान ही दिखायी पड़ती है क्योंकि जप-तप नियम स्त्री का हो या पुरुष का, उसे सुखाने वाली नारी ही है। वास्तविकता तो यह है कि स्त्रियों के भजन में बाधाएँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक हैं। पुरुष भजन करता है तो बाधाएँ कुछ कम हैं क्योंकि यदि स्त्रियाँ पुरुष के मार्ग में बाधक बनती हैं तो मात्र हाव-भाव से साधक की बुद्धि विकृत करती हैं। जब साधक स्वयं विचलित होता है तभी नष्ट हो पाता है किन्तु पुरुषों में बलात्कार का एक दोष अधिक है जो स्त्रियों में नहीं पाया जाता। बहुत सी अटूट श्रद्धावाली महिलायें इन अभागों के कारण अपने भजन-पथ से च्युत हो जाती हैं। इसीलिये पूर्व मनीषियों ने माताओं के लिये घर में ही रहकर भजन करने का विधान रखा। उन्हें परिवार के संरक्षण में रहकर अनवरत चिन्तन में समय देना चाहिये। बाहर रहकर भी उनके भजन का विधान है किन्तु जब क्षमता आ जाय तभी। जब वे अपने बचाव की क्षमता प्राप्त कर लें तभी उन्हें गृह-त्याग करना उचित है। सीता, नर्वदा, अनुसुइया, मीरा, शबरी इत्यादि ने भगवान को इतना अनुकूल कर लिया था कि उन पर विघ्न आये परन्तु असफल हो गये। मीरा के ऊपर बड़े-बड़े उपद्रव आये, राणा ने साँप भेजा, विष भेजा, किन्तु एक समय ऐसा आ ही गया कि मीरा ने राणा को ललकार दिया--

राणो जी! मैं तो गिरिधर रंगवा राती।
औरों के पिया परदेश बसत हैं, लिख-लिख भेजत पाती।
म्हारे पिया म्हारे हिये बसत हैं नहि कहुं आती-जाती।।''

अब तक तो बाधायें पहुचायीं, किन्तु अब भगवान क्षमा नहीं करेंगे। राणा जी ने चरणों में प्रणाम किया और फिर उन्हें कोई कष्ट न दिया। अस्तु, जिस नारी पर गोस्वामी बार-बार बल देते हैं, वे ये नारियाँ नहीं हैं। फिर कौन सी हैं?--

काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह के धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया रूपी नारि।। (३।४३)

काम, क्रोध, लोभ इत्यादि मोह की धारायें हैं जिसमें अत्यन्त दुखदायी मायारूपी नारि है। माया ही नारी है। स्त्रियाँ भजन करती हैं तो माया ही बाधक है। पुरुष भजन करते हैं तब भी माया ही बाधक है। माया क्या है? इन्द्रियों की विषयमयी तरंगें। मनसहित इन्द्रियों का संसार। न कि संसार-सागर में कहीं जल भरा है जिसमें डूब जाओगे। माया तो लम्बी-चौड़ी है, जो कुछ दिखायी-सुनायी पड़ता है माया है; लेकिन हमारे-आपके ऊपर उतना ही प्रभाव डाल पाती है जितना हमारे चित्त की प्रवृत्तियाँ विकृत अथवा उन्नत हैं। कारण यह है कि माया जिस माध्यम से पुरुष पर आक्रमण करती है वह माध्यम 'चित्त' है। जिस महापुरुष ने इस चित्त की वृत्ति का निरोध कर लिया उनके ऊपर से माया का प्रभाव सदा-सदा के लिये टल गया। माया ने जहाँ पिण्ड छोड़ा, वे द्रष्टा-स्वरूप में स्थित हो गये।

इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से 'चित्तवृत्ति' ही नारी है। भजन में तल्लीन साधक की 'चित्तवृत्ति' जब विषयोन्मुख होती है, संगदोष से साधन छोड़कर किसी इन्द्रिय के पीछे बह जाती है, विषय के चिन्तन में डूब जाती है, उस समय-

दीप शिखा सम युवति तन, मन जन होसि पतंग ।।(३।४६ ख)

उस क्षण यही चित्तवृत्ति तरुण होती है, दीप-शिखा के समान होती है और निश्चित जला डालती है। आज नहीं, यहाँ नहीं, तो अवसर मिलते ही कहीं ले जाकर पटक देती है- **''श्रृंगी की भृंगी करि डारी, पाराशर के उदर विदार।।''** जब यह चित्तवृत्ति किसी विषय को लेकर उसी के चिन्तन में सराबोर हो चलती है और भजन का क्रम टूट जाता है तब "दीप शिखा"- यह पूर्ण युवा होती है, जला देनेवाली होती है। उस समय न बुद्धि बचेगी, न बल बचेगा, न भजन बचेगा और न योग-युक्ति ही बच पायेगी। "मन जनि होसि पतंग"- रे मन! तू पतंगा न हो जा। काम, क्रोध, मद इत्यादि को छोड़कर "करहु सदा सत्संग"- इस दीप शिखा से यदि चित्तवृत्ति को बचाना है तो सदैव सत्संग करो।

सत्संग दो प्रकार का होता है। एक सत्संग तो वह है जिसे आप महापुरुषों से सुनते हैं। दूसरा सत्संग सूक्ष्म और क्रियात्मक.है जो चिन्तन ध्यान और समाधि के द्वारा सम्पन्न होता है; क्योंकि 'सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत पसार"- सत्य वस्तु तो आत्मा है, उसका संग ही सत्संग है। सब ओर से चित्त को समेटकर उस आत्मा की संगति करना, उसके साथ कदम से कदम मिलाकर चलना, उस आत्मा के साथ रहना ही वास्तविक सत्संग है। अतः सब ओर से चित्त समेट कर उन चरणों में लगाने से ही "दीप शिखा" से रक्षा संभव है।

"दीप शिखा सम युवति तन" यदि सांसारिक युवतियों की बात होती तो पिता के सामने प्रथम पुत्री युवती ही होती है। भाई के लिए बहन युवती ही होती है, वह तो कहीं खरोंच नहीं मारती? कितना स्नेह रहता है! कितनी सहृदयता रहती है कि जब तक जीवन है, दोनों का स्नेह समाप्त नहीं होता। प्रथम पुत्र के समय माता भी युवती ही होती है लेकिन वह पुत्र को जला नहीं

डालती? वह मातृ स्नेह आजीवन रहता है और माँ के मरने पर भी नहीं भूलता। अभी कल-परसों ही एक को बिच्छू ने डंक मार दिया। कराह रहा था, "अरे माई रे! अरे माई रे!" एकदम वृद्ध किन्तु माँ का स्नेह आज भी उसके मन में कसक रहा है। इस दृष्टि से युवतियों का तन 'दीपशिखा सम' कहाँ है? वस्तुतः चित्तवृत्ति जब किसी विषय की तरंग लेकर उसमें ओतप्रोत हो चलती है तब वह युवा होती है, विकराल रूप धारण कर लेती है और दीप-शिखा के समान मानव (स्त्री-पुरुष दोनों मानव हैं) को पतंगे की तरह जला डालने में सक्षम होती है। ऐसी परिस्थिति में इससे बचने के लिए सत्संग ही एकमात्र माध्यम है। गोस्वामी जी जिस नारी से बचने पर बल देते हैं, वह आन्तरिक ही है, बांहर से उनका कोई प्रयोजन नहीं है।

जब तक यह चित्तवृत्ति जीवित है तब तक "अवगुण आठ सदा उर रहहीं।" आज कदाचित् मन केन्द्रित लगता है, श्वास का यजन सुचारु रूप से हो रहा है किन्तु प्रारम्भ में मन की ऊपरी सतह ही केन्द्रित रहती है, भीतर तो संस्कारों की रील (राशि) भरी है। जब भी उन संस्कारों का अभ्युदय होगा, चित्तवृत्ति युवा हो जायेगी। उस समय दुःसाहस, असत्य, चंचलता, कपट, भय, छल-छद्म, अविवेक, आभ्यांतरिक मलिनता और कठोरता इत्यादि विकार चित्तवृत्ति में विद्यमान रहते हैं।

इसी संदर्भ में इस बहुचर्चित चौपाई पर विचार करें -

ढोल गंवार शूद्र पशु नारी। ए सब ताड़न के अधिकारी।। (५।५६।६)

"ताड़न के अधिकारी"- लोग इसका आशय लगाते हैं कि सभी डंडे के अधिकारी अथवा जूतों के अधिकारी अथवा मारने-पीटने के पात्र हैं। यह एक भ्रान्ति है। "ताड़न" का तात्पर्य परखने से है। आये दिन लोग कहा करते हैं कि "भई हम तो पहले ही ताड़ गये थे कि आज बदली का रुख

खराब है, बीज न छिड़को।'', ''हम पहले ही ताड़ गये थे कि वह क्या कहने वाला है?'' इत्यादि। 'ढोल ताड़न' के अधिकार क्षेत्र की वस्तु है। यदि 'ताड़न' का अर्थ पीटना मानें तो किसी को दीजिये ढोल, पीटना आरंभ करे! आप कहने लगेंगे, भाई! रहने दो, दिमाग मत खराब करो। रख दो! प्रचलित अर्थ में वह ताड़न ही तो करता है, लेकिन किसी को अच्छा नहीं लगता। किन्तु वास्तविक अर्थों में यदि कोई कलाकार है, ढोल की सम्पूर्ण कलाओं को जिसने ताड़ लिया है तो 'किटधिन, ताता धिन्न, ताता धिन्ना'' ताल बढ़ाते-बढ़ाते १६ वें ताल तक सबको मुग्ध कर लेगा, समा बँध जायेगी। इस प्रकार 'ताड़ना' का आशय जानकारी का होना या विशेषज्ञ होना है।

गँवार से काम करा लेना, उसे सत्पथ पर चला देना भी सबके वश की बात नहीं हैं और न तो वह मारने, पीटने से ही वश में किया जा सकता है। सहसा किसी कार्य को करने के लिये वह तैयार ही नहीं होता। यदि आप उससे कहें कि सभ्य आदमियों की तरह क्यों नहीं रहते तो तुरन्त कह देगा कि अपनी सभ्यता अपने पास रखें। परन्तु जो व्यक्ति उनकी गतिविधियों से परिचित है, मनोविज्ञान का विशेषज्ञ है, वह क्रमशः उसका उत्थान करते-करते सुयोग्य बना देगा। गँवारों को ताड़ना-परखना भी अधिकारी के क्षेत्र की वस्तु है। डाकू अंगुलिमाल इतना क्रूर और असभ्य था कि मानव अंगुलियों की माला पहनता था किन्तु गौतम बुद्ध से टकराते ही वह दानव से मानव बन गया। क्रूर, गँवार भी सुधर गया। बुद्ध ने उसे डंडा नहीं मारा था अपितु उस क्षेत्र के ताड़क थे, विशेषज्ञ थे। उस कला का प्रयोग करके उन्होंने अंगुलिमाल को सत्पथ पर प्रवृत्त कर दिया।

इसी प्रकार शूद्र भी अधिकारियों के ताड़न का विषय है। शूद्र का तात्पर्य चमार या हरिजन नहीं होता, जैसा कि वर्तमान में प्रचलन है। आध्यात्मिक जगत् में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रमशः अति उत्तम, उत्तम, मध्यम

और अधम साधकों के चार भेद मात्र हैं। शूद्र का अर्थ है- बहुत छोटा, तुच्छ। मान लीजिये हम छः घंटे भजन करने बैठते हैं किन्तु सांसारिक विषयों में अनुरक्त मन हवा से बातें करता है और दस मिनट भी हम उसे एकाग्र अपने पक्ष में नहीं पाते। सिद्ध है कि चिन्तन-पथ में हमारा कोई अस्तित्व नहीं है। वहाँ हम तुच्छ हैं, शूद्र हैं और अल्पज्ञ हैं। अल्पज्ञ का क्रमशः उत्थान करके उसे विज्ञ बना देना किसी ताड़न एवं विशेषज्ञ के क्षेत्र की बात है। जो स्वयं विज्ञ है वही विज्ञ बना सकता है क्योंकि वह उन घाटियों से गुजर चुका है, उस पथ के प्रत्येक उतार-चढ़ाव को उसने ताड़ा है, परखा है। इसी संदर्भ में एक कथानक का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। किसी राजा के चार कुमार शूद्र प्रकृति के थे। विद्वानों ने बहुत प्रयास किया किन्तु वे पढ़ते ही न थे। राजा ने घोषणा करायी कि क्या कोई ऐसा विद्वान है जो रात दिन हँसने-खेलने वाले गँवारों को शिक्षित बना सके? विद्वान तो हजारों थे किन्तु इस चुनौती को स्वीकारने वाला एक ही निकला क्योंकि वह मूर्ख, गँवार, अल्पज्ञों के उन्नयन में पारंगत था। उसने छोटी-मोटी कहानी सुनाना प्रारंभ किया। बालकों का मन लगने लगा, उनका उत्साह बढ़ा तो वे गुरुजी से आगे की घटना को सुनाने का आग्रह करने लगे। सुनते-सुनते एक दिन वे पूर्ण विद्वान बन गये। ऐसी ही कथाओं का संकलन विष्णु शर्मा के 'पंचतंत्र' में मिलता है। जिसमें रीति-नीति, राजनीति, लोकनीति, भेदनीति इत्यादि का अद्‌भुत समन्वय है। डंडे के बल पर ऐसे बालकों को सुधारना कदापि संभव न था। अतः गँवार तथा शूद्रों का उदात्तीकरण भी विशेषज्ञ के क्षेत्र की वस्तु है।

इसी क्रम में पशु भी ताड़न के अधिकारी हैं। हाथी पशु है। ताड़न का अर्थ यदि पीटना है तो मारिये डंडा, वह उलटकर चढ़ बैठेगा, चीरकर फेंक देगा; भले आप कितने ताकतवर क्यों न हों। परन्तु यदि कोई कलाविद है,

उसकी कला का अधिकारी है तो वह "चैधत, अगत, मल" कहता हुआ उसे उठायेगा, बैठायेगा, आगे बढ़ायेगा, पीछे हटायेगा, घुमायेगा, दो पैरों पर खड़ा करेगा और यहाँ तक कि उससे जमीन से सुई उठवा लेगा। साधारण-सा पिलवान ऐसा कर लेता है, हम आप नहीं कर पायेंगे। क्यों? क्योंकि वह उसकी कला का विशेषज्ञ है। भैंस दूध देनेवाली जानवर है। जब पशु ताड़न के अधिकारी हैं तो लगाइये डंडा। आज यदि पाँच किलो दूध देती है तो कल तीन किलो ही देगी। किन्तु ग्वाला जो उनकी गतिविधियों से अवगत है, खली-भूसी खिलाकर, नहलाकर-सहलाकर उसका दूध पाँच से बढ़ाकर सात किलो कर लेगा। ऐसा ग्वाला पशुओं के ताड़ने का अधिकारी है। पशु उसके क्षेत्र की वस्तु है। सबके क्षेत्र की वस्तु नहीं है। अनाधिकारियों के खूंटे पर तो वह सूख जाते हैं।

ठीक इसी तरह "माया रूपी नारि" भी है। पूर्वोक्त प्रकरण के अनुसार माया तो लम्बी-चौड़ी है-- **"गो गोचर जहं लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।"** जो भी दिखाई-सुनाई देता है, माया है किन्तु व्यक्ति पर उसका उतना ही प्रभाव पड़ता है जितना कि चित्तवृत्ति केन्द्रित अथवा विकृत है। जनसाधारण के लिये माया पूरे वेग पर है किन्तु योगियों के लिये कम है क्योंकि चिन्तन में केन्द्रित होने के कारण उनकी चित्तवृत्ति निरोध की ओर है। माया जिस माध्यम पर अंकित होकर आक्रमण करती है वह है चित्तवृत्ति। अतः चित्तवृत्ति ही नारी है। अब इस विकृत चित्तवृत्ति को निरुद्ध कर देना, शनैः-शनैः उसका उत्थान कर चित्तवृत्ति को केन्द्रित करना तथा 'माया रूपी नारि' से पार दिलाना किसी सद्‌गुरु के अधिकार-क्षेत्र की वस्तु है क्योंकि वे महापुरुष उस रास्ते से गुजरे हुए हैं। आरंभिक अवस्था से क्रमशः चलते हुए उन्होंने पूर्ण निरोध तक ही घाटियाँ पार की हैं। इसलिये वे इस क्षेत्र के विशेष ज्ञाता हैं। जिन्होंने भी इस चित्तवृत्ति का पार पाया है सद्‌गुरु के ही आधार

पर पाया है--

बिनु गुरु भव-निधि तरै न कोई। जो विरंचि शंकर सम होई।।

x x x

कर्ण धार सद्गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।।

इस मायारूपी नारी का अन्त उनके बल पर ही संभव है। सद्गुरु ही साधक के हृदय में जागृत हो जाते हैं और उनके संरक्षण में चलनेवाला साधक मायारूपी नारी से पार पा जाता है। चलना तो साधक को ही पड़ता है किन्तु साधक जो पार होता है वह उन्हीं सद्गुरु की ही देन है। हल का भार बैलों पर ही होता है, किन्तु बैल नहीं जोतते, हलवाहा जोतता है। हल के पीछे रहकर वह बैलों को संचालित करता है, उन्हें सही दिशा देता है। इसी प्रकार साधना का समस्त भार साधक पर ही रहता है, किन्तु उसके द्वारा जो पार लगता है, वह उन्हीं प्रेरक की देन है अन्यथा साधक को कैसे ज्ञात होगा कि वह सही दिशा में बढ़ रहा है अथवा नहीं--

करत करावत आप हैं, पलटू-पलटू शोर।।

करते-कराते स्वयं सद्गुरु हैं किन्तु नाम उसका होता है जिससे कराते हैं। साधक अपने बल पर नहीं, बल्कि तत्त्वदर्शी सद्गुरु के कृपा प्रसाद से चित्तवृत्ति रूपी नारी अथवा मायारूपी नारी का पार पा सकता है।

नोट - (प्रेरक के रूप में सद्गुरु और भगवान एक दूसरे के पूरक हैं)

सज्जनो! अब तो आप इस प्रसंग को समझ गये होंगे। बतायें! भगवत्-पथ में बाधा कौन है?

महाराज जी, भजन करते समय पुरुष के लिए नारी बाधा है और नारी

के लिये पुरुष।

महाराज जी - तब तो आप जहाँ के तहाँ रह गये। देखिये, शरीर तो रहने का एक मकान मात्र है। आत्मा न तो स्त्री है न तो पुरुष, वह न तो स्त्रीलिङ्ग है और न पुलिङ्ग। वह तो निर्लेप है। स्त्री-शरीर से भजन किया जाय अथवा पुरुष-शरीर से, बाधक चित्तवृत्ति ही है। चित्तवृत्ति ही नारी है। चित्तवृत्ति और विषय के संयोग से भावनाओं का चित्रण होता है, साथ ही उसकी क्रिया शरीर में भी उभर आती है। संसार में स्त्री-पुरुष के संयोग से केवल काम का सृजन होता है, जबकि भगवत्-पथ में काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि माया की सैकड़ों धाराएँ हैं। अकेले काम ही तो रुकावट नहीं है, हाँ वह भी एक अंग मात्र अवश्य है। मोह एक अलग शत्रु है, तृष्णा एक अलग शत्रु है। सभी माया के अङ्ग-प्रत्यंग हैं। सामान्य नारी से तो सभी व्यक्त नहीं होते। अत: केवल स्त्री ही माया कैसे हो गई? स्त्री के लिये पुरुष ही सम्पूर्ण माया कैसे हो गया? इनके पारस्परिक सम्पर्क से अनन्त विकारों में से केवल एक विकार 'काम' का ही खतरा है। अन्य विकार तो अपने जगह पर बने ही हैं। अत: चित्तवृत्ति ही नारी है। वही माया है। न पुरुष माया है, न स्त्री माया है। चित्त की प्रवृत्ति ही माया है।

जहाँ तक इस प्रवृत्ति के निरोध का प्रश्न है यह ताड़न के क्षेत्र की वस्तु है अर्थात् जो तत्त्वदर्शी महापुरुष उसका पार पा चुके हैं, जिनकी चित्तवृत्ति बाधक न रहकर विलीन हो चुकी है, ऐसे तपोधन की उसके ताड़क हैं, विशेषज्ञ हैं। नारी उनके अधिकार क्षेत्र की वस्तु है और वे ही इस नारी से आपको छुटकारा दिलाने में समर्थ हैं। गीता के अनुसार इसके निरोध के लिये अनुभवी महापुरुषों का सत्संग, एकान्त देश का सेवन, यौगिक क्रियाएँ और चिन्तन परम आवश्यक है।

ॐ

नारियों को समान अधिकार

प्रश्न - महाराज जी! आजकल नारियों के समान अधिकार की बड़ी चर्चा है। यह कहाँ तक उचित है?

उत्तर- हाँ, चर्चा तो बड़ी जोरदार है। स्त्रियों की एक सभा हो रही थी। अध्यक्षीय भाषण चल रहा था कि स्त्रियों के अधिकार भी पुरुषों के समान हैं। हमें पुरुषों के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना चाहिए। इतना सुनते ही एक आधुनिका ने प्रश्न किया कि हमारे पतिदेव तो कुछ ऊँचे पड़ते हैं। कन्धे से कन्धा कैसे मिलाऊँ? अध्यक्षा ने व्यवस्था दी - बहन जी! आप ऊँची एँड़ी वाली जूती खरीद लीजिए! इस प्रकार बराबरी का प्रयास तो बहुत चल रहा है। और बराबरी ही क्यों, कुछ महिलाएँ तो पुरुषों को नौकर तक बना लेना चाहती हैं। अभी उस दिन किसी पत्रिका में 'एक कार्टून' प्रकाशित हुआ था - आधुनिक सभ्यता में पली किसी लड़की ने अपने 'रिंग लीडर' से कहा कि मुझे एक ऐसे नौकर की आवश्यकता है जो भोजन बनाए, मालिश करे, घर की सफाई करे, कपड़े धोये, क्रोध आने पर मेरा मार तक सह ले। उत्तर मिला कि ऐसा नौकर तो शादी के बाद ही मिलेगा।

स्त्रियों में ही एक सनक सवार हो, ऐसी बात भी नहीं। पाश्चात्य विलासिता में अनुरक्त पुरुषों का एक वर्ग इस मांग को नारियों के नाम पर उछाल कर अपने को उनका हितैषी प्रमाणित करना चाहता है। एक भारतीय युवक को पाश्चात्य सभ्यता इतना पसन्द आई कि देश, परिवार के लोग उसे असभ्य और गँवार प्रतीत होने लगे। पत्नी से उसने घूँघट उठाकर अपने साथ 'डान्स' करने को कहा किन्तु भारतीयता में पली पत्नी ऐसा न कर सकी। युवक ने सोचा कि भारत में रहकर जीवन का भरपूर आनन्द नहीं लिया जा सकता। अतः वह अपनी पत्नी के साथ अमेरिका चला गया। वर्षों वहाँ रहकर अपना

जीवन सफल करता रहा। यूरोप के विभिन्न देशों में घूमकर नयी सभ्यता के तौर-तरीकों से परिचित होता रहा। जेब हल्की हो गयी तो सोचा अब वापस चलकर देखें कि भारत में कितनी प्रगति हुई। विदेशों में भारत के महात्माओं का बड़ा नाम सुना था। उनसे भी मिलने का शौक चर्राया।

जहाज से भारतीय भूमि पर कदम रखते ही युवक ने देखा कि बहुत से लोग प्रयाग के कुम्भ मेले में जा रहे हैं। युवक ने विचार किया कि मेले में महात्माओं के दर्शन भी होंगे। अत: वह पत्नी के साथ माघ मेले में चला आया। त्रिवेणी का तट महात्माओं के कैम्प और धूनियों से खचाखच भरा था। युवक अपनी पत्नी के साथ जहाँ-तहाँ घूमता-फिरता एक महात्मा के पास पहुँचा। कमर से दो इन्च आगे झुककर प्रणाम किया, बोला -'महात्माजी! हमको भी थोड़ा उपदेश कर दीजिए।" महात्मा जी ने उसे ऊपर से नीचे तक देखा, सोचा इसे बतावे भी तो क्या? मुस्काराये, बोले- रामायण पढ़ा करो। युवक ने कहा - वाह रे, महाराज! आपने तो विचित्र उपदेश दिया। विश्व का ऐसा कौन-सा शब्दकोश है जो हमें कण्ठस्थ न हो। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, साहित्यकारों की पोथियाँ हमने उलट डाली। रामायण किस खेत की मूली है। बस हो गया कल्याण! आपने तो अच्छा उपदेश दिया। पुन: दो इन्च झुककर प्रणाम किया, यहाँ-वहाँ मेला देखा और ट्रेन पकड़कर अपने स्टेशन पर उतरा, किन्तु पत्नी कहीं दिखाई नहीं पड़ रही थी।

अब तो वह युवक प्रत्येक डिब्बे में 'पुष्पा, पुष्पा' पुकारने लगा परन्तु पुष्पा वहाँ हो तो बोले? वह तो इलाहाबाद स्टेशन पर ही छूट गयी थी। माघ के मेले में भीड़ ही इतनी अधिक होती है कि लम्बी भीड़ में धक्के खाते हुए ट्रेन तक पहुँच पाना सबके लिए सम्भव नहीं होता। युवक तो बन्दरों

की तरह कूदता-फाँदता किसी प्रकार डिब्बे में पहुँच गया। उसकी पत्नी बेचारी नहीं चढ़ सकी थी। उस भीड़ में वह कैसे धक्के खाती? उधर युवक अपने स्टेशन पर 'पुष्पा, पुष्पा' जप रहा था। सोचा पत्नी तो गयी। अमेरिका इत्यादि सभ्य देशों में स्त्री खोने का अर्थ ही कुछ दूसरा है। पत्नी जब गायब होती है तो लौटकर वापस नहीं आती, दूसरा पति कर लेती है। दूसरा स्थान पसन्द न आने पर तीसरे स्थान पर दिखाई देती है। और भूतपूर्व पति महोदय हाथ मलते रह जाते हैं। इन्हीं आशंकाओं से ग्रस्त युवक ने प्रत्येक डिब्बे में अपनी पत्नी को पुकारा। स्टेशन में जाकर कूननी कार्यवाही की और जाड़े में भी पसीने से तर वह पुनः ट्रेन की ओर दौड़ने लगा, जो अब छूटने ही वाली थी।

रास्ते में ही प्रयाग वाले महात्मा, हाथ में कमण्डल लिए दिखाई पड़े। वे डिब्बे से उतरकर धीरे-धीरे स्टेशन की ओर बढ़ रहे थे। युवक ने पहचाना, प्रणाम किया और बोला-- "महात्मा जी, हमारी 'वाइफ' गायब हो गयी।" महात्मा ने पूछा-- "बेटा! वाइफ क्या होता है?" युवक ने बताया "महात्मा जी! पत्नी खो गयी! क्या करूँ?" महात्मा ने कहा-"बेटा रामायण पढ़ा करो।" युवक ने चिढ़कर कहा--"वाह! हमारा तो सर्वनाश हो गया और आपको अभी रामायण की सनक लगी है।" महात्मा ने समझाया-- "बेटा यदि तू ने रामायण पढ़ा ही होता तो आज यह दुर्घटना न होती। रामायण में लिखा है-- "सियहिं चढ़ाइ चढ़े रघुराई!" जब भगवान राम बनवास के समय नाव पर चढ़ने लगे, सीताजी का हाथ पकड़कर पहले उन्हें नाव पर बिठाया, फिर स्वयं बैठे। घर में स्त्रियों का कर्तव्य है कि पुरुषों की सेवा करें और घर से बाहर पुरुषों का कर्तव्य है कि पत्नी की सेवा, देखभाल करे। तू तो बन्दर की तरह ट्रेन में चढ़ गया। वह अबला, अपार भीड़ में कैसे ट्रेन में चढ़ पाती। तू अकेला क्यों चढ़ गया?" युवक ने कहा - "महात्मा जी, विदेशों

में स्त्रियों को समान अधिकार है। मैंने सोचा कि ट्रेन पर जितने अधिकार से मैं चढ़ गया, उतना ही अधिकार तो पुष्पा का भी है। इसलिए मैंने उसकी प्रतीक्षा नहीं की। सोचा था, वह भी चढ़ गयी होगी। महाराज जी ! आपकी रामायण तो सचमुच दर्शनीय है। आज से मैं उसका पाठ अवश्य करूँगा। लेकिन, महाराज जी दया करें! वह मिलेगी कि नहीं?'' महात्मा ने कहा- "पहले पाठ तो करो, वह तो मिली-मिलाई है।'' युवक ने उसी दिन से पाठ प्रारम्भ कर दिया। उसकी पत्नी बेचारी कहाँ जाती। दो-एक दिन पश्चात् भीड़ कम होने पर ट्रेन में जगह मिलते ही वह भी चली आई। अब तो युवक की आँखें खुल गयीं और वह रामायण की शिक्षाओं पर सोत्साह चलने लगा। वैसे भी, रामायण परम कल्याणकारक ग्रन्थ है, विश्व में उसकी मान्यता है। यहाँ तो समान अधिकार के सन्दर्भ में उसका दृष्टान्त मात्र दिया गया है। स्त्रियों को आधुनिका बनाने में पुरुषों का दोष भी कम नहीं है।

समान अधिकार का आकर्षण नयी शिक्षा पानेवाले युवक-युवतियों में विशेष पाया जाता है। संयोग से एक दम्पति बी.ए. थे। पति-पत्नी दोनों ही समान शिक्षित थे। दोनों को समान पद भी प्राप्त हो गया। दोनों साथ-साथ रहते-खाते थे। एक दिन प्रातः 'बेड टी' आयी तो पत्नी चाय में चीनी डालना भूल गयी थी। साहब ने चाय होठों से लगाया और फीकी लगते ही कप उठाकर फेंक दिया। अपनी बनायी चाय का अपमान देख पत्नी तमतमा कर अन्दर गयी और पूरा टी सेट उठाकर पटक दिया। साहब का होश तुरन्त ठिकाने आ गया, बोले-अरे, अरे! यह क्या कर रही हो? कप-प्लेट क्यों तोड़ डाला? पत्नी ने कहा- आपने क्यों तोड़ा? साहब ने सफाई दी कि चाय में चीनी नहीं थी। पत्नी ने कहा - तो आप न पीते। आपको कप फेंकने का अधिकार है तो मुझे भी समान अधिकार है। आप बी.ए. पास हैं तो मैं भी बी.ए. पास हूँ।

बात बढ़ती गयी। दोनों के पक्षपाती स्त्री-पुरुष एकत्र होते गये। विवाद का अन्त न होते देखकर किसी ने एक महात्मा से इस विवाद के निर्णय का प्रस्ताव रखा। सभी महात्मा के पास पहुँचे। अपना-अपना पक्ष रखा। महात्मा ने कहा कि समान अधिकार अवश्य होना चाहिए किन्तु माताओं और बहनो! इसके लिए आपको एक कदम और आगे बढ़ना होगा। देखिए, आप नौ महीने पेट में बच्चे का भार वहन करती हैं। मिचलियाँ आती हैं। कभी-कभी प्रसव के समय मृत्यु भी हो जाती है। माताओं को असह्य दुःख झेलना पड़ता है। **"ज्यों युवती अनुभवति प्रसव, अति दारुण दुख उपजे (विनय पत्रिका)"** दारुण दुःख उठाना पड़ता है। जब समान अधिकार है तो यह दुःख अकेले ही क्यों झेलती हो? पतिदेव से कहो कि साढ़े चार माह तक इस दुःख में अपना भाग स्वयं वहन करे। प्लेट तो आपने एक के स्थान पर छः फोड़ डाले! लेकिन इसे कैसे बाँटोगी? ईश्वरीय व्यवस्था में कोई उलट-फेर कैसे कर लेगा?

हाँ, जहाँ तक व्यावहारिक दृष्टि के समान अधिकार का प्रश्न है, भारत में सदैव समान अधिकार रहा। पार्वती जी को शंकर की अर्धांगिनी कहा जाता है। अर्धांगिनी का तात्पर्य है समान अधिकार। भारतीय दर्शन में स्त्रियों का पुरुषों के समान अधिकार सदैव रहा है। अन्तर इतना ही है कि घर से बाहर का कार्य पुरुषों को सौंपा गया और घर के भीतर की व्यवस्था स्त्रियों का कर्तव्य माना गया। बाहर से धन कमाना, वस्तुओं का संग्रह करना पुरुषों पर भारित है और संग्रह की हुई वस्तु की साज-सँभार, सुव्यवस्था और सदुपयोग स्त्रियों पर आधारित है क्योंकि घर से बाहर रहकर धनोपार्जन करना स्त्री-प्रकृति के प्रतिकूल है। मासिक धर्म या गर्भावस्था इत्यादि उनके कर्तव्य में बाधक हैं।स्त्रियाँ बाहर कार्य करें तो इन अवसरों पर कार्य स्थगित रखना पड़ेगा। सैनिक एवं प्रशासनिक कार्य भी उनके लिए सुविधाजनक नहीं हैं।

पुरुषों द्वारा बलात्कार का भय अलग बना रहता है, यहाँ तक कि माता सीता चोरी चली गयीं। इसीलिए स्त्रियों को पुरुष के संरक्षण में घर के भीतर की व्यवस्था सौंपी गयी। यद्यपि शुभ कार्यों में वे सदैव साथ रहीं। सीता वन के कंटकाकीर्ण पथ में साथ गयीं। कैकेयी ने युद्ध में दशरथ का साथ दिया।

वस्तुत: जीवन के दो पहलू हैं - एक धनोपार्जन, वस्तु-संग्रह और दूसरा संग्रह की हुई वस्तु का सुचारु रूप से उपयोग। इन दोनों दायित्वों में से संग्रह पुरुषों के हिस्से में है और सदुपयोग सुव्यवस्था महिलाओं पर निर्भर है। इस तरह भारत में तो स्त्री और पुरुषों का समान अधिकार सदैव रहा है। इससे अधिक आप लोग कौन-सी समानता चाहते हैं? क्या दोनों को कुश्ती लड़ाना चाहते हैं? 'बाक्सिग' कराना चाहते हैं? जिस क्षेत्र में ईश्वर ने ही असमान बनाया, वहाँ समानता कैसे होगी?

स्त्रियाँ कहती हैं हम नौकरी करेंगे, गोली चलाएँगे, फुटबाल खेलेंगे और आवश्यकता पड़ने पर पुरुषों को चपत भी लगाएँगे। बात तो ठीक है, लेकिन चपत मारने का साहस उनमें आयेगा कहाँ से? जीव जगत् पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि पचास गायें मिलकर भी एक साँड़ का सामना नहीं कर पातीं। पचासों बन्दरियाँ एक बन्दर की बराबरी नहीं कर पातीं। पशु समाज में स्त्रियों का सम्मान यहीं तक सीमित है। मनुष्यों में भी जिनका जीवन पशुओं की तरह "खाने-पीने और मौज करने" तक ही सीमित रहा, नारियों का स्थान पशु-समाज जैसा ही था। मुहम्मद साहब के समय में अरब निवासी कई-कई स्त्रियाँ रखते थे। मुहम्मद साहब ने इसका बड़ा विरोध किया और व्यवस्था दी कि एक व्यक्ति चार पत्नी रख सकता है। समान अधिकार वालों को यह व्यवस्था खटक सकती है किन्तु अरब निवासियों को यह संख्या इतनी कम प्रतीत हुई कि उन्होंने मुहम्मद के विरुद्ध तूफान खड़ा कर दिया। वे लोग

स्त्रियों को वैसा ही प्रयोग करते थे, जैसा पशुओं का करते थे। पिता के मरने पर पुत्र माँ को रख लेता था और उसके भी मरने पर स्त्री को नाती रख लेता था। पुत्र-वधू का उपभोग पत्नी की तरह करते थे। मुहम्मद साहब ने व्यवस्था दी कि कम से कम दूध बचाकर शादी विवाह करना चाहिए। पशुवत् समाजों में सर्वत्र ऐसा ही था और आज भी समान अधिकार को लेकर जिन देशों का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है, उन देशों में बलात्कार, तलाक, हत्या, आत्महत्या, पागलपन, स्त्रियों का अपहरण जैसी घटनाएँ भारत से हजारों गुना अधिक हैं। आज भी विश्व में भारत ही एकमात्र देश है जहाँ सतीत्व का मूल्य है और सतीत्व आज भी यहाँ सुरक्षित है। माताओं के प्रति पुरुषों में सम्मान और गौरव की धारणा है।

सच कहा जाय तो स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देने का विचार भारतीय मनीषियों के मस्तिष्क की उपज है। किन्तु इस अर्थ में नहीं, जैसा कि आज प्रचलन है। महर्षियों ने अभ्यास करते-करते जब उस परमतत्त्व परमात्मा का दिग्दर्शन पाया, उस पथ पर भली-भाँति दृष्टिपात् किया, उस पर सभी को चलाकर देखा तो पाया कि स्त्री और पुरुष कहलाने वाली आत्माएँ समान हैं। भगवत्पथ पर चलने की समान क्षमता रखती हैं। इसीलिए भजन के क्षेत्र में उन्होंने स्त्री को भी पुरुषों के समान अधिकार दिया।

समानता ही नहीं, मनीषियों ने माता को पिता और स्वर्ग से भी ऊँचा स्थान प्रदान किया। प्राचीन भारत में पुत्र को माता के नाम से सम्बोधित करने की प्रथा थी। अन्धे धृतराष्ट्र को अम्बिकानन्दन कहा जाता था। चित्रांगद नन्दन किसी ने नहीं कहा। चार-पाँच सौ वर्ष के वयोवृद्ध भीष्म पितामह गांगेय सम्बोधन में अपना गौरव मानते थे। कुन्तीपुत्र अर्जुन को कौन्तेय कहा जाता था। इस तरह माताओं का आदर सदैव रहा है और आज भी सौभाग्य से भारत में है।

खेद का विषय है कि विलासिता के नशे में आज कुछ लोग पाश्चात्य अर्थों

में स्त्री-पुरुष को समरूप बनाने के लिए आन्दोलन करते रहते हैं किन्तु माताओं और बहनों को इससे सतर्क हो जाना चाहिए। अन्यथा ठोकर खाने पर अपने आदर्शों से च्युत होकर उन्हें पाश्चात्य पशुवत् रहन-सहन का शिकार बनना पड़ेगा। अतः माताओं को चाहिए कि वे पूर्व महर्षियों द्वारा अनुमोदित अपनी चिरसंचित मर्यादा के अनुरूप आचरण करें। इसी में उनका कल्याण है।

भौतिक दृष्टि से देखा जाय तब भी भारत में स्त्रियों के अधिकार उनकी सुख-सुविधा का विधान पुरुषों की अपेक्षा अधिक ही है। यदि पुरुष के ऊपर सौ रुपये का वस्त्र है तो माताओं के वस्त्र हजारों में आते हैं। पुरुष के हाथ में अँगूठी भी न हो किन्तु माताओं की पेटियाँ वस्त्राभूषणों से भरी मिलेंगी। अमेरिका इत्यादि देशों की तथाकथित प्रगतिशील महिलाओं के पास आभूषणों के नाम पर आपको निराशा ही हाथ लगेगी।

एक कनेडियन दम्पति पूज्य महाराज जी के आश्रम में अनुसुइया पहुँचे। महाराज जी ने पूछा- "क्यों आए?" तो बोले- "योग, सीखने आये हैं। दर्शन-शास्त्रों में भारतीय योग के बारे में पढ़कर हम बहुत प्रभावित हुए! सोचा, भारत चलकर देखें कि वास्तविकता क्या है?" महाराज जी ने पुनः प्रश्न किया- "अच्छा यह बताओ कि अमेरिका अच्छा है या भारत?" दोनों एक स्वर में बोल पड़े- "भारत।" महाराज जी ने कहा- "अमेरिका तो बहुत समृद्ध है?" कनेडियन ने उत्तर दिया कि "समृद्ध तो है, लेकिन अशान्ति बहुत है। यदि हम पति-पत्नी पूरे अमेरिका से गुजरते तो कम से कम दो-चार बार हमारी पत्नी का अपहरण हो गया होता। इसे कोई ले जाता और फिर यह मुझे तीन-चार दिनों बाद ही मिलती। लेकिन जब से हमने भारत में कदम रखा तब से किसी ने भी हमारी पत्नी को 'सिस्टर' छोड़कर अन्य दृष्टि से नहीं देखा। इससे भी हमको बड़ी शान्ति मिली। अब हमारा पासपोर्ट

समाप्त होने को है किन्तु सन्त-महात्माओं का सान्निध्यलाभ लेने के लिए 'डेट' बढ़वाने की सोच रहे हैं।''

देखिए, पाश्चात्य आदर्शों से अनुप्राणित शिक्षा-प्रणाली में ढलने के कारण ही नारियों में यह विचार पैदा हो रहा है। वैदिक एवं शास्त्रीय आदर्शों को शिक्षा में स्थान न मिलने के कारण ही मस्तिष्क विलासिता में विकृत हो रहा है। आपके मन का वेग सत्संग अभाव के कारण ही है। अतः सत्संग करें। यदि सत्पुरुष उपलब्ध न हो तो राम, शिव ॐ इत्यादि नामों के जप से भी आपको सत्पथ का सही निर्देश मिलेगा और इनमें से किसी नाम-रूप की साधना में कुछ भी समय देते बन गया तो पाँच-सात साल में ही आपको लगेगा कि काम, क्रोध अथवा कोई भी ऐसा शत्रु नहीं है जिसका आप पार न पा सकें। वस्तुतः विकारों का उतार-चढ़ाव तन पर नहीं बल्कि मन पर है। मन यदि साधना के सही दौर में आ जाय तो विषयों का भान कौन करेगा? मन स्वतः नियंत्रित हो जाता है।

सीता, सावित्री, मीरा, गार्गी, अनुसुइया, मंदालसा सभी आपकी पूर्वज हुई हैं। सभी ने इसी क्रियात्मक पथ का अनुसरण किया और उन्हीं के पदचिह्नों पर चलकर आप भारत ही नहीं, विश्व के लिए उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत कर सकेंगी।

ॐ

निशिचरि एक सिन्धु महँ रहई

प्रश्न- महाराज जी! लंका जाते समय हनुमान जी को सिंहिंका मिली थी- "निशिचरि एक सिन्धु महँ रहई।" बीच समुद्र में वह किस प्रकार रहती थी कि उसके ऊपर जल का प्रभाव नहीं पड़ता था और वह परछाईं पकड़कर खींच लेती थी। यह परछाईं पकड़ना क्या है?

उत्तर- देखिए, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं! आज भी लाखों लोग बीच समुद्र में दिनं-रात निवास करते हैं। पनडुब्बियों में भरे हुए लोग, दाहिने-बायें जानेवाले किसी भी शत्रु को तुरन्त गिरा देते हैं। आज ही यह साइंस प्रगति पर है, ऐसी बात नहीं है, यह सदैव थी। संघर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँचकर यह मन्द पड़ जाती है पुनः पनप जाती है। संयोग से इस बार साइंस के पनपने का स्थल भारत से बाहर के देशों में रहा। वैसे तो दुनिया ही एक गाँव है, एक घराना है। जलवायु के अनुसार गोरा-काला, लम्बी-चपटी नाक, कद की लम्बाई इत्यादि का परिवर्तन होता रहता है। आप यहाँ रह रहे हैं, कश्मीर में चार साल रह लें, कुछ गोरे हो जायेंगे। अगली पीढ़ी गुलाब की तरह हो जायेगी।

वैसे यह 'मानस' है। मानस कहते हैं मन को, अन्तःकरण को। 'राम चरित मानस' अर्थात् राम के वे चरित्र जो मन में प्रवाहित हैं। इसमें संसार ही समुद्र है, वैराग्यवान पुरुष ही इसका पार पाता है।

निशिचरि एक सिन्धु महँ रहई। करि माया नभ के खग गहई।
जीव जन्तु जे गगन उड़ाहीं। जल विलोकि तिन्हकै परछाहीं।।

(५।२।१-२)

सिन्धु में एक निशिचरी रहती थी- **"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति**

संयमी" इस जगत्‌रूपी निशा में, इसकी प्रवृत्ति में यह विचरने वाली, चलने और चलाने वाली है, इसीलिए इसका नाम निशिचरी है। यह भवसिन्धु में रहती है, और समुद्र में जिसकी परछाईं पड़ती है उसे दबोच लेती है, फिर वह नीचे गिर जाता है--

गहइ छाँह सक सो न उड़ाई। एहि बिधि सदा गगनचर खाई।।

वह छाया को पकड़ लेती थी। जिससे जीव-जन्तु उड़ नहीं पाते थे, उनकी गति कुण्ठित हो जाती थी। इसी प्रकार गगनचरों को, आकाश में उड़ने वालों को खा लिया करती थी।

सोइ छल हनुमान कहँ कीन्हा। तासु कपट कपि तुरतइ चीन्हा।।

वही छल उसने हनुमान के साथ किया। उसके कपटाचरण को हनुमान ने तुरन्त पहचान लिया फिर तो -

ताहि मारि मारूत सुत बीरा। बारिधि पार गयउ मति धीरा।।
(५।२।५)

तुरन्त उसे मारकर हनुमान समुद्र पार कर गये। यहाँ संसार ही समुद्र है। वैराग्य ही हनुमान है। वैराग्यरूपी हनुमान - मान और सम्मान का हनन करनेवाला। पक्षी उड़ता तो आकाश में है किन्तु जमीन का सहारा लेता है। केवल वैराग्यवान पुरुष ही इस संसार-सिन्धु के ऊपर उड़ान भरता है। वह नीचे का सहारा नहीं लेता। वह भवसिन्धु के ऊपर उठना चाहता है, उठता भी है और क्रमशः उत्थान करते-करते परमतत्त्व परमात्मा में, भव से परे सत्ता में विलय पा जाता है।

जब पथिक चलता है तब "निशिचरि एक सिन्धु महँ रहई" दूसरों की इच्छाशक्ति ही निशिचरी है। कोई अच्छा साधक अपनी साधना में अग्रसर

होता जाता है तो दूसरे लोग मायिक विचारों को लेकर उससे टकराने लगते हैं। महिलाओं के लिए पुरुष या पुरुषों के लिए महिलायें ऐसा सोचने लगती हैं कि "बाबा तो बड़े अच्छे हैं। न जाने कब से कटिबद्ध हैं, ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं। कितने अच्छे हैं। हमारे संगी साथी रहे होते तो कितना अच्छा होता"- बस विषय की भयंकर वेदना लेकर वह चिन्तन करेंगी। तहाँ उसका चिन्तन ज्यों का त्यों वैराग्यवान पुरुष से टकरायेगा क्योंकि चित्त तो सबका एक ही है। टकराव होते ही साधक यह निर्णय नहीं कर पाता कि ऐसा चिन्तन आया कहाँ से? तुरन्त उसी चिन्तन से वह आक्रान्त हो जाता है। टकराव तो आज हुआ लेकिन वही भाव पनपते-पनपते कुछ ही समय में कहीं न कहीं साधक को इसी संसाररूपी समुद्र में गिरा देता है।

संसार ही समुद्र है। जिसमें विषयरूपी जल भरा है किन्तु--

बार-बार रघुबीर सँभारी।
तरकेउ पवन तनय बल भारी।।

जो बार-बार भगवान का स्मरण करके, जिसमें इष्ट का बल है, जो इष्ट के इशारों पर चलने वाला है, उस विरक्त पुरुष में तुरन्त इस छल को पहचानने की क्षमता होगी कि हमारे चिन्तन तो गन्दे थे ही नहीं, फिर ये कहा से आ रहे हैं? जिसके अन्दर इस चिन्तन के विभाजन की क्षमता होती है, अपने और पराये चिन्तन को जो पहचानने लगता है उसके ऊपर से इस निशाचरी का प्रभाव टल जाता है। साधक जान जाता है कि ऐसा बुरा संकल्प कौन कर रहा है? जब चिन्तन हमारा है ही नहीं, किसी अन्य की मनःस्थिति टकरा रही है, तो दुनिया में सब विषयी हैं ही। भले-बुरे प्रकार के हैं। वे कुछ भी सोच सकते हैं क्योंकि वे उसी क्षेत्र में खड़े हैं। उसी वायुमण्डल में हैं, और वे करेंगे भी क्या? अतः उन्हें माँ कह दे; बहन कह दें फिर तो संकल्पों

की लहर, जो साधक से टकरा रही थी समाप्त हो जाती है। उनकी भाव-भंगिमा बदल जाती है।

संसाररूपी सिन्धु में विषय-रस से ओत-प्रोत दूसरों की इच्छाशक्ति साधक के चित्त को पकड़ती है। वही परछाईं का पकड़ना है। जब साधक का चित्त विषय-चिन्तन में आवृत्त होने लगता है तो वे संस्कार बन जाते हैं। परिणामत: कहीं न कहीं गिर जाता है किन्तु जिस साधक में इष्ट का बल है, अनुभवी आधार पर संकल्पों के विभाजन की क्षमता है, वह इसको सहज ही पार करके आगे निकल जाता है। साधक जानता है कि दुनिया प्राय: वही चिन्तन करेगी जिसमें वह लिप्त है। जिसे सर्प ने काटा है उसे लहर तो आयेगी ही। साधक भी तो पहले दुनिया में रहकर यही सब चिन्तन करता था। जहाँ संकल्पों के विभाजन की क्षमता आयी, सांसारिक संकल्पों की लहर साधक के मन से विलग हो जाती है किन्तु यह क्षमता इष्ट को हृदय में सतत् सँजोने वाले साधक में, उनकी कृपा द्वारा ही आती है। इष्ट द्वारा प्रदत्त अनुभवों संकेतों के बल पर ही साधक ऐसा कर पाता है, और फिर तो--

ताहि मारि मारुत सुत बीरा।
वारिधि पार गयउ मति धीरा।।

ॐ

"युग-धर्म"

प्रश्न-- अब तो कलियुग आ गया महाराज! अब धरम-करम कैसे होगा?

उत्तर- देखिये, रामचरित मानस में कलियुग-महिमा-गायन का प्रसंग जहाँ-जहाँ आया है उस पर दृष्टिपात् करने से ज्ञात होता है कि कभी सत्ययुग था और आज कलियुग है, ऐसी कोई बात नहीं है। कागभुशुण्डि जी ने अपने पूर्वजन्मों का वृतान्त प्रस्तुत करते समय जिन शब्दों में मल-मूल कलियुग का वर्णन किया, ठीक उन्हीं शब्दावली और उन्हीं लक्षणों का उल्लेख गोस्वामी जी ने उत्तरकाण्ड में असन्त लक्षण तथा बालकाण्ड में रावण की उत्पत्ति और निशाचरों के आतंक के अवसरों पर किया है। कलियुग में "सब नर काम लोभ रत क्रोधी" हैं तो असन्त "काम क्रोध मद लोभ परायन" होते हैं। दोनों एक ही बात है। कलियुंग में "पर त्रिय लंपट कपट सयाने" लोग होते हैं तो असन्त "पर द्रोही पर दार रत, परधन पर अपवाद" हैं। इसी प्रकार निशाचरों के उत्कर्ष के समय "बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लम्पट परधन परदारा" का साम्य देखने को मिलता है। छुटपुट स्थल तो अनेकों हैं किन्तु उपर्युक्त तीन-चार स्थलों पर गोस्वामी जी ने कलि के गुण-धर्म पर प्रकाश डाला, कलियुग के अनेक लक्षण बताये--

जो कह झूठ मसखरी जाना। कलियुग सोइ गुनवन्त बखाना।।
जाके नख अरू जटा विशाला। सो तापस प्रसिद्ध कलि काला।

इसी प्रकार

देव न बरसहिं धरनी, बये न जामहिं धान।।

इत्यादि पचासों लक्षण गिनाये और अन्त में निर्णय देते हैं कि-

ऐसे अधम मनुज खल, कृतयुग त्रेता नाहिं।
द्वापर कछुक वृन्द बहु, होइहै कलियुग माहिं।।

ऐसे अधम मनुष्य सत्ययुग और त्रेता में नहीं होते, द्वापर में कुछ होते हैं और कलियुग में झुण्ड के झुण्ड होते हैं। प्रश्न खड़ा होता है कि क्या सत्ययुग और त्रेता में अधम मनुष्य होते ही नहीं थे?

ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सत्‌युग में हिरण्यकश्यप नामक एक नरेश हुए। अपनी वेधशाला में उन्होंने ऐसा आविष्कार कर लिया कि न दिन में मरे, न रात में मरे। न अस्त्र-शस्त्र से मरे, न पशु-पक्षी से, न मानव से। जब उन्होंने देखा कि हमें मरना ही नहीं है फिर भगवान की क्या आवश्यकता? अतः उन्होंने घोषणा करा दी कि मैं ही भगवान हूँ। जो भी मुझसे भिन्न किसी भगवान का नाम ले उसे मृत्युदण्ड दिया जाय। अपने सिद्धान्त का वह इतना कट्टर था कि अपने इकलौते बेटे प्रह्लाद को भी वह क्षमा नहीं कर सका। प्रह्लाद को भी फाँसी पर चढ़ा ही दिया। मारने के अनेक प्रयत्न किये गये किन्तु भक्त प्रह्लाद का रक्षक तो कोई और था। वस्तुतः यदि भगवान-एक अबोध शिशु का भी स्पर्श कर दे तो संसार में कोई शक्ति नहीं जो उसे मिटा दे। भगवान का वरदहस्त प्रह्लाद पर रहा और उसके माध्यम से उस युग में भक्ति की एक लहर सर्वत्र दौड़ गई।

इस प्रकार उस सत्य युग में भी ऐसी परिस्थिति आयी कि धर्म की चर्चा-मात्र करने पर मृत्यु-दण्ड का विधान था और तुलसीदास कहते हैं- 'ऐसे अधम मनुज खल' ऐसे अधम मनुष्य 'कृतयुग त्रेता नाहिं' सत्ययुग और त्रेता में होते ही नहीं। जबकि उसी सत्ययुग में ऐसे भयंकर लोग हुए कि भगवान का नाम लेने पर फाँसी की सजा देते थे। आज कोई फाँसी तो नहीं देता,

बहुत हुआ तो दस लोग छींटाकशी करेंगे किन्तु उतने ही प्रशंसक भी मिलेंगे कि दादा जी महात्माओं के यहाँ जाते हैं, तीर्थयात्रा करते हैं। चौथेपन की यही शोभा है; इत्यादि।

आइये, उस त्रेता पर दृष्टिपात् करें जिसका इतिवृत्त 'मानस' में चित्रित है। त्रेता में भी अधम नर थे। रावण 'धर्म सुनइ जो काना, आपुन उठि धावइ, रहइ न पावै' धर्म कानों से सुन भर पाता तो बौखला कर स्वयं चल पड़ता था, धर्म को नष्ट करने के लिये 'फोर्स' भेज देता था। अधर्मियों को नष्ट करने की आज्ञा नहीं थी, केवल धर्मको ही निर्मूल करने की योजना थी। चोर-डाकुओं को नष्ट नहीं करना था बल्कि राम-राम कहने वालों को नष्ट करने का आदेश था। ऋषि-महात्माओं से भी रक्त के रूप में कर वसूल किया जाता था। उनका अपराध मात्र इतना था कि भगवान का नाम लेते थे। गुप्त रूप से निशाचरों की टुकड़ियाँ चला करती थीं, जो धार्मिकों को अकेला पाते ही मारकर चट कर डालती थीं। वनवासी राम जब चित्रकूट से आगे बढ़े तो नर-कंकालों का एक पहाड़ मिला -

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया।। ३/८/६।।

हड्डियों का विशाल संग्रह देखकर भगवान राम ने मुनियों से पूछा कि ये नरकंकाल कैसे हैं? मुनियों ने कहा, 'आप तो अंतर्यामी हैं, जानते हुए भी क्यों पूछते हैं? परन्तु जब आप पूछते ही हैं तो बताना कर्तव्य होता है- 'निसिचर निकर सकल मुनि खाये' निशाचरों ने सम्पूर्ण मुनियों को खा डाला। यह उन्हीं की हड्डियों का ढेर है। आज आप नाम तो ले सकते हैं? कोई टैक्स तो नहीं लेता? वेद-पुराण कहने पर देश-निकाला तो नहीं मिलता? उस समय युग कौन-सा था? त्रेता! और गोस्वामी जी कहते हैं कि ऐसे अधम खल कृतयुग और त्रेता में होते ही नहीं!

कलि का एक अन्य लक्षण त्रेता के ही संदर्भ में देखें -

सौभागिनी विभूषण हीना। विधवन्ह के श्रृंगार नवीना। ७/९८/५

उस त्रेता में शूर्पनखा विधवा ही तो थी। उसका पति विद्युत् जिव्हा युद्ध में रावण द्वारा मारा गया तो वह उलाहना देते हुए बोली- "तू मेरा भाई है या शत्रु? तूने मेरे पति को मार डाला? आज से लोग मुझे विधवा कहेंगे।" रावण ने सान्त्वना दिया-'बहन! भूल तो मुझसे अवश्य हुई किन्तु हमारी जाति भी क्या कभी विधवा होती है? हम हजारों स्त्रियाँ रखते हैं, तुम हजारों पुरुष रख सकती हो। भाई खर-दूषण के साथ जाओ और जनस्थान में मनचाहा विचरण करो।" इसी क्रम में **"पंचवटी सो गइ एक बारा। देखि विकल भइ जुगल कुमारा।।"** जब वह राम के समक्ष पहुँची तो बहुत रूप-स्वरूप बनाकर मुस्कराकर बोली-'मन माना कछु तुम्हहि निहारी' तुम भी बहुत सुन्दर हो, ऐसी बात नहीं है। हाँ, काम चल जायगा। इसीलिए तो अभी तक कुमारी हूँ जबकि एक भी कुकर्म उससे छूटा नहीं था। शूर्पनखा जितना अधःपतन आज तो नहीं पाया जाता? फिर भी गोस्वामी जी की उक्ति है कि त्रेता में ऐसे अधम नर होते ही नहीं थे।

फिर जब त्रेता में अधम नर होते ही नहीं थे तो राम लड़े किससे? उनका चरित्र ही प्रत्यक्ष प्रमाण है कि त्रेता में भी अधम खलों का अस्तित्व था और केवल अस्तित्व ही नहीं था वरन् उनके अत्याचारों से धरती भी आकुल हो उठी थी।

महात्माओं को निशाचर खा जाते थे। यह बात अलग है कि महर्षि अगस्त्य, अत्रि, शबरी, सुतीक्ष्ण, वाल्मीकि इत्यादि कुछ ऐसे तपोधन थे जिनके ऊपर इन निशाचरों का बल काम नहीं करता था। इसीलिये ये जहाँ भी थे सुरक्षित थे। लेकिन निशाचरों ने आजमाया इनको भी। इनका भी पीछा किया, अछूता

नहीं छोड़ा। आतापी और वातापी दो निशाचर थे। उनका यह तरीका था कि पहले तो वे महात्माओं को निमन्त्रण दे आते थे। आमंत्रित महात्माओं के आने पर बड़ा भाई छोटे को काटकर भोजन बनाता था। विविध प्रकार के व्यंजनों का आस्वादन कर महात्मा जब प्रस्थान करते तो बड़ा निशाचर उन्हें प्रचुर दक्षिणा भी देता था क्योंकि वह जानता था कि दक्षिणा भी तो थोड़ी देर में लौटकर वापस आ जायगी। वे महात्मा जब कुछ दूर निकल जाते तो बड़ा भाई छोटे को पुकारता था और छोटा निशाचर सबका पेट फाड़ता हुआ निकल आता था। फिर दोनों निशाचर मरने वाले महात्माओं को गिन लेते। कुछ को ताजा ही खा जाते, कुछ को तल-भून कर और शेष को सुखाकर रख लेते। एक ही प्रयास में परिवार भर का, कई दिनों का प्रबन्ध हो जाता था।

इसी प्रकार का छल उन्होंने महर्षि अगस्त्य के साथ भी किया। जब वे उन्हें निमन्त्रित करने चले तो छोटे ने सावधान किया कि वे महात्मा बड़े खतरनाक हैं, उन्हें न छेड़ो। बड़े ने झिड़का, तुम तो बड़े कायर निकले! कैसा तपोधन? तपस्या क्या होती है? अस्तु, महर्षि अगस्त्य उस भक्त के यहाँ पहुँचे। आतिथ्य के पश्चात् जब वे लौटे तो बड़े भाई ने छोटे को आवाज दिया। महर्षि के पेट में हलचल होने लगी। ध्यान से देखा तो पता चला कि राक्षस पेट के भीतर है। तुरन्त उन्होंने कमण्डल से जल लिया, बाहर छिड़का, पेट पर हाथ फेरा और आतापी-वातापी स्वाहा करते ही भीतर का राक्षस भीतर और बाहर का राक्षस बाहर ही समाप्त हो गया। इस प्रकार महर्षि अपनी तपस्या के प्रभाव से बचे। वैसे, निशाचरों ने छोड़ा किसी को नहीं था। हिरण्यकश्यपु ने भी छोड़ा नहीं था। वह तो प्रह्लाद अपनी शक्ति से बच गया अथवा प्रभु को इतना अनुकूल कर चुका था कि बचता गया। इतने पर भी गोस्वामी कहते हैं, ऐसे अधम खल सत्ययुग और त्रेता में होते ही नहीं। वास्तविकता तो यह है कि आज से भी अधम नरों का प्रमाण उस युग में पाया जाता है।

फिर गोस्वामी तुलसीदास जी कहना क्या चाहते हैं? अन्त में वे स्वयं निर्णय देते हैं-

नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे।।
(७/१०३/१)

सभी युगों के धर्म सबके हृदय में नित्य होते रहते हैं। 'हृदय राम माया के प्रेरे' भगवान की माया की प्रेरणा से होते हैं। माया के दो रूप हैं - एक तो अविद्या माया है, जो विभिन्न योनियों का कारण होती है। दूसरी राममाया है जिसे विद्या भी कहते हैं। यह हरि-प्रेरित होती है और साधनात्मक क्रिया से ही उसकी जागृति सम्भव है। अविद्या माया की सीमा पार कर लेने पर राममाया की प्रेरणा से साधक के हृदय में क्रमशः चारों युगों के गुण-धर्मों का प्राकट्य होता है। वास्तव में यह भी भगवत्पथ की चार श्रेणियाँ हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था। अब पहचाना कैसे जाय कि हृदय में कौन सा युग आया? गोस्वामी जी पहचान बताते हैं -

शुद्ध सत्व समता विज्ञाना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना।।
(७/१०३/२)

जिसमें सत्त्वगुण ही कार्यरत हो, समता आ गई हो; विषमता सदा-सदा के लिए समाप्त हो गई हो, विज्ञान अर्थात् अनुभवी उपलब्धि हो, प्रत्येक समस्या पर इष्ट से निर्णय मिलने लगे, असीम प्रसन्नता की अनुभूति हो ऐसा पुरुष सत्ययुगीन है। इसी प्रकार -

सत्त्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब विधि सुख त्रेता कर धर्मा।।
(७/१०३/३)

सत्त्व अधिकांश मात्रा में हो कुछ राजसी गुण हों, कर्म अर्थात् आराधना

में पूर्ण अनुरक्ति हो, सब प्रकार की शान्ति हो- यह त्रेता का विशेष लक्षण है, जिसके हृदय में उपर्युक्त गुण हों उसे त्रेता श्रेणी का साधक कहा जाता है। पुनः-

बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस।।
(७/१०३/४)

राजसी गुणों के साथ-साथ सत्त्व एवं तामसी गुणों का किंचित् मिश्रण हो, हृदय में कभी हर्ष और कभी भय बना रहे तो साधक द्वापरयुगीन है। दुविधा से द्वापर बना है। यदि साधना में हरष-विषाद का आरोह-अवरोह लगा है, दुविधा बनी है तो साधक द्वापरयुगीन है। और अन्त में-

तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव विरोध चहुं ओरा।।
(७/१०३/५)

जहाँ अधिकांश तामसिक वृत्ति हो, रंचमात्र राजसी गुण हों, मन में चारों ओर बैर और विरोध भरा हो - ऐसा हृदय कलियुग का परिचायक है। यदि इस स्तर पर साधक जीवित है तो सिद्ध है कि वह कलियुगीन है। इस स्तर पर उसमें वे सभी लक्षण विद्यमान रहेंगे, जिनकी गणना गोस्वामी जी ने कलि-प्रसंग में की है।

जब मन में उच्छृङ्खलता है, वैर-विरोध ही है; बुद्धि विकल है तो भला मनुष्य-तन की सार्थकता क्या है? बड़े भाग्य से मानव-तन मिला तो कल्याण कैसे हो? ऐसी स्थिति में हम भजन कहाँ से आरम्भ करें?

बड़े भाग्य मानुस तन पावा। सुर दुर्लभ सबग्रन्थन्हि गावा।।
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जे परलोक सँवारा।।

बड़े भाग्य से मानव-तन मिला है। अरे, पशु-पक्षी सभी तो जी रहे हैं।

कौआ भी सुखी है। बड़े ताव से उड़ता है, पेड़ पर बैठता है: फिर मनुष्य में कौन सा बड़ा भाग्य है? इसलिये कि शेष चौरासी लाख योनियाँ केवल भोग भोगने के लिये हैं किन्तु मनुष्य स्वयं कर्मों का रचयिता है। बुरे से बुरे संस्कारों को काटने की इसमें क्षमता है, बशर्ते कि कर्म की क्रिया को समझ ले। अपने लक्ष्य को मन में, हृदय में स्थान भर दिये रहे। यह साधन का धाम, मुक्ति का दरवाजा है। इसको पाकर जिसने अपना निजी परलोक नहीं सुधार लिया (किसी पर एहसान न करें, किसी की भलाई न करें, केवल अपनी भलाई तो कर लें) -

सो परत्र दुःख पावइ, सिर धुनि धुनि पछताय।
कालहिं कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाय।।

जिसने मानव-तन को पाकर निज परलोक नहीं सुधार लिया, वह जन्मान्तरों में दुःख पाता है, सिर धुन-धुन कर पछताता है और काल-कर्म-ईश्वर को व्यर्थ दोष देता है। यदि मानव-तन उपलब्ध है और अपना परलोक नहीं सुधारा तो वस्तुतः सब दोष उसी का है। प्रायः मनुष्य दो-तीन बहाने कर लिया करता है, 'करम में नहीं लिखा है'- कर्म को दोष देना, 'समय अनुकूल नहीं है'- काल को दोष देना, 'कर्ता-धर्ता तो भगवान हैं वे कराते ही नहीं' -इस प्रकार भगवान को दोष देना जीवों का स्वभाव बन गया है। लेकिन यहाँ भगवान राम कहते हैं कि यदि मानव-तन उपलब्ध है और कोई निज परलोक नहीं सुधार लेता तो न काल का दोष है, न करम का है और न ईश्वर का है। वस्तुतः सब दोष उसी का है। मनुष्य कर्मों का रचयिता है- 'मेटत कठिन कुअंक भाल के।' भाल में यदि असाध्य कुअंक, नरक और यातनाएँ लिखी हैं तो आप उसे मिटा सकते हैं बशर्ते कि नाम की युक्ति उपलब्ध हो। अब हमें यह देखना है कि यह मानव-तन तो उपलब्ध हुआ किन्तु तामसी गुण

का बाहुल्य है, कलियुग का बाहुल्य है तथा भजन में हमारा मन लगता ही नहीं। तब तो हमारा मानव होना ही बेकार हुआ। ऐसी परिस्थिति में हमारे लिए भजन का विधान है भी कि नहीं? किन्तु भजन का विधान तो है -

कृतयुग सब योगी विज्ञानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी।।

सत्ययुग में सब योगी और विज्ञानी होते हैं। भगवान का ध्यान करते ही स्वाभाविक ध्यान जम जाता है और पार हो जाते हैं। अर्थात् जब सात्त्विक गुण कार्य करेगा, अनुभवी उपलब्धि होगी; उस समय सहज ध्यान की क्षमता आप में होगी।

त्रेता विविध यज्ञ नर करहीं। हरिहिं समर्पि कर्म भव तरहीं।।

जब त्रेता की योग्यता होगी तब भगवान को सम्पूर्ण कर्म समर्पण करने की क्षमता होगी। 'यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि' श्वास-प्रश्वास का यज्ञ सभी यज्ञों में सर्वोपरि है। लेकिन यज्ञ की श्रेणी वाले जप का उतार-चढ़ाव इस श्वास के ऊपर है। यह न माला के ऊपर है, न जबान के ऊपर। त्रेता में विविध यज्ञ अर्थात् श्वास-प्रश्वास का यजन करने की क्षमता होगी, भगवान को कर्म समर्पण करने की क्षमता होगी तो समर्पण कर क्रिया में प्रवृत्त रहकर वह भवसागर का पार पा लेता है-

द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा।।

जब आप द्वापर की श्रेणी वाले होंगे तो ध्यान तो लगेगा नहीं क्योंकि मन में दुविधा लगी है तो 'पद पूजा' - भगवान के स्वरूप को हृदय में पकड़ना; चरणों में मन को केन्द्रित करना (ध्यान रहे यह केवल करने का प्रयास मात्र है, होता नहीं, बस अभ्यास करने की क्षमता होती है) ऐसा करके वह भवसागर का पार पाता है।

कलियुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावत भव थाहा।।

यदि हम कलियुग के स्तर वाले हैं तो केवल 'हरि गुन गाहा' भगवान का गुण-गायन, उनकी लीलाओं का चिंतन-जैसे रामायण में यह लिखा है, कृष्ण ने ऐसी लीलाएँ कीं,उन महापुरुषों का चरित्र ऐसा था, इत्यादि गुण गायन और नाम का जप के अतिरिक्त कलियुग से पार जाने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। जब मन विकल है, तामसी गुण हैं, वैर-विरोध भरा है, राग-द्वेष का संचार है, मन हवा से बातें करता है, उस समय यदि हम आँख मूँदकर बैठ जायँ तो शरीर तो बेशक बैठा रहेगा लेकिन जिस मन को ध्यानस्थ होना है वह तो हवा से बातें करता है, इसलिए वह नहीं लगेगा। ऐसी परिस्थिति में बैठे रहने से, समय नष्ट करने से क्या लाभ? इस परिस्थिति में लीलाओं के श्रवण करने और साधारण नाम-जप की स्वाभाविक क्षमता होती है। ऐसा करने से मनुष्य भवसागर का थाह पा जाता है।

प्रश्न खड़ा होता है कि क्या चार भवसागर हैं? तो नहीं, भवसागर तो एक ही है किन्तु उससे पार होने के लिए चिन्तन-पथ की चार श्रेणियाँ हैं। उन्हें ही सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि कहा गया। यदि हम कलियुग की श्रेणी के हैं, प्रवेशिका वाले हैं; तो इस अथाह भवसागर से पार होने के लिए साधना का आरम्भ गुण-गायन और नाम-जप से ही करना होगा। इससे हम भवसागर से सीधे पार नहीं हो जायेंगे बल्कि द्वापर में प्रवेश मिलेगा। जब हमारे अंतराल में पद-पूजा की क्षमता आ जायगी तो उसका अभ्यास करते-करते भवसागर का थाह पायेंगे। इतने से ही पार नहीं हो जायेंगे बल्कि चरणों का चिन्तन और उसे हृदय में पकड़ने के सतत् अभ्यास के फलस्वरूप त्रेता में प्रवेश मिलेगा। उस समय श्वास-प्रश्वास का यजन, ईश्वर में कर्मों का समर्पण करने की योग्यता हम में स्वाभाविक होगी और ऐसा करने पर ही मनुष्य भवसागर का पार पाता है। ऐसा नहीं है कि त्रेता से ही सीधे-सीधे पार लग जायँ बल्कि इतना कर

लेने पर सत्ययुग में प्रवेश मिलेगा। उस समय ईश्वरीय ध्यान की स्वाभाविक क्षमता होगी। जब लगाना चाहेंगे, जिस क्षण लगाना चाहेंगे, मन तुरन्त स्वरूप को पकड़ लेगा, केन्द्रित हो जायगा। अनुभवी उपलब्धि होगी। प्रत्येक समस्या का हल बुद्धि से न होकर ईश्वर के निर्देशन पर आधारित होगा। ऐसा करके मनुष्य भवसागर का पार पा जायगा।

इस प्रकार ये साधन पथ की चार श्रेणियाँ हैं। इसी को महापुरुषों ने कलियुग,द्वापर, त्रेता और सत्‌युग इन चार सोपानों में विभक्त किया है। महर्षि पतंजलि ने 'योग दर्शन' में इन्हीं का उल्लेख अति उत्तम, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणी के साधकों के रूप में किया है। गोस्वामी जी ने अरण्यकाण्ड में 'उत्तम के अस बस मन माहीं'- माताओं के माध्यम से इन्हीं चारों युग धर्मों का निरूपण किया है।

१-हम निःसन्देह कलियुगी है लेकिन चिन्तन के माध्यम से क्रमशः द्वापर, त्रेता, सत्ययुग और उसका भी पार पाकर ब्रह्म के दिग्दर्शन काल में उसके स्वरूप की स्थिति पा सकते हैं। अतः युगधर्म सबके हृदय में हैं और गुणों के परिवर्तन से युगधर्म बदले भी जा सकते हैं।

२- युगधर्म वहीं तक चलते हैं जब तक ईश्वर अलग है, हम अलग हैं। युगधर्म तब तक निरन्तर चलते हैं जब तक परमतत्त्व परमात्मा का आविर्भाव नहीं हो जाता। उस आविर्भाव के साथ ही साधना, युगधर्म और उसकी केन्द्रभूमि मन भी शान्त हो जाता है और इनमें प्रवाहित तीनों गुणों का भी विलीनीकरण हो जाता है। वही शाश्वत राममयी स्थिति है-

काल धर्म नहिं व्यापइ ताहि।
रघुपति चरन प्रीति अति जाहि।।

३- वास्तव में युगधर्मों के उतार-चढ़ाव की स्थली मन है, इसीलिए-

बुध युग धर्म जानि मन माहीं।
तजि अधर्म रति धर्म कराहीं।।

विवेकी लोग युग-धर्म को मन के अंतराल में जानकर अधर्म से धर्म की ओर, छोटे धर्म से महान धर्म की ओर क्रमशः अग्रसर होते हैं। स्पष्ट है कि युगधर्मों को बदला जा सकता है।

४- अब, यदि हम समाज का वास्तविक कल्याण चाहते हैं तो मिलकर सत्य के लिए प्रयास करें। जब बहुमत में सत्यप्रधान लोग होंगे तो सत्ययुग स्वाभाविक, स्वतः हो जायगा। समाज में आप परम कल्याण के स्रष्टा कहलायेंगे। लोक-कल्याण भी होगा और स्वयं तो कल्याण-भाजन होंगे ही।

५- अनभुवी अंतस्प्रेरक महापुरुष के द्वारा ही युगधर्मों का पार पाया जा सकता है। इससे सामान्य पाठक की अनेक भ्रान्तियों का भी निराकरण होगा और उन्हें अनन्त शाखाओं में से उचित मार्ग का चयन कर सकना संभव हो सकेगा कि वे किस कोण से प्रारंभ करें। वे तभी जान पायेंगे कि किस मार्ग पर चलकर वे वस्तुतः कल्याण के भागी हो सकते हैं। अतः किसी अनुभवी महापुरुष के लिए अंतःकरण में सदैव शोध की लालसा रखें।

प्रश्न-महाराज जी, गोस्वामी जी ने नारियों के माध्यम से युगधर्म का चित्रण क्यों किया?

उत्तर- आप स्त्री हों अथवा पुरुष, यह शरीर भजन नहीं करता। इष्टोन्मुख प्रवृत्ति ही भजन करती एवं कराती है जो स्त्री संज्ञा में आती है, इसीलिए नारियों को प्रतीक बनाकर उसका चित्रण किया गया।

ॐ

स्वार्थ

प्रश्न-- महाराज जी! दुनिया में स्वार्थियों की भरमार है। 'सुर-नर-मुनि' भी इससे नहीं बच सके। फिर स्वार्थ रहते परमार्थ कैसे होगा?

उत्तर- देखिये, अभी हमने पूछा था तो यह दस साल का लड़का! इसे भी ज्ञात है कि स्वार्थी अधिक हैं। साठ-सत्तर वर्षीय वयोवृद्ध भी कह रहे हैं कि हम स्वार्थी हैं, स्वार्थियों की भरमार है। किन्तु नहीं, वस्तुत: संसार में स्वार्थी कम हैं। स्वार्थ के दो स्वरूप हैं। एक स्वार्थ तो वह है जैसा अभी आपने कहा। इसी से अभिभूत होकर लोग रात-दिन झूठ-कपट तथा छल-छद्म करते रहते हैं। उनसे पूछा जाय कि ऐसा आप क्यों करते हैं, तो कहेंगे-स्वार्थ के लिए! यह एक प्रकार का स्वार्थ है, किन्तु यौगिक शास्त्रों में स्वार्थ की जो परिभाषा थी उसमें और इसमें पूरब और पश्चिम का अन्तर है। उस दृष्टि से देखें तो दुनिया में स्वार्थी कम हैं।

रामचरित मानस के अनुसार भरत स्वार्थी थे। माता कैकेयी ने भरत के लिए साम्राज्य की व्यवस्था कर दी। साम्राज्य भी ऐसा, जिसमें कोई कमी नहीं थी। यहाँ तक कि-

अवध राजु सुरराज सिहाई।
दशरथ धन सुनि धनद लजाई।। २।२२३।६

अवध का कोष इतना सम्पन्न था कि धनपति कुबेर भी लज्जित हो जाता था, सोचता था कि अवध की तुलना में तो मेरे पास कुछ भी नहीं है। और सम्मान कितना था?

आगे होइ जेहिं सुरपति लेई।
अरध सिंहासन आसन देई।। २।९७।४।।

देवराज इन्द्र भी अवध के नरेशों से आगे बढ़कर मिलते थे, अपना आधा सिंहासन उन्हें बैठने के लिए देते थे। सम्मान में इन्द्र के समकक्ष, ऐश्वर्य में कुबेर से भी उत्कृष्ट साम्राज्य की व्यवस्था अम्बा कैकेयी ने भरत के लिए कर दी फिर भी भरत विकल थे। कहीं कोई कमी कसक रही थी; उसकी पूर्ति के लिये वे चित्रकूट चल पड़े। रोते-विलखते जब प्रयाग पहुँचे, सुना कि यह प्रयागराज सब कुछ देने में सक्षम हैं, इन तीर्थराज का महत्त्व अगाध है तो भरत प्रार्थना करने लगे, भीख माँगने लगे-

मागउँ भीख त्यागि निज धरमू।
आरत काह न करइ कुकरमू।। २।२०३।७

ऐसा कौन सा कुकर्म है जो आर्त नहीं करता? मनुष्य भीख कब माँगता है? जब पेट नहीं भरता ! मनुष्य आर्त कब होता है? जब अर्थ की कमी होती है ! अर्थ तो कुबेर से भी अधिक था, फिर भरत आर्त क्यों थे? वस्तुतः एक अर्थ तो रुपया-पैसा है जिससे जीविका की व्यवस्था होती है, किन्तु एक सम्पत्ति आत्मिक भी है जो इस शरीर का नहीं बल्कि आत्मा का पोषण करती है। इसी आत्मिक सम्पत्ति के लिये भरत आर्त थे। चित्रकूट की सभा में भरत इसकी पुष्टि भी करते हैं-

कहउँ वचन सब स्वारथ हेतू।
रहइ न आरत के चित चेतू।। २।२६८।४

मैं जो कुछ कह रहा हूँ, अपने स्वार्थ के लिये कह रहा हूँ, आर्त के चित्त में चेत नहीं रहता। स्वार्थ के लिये भरत आर्त हैं, अपना धर्म त्याग कर गिड़गिड़ा रहे हैं, भीख माँग रहे हैं। माँगा भी तो क्या?-

सीताराम चरण रति मोरे।
अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे।। २।२०४।२।।

भिक्षा में उन्होंने भगवान के चरण कमलों का स्नेह माँगा। भरत की दृष्टि में भगवान के चरण कमलों का स्नेह ही एकमात्र स्वार्थ है।

भगवान राम तो नहीं लौटे लेकिन उनकी खड़ाऊँ मिली। भरत ने उसे सिर पर रखा, लौट पड़े और नन्दिग्राम में आकर बैठ गये। चिन्तन करते-करते सुरत की डोरी जब लग गई, उन खड़ाउँयों की पूजा में मन केन्द्रित हो चला तब उन्होंने अपने स्वार्थ को कुछ हल हुआ समझा। यद्यपि-

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई । घटइ तेज बलु मुख छबि सोई।
नित नव राम प्रेम पनु पीना । बढ़इ धरम दलु मनु न मलीना ।।
२।३२४।१-२।।

शरीर उत्तरोत्तर दुबला होता जाता था (खान-पान से बढ़ने वाला बल घटता जाता था) किन्तु 'मुख छवि सोई' मानसिक प्रसन्नता वही थी क्योंकि राम के प्रेम का प्रण नित्य नवीन तथा परिपुष्ट होता जा रहा था, इसीलिये मानसिक प्रसन्नता कम नहीं थी, मन मलीन नहीं था। यहाँ पर भरत ने अपने स्वार्थ को कुछ हल होते देखा और जब राम लौटे, उस दिन उन्होंने अपना स्वार्थ सम्पन्न पाया।

कागभुशुण्डि जी स्वार्थी थे। एक समय गरुड़ को सन्देह हो गया। वे नारद, ब्रह्मा इत्यादि के पास से होते हुए शंकर जी तक पहुँचे। शंकरजी ने कहा कि आपका संशय इतना शीघ्र दूर नहीं होगा-

तबहिं होइ सब संशय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा।।
७।६०।४।।

दीर्घकाल तक सत्संग करो, तभी तुम्हारा संशय दूर होगा। वह सत्संग जहाँ होता है, मैं तुम्हें वहीं भेज देता हूँ। शंकर जी ने गरुड़ को कागभुशुण्डि

आश्रम पर भेज दिया। आश्रम में जाते ही उनके सन्देह अधिकांश दूर हो गये, जब सत्संग आरम्भ हुआ तो सर्वथा निर्मूल हो गये। गरुड़ ने कहा अब मुझे कोई सन्देह नहीं है किन्तु भगवन्! आप समर्थ हैं, महाप्रलय में भी आपका नाश नहीं होता ऐसा भगवान शंकर ने बताया है और भगवान शंकर कभी झूठ नहीं बोलते-मुधा बचन नहिं ईश्वर कहई (६।९३।६)। जब आप इतने समर्थ हैं कि महाप्रलय में भी आपका नाश नहीं होता तो फिर आपने यह निकृष्ट काला कलूटा कौवे का तन क्यों धारण कर रखा है? कागभुशुण्डि जी ने इसका एक ही उत्तर दिया-

जेहि ते कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई।।
७।९४।८।।

जिससे अपना निजी स्वार्थ होता है, उस पर सभी ममता करते ही हैं। भला इस निकृष्ट काग-तन से कौन-सा स्वार्थ सिद्ध हुआ? महर्षि काग समाधान करते हैं-

राम भगति एहिं तन उर जामी । ताते मोहि परम प्रिय स्वामी।।
७।९५।४।

इसी निकृष्ट तन से मुझे राम-भक्ति उपलब्ध हुई, इसीलिए यह मुझे परमप्रिय है।

महर्षि ने यह भी कहा कि मैं सदैव कौवा ही रहा, ऐसी बात भी नहीं है। मैंने सुन्दर तन भी धारण किया था-

कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं।।
देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहिं की नाईं।।
७।९५।१।।

दानव-देव, कीट-पतंग, पशु-पक्षी, ऊँच-नीच ऐसी कौन-सी योनि है

जिसमें हमने भ्रमवश बार-बार जन्म न लिया हो। सभी प्रकार की क्रियाएँ करके भी मैं थक गया किन्तु इस बार कौवे के तन में, जिसे आप निकृष्ट कहते हैं, मुझे भक्ति उपलब्ध हुई है। इस बार मैं जैसा सुखी हुआ हूँ वैसा कभी नहीं रहा। ऐसा देव-तन भी किस काम का जो रामभक्ति से शून्य है? कागभुशुण्डि जी का निर्णय है कि रामभक्ति ही एकमात्र स्वार्थ है-

स्वारथ साँच जीव कहुं एहा ।
मन क्रम बचन राम पद नेहा।। (७।९५।१)

वस्तुतः जीवमात्र का सच्चा स्वार्थ मन-क्रम-वचन से भगवान के चरण कमलों में स्नेह का होना ही है। 'स्व' का अर्थ ही स्वार्थ है जिससे स्वयं की सिद्धि होती है, 'स्व' रूप की उपलब्धि होती है। धन-दौलत, विशाल साम्राज्य किसके रह गये? जब शरीर ही हमारा साथ नहीं देगा फिर इसके सुख के लिये संग्रहीत वस्तुएँ कब साथ देंगी? मकान-दुकान, पद-प्रतिष्ठा, राज्य-वैभव पा लेने पर भी वस्तुतः 'स्व' को कुछ नहीं मिलता क्योंकि हम शरीर तो हैं नहीं ! दूसरे, इन नश्वर भोगों में 'स्व' का वास्तविक कल्याण निहित नहीं, वह तो रामभक्ति से ही होगा। अतः जीवमात्र का वास्तविक स्वार्थ इसी में है कि इष्ट के चरण-कमल में स्नेह हो जाय। इससे आप परमात्मस्वरूप का दिग्दर्शन कर उसी स्थिति को प्राप्त करेंगे जहाँ से फिर कभी पतन नहीं होता। यही सच्चा स्वार्थ है।

कालान्तर में इस शब्द का अपभ्रंश हो गया। आंतरिक आशय को लोग बाह्य वस्तुओं में खोजने लगे। इसी को लक्ष्य करके गोस्वामी जी लिखते हैं -

करहिं मोह वश नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना।
।।७।४०।४।।

मोहासक्त मनुष्य नाना प्रकार के कुकृत्य करता है। अपनी सूझ-बूझ से तो वह स्वार्थ में ही अनुरक्त है किन्तु 'परलोक नसाना' यहाँ के भोग-विलास तो यहीं छूट जाते हैं, वह परलोक तक भी खो बैठता है क्योंकि मोहाच्छन्न नहीं जान पाता कि वास्तविक स्वार्थ तो मन-क्रम-वचन से भगवान के चरणों में स्नेह का होना ही है।

कहते तो सभी हैं कि हम मन-क्रम-वचन से भगवान का भजन करते हैं, तब तो सभी सच्चे स्वार्थी हैं? परन्तु नहीं, उसकी भी एक कसौटी है, भजन करने का एक विधान है। विभीषण जब शरण में गया तो राम ने स्वयं उस विधि पर प्रकाश डाला --

जननी जनक बन्धु सुत दारा।
तनु धनु भवन सुहृद परिवारा।।
सब कै ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी।।

माता-पिता, पुत्र, भाई, स्त्री, प्रिय परिवार परम हितैषी अथवा जहाँ तक मन का लगाव है, वहाँ-वहाँ से ममत्व के धागों को समेटकर एक रस्सी बना लें और सारे ममत्व का केन्द्र मेरा चरण बन जाय। मन को सब ओर से समेट कर मेरे चरणों में रस्सी बनाकर बाँध दें। ऐसा जो भी कर ले 'करउँ सद्य तेहिं साधु समाना।'- मैं तत्काल उसे साधु के समानान्तर स्थिति प्रदान कर देता हूँ, साध्य वस्तु को सम्भव करा देता हूँ।

इस प्रकार स्वार्थी बनने की कसौटी इतनी कठिन है कि सभी उस पर खरे उतरने की कल्पना भी नहीं कर सकते। मित्र-परिवार, सगे-सम्बन्धी सबका त्याग सबसे नहीं होता। किसी विरले से ही पार लगता है। इसीलिए गोस्वामी जी ने सच्चे स्वार्थियों की गणना कर डाली।

श्रद्धा एवं विश्वास के साथ स्वार्थ के लिए प्रयत्नशील अल्पभाव वाले भी एक दिन सुर-नर-मुनि की शुद्ध रहनी में परिवर्तित हो जाते हैं--

सुर नर मुनि सब कै यह रीती।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती।। (४।११।२)

मानव-जगत् में साधकों की तीन श्रेणियाँ ही ऐसी हैं जो केवल स्वार्थ के लिए प्रीति करती हैं। वे साधक न तो ऋद्धि के लिए लालायित होते हैं, न सिद्धि ही उन्हें आकर्षित कर पाती है, बल्कि मन-क्रम-वचन से इष्ट के चरणों में ही उनका लगाव रहता है। 'सुर' उन साधकों को कहते हैं जो दैवी-सम्पत्ति को हृदय में ढाल चुके हैं। दैवी सम्पत्ति जब हृदय में पूर्णतः प्रवाहित हो जाती है, उस समय आसुरी वृत्तियों का शमन हो जाता है, साथ ही सुरा में प्रवेश करने की क्षमता आ जाती है। अतः सुरा में विचरने की क्षमता वाले सुर कहलाते हैं। इष्ट के अतिरिक्त अन्य संकल्प-विकल्प उसके चिन्तन में बाधक नहीं होते। इसी प्रकार नर भी साधना का एक स्तर विशेष है। लिंग-भेद के आधार पर नारी और नर का लौकिक विभाजन यहाँ अभीष्ट नहीं है। 'मानस' के समापन पर गोस्वामी जी ने मानस-रोगों का निदान किया और अंत में 'नर' के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला--

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला । तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहुशूला।।
काम बात कफ लोभ अपारा । क्रोध पित्त नित छाती जारा।।
(७।१२०।२९-३०)

मोह सम्पूर्ण व्याधियों का मूल है। काम वात है। कफ लोभ है। क्रोध-पित्त है जो निरन्तर छाती जलाता रहता है-

प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई।।

काम, क्रोध, लोभ तीनों जब हृदय में एक साथ कार्य करने लगते हैं तो दुखदायी सन्निपात हो जाता है। वह व्यक्ति फिर जलपता-कलपता ही रह जाता है, भगवच्चरणों में उसे सोचने का अवकाश ही नहीं रहता। 'अहंकार अति दुखद डमरुआ'- अहंकार दुखदाई गँठिया रोग है। इसी तरह--

तृष्णा उदर-वृद्धि अति भारी। त्रिविध ईषना तरुन तिजारी।।

तृष्णा उदर वृद्धि के समान है जो बढ़ती ही जाती है। इस प्रकार बीसों रोगों की परिगणना के अन्त में गोस्वामी जी निर्णय देते हैं--

एक व्याधि बस नर मरहिं, ए असाधि बहु व्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ, सो किमि लहै समाधि।। ७।१२१ क।।

उपर्युक्त रोगों में से यदि एक भी व्याधि नर का स्पर्श कर दे तो 'नर मरहिं' नर मर जाता है। सिद्ध है कि नर कोई ऐसा स्वरूप है जिसमें लोभ-मोह, काम-क्रोध, मद-मत्सर इत्यादि मन के रोग नहीं होते। संयोग से, इनमें से यदि किसी व्याधि ने भी स्पर्श कर लिया तो वह व्यक्ति नरत्व से च्युत हो जाता है और जिसके पास सभी व्याधियाँ हों तो वे 'पीड़हिं संतत जीव जड़ सो किमि लहै समाधि।' वह व्यक्ति जीव और जड़ है, उसके समाधि लेने का तो कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता।

श्रोताओं से महाराज जी ने पूछा--बतावें, आप सब में काम है? क्रोध है? लोभ है? 'सभी भरे हैं महाराज'-- सबने उत्तर दिया। महाराज ने कहा, भला बताइये कि इनमें से एक भी रोग जिसका स्पर्श कर ले, वह नर मर जाता है। आप तो जी रहे हैं! मर क्यों नहीं जाते?

स्पष्ट है कि नर कोई ऐसा स्वरूप है जिसमें एक भी मानस-रोग नहीं होता। नर वह है जिसके ऊपर से 'माया रूपी नारि' का प्रभाव टल चुका

हो, भले ही वह आक्रामक के रूप में खड़ी हो। विकार खड़े हैं, लेकिन स्पर्श नहीं कर पाते। कदाचित् वे विकार सफल हो गये तो वह व्यक्ति नरत्व से च्युत हो जाता है। इसी तन को गोस्वामी जी ने मानुष तन की संज्ञा दी है--

बड़े भाग्य मानुष तन पावा।
सुर दुर्लभ सबग्रन्थन्हि गावा।। ७।४२।७।।

बड़े भाग्य से मानुष तन अर्थात् मन के अन्तराल में टिकने वाला तन प्राप्त होता है। यह देवताओं को भी दुर्लभ है-- ऐसा सद्ग्रन्थों ने गायन किया है। ऐसे नर-तन को प्राप्त कर जो भवसागर का पार पा नहीं लेता; गोस्वामाजी कहते हैं वही आत्महत्यारा है।

अतः सुर-नर-मुनि ही एकमात्र स्वार्थ-हेतु प्रीति करते हैं। भगवान के चरण कमलों में स्नेह ही सच्चा स्वार्थ है। इसी स्तर के स्वार्थी भरत थे, कागभुशुण्डि थे, हनुमान और लक्ष्मण थे। 'महाभारत' में अर्जुन भी इसी स्तर के स्वार्थी थे। उन्होंने कृष्ण से कहा कि धन-धान्य सम्पन्न त्रिलोकी के साम्राज्य से भी हमारा क्या प्रयोजन? सिद्ध है कि भौतिक उपलब्धियों से वह स्वार्थ--'स्वयं' का हित, स्वयं की उपलब्धि सम्भव नहीं है।

'स्वयं' को प्राप्त करनेवाले प्रत्येक महापुरुष का यही निर्णय है। योगदर्शनकार महर्षि पतंजलि एक महापुरुष थे। स्वार्थ के सन्दर्भ में उनकी भी मान्यता है- **सत्व पुरुषयोरत्यन्ता संकीर्णयोः प्रत्यया विशेषो भोगः। परार्थान्यस्वार्थ संयमात्पुरुष ज्ञानम्।।** पातंजल योग। विभूतिपाद।३५।। अर्थात् सत्व (बुद्धि) और पुरुष (आत्मा) दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। इनको कभी एक नहीं किया जा सकता। इनका जो सम्मिश्रण सा हो गया है, जिसे मानव विचार से विलग नहीं कर पाता, वही भोग है जिसकी दो प्रवृत्तियाँ परार्थ और स्वार्थ हैं। जब बहिर्मुखी परार्थ को दबाकर संयम स्वार्थ की कसौटी

पर आ जाता है तो 'पुरुष ज्ञानम्' परम पुरुष परमात्मा का ज्ञान हो जाता है। दुनिया में बहुसंख्यक जिसे स्वार्थ कहते हैं उसके द्वारा सम्पत्ति चाहे जितनी मिल जाय, किन्तु उससे परमात्मा मिलता दिखायी नहीं देता। अतः जिससे यह आत्मा परमात्मा का साक्षात् कर ले, वही स्वार्थ है।

साक्षात्कार किसका होगा? किसी रूप का? नहीं, वह तो मन की एक कल्पना है। **"गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।"** आप शरीर तो हैं नहीं, मन भी नहीं हैं। आप तो आत्मा हैं जो शाश्वत है, एकरस है उस आत्मा का दिग्दर्शन हो जाय, पुनः योनियों का चक्कर न काटना पड़े, तभी पुरुष का स्वार्थ सिद्ध होता है।

महाभारत का प्रस्तुत आख्यान इसी तथ्य का प्रतिपादन करता है। एक यक्ष शापवश अजगर बनकर जलाशय पर पड़ा हुआ था। उसके चार प्रश्नों का उत्तर दिये बिना जो भी जलाशय से जल लेने का प्रयास करता वहीं निश्चेष्ट होकर उसका आहार बन जाता। यथार्थ उत्तर पाते ही अजगर की शाप से मुक्ति का विधान था। बनवास काल में विचरण करते हुए एक बार पाण्डव उसी जलाशय के पास आये। युधिष्ठिर ने सहदेव को जल लेने भेजा। अजगर ने अपना प्रश्न रखा। सहदेव ज्ञानी तो थे किन्तु उन गूढ़ प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाये। धर्मराज की आज्ञानुसार जल ले जाना भी आवश्यक था। सहदेव ने अजगर की उपेक्षा करके जहाँ जल का स्पर्श किया, निश्चेष्ट हो गये। क्रमशः नकुल, अर्जुन और भीम की भी यही दशा हुई। अन्त में धर्मराज युधिष्ठिर पहुँचे। पूछा-- महाभाग अजगर ! आप कौन हैं? मेरे शूर-वीर भाई संज्ञाशून्य कैसे हो गये? मैं प्यासा हूँ, मुझे जल चाहिए। अजगर ने उनसे भी अपना प्रश्न दुहराया--का च वार्ता, किमाश्चर्यम् कः पन्था कश्च मोदते' अर्थात् वार्ता क्या है? आश्चर्य क्या है? रास्ता कौन है? और सुखी कौन है?

युधिष्ठिर ने समाधान किया कि मोहरूपी कड़ाह में जीवों को रातदिन काल पका रहा है, इसमें उपयोगी वार्ता वही है जो तत्त्व का निर्णय प्रदान करे। मनुष्य एक-एक करके काल के गाल में सिमटते जा रहे हैं फिर भी बचे हुए लोग अपने को अजर-अमर मानते हैं; काल से बचने का प्रयास नहीं करते; इससे बड़ा आश्चर्य क्या होगा? 'महाजनः येन गतः स पन्था'- जिस रास्ते से महापुरुष, भगवान के महान् भक्त निकल गये, वही हमारा अभीष्ट पद है। इसी प्रकार परमतत्त्व में स्थित निस्पृह महापुरुष ही वस्तुतः सुखी हैं जिनके पीछे दुःख नहीं है।

इन उद्बोधनों को सुनकर अजगर की जड़ता समाप्त हो गई। वह पुनः यक्ष के स्वरूप में परिणत हो गया। बोला--राजन्! आपकी जानकारी यथार्थ है। हम आपसे प्रसन्न हैं। आप जिसे कहें, आपके एक भाई को हम जीवित कर सकते हैं। युधिष्ठिर ने नकुल या सहदेव में से किसी को जिलाने की सम्मति व्यक्त की। यक्ष ने कहा कि भीम और अर्जुन जैसे भाई वन में निशाचरों से आपकी रक्षा करते हैं, उन्हें छोड़कर इन बच्चों से आप कौन-सा स्वार्थ सिद्ध करेंगे?

युधिष्ठिर ने कहा कि शरीर तो नश्वर है। किसी दिन तो यह चला ही जायगा। अतः धर्म की रक्षा ही जीवात्मा का एकमात्र स्वार्थ है। मुझे अपनी रक्षा का भय नहीं अपितु धर्म का भय है। कुन्ती का एक पुत्र मैं जीवित हूँ, नकुल या सहदेव के जीवित रहने पर माद्री का भी वंश जीवित रहेगा। धर्म यही कहता है। युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा देखकर यक्ष ने सबको जीवित कर दिया।

अतः प्रचलित भ्रम का परित्याग करके हम सबको वास्तविक अर्थों में स्वार्थी बनने का प्रयास करना चाहिए।

ॐ

विद्या

प्रश्न-- महाराज जी! आजकल बहुत से पढ़े-लिखे बेकार भटक रहे हैं, उनको नौकरी नहीं मिलती। लगता है कि विद्या अनावश्यक है। विद्यालयों में बच्चों का समय अकारण क्यों नष्ट किया जाय?

उत्तर- देखिए, शिक्षा का अर्थ नौकरी नहीं होता। आप जब एम.ए. अथवा किसी क्षेत्र में 'रिसर्च' तक पहुँच गये तब देश को आपके जीवन की चिन्ता नहीं होनी चाहिए। इसलिए कि आप अब सक्षम हैं, अपनी जीविका का स्रोत स्वयं ढूँढ निकालेंगे। इसी का नाम तो शिक्षा है। पूर्ण शिक्षित होने के बाद भी यदि आप किसी की आशा करते हैं तो आपके पास शिक्षा कहाँ है? आप कोई व्यवसाय, कोई हुनर तुरन्त शोध निकालेंगे, ऐसी कला जिसमें मनुष्य को ठेस न पहुँचे। यह नहीं कि डाका डालने लगे, नहीं तो चन्द दिनों में ही मारे जायेंगे। आजकल ऐसी उलटी खोपड़ी वालों की औसत आयु बीस से तीस वर्ष तक ही होती है क्योंकि अठारह वर्ष के बाद ही उनका सिर घूमता है। पहले दो-चार वर्ष तो लड़कपन में बीतते हैं कि चलो लड़का है, भूल हो गयी फिर पचीस वर्ष तक आते-जाते लोग सोचेंगे 'सीरियस' है, खतरनाक है, फिर तो वह अकेला छिपने वाला और हजारों उसका पीछा करेंगे; कब तक बचेगा? अतः यह मानवता नहीं है।

अब यदि आप इधर देखें तो ये भेंड़ चराने वाले गड़ेरिये, इनके पास कोई शिक्षा नहीं है, लेकिन ये सुखी हैं। खाते-पीते परिवार आज के बुद्धिजीवियों से अधिक सुखी हैं क्योंकि इनकी चिन्ताएँ, आवश्यकताएँ कम हैं। दण्ड-बैठक लगाया, भेंड़ चराया, दूध पीया, जो मिला पेटभर खाया, केवल मटर मिला तो उसी की रोटी बनी। न इन्हें कभी अजीर्ण होता है न अरुचि होती है। साठ वर्ष की आयु हो गयी लेकिन इन्हें कभी भी वैद्य

की आवश्यकता नहीं पड़ी। अभी कुछ दिनों पहले इन्होंने आश्रम के बगल में भेंड़ रखा था। रात भर मूसलाधार वर्षा होती रही। सबेरे हमने इनसे पूछा कि रात तो तुमलोगों को बड़ा कष्ट रहा। रातभर पानी में भींगते रहे तो वो बोले-- नहीं, महाराज! 'लोमड़ के जाड़ा और अहिर, गड़ेरिया के वर्षा हितात है।' हम लोगों को कोई कष्ट नहीं रहा। रात को कपड़े भींग जाते हैं तो सुबह सुखा लेते हैं। दिन भर के भींगे वस्त्र शाम को सुखा लेते हैं। रात वाले कपड़े सुबह पहन लेते हैं? इसी क्रम से चलता रहता है। हमने पूछा-- क्या कपड़े सूख जाते हैं? वे बोले, 'पानी चूना बन्द हो गया, बाकी शरीर पर सूखते रहेंगे।' न उनको शीत होती है, न गर्मी। यहाँ कोई भींगे वस्त्र पहनकर रहे या दो घण्टे भींग ले तो बीमार पड़ जाय। दवा खानी पड़ेगी लेकिन इनके स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव नहीं पड़ता। इनमें प्रकृति को सहन करने की क्षमता है। हमने पूछा-- तुम्हें कोई चिन्ता तो नहीं है? तो बोला-- नहीं महाराज! कोई चिन्ता नहीं। हमने पूछा-- कोई दुःख? तो सोचते-सोचते बहुत देर के बाद उनमें से एक बोला-- हमको तो कोई दुःख समझ में नहीं आता महाराज! यही जब सबेरे आँख खुलती है तो सोचते हैं कि भेंड़ इधर हाँके या उधर और जब भेंड़ चल पड़ीं तब फिर चौबीस घण्टों के लिए कोई चिन्ता नहीं। हमने कहा-- तुम्हें अपने स्त्री-बच्चों की चिन्ता नहीं सताती। मान लो, कोई बीमार पड़ जाय तो? वह बोला-- घर में जो सयान होगा देखेगा। अब हम भेड़ौं चराई और घरौं देखीं?' बोलिये! कितने स्वस्थ हैं ये लोग, शरीर और मस्तिष्क से। कोई चिन्ता नहीं, कोई दुःख नहीं। इतने के लिए ही तो दुनिया तरसती है। इधर बुद्धिजीवी दिन-रात घुलता रहता है कि हमारी इज्जत हमारी मर्यादा, हमारा 'स्टैन्डर्ड'; इसे कैसे बनाये रखें?

अब देखा जाय तो प्रकृति-पुत्र गड़ेरिये इत्यादि अधिक स्वस्थ, चिन्ताविहीन और सुखी दिखाई देते हैं, हैं भी; लेकिन नहीं, ऐसे रहने से दुनिया जीने

नहीं देगी। अशान्त प्रकृति वाले शान्तिप्रिय लोगों को जीने नहीं देते। चीन ने तिब्बत को हड़प लिया। भारत में भी शस्त्रविद्या किसी समय बहुत चढ़ी-बढ़ी थी, भारत सम्पूर्ण विद्याओं में निपुण था किन्तु महाभारत के पश्चात् शस्त्र-विद्या में न्यूनता आ गयी। स्वाभाविक रूप से जो शस्त्र उपलब्ध थे उसी से लोग काम चलाने लगे। जब बाबर इत्यादि की लड़ाई हुई तो बाबर के पास तोपखाना था, जो भारतीयों के पास नहीं था। इधर केवल भाला और तलवार चलाने वालों की भीड़ थी। इसलिए राजपूतों को हारना पड़ा। यह तोपखाना भी भौतिक शिक्षा की ही देन है। इससे भी उन्नत शिक्षा अंग्रेजों के पास थी। जिसके बल पर उन लोगों ने एक बार तो सम्पूर्ण विश्व पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। गड़ेरिए की तरह शान्त-प्रकृति जीवियों को उन्होंने काटकर फेंक दिया, जैसा अंग्रेजों ने आस्ट्रेलिया में किया। या तो उन्हें पशुओं की तरह गुलाम बनाकर बेंच दिया अथवा अपने फार्मों पर उनसे बेगार कराया। यह मात्र शिक्षाहीनता का कुपरिणाम था। संसार में यदि हमें कुशलतापूर्वक जीना है तो शिक्षा अपरिहार्य है। इतना ही नहीं, अपितु शिक्षा के अभाव में हम अपनी अध्यात्म विद्या को सँजोकर रख नहीं सकेंगे। कोई कुछ भी सुझाव देगा, हम शिक्षा के अभाव में उसे स्वीकार कर लेंगे। इसीलिए आज भी कहीं पीपल की पूजा होती है तो कहीं कुत्ते की। चित्रकूट में तो लोमड़ी की माँद पूजने की प्रथा है। इस प्रकार धर्म की जानकारी को सँजोकर रखने के लिए भी शिक्षा परम आवश्यक है।

शिक्षा से लाभ चाहे जितने हों किन्तु वह विद्या नहीं है। विद्या कुछ और ही है। आजकल भ्रमवश भौतिक जानकारी को विद्या और उसके जानकार को विद्वान कहा जाता है किन्तु वस्तुतः विद्या और शिक्षा में महान् अन्तर है। दुनिया में जीवन की दो धारायें हैं-- एक तो जीवनयापन और दूसरी परमतत्त्व परमात्मा की प्राप्ति। कुशलतापूर्वक जीवनयापन के लिए शिक्षा

आवश्यक है किन्तु यह आत्मा जिसका अंश है उस परमात्मा तक पहुँचाने वाली तथा उस अमृत तत्त्व को प्राप्त करा देने वाली युक्ति विशेष का नाम विद्या है। आजकल के विद्यालयों, विश्वविद्यालयों में दी जानेवाली शिक्षा विद्या नहीं है।

मुण्डकोपनिषद (प्रथम मुण्डक, प्रथम खण्ड। ४-५) में कथा आती है कि शौनक नामक एक प्रसिद्ध मुनि थे, विश्वविद्यालय के अधिष्ठाता थे। पुराणों के अनुसार उनके ऋषिकुल में अट्ठासी हजार ऋषि पढ़ते थे। किन्तु वास्तविक विद्या का ज्ञान उन्हें भी नहीं था। अतः एक बार वे उस समय की परम्परा के अनुसार हाथ में समिधा लेकर महर्षि अंगिरा की शरण में गये। विनयपूर्वक पूछा--

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातो भवति?

भगवन्! किसके जान लेने पर यह सब कुछ ज्ञात हो जाता है? कृपया बताइए उसे कैसे जाना जाय? महर्षि अंगिरा ने बताया--

द्वेविद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्
ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ।।४।।
तत्रा परा ऋग्वेदो यजुर्वेदः साम वेदोऽथर्व-
वेद शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो
ज्योतिषमिति! अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।।५।।

विद्याएँ दो प्रकार की हैं। इन दोनों में से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष इत्यादि अपरा विद्या के अन्तर्गत आते हैं किन्तु जिस विद्या से वह अविनाशी परमात्मा जाना जाता है वह परा विद्या है। अंगिरा की मान्यता है कि वेद, व्याकरण, ज्योतिष

कोई चाहे जितना पढ़ ले, इतना पढ़े कि रट ले; फिर भी अविनाशी परमात्मा को नहीं जान सकता। जिस विद्या से परमात्मा का साक्षात्कार होता है वह विद्या ही दूसरी है। उस विद्या के लिए अंगिरा की सलाह है--

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

उस परब्रह्म की प्राप्ति करा देने वाली विद्या के लिए हाथ में समिधा लेकर वेद को भली-भाँति जानने वाले ब्रह्म में स्थित सद्‌गुरु की शरण में जाना चाहिए, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

इसी से मिलता-जुलता आख्यान छान्दोग्य उपनिषद (प्रथम अध्याय/ प्रथम खण्ड) में मिलता है। एक बार नारदजी ने सनत्कुमार से उपदेश करने की प्रार्थना की। सनत्कुमार ने उनसे कहा, "तुम जो कुछ जानते हो उसे बताओ तो मैं तुम्हें उससे आगे बताऊँ?" नारद ने बताया कि भगवन्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद जानता हूँ। मैंने इतिहास-पुराण भी पढ़ा है जिसे पाँचवाँ वेद कहा जाता है। वेदों के वेद व्याकरण, श्राद्ध, कल्प, गणित, उत्पात ज्ञान, निधि शास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या (निरुक्त) ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या, नृत्य तथा संगीत इत्यादि का भी मैंने अच्छी तरह अध्ययन कर लिया है। भगवन्! यह सब जाँनकर भी मैं केवल मन्त्रों का जानने वाला ही हूँ, आत्मा को नहीं जान सका। मैंने आप-जैसों से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक को पार कर जाता है किन्तु मैं तो शोक करता हूँ। अतः भगवन्! मुझे शोक से पार कर दीजिए। सनत्कुमार ने उपर्युक्त शिक्षा को वाणी का विलास मात्र माना और इससे आगे क्रियात्मक उपासना पर जोर दिया। बृहदारण्यक उपनिषद (चौथे अध्याय, चौथे ब्राह्मण की २१ वीं ऋचा) में भी निर्देश है कि बहुत से शब्दों का अध्ययन न करें क्योंकि वह तो वाणी का श्रम मात्र है। वाणी के श्रम से वह ब्रह्म

मिल ही नहीं सकता। तैत्तिरीय उपनिषद् की श्रुति है--

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

(तैत्ति. ब्रह्मानन्द वल्ली, नवम अनुवाक्)

मनसमेत वाणी इत्यादि इन्द्रियाँ जिसे न पाकर लौट आती हैं--

मन समेत जेहिं जान न बानी।। (रामचरित मानस १।३४०।७)

पुस्तकीय ज्ञान को तैत्तिरीय उपनिषद में शिक्षा की संज्ञा दी गई है-

"शीक्षां व्याख्यास्यामः! वर्ण स्वरः! मात्रा बलम्! साम सन्तानः! इत्युक्त शीक्षाध्यायः।।"

आचार्य कहते हैं कि अब हम शिक्षा का वर्णन करेंगे। जिसमें वर्ण, स्वर, ह्रस्व-दीर्घादि मात्राएँ, वर्णों के उच्चारण में लगाए गये बल, उनकी गेयता एवं सन्धि इत्यादि के नियमों की शिक्षा दी जायगी। तत्पश्चात् लौकिक विद्या, नक्षत्र विद्या, प्रजनन विद्या, आयुर्वेद, धनुर्वेद, व्यायाम आदि शारीरिक संहिताओं का वर्णन, किन्तु साथ ही 'अधिविद्यम्' विद्या के विषय में भी जानकारी दी गयी है।

उल्लेखनीय है कि तैत्तिरीय उपनिषद के तीन भाग हैं-- शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्द वल्ली और भृगुवल्ली। शिक्षावल्ली में दी गयी शिक्षा के अनुसार अपना जीवन बना लेनेवाला मनुष्य इस लोक और परलोक के सर्वोत्तम भोगों को पा सकता है तथा ब्रह्मविद्या ग्रहण करने योग्य बनता है। इस वल्ली में विद्वान् मनीषी ने शिक्षा द्वारा लौकिक-पारलौकिक ऐश्वर्य की प्राप्ति का शास्त्रानुमोदित मार्ग तो बताया किन्तु इन भोगों को नश्वर बताते हुए उनकी मुख्य दृष्टि ब्रह्मविद्या पर ही है। दूसरी वल्ली में उन्होंने ब्रह्मानन्द की महत्ता पर प्रकाश डाला और अन्तिम भाग में उन्होंने उस क्रियात्मक विद्या का वर्णन

किया जिस पर चलने का निर्देश वरुण ने अपने पुत्र भृगुऋषि को दिया था।

उपनिषदों का निर्णय है- "सा विद्या या विमुक्तये!" विद्या वह है जो मुक्ति दिला दे। इसी भाव को शंकराचार्य ने प्रश्नोत्तरी में व्यक्त किया है, **"विद्या हि का ब्रह्म गति प्रदाया ! बोधो हि को यस्तु विमुक्ति हेतुः।।"**

बोध वही है जो पूर्ण मुक्ति का हेतु है। यह नहीं कि सब कुछ सुन लिया तो ज्ञानी बन गये। सब कुछ सुन लेनें के बाद भी चलना तो शेष ही रहता है। वह दूरी बातों से नहीं; चलकर ही समाप्त की जा सकती है। इसीलिए भगवत्पथ में हजार शास्त्रों को पढ़ने की अपेक्षा उस पथ पर एक कदम चलनेवाला भी अधिक महत्त्व रखता है। इसी प्रकार विद्या उसे कहते हैं कि जिसके पास आवे उसे घसीटकर ब्रह्मगति प्रदान कर दे। जो विद्या ब्रह्म से इंच भर भी दूर रखती हो, उसके अन्तराल में अविद्या ही कार्यरत है। आजकल की पढ़ाई से क्या ब्रह्मगति मिलती है? अधिक से अधिक अच्छा खाने-पहनने की व्यवस्था हो जाती है। अतः आज की पढ़ाई को विद्या माननेवाले या कोरे पुस्तकीय ज्ञान का ढिंढोरा पीटनेवाले वस्तुतः भ्रम में हैं। ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके मुण्डकोपनिषद में कहा गया है-

अविद्यायामन्तरे वर्तमानः स्वयं धीरं पण्डितं मन्यमानाः।
जघन्यमानाः परियन्ति मूढाः अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।

अविद्या में स्थिर होकर भी अपने आप को बुद्धिमान औप पण्डित माननेवाले मूर्ख लोग बार-बार कष्ट सहते हुए वैसे ही भटकते रहते हैं जैसे अन्धे के निर्देशन में चलता हुआ अन्धा भटकता रहता है।

कबीर साहब का भी यही विचार है--

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय।।

इसी वेदना को पूज्य परमहंस जी महाराज प्राय: व्यक्त करते थे-- होऽऽ का कही, कैसे कही , दू दू पैसे में वेदान्त बिकत है। सार पढ़तौ जात है; लिखतौ जात है; लेकिन साधन एक ऐसी वस्तु है जो कभी लिखने में नहीं आती। (उस समय गीता प्रेस में छपने वाली गीता दो-दो पैसे में बिकती थी।)

उस विद्या को सभी पढ़ भी तो नहीं सकते। कठोपनिषद् में प्रसंग आता है कि महर्षि उद्दालक की आज्ञा शिरोधार्य कर उनका पुत्र नचिकेता यमराज के समक्ष उपस्थित हुआ। यमराज ने नचिकेता से वर माँगने को कहा। नचिकेता ने उनसे ब्रह्मविद्या का रहस्य जानना चाहा तो यमराज ने उसे पृथ्वी के दुष्प्राप्य भोगों तथा स्वर्ग के दिव्य भोगों का प्रलोभन दिया किन्तु नचिकेता उन सबको ठुकराता गया। यमराज उसके वैराग्य की प्रशंसा करते हुए उसे विद्या का अधिकारी घोषित करते हैं--

दूर मेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनंनचिकेतसं मन्ये न त्वां कामा बहवोऽलोलुपन्त।।

(द्वितीय वल्ली, १४)

विद्या और अविद्या ये दोनों परस्पर अत्यन्त विपरीत और भिन्न फल देनेवाली हैं। नचिकेता! तुम्हें मैं विद्या का ही अभिलाषी मानता हूँ क्योंकि तुमको बहुत से भोग भी लुभा न सके। सिद्ध है कि विद्या का अधिकारी वही जिज्ञासु बन सकता है जिसने पुत्र-पौत्र, सम्पत्ति-प्रतिष्ठा एवं स्वर्गिक सुखालयों के चिरभोग सुख तक को भी तिलांजलि दे दी हो। अनाधिकारी को विद्या देने पर गुरु और शिष्य दोनों को ही पश्चाताप करना होता है। 'मानस' में कागभुशुण्डि जी की अनुभूति है--

अधम जाति मैं विद्या पाये। भयऊँ यथा अहि दूध पियाये।।

दूध पीकर पुष्ट हुआ सर्प सबसे पहले दूध पिलाने वाले को ही काटता है। कागभुशुण्डि जी के पूर्व जीवन में इसकी परिणति गुरु अवमानना के रूप में हुई। आजकल विद्यार्थियों का प्रवेश लेते समय इन योग्यताओं पर कहाँ विचार होता है? अतः वर्तमान शिक्षा विद्या नहीं है।

उपनिषदों में विद्या का फल परमात्मा बताया गया है। ईशावास्योपनिषद का मन्त्र है-'विद्ययाऽमृतमश्नुते।' विद्या के द्वारा मनुष्य अमृत को भोगता है। केनोपनिषद (२।४) में भी 'विद्या विन्दतेऽमृतम्' विद्या से अमृत स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति का प्रमाण मिलता है। गीता के नवम अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण भी यही कहते हैं--

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।९।१।।
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।९।२।।

अर्जुन ! अब मैं तेरे प्रति उस ज्ञान को विज्ञान सहित कहूँगा जिसको जानकर तू इस संसार-बन्धन से भली-भाँति मुक्त हो जायगा। यह ज्ञान सभी विद्याओं का राजा है, राजविद्या है। स्पष्ट है कि विद्या कोई ऐसी वस्तु है जिसे जानकर व्यक्ति दुःखरूपी संसार से मुक्त हो जाता है। यह विद्या अव्यक्त है, स्लेट पर लिखी जाने वाली नहीं है। यह लिखने-पढ़ने से नहीं आती बल्कि अव्यक्त से प्रवाहित एक धारा विशेष है जो परम कल्याण करनेवाली है। 'मानस' में गोस्वामी तुलसीदास भी इस विद्या का फल बताते हैं--

नाना करम धरम व्रत दाना।
संजम दम जप तप मख नाना।।
भूत दया द्विज गुरु सेवकाई।
विद्या विनय विवेक बड़ाई।।

जहँ लगि साधन वेद बखानी।
सब कर फल हरि भगति भवानी।। (७।१२५।५-७)

भूतों पर दया, द्विज को जीतने वाले सत्पुरुषों की सेवा, सद्गुरु की सेवा, विद्या इत्यादि सबका शुद्ध फल यही है कि भगवान की भक्ति हृदय के अन्दर अबाध रूप से प्रवाहित हो जाय। यदि ऐसा कुछ नहीं है तो और चाहे जो हो, वह विद्या नहीं है। विद्या तो उस परमतत्त्व की ओर बढ़ाने वाली विधि-विशेष का नाम है। इसी को विद्या-अविद्या, सजातीय-विजातीय, दैवी सम्पद्-आसुरी सम्पद्, धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र इत्यादि नामों से इंगित किया गया है।

परमगति प्रदायिनी विद्या को सोलह साल नहीं पढ़ना पड़ता--

गुरु गृह गये पढ़न रघुराई। अलप काल विद्या सब आई।।
(१।२०३।४)

अल्पकाल में 'विद्या सब आई' सम्पूर्ण विद्या आ जाती है। गुरुओं के घर की विद्या बहुत थोड़े समय में आनेवाली है। यह नहीं कि जन्मभर वेद शास्त्र रटना पड़े। यह विद्या इष्टप्रेरित है, अनुभव गम्य है जो अनुभवी महापुरुषों के सान्निध्य से ही हृदय में जागृत होती है।

'मानस' में प्रसंग आता है कि दस हजार जन्म भोगकर कागभुशुण्डि मानव तन में आये। इसके पूर्व भी वे साधु ही थे, लेकिन दम्भी थे। मूर्ख नहीं थे उग्र बुद्धि थी-'उग्र बुद्धि उर दम्भ विशाला।।' गुरु हितकर उपदेश देते थे, विद्या ही देते थे किन्तु थोड़े समय में उसे रट लेने के बाद उनके अन्दर यह भाव उठा कि अब गुरु महाराज में क्या रखा है? जो था वह सब हमें आ गया। 'गुरु नित मोहिं प्रबोध, दुखित देखि आचरण मम' गुरुदेव नित्य ही वास्तविक प्रबोध करते थे। मेरे आचरणों को देखकर दुःखी होते थे (यहाँ भी गुरुओं के घर की शिक्षा और आजकल की शिक्षा में अन्तर है। आजकल

के शिक्षक कक्षाओं में सामूहिक व्याख्यान देते हैं, छात्रों के पल्ले जितना पड़ता है ग्रहण करते हैं और इसके पश्चात् शिक्षक छात्रों को प्रारब्ध पर छोड़ देते हैं जबकि सद्गुरु अपने शिष्य को तब तक समझाते रहते हैं जब तक शिष्य हृदयंगम न कर ले। वे शिष्य को उसके भाग्य पर नहीं छोड़ते; वे जब बनाते हैं तो गुरु ही बना देते हैं; शिष्य को भी उसी गुरुत्व में स्थिति दिला देते हैं; चाहे इसके लिए शिष्य को हजार जनम लेना पड़े किन्तु गुरुदेव की विद्या उसमें सदैव रहती है, आज की शिक्षा की तरह 'आज पढ़े, कल साफ' नहीं होती--कवनेहुँ जनम मिटिहिं नहिं ज्ञाना।।) अस्तु, गुरुदेव मुझे समझाते रहते थे, मेरे आचरण को देखकर दुःखी थे, किन्तु 'मोहिं उपजइ अति क्रोध, दम्भिहिं नीति कि भावई' मुझे अत्यन्त क्रोध होता था, भला कहीं दम्भी को नीति अच्छी लगती है।

एक बार मैं मन्दिर में बैठकर शिव-नाम जप रहा था। उसी समय महाराज पहुँचे तो अभिमानवश उठकर प्रणाम नहीं किया। गुरुदेव तो परम दयालु थे, उन्होंने कुछ नहीं कहा; लेकिन 'अति अघ गुरु अपमानता सहि नहिं सके महेश' गुरुदेव का अपमान बहुत बड़ा अपराध था जिसे भगवान शंकर ही सहन नहीं कर सके। जिन शंकर जी का मैं भक्त था वे इष्ट ही शत्रु हो गये। तुरन्त शाप दिया कि रे अधम! अजगर की तरह बैठा ही रह गया? जा! आज से अजगर ही हो जा। और दस हजार जनम इसी तरह भोग! लेकिन सद्गुरु कभी नाराज भी होते हैं, वे तो शिष्य के कल्याण के लिए होते हैं, न कि उसके पतन के लिए। कुम्हार घड़े को इसीलिए पीटता है कि वह अपना सही आकार-प्रकार पा जाय, न कि फोड़ देने के लिए। ठीक ऐसा ही गुरुदेव का नियम है कि वे ताड़ना भी देते हैं तो शिष्य के कल्याण के लिए, न कि अपने स्वार्थ के लिए। गुरु महाराज ने हाहाकार किया, भगवान शंकर ने कहा कि दस हजार जन्म तो यह अवश्य भोगेगा, उसके बाद मानव-

तन पायेगा लेकिन आपके द्वारा दिया गया उपदेश इसे कभी भूलेगा नहीं-

कवनेउ जनम मिटिहि नहिं ज्ञाना।
सुनहि शूद्र मम बचन प्रमाना।। (७।१०८।९)

जब मानव-तन प्राप्त हो गया, दस हजार जनम पूर्व गुरु ने जिस विद्या का उपदेश किया था उसका स्फुरण हो आया, उस पर 'सुरत' टिक गई और भगवान के चरणों में मन लगने लगा।

प्रौढ़ भये मोहि पिता पढ़ावा।
समझऊँ सुनउँ गुनउँ नहिं भावा।। (७।१०९।५)

प्रौढ़ हो जाने पर पिता ने शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था कर दी। मैं मूर्ख नहीं था, समझता था, सुनता था, चिन्तन करता था, लेकिन 'नहिं भावा'- रुचिकर नहीं लगता था। अन्त में--

प्रेम मगन मोहि कछु न सोहाई।
हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई।। (७।१०९।८)

मैं तो भगवत्प्रेम में निमग्न था, मुझे उसके अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। अन्ततः पिता पढ़ा-पढ़ाकर हताश हो गये लेकिन मैंने नहीं पढ़ा। तब गरुड़ का सन्देह स्वाभाविक था कि अरे! ज्ञान से बढ़कर तो कुछ नहीं है। आपके लिए शिक्षा की व्यवस्था भी थी। आप विद्या सीखे क्यों नहीं? महर्षि काग उत्तर देते हैं--

कहु खगेस अस कवन अभागी।
खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी।। (७।१०९।७)

गरुड़ जी! जब मनचाहा दूध देने के लिए कामधेनु उपलब्ध है तो ऐसा

कौन अभागा है जो छटाँक भर दूध देनेवाली गदही की सेवा करता फिरे? इसीलिए गरुड़ जी! हम नहीं पढ़े। सिद्ध है वह विद्या नहीं थी; विद्या कुछ और ही है। यद्यपि कागभुशुण्डि निरक्षर थे फिर भी वे उस युग के सर्वोपरि विद्वान थे। यहाँ तक कि उनके यहाँ पढ़नेवाले हंसों का और विद्या ग्रहण करनेवाले अनुरागियों का जमघट लगा रहता था--

बट तर कह हरि कथा प्रसंगा।
आवहिं सुनहिं अनेक विहंगा।।

x x x

सुनहिं सकल मति विमल मराला।
बसहिं निरन्तर जे जेहिं ताला।। (७।५६।९)

त्याग के तालाब में जो तैरते थे, वही वहाँ निरन्तर कथा सुनते थे। यहाँ तक कि भगवान शंकर जी भी वहाँ कथा सुनने गये। मराल का तन धारण कर, हंस बनकर, अधिकारी बनकर गये। शंकर, जिनके डमरू से विद्याएँ निःसृत हैं, वे भी वहाँ सत्संग सुनने जाया करते थे। सिद्ध है कि भगवत्पथ में भौतिक शिक्षा-दीक्षा का कोई उपयोग नहीं है और न यह शिक्षा विद्या ही है।

तो फिर विद्या है क्या? एक बार लक्ष्मण ने पंचवटी में प्रश्न किया कि भगवन्! ईश्वर क्या है? जीव क्या है? माया क्या है? इस प्रकार पाँच-सात प्रश्न लक्ष्मण ने किया तो भगवान राम बोले--

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई।
सुनहु तात मति मन चित लाई।। ३।१४।१।।

तात! मैं थोड़े में ही समझा के कह देता हूँ तुम बुद्धि, चित्त और मन लगाकर सुनो--

मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया।। (३।१४।२)

यह मैं हूँ, मेरा है, तूँ है, तेरा है बस यही माया है। इसी ने चराचर जीवों को अपने वश में कर रखा है। उन्हें अपने लक्ष्य से च्युत कर रखा है।

तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ।।
इस माया को दो भेद हैं, एक विद्या और दूसरी अविद्या।

एक दुष्ट अतिशय दुःख रूपा।
जा बस जीव परा भवकूपा।। (३।१४।५)

इनमें से अविद्या अत्यन्त दुष्ट है, उसके अधीन होकर यह जीवात्मा भवकूप में सतत् पड़ा है और दूसरी शाखा विद्या के लिये कहते हैं--

एक रचइ जग गुन बस जाके।
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।। (३।१४।६)।।

विद्या वह है जिसके वश में गुण हैं। गुण माया में कहीं है ही नहीं। जो नश्वर है 'अशाश्वतं दुखालयम्'-जो दुःख का आगार और नश्वर है उसमें गुण एवं सुख कहाँ? कल्याणकारी गुण-धर्म तो एकमात्र ईश्वर में हैं। तो माया का दूसरा भेद विद्या, जिसके आश्रित गुण हैं, उन स्कूलों में पढ़ने से वह नहीं आती। 'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।' वह विद्या प्रभु-प्रेरित है। जब प्रेरक के रूप में स्वयं प्रभु उतर आते हैं, आत्मा में जागृत होकर पथ-प्रदर्शक के रूप में खड़े हो जाते हैं, उनकी प्रेरणा से ही वह विद्या हमारे

अन्दर उतरती है और कार्य करने लगती है।

अत: यदि हमें विद्या (जो भवसागर से पार करने वाली है, परम कल्याणकारी है) की आवश्यकता है तो उर-प्रेरक की प्राप्ति नितान्त आवश्यक है। किसी अनुभवी महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त करने, उनके संरक्षण में रहकर टूटी-फूटी सेवा करने और उनके द्वारा निर्दिष्ट साधन-पथ पर चार-छ: महीने अभ्यास करने से आत्मा जागृत हो जाती है और उस ईश्वरीय प्रेरणा का स्रोत उपलब्ध हो जाता है, जिसके द्वारा मिलनेवाला उपदेश अथवा आदेश ही विद्या है। ज्यों-ज्यों साधक ऊपर उठता जायगा, त्यों-त्यों यह आदेश, ईश्वरीय स्रोत, ईश्वरीय गुण-धर्मों का प्रसार घना होता जायगा। मायिक द्वन्द्व क्षीण होता जायगा। सर्वथा ईश्वर के निकट की अवस्था आ जायगी तो हृदय ईश्वरीय गुण-धर्मों का ही केंद्र बन जायगा किन्तु यह सब उन्हीं की प्रेरणा से ही सम्भव होगा; अन्य कोई रास्ता नहीं है। इसलिए जो आत्मा को पकड़ चुके हैं, उनके स्वरूप को पकड़कर आत्मा की आवाज पकड़ने का उपाय करें। जब तक आत्मा की आवाज पकड़ में नहीं आती तब तक वह विद्या 'विद्या' नहीं है। तब तक उसके लिए हम जो कुछ आहें भरते हैं, उस दिशा में अग्रसर होते हैं, वह प्रयास मात्र है जो विफल कभी नहीं होगा।

प्रश्न- महाराज! विद्या के पश्चात् भी क्या विवेक की आवश्यकता रह जाती है?

उत्तर- देखिए, विद्या जब हरि-प्रेरित है तो विवेक इतना ही रखना पड़ता है कि हरि कहते क्या हैं? उसको पकड़ो और उसके अनुसार चलो। उस आदेश पर आरूढ़ रहने की क्षमता ही विवेक है। यदि उस पर आरूढ़ रहने की क्षमता नहीं है तो विद्या कार्य नहीं करेगी, भगवान भी रुष्ट हो जायेंगे-

मोरेहु कहे न संसय जाहीं। विधि विपरीत भलाई नाहीं।।

पूज्य परमहंस जी महाराज ने इस विवेक को बड़े सरल ढंग से समझाया कि, 'हो ऽ! आज्ञा पालनै भजन है।' तुम मत सोचो कि आज्ञा गलत है कि सही। लेकिन हमसे उन्होंने यह आठ साल बाद कहा। प्रारम्भ में नहीं बताया था। प्रारम्भ में साधक के पास आज्ञा पालन करने की क्षमता और आज्ञा ही कहाँ है? जब हृदय में ईश्वरीय आदेश का सूत्रपात् हो गया, उसके बाद ही महाराज जी ने कहा कि आज्ञा पालन ही भजन है। उस आज्ञा में मिलनेवाली वस्तु ही विद्या है। विवेक का इतना ही स्थान है कि उस आज्ञा पर दृढ़ता से चलें। भगवान आदेश देते हैं कि इस रास्ते से आगे बढ़ो तो यह मत सोचो कि वहाँ पर सर्प है। सर्प होगा भी तो हार बन जायगा, मीरा के लिए हार बन गया था। विष होगा तो अमृत बन जायगा, मीरा के लिए अमृत बन गया था, क्योंकि उरप्रेरक के संकेत पर ही उसने विषपान किया था-

कोई के पिया परदेश बसत हैं, लिख लिख भेजै पाती।
मेरो पिया मेरे हीय बसत है, ना कहुं आती-जाती।
राणा जी! मैं तो गिरिधर रंगवा राती।

मीरा के परम पिया परमात्मा उसके हृदय में जागृत थे, प्रत्यक्ष रूप में बैठे थे, इसलिए वह निर्भय थी।

प्रश्न-महाराज जी ! तब तो जो संकेत हृदय के भीतर से मिलता है, क्या वही विद्या है?

उत्तर- हाँ, वही विद्या है। 'हरि प्रेरित नहीं निज बल ताकें' वह विद्या प्रभु प्रेरित ही होती है। यही कारण है कि विश्व के अनेक तत्त्वज्ञ महापुरुष पार्थिव शिक्षा में निरक्षर थे। सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार पाँच वर्ष के बच्चे ही तो थे, कहाँ पढ़े? शुकदेव बचपन से ही भाग खड़े हुए, किन्तु वे अनेक जन्मों से चलने वाले योगी थे। विद्या स्वाभाविक रूप से जन्म के

साथ ही उनके हृदय में प्रवाहित थी। उनके पिता व्यास अपने समय के बहुत बड़े विद्वान थे। चार वेद, छः शास्त्र, अठारहों पुराण, महाभारत और भागवत् इत्यादि के रचयिता थे, संकलनकर्ता थे किन्तु वास्तविक जानकारी में शुकदेव उनसे कहीं आगे थे। यदि लिखने-पढ़ने का नाम ही विद्या होता तब तो व्यास बहुत पढ़े थे। निरक्षर थे कागभुशुण्डि--हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई। जड़ भरत पढ़े-लिखे नहीं थे। बचपन से ही उनकी दृष्टि इष्ट पर थी, लोगों ने समझा पागल हैं।

ठीक इसी प्रकार 'महामानव बुद्ध' भी सांसारिक शिक्षा के प्रति उदासीन रहे। वे राजपुत्र थे। उनके शिक्षा की भी उत्तम व्यवस्था थी, किन्तु उनका मन पढ़ाई में न लगा। यद्यपि बौद्धग्रन्थ, 'ललित बिस्तर' के अनुसार सिद्धार्थ को बचपन में तत्कालीन कला-कौशलों की शिक्षा कपिलवस्तु में मिली थी तथा दूसरे ग्रंथ 'महावस्तु' के अनुसार यशोधरा के स्वयंवर में पाँच सौ शाक्य कुमारों के बीच आयुध-कौशल-प्रदर्शन में उन्हें अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करनी पड़ी किन्तु जिस विद्या के स्पर्श से सिद्धार्थ बुद्ध बने, उसके लिए उस शिक्षा का कोई उपयोगी नहीं था। चिन्तनशील होने के कारण बालक सिद्धार्थ का मन इन सांसारिक विषयों में अनुरक्त नहीं होता था। बहुधा लोगों ने उन्हें महल से दूर एक जम्बू वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ देखा था। साधनावस्था में सिद्धार्थ की घुड़सवारी, तीरंदाजी, मल्ल-कला और धनुर्वेद की सिद्धहस्तता काम न आयी। इन पर सिद्धार्थ हँसे और इन्हें छोड़कर वास्तविक विद्या सीखने योग्य गुरु की खोज में राजगृह आये, जहाँ आलार एवं उद्रक नामक ऋषियों से उन्होंने हिन्दू-साधना-पद्धति का ज्ञान प्राप्त किया। ध्यान की क्रमिक भूमिकाओं के उपरान्त गया में वट वृक्ष के तले उन्हें विद्या की अनुभूति हुई। ईश्वर की प्रेरणा से वे विद्वान् बन गये। उन्हें 'बुद्ध' की पदवी मिली। तथ्य से अवगत होने के कारण उन्हें 'तथागत' कहा गया।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व यातायात की कठिनाइयों को झेलते हुए, महासागरों की उत्ताल तरंगों को अपनी छोटी-छोटी नौकाओं से चीरते हुए भारतीयों ने चीन, जापान, मिस्र और यूनान तक बुद्ध की उसी विद्या का सन्देश सुनाया, जिसे वहाँ की जनता ने न केवल आदर के साथ सुना बल्कि हाथों-हाथ उठा लिया, जो आज भी विश्व की अधिकांश जनता का कल्याण-स्रोत बना हुआ है। कलिंग को ध्वस्त करते समय रणोन्मत्त अशोक के कर्ण-कुहरों में बुद्ध की इसी विद्या का स्वर पड़ते ही तलवार उसके हाथ से सदा-सदा के लिए गिर गयी। जहाँ-जहाँ भी यह विद्या पहुँची, भेरी का घोष बन्द होता गया। चतुर्दिक धर्म-घोष ही सुनाई पड़ने लगा। इसी विद्या का प्रचार करने के लिए अशोक ने अपने पुत्र एवं पुत्री को लंका भेजा और अपना सारा जीवन इसी विद्या पर निछावर कर दिया। भारत पर आक्रमण करने वाले यूनानियों, शकों, पह्लवों, कुषाणों और हूणों को इस विद्या ने न केवल आकर्षित किया बल्कि उन्हें आत्मसात् कर लिया, भारतीयता के रंग में रंग दिया। ईश्वर-प्रेरित विद्या से महिमान्वित इस मनीषी ने जहाँ टट्टी-पेशाब भी कर दिया, 'तीर्थ' बन गया। संसार के कोने -कोने से प्रतिवर्ष लाखों तीर्थयात्री लुम्बिनी, कपिल-वस्तु, सारनाथ, श्रावस्ती, गया और कुशीनगर का दर्शन करके असीम शान्ति का अनुभव करते हैं; करते रहेंगे।

अरब के हजरत मुहम्मद कहाँ पढ़े थे? महात्मा कबीर ने तो "मसि कागज छूयो नहीं, कलम गहि नहीं हाथ" लेखनी का स्पर्श भी नहीं किया था। गुरु नानक को हिन्दू या मुसलमान कोई भी शिक्षक नहीं पढ़ा सका। पिता ने उन्हें खेती की देखभाल में नियुक्त किया। वहाँ भी वे असफल रहे। व्यापार से धन बढ़ाने की अपेक्षा 'सत् नाम' का अर्जन करना ही उन्होंने श्रेयस्कर माना। लोकनायक तुलसी ने भी यद्यपि काशी में शेष सनातन के पास रहकर वेद-वेदाङ्ग का पन्द्रह वर्षों तक अध्ययन किया किन्तु मानस की कथावस्तु

का आधार उन्होंने उस विद्या को ही बनाया जिसे उन्होंने अपने गुरु नरहर्यानन्द जी से सुना था-

पुनि मैं निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।

X X X

भाषा बद्ध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई।।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने उसी हरि-प्रेरित विद्या का निरूपण 'मानस' में किया जिसका प्रस्फुटन हृदय देश में होता है-

तस कहियउँ हिय हरि के प्रेरे।

स्थान-स्थान पर गोस्वामी जी ने इसी स्रोत की ओर इंगित किया है-

जेहिं पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी।
प्रनवउँ सोई कृपालु रघुनाथा। बरनउँ विशद तासु गुन गाथा।।

यदि लौकिक शिक्षा-दीक्षा का महत्त्व विद्या जैसा ही होता तब तो तुलसी से भी अधिक पढ़े-लिखे व्याकरणाचार्य काशी में थे किन्तु आज उनका कोई नाम तक नहीं जानता। क्या उनमें से एक भी तुलसी के समकक्ष बन सका? ब्रह्म-विद्या होने के कारण ही तुलसी-साहित्य नित नूतन कलेवर धारण करता जा रहा है। इसी विद्या की शोध में देश-विदेश के लाखों जिज्ञासु, विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर चित्रकूट के रामायण मेले में आते हैं और देखते-देखते संसार भर में इसी वाङ्मय का प्रचार-प्रसार अबाध गति से होता जा रहा है।

मीरा पढ़ी-लिखी नहीं थी किन्तु उस प्रेम-योगिनी के भाव प्रकाशन में भाषा बाधक नहीं बनी। उसके आत्म निवेदन में ललित पदावलियों की ऐसी स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई कि राजस्थान की मरुभूमि एवं साहित्य महारथी दोनों

ही एक समान उससे आप्लावित हो उठे। 'रामकृष्ण परमहंस' के समक्ष पढ़ाई-लिखाई का प्रश्न ही नहीं था। सोलह वर्ष की आयु में पागलों की तरह थे तो भला शिक्षा कब हुई? इसी क्रम में काशी के हरिहर बाबा भी हुए। पार्थिव शिक्षा में निष्णात न होने पर भी ये सभी अपने युग के सर्वोपरि विद्वान् माने गये।

गोरखपुर के 'सत्संगी महाराज' को, जिन्होंने एक सौ पचीस वर्ष की आयु में महाप्रयाण किया, आजीवन लोग पागल समझते रहे। लेकिन पुण्यात्माओं को आकाशवाणी हुई कि ये महापुरुष हैं, मेरे स्वरूप की स्थिति वाले हैं। उनकी शरण में जाओ, उनसे शिक्षा लो। पूज्य परमहंस जी को भी आकाशवाणी हुई। मंदिर में जाकर देखा तो वही पागल बाबा दिखाई पड़े जो रोज इधर-उधर घूमते थे। चरणों पर गिरे, अल्प अवधि में उस साधन को पकड़ा और ठीक चार महीने में हरि-प्रेरित विद्या का स्रोत हृदय में प्रवाहित हो गया। पूज्य परमहंस जी महाराज भी पढ़े-लिखे नहीं थे, केवल तीन दिन पाठशाला गये थे। तीसरे दिन पंडित जी ने एक डंडा मार ही तो दिया। वे रोते-रोते घर आ गये। फिर तो माँ ने कहा--भाड़ में गयी ऐसी शिक्षा ! और पार्थिव शिक्षा का पाठ उसी दिन से बन्द हो गया। एक समय अनुसुइया आश्रम में उनके हस्ताक्षर की आवश्यकता पड़ी तो एक सज्जन ने महाराज जी से तीन दिन तक हस्ताक्षर करने का अभ्यास कराया। प...र...मा....न...न्द... के प्रत्येक अक्षर को महाराज जी ने बड़े मनोयोग से सीखा। 'द' के नीचे महाराज जी ने लकीर एक इन्च लम्बी खींच दी थी। संकोच और भयवश उस सज्जन ने कुछ नहीं कहा। हमने देखा तो कहा महाराज जी, यह लम्बाई कुछ कम कर दी जाय तो वे मूँछों पर ताव दे के बोले-'हूँ! तूँ का जानि है, मैं जो पढ़े हूँ!' वे जानते थे कि यह ठीक कह रहा है, लेकिन नहीं माने।

अनुसुइया आश्रम में विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर, विद्वान् पहुँचते ही रहते थे। साथ आनेवाले उनका परिचय देते कि महाराज ए डाक्टर साहब हैं। इन्होंने 'फिलासफी' या कई विषयों से 'रिसर्च' किया है। तहाँ पहले कुछ देर तक तो वे प्रोफेसर साहब ही अपनी कहें; तत्पश्चात् वे महाराज जी से कुछ सुनाने का आग्रह करते थे। जब महाराज जी का उपदेश आरम्भ हो तो वे सभी विस्मय में कहा करते थे कि भगवन् ! साधना कुछ और ही है। पढ़ना कुछ और है, करना कुछ और है। इस प्रकार निवेदन कर, आशीर्वाद लेकर चले जाते थे। विद्वानों की शिक्षा का उपयोग पूज्य महाराज जी की प्रत्यक्षदर्शिनी वाणी के समक्ष नहीं रह जाता था।

अतः इस भगवत्पथ पर यदि आप पढ़े-लिखे हैं तो ठीक है और नहीं पढ़े-लिखे हैं तब भी आपके लिए कोई हानि नहीं है; क्योंकि यह विद्या केवल हरि-प्रेरित और सद्गुरुओं के घर की विद्या है; उसकी पाठशाला ही दूसरी है। परमहंस जी कहा करते थे--'होऽऽ, मोके भगवान पढ़ावत हैं। संसार की चाहे जौन भाषा बोलो, भगवान मोके सब समझावत हैं।'

ॐ

विज्ञान

प्रश्न- महाराज जी! प्राचीनकाल की अपेक्षा आजकल विज्ञान अधिक प्रगति पर है। इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?

उत्तरः- विद्यार्थियों ! आप लोगों ने एम.एस-सी.; डबल एम.ए. सब कुछ किया। बता सकते हो कि साइंस का नाम विज्ञान क्यों पड़ा? कब पड़ा? हिन्दी में साइंस को विज्ञान कहते हैं। क्या यह उचित है? आप कहते हैं कि आजकल साइंस बड़ी प्रगति पर है। आज से दो-ढाई सौ वर्ष पूर्व हवाई जहाज की इस रूप में कदाचित कल्पना भी नहीं थी। लेकिन आज वह सर्वसुलभ होता जा रहा है। राकेट, बम्ब, परमाणु, हाइड्रोजन, मिसाइल और न जाने क्या-क्या आविष्कार होते जा रहे हैं। यहाँ तक कि घर बैठे-बैठे हजारों मील की दूरी तक विध्वंस करना सम्भव हो गया है। यह रोशनी , बिजली आप देख ही रहे हैं। चकाचौंध कर देने वाले टेलीविजन भी आप देखते ही हैं, जिस पर हजारों मील दूर के दृश्य उभरते हैं! चंद्रमा तक के दृश्यों को संसार ने देखा। मोटर, ट्रेन इत्यादि आविष्कार आप देख रहे हैं, जिसमें आये दिन परिवर्तन होते ही रहते हैं। अंग्रेजी माध्यम से इन सबका नाम साइंस ही है।

यह साइंस आज ही प्रगति पर है, ऐसी कोई बात नहीं है। आज से हजारों-लाखों वर्ष पूर्व इस पृथ्वी पर सैकड़ों बार आविष्कार हुए और आविष्कार जब पराकाष्ठा को पहुँचा तो इसका परिणाम क्या हुआ? सर्वनाश! सैकड़ों बार यह साइंस प्रगति पर आई, भौतिक आविष्कार हुए, शक्तियाँ परस्पर टकराईं और उसका परिणाम भयंकर संघर्ष निकला। देवासुर-संग्राम से शास्त्र भरे पड़े हैं। आज से लाखों वर्ष पूर्व की ऐतिहासिक घटना है! इतिहास तो आप जानते ही होंगे? पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि भारतवासी इतिहास लिखना नहीं जानते थे, यह गलत है। प्राचीन इतिहास पुराणों में अक्षुण्ण है। उनमें

पुरानी घटनाएँ अंकित हैं। इसलिए उन्हें पुराण कहा जाता है। कालान्तर में उसी का नाम इतिहास पड़ा, जिससे इति का आभास मिलता है।

लाखों वर्ष पूर्व सत्ययुग में हिरण्यकश्यपु नामक एक क्षत्रिय नरेश हुए। उन्होंने अपनी वेधशाला में यहाँ तक आविष्कार कर लिया कि न दिन में मरें न रात में मरें, न अस्त्र से मरें न शस्त्र से, न पशु-पक्षी से मरें न मानव से। जब उन्होंने सोच लिया कि अब हमें मरना ही नहीं है तो भगवान क्या होगा? तुरन्त उन्होंने भगवान को तिलांजलि दे दी और घोषणा करा दी कि हमारे राज्य में जो भगवान का नाम लेगा उसे मृत्युदण्ड मिलेगा। वह इतना कट्टर था कि अपने इकलौते बेटे प्रह्लाद को भी क्षमा नहीं कर सका। फाँसी पर चढ़ा दिया। हाँ, यह बात अलग है कि भगवान एक ऐसी सूक्ष्म सत्ता है कि मासूम बच्चे का स्पर्श कर ले, उस पर वरदहस्त रख दे तो विश्व में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो उसे नष्ट कर सके। उसको समुद्र में फेंक दिया गया, आग में झोंक दिया गया, हाथियों से कुचलवाया गया, लेकिन प्रह्लाद बच गया और एक समय आया कि हिरण्यकश्यपु मारा गया। उसकी मृत्यु के लिए भी रास्ता निकल आया। उस समय की साइंस और आज की साइंस में अन्तर इतना ही है कि उस समय के मनुष्य शरीर प्रधान थे। कोई आविष्कार करते थे तो अपने शरीर पर ही उसे मढ़ने का प्रयास था। आज की साइंस यन्त्र प्रधान है, यद्यपि यन्त्र तब भी थे। प्रह्लाद के माध्यम से भगवद् भक्ति की एक लहर दौड़ गयी और हिरण्यकश्यपु का अन्त हुआ।

इसके पश्चात् त्रेता युग में रावण नामक एक नरेश हुआ। पहले वह नास्तिक नहीं था, भक्त था। जैसा कि अभी आपने देखा, साइंस जब प्रगति पर आती है, उसका परिणाम सर्वनाश निकलता है। किन्तु इसके पूर्व ही एक अन्य परिणाम होता है- नास्तिकता की अभिवृद्धि। रावण भी पहले भक्त था। क्रमशः उसने यहाँ तक आविष्कार किया कि सर कटने पर भी वह न मरे। ऐसे-

ऐसे यन्त्र बनाये कि उसे कोई न देखे किन्तु वह सबको देखे। उसका लड़का मेघनाद युद्ध में क्रुद्ध होकर जब आगे बढ़ा तो अदृश्य होकर लड़ने लगा। वह रथ पर आरूढ़ था किन्तु अदृश्य था। वह सबको देख रहा था, निशाने साध रहा था लेकिन उसको कोई देख नहीं रहा था। क्या आज भी है कोई आविष्कार जो उससे आगे हो? सिद्ध है कि उस समय का साइंस आज की अपेक्षा अधिक प्रगति पर था। हनुमान जी ने लंका में आग लगा दी तो रावण के संकेत पर मूसलाधार वर्षा होने लगी। वृष्टि पर रावण का अधिकार था। जब चाहता था पानी बरसा लेता था। आजकल भी लोग पानी बरसाने का कृत्रिम उपाय सोच रहे हैं। परन्तु अभी सफल नहीं हो सके। रावण के दुर्भाग्यवश हनुमान जी ने जो आग लगाई वह तेल, घी की थी इसीलिए बादलों से वह बुझ न सकी।

नोट :- तेल, घी की अग्नि पानी पड़ने से भड़क जाया करती है।

एक समय रावण अमरकंटक में शिव की पूजा कर रहा था। उसी समय एक शक्तिशाली नरेश सहस्त्रार्जुन ने नर्वदा नदी का प्रवाह रोक दिया। रावण जहाँ पूजा कर रहा था, जल का स्तर बढ़ गया, फूल बह चले। पता चलने पर रावण के सेनापति प्रहस्त ने आक्रमण कर दिया। शत्रु सबल था अतः प्रहस्त ने सबल यन्त्र मूसल उठाया। मूसल जब चलने को हुआ तो उसके अग्र भाग से प्रलयकालीन लपटें निकलने लगीं। क्या वह धान कूँटनेवाला साधारण मूसल था? सिद्ध है कि वह यंत्र था। हाँ, उस समय की भाषा के अनुसार उसका नाम मूसल अवश्य था। धान कूटनेवाले मूसल से क्या प्रलयकालीन लपटें निकलती हैं। उस समय भी आविष्कार कितना आगे था।

इतने पर भी आविष्कार शान्त नहीं था। शोध जारी था। रावण ने निर्णय किया कि मैं स्वर्ग में सीढ़ियाँ लगवा दूँगा, काल का भय संसार से समाप्त

कर दूँगा, अग्नि से धुआँ मिटा दूँगा- इत्यादि। आविष्कार पराकाष्ठा पर पहुँचा, तहाँ वह मदान्ध हो गया। पहले तो उसने भगवान को तिलांजलि दी, गालियाँ दी, कहने लगा-मैं ही ईश्वर हूँ। फिर उसने सर्वत्र आक्रमण करना, विध्वंस करना प्रारम्भ किया।

अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिय नहिं काना।
तेहि बहु विधि त्रासइ देश निकासइ जो कह वेद पुराना।।

रावण 'धर्म' कानों से सुन भर पाता तो इतना बौखला उठता था कि स्वयं उसे नष्ट करने दौड़ पड़ता था, सेना भेज देता था।

आजकल भी लोग कहते हैं कि भगवान कुछ नहीं हैं। पूजा-पाठ व्यर्थ है। वस्तुतः मायिक क्षेत्र में खाने-जीने की सुख-सुविधा जब-जब मिली, मनुष्य ने भगवान को अनावश्यक और व्यर्थ की कल्पना माना। परन्तु भगवान ने मनुष्य का साथ तब भी नहीं छोड़ा। भगवान तब भी नष्ट नहीं हुए क्योंकि वही तो एक ऐसी सत्ता है जो कभी नष्ट नहीं होती।

द्वापर में भी ऐसे आविष्कारों का बाहुल्य रहा। उग्रसेन को कोई पुत्र नहीं था। मन बहलाने के लिए उनकी पत्नी वन में विचरण करने गयी। उसी जंगल में एक असुर रहता था। उसने सुना कि महाराज उग्रसेन की पत्नी घूमने आयी हैं जो अत्यन्त सुन्दरी भी हैं उसने जंगल में तूफान खड़ा कर दिया। पेड़ गिरने लगे, बड़े-बड़े पत्थर लुढ़कने लगे, अव्यवस्था फैल गयी, घोड़े तितर-बितर हो गये। ऐसी विषम परिस्थिति में वह असुर पहुँचा। उग्रसेन का रूप बनाया और स्त्री से संयोग किया। जाते समय असुर ने अपना रूप दिखाया। उग्रसेन की पत्नी शाप देने को उद्यत हुई तो असुर ने कहा कि इस समागम से आपको अत्यन्त पराक्रमी पुत्र होगा। जिसे लड़का न हो,

उसे लड़के की लालच पर्याप्त होती है। वह बेचारी मन मारकर लौट आई। कंस का जन्म हुआ।

शास्त्रकार लिखते हैं कि उस अधम राक्षस ने आसुरी माया का प्रयोग किया। तूफान खड़ा कर देना, आग्नेयास्त्रों का संचालन, वृष्टि करा लेना इत्यादि आसुरी माया की संज्ञा में था। द्वापर में ही एक अन्य असुर वाणासुर था। उसने भी अपनी वेधशाला में आश्चर्यजनक आविष्कार किये थे। वाणासुर की कन्या जब विवाह-योग्य हुई, तब वाणासुर ने उसे एक सुरक्षित महल में रख दिया। उसके चारों ओर तीन अक्षौहिणी सेना का पहरा बिठा दिया, जिससे कोई राजा-महाराजा उस अनिंद्य सुन्दरी कन्या का अपहरण न कर सके। उस बालिका ने देखा कि मेरे विवाह के लिए ही इतनी सतर्कता बरती जा रही है। अतः उसे चिन्ता हुई। बार-बार चिन्तन करने पर स्वप्न में उसे पति का रूप दिखाई पड़े। उसने अपनी सखी चित्रलेखा को बुलावाया, जो मेधावी साइंटिस्ट थीं। सपना सुनाकर चित्रलेखा से यह पता करने को कहा कि सपने में उसे कौन मिला था। चित्रलेखा अनेक महाराजाओं के चित्र दिखाती हुई अन्त में जब कृष्ण का चित्र बनाने लगी तो वाणासुर की कन्या ऊषा ने बताया, यह तो नहीं हैं किन्तु इनसे बहुत मिलते-जुलते हैं। जब अनिरुद्ध का चित्र आया तो ऊषा ने कहा, बस यही हैं। और जब यही हमारे भावी पतिदेव हैं तो संकोच किस बात का? क्यों न अभी इन्हें किसी युक्ति से लाया जाय। चित्रलेखा गयी और पलंग समेत अनिरुद्ध को उठा लायी। लाखों का पहरा इधर लगा था और ऐसा ही पहरा कृष्ण के यहाँ भी था। किन्तु न इन्हें पता चला, न उन्हें भान हुआ। आप ही बताएँ कि उस समय साइंस कितना उन्नत था?

वनवास काल में पाण्डव अपना समय बिता रहे थे। उसी समय सिन्धुराज जयद्रथ स्त्री-रत्न की तलाश में निकल पड़ा। उस समय बहुविवाह की प्रथा थी। जब वह घोर जंगल से निकला तो एक कुटिया के सामने अतीव सुन्दरी

दिखाई पड़ी। जयद्रथ ने कहा कि इतनी सुन्दर स्त्री तो हमने कभी देखा ही नहीं। मन्त्रियों से कहा- 'पता लगाओ यह कौन है? कोई मानवी है या देवी है? मनुष्यों के उपभोग योग्य है भी अथवा नहीं? मन्त्रियों ने पता लगाकर बताया कि यह तो पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी है। जयद्रथ ने मन्त्रियों से उसे फुसलाया और स्वयं भी गया। कहने लगा कि देखो, तुम सुख भोग करने योग्य हो। पाण्डव सुख समृद्धि से हीन हो गये हैं। अतः तुम हमारे साथ चलो। मैं सिन्धुराज जयद्रथ हूँ। मेरे पास रत्न है, सेना है, तुम हमारे ही योग्य हो। द्रौपदी ने उसे बहुत फटकारा, किन्तु कामान्ध जयद्रथ उसे ले भागा। जब वह तीन-चार मील पहाड़ों की ओट में पहुँच गया तब पाण्डवों को इसकी सूचना मिली। पाण्डव उस समय शिकार खेलने गये थे। अर्जुन ने वहीं से दिव्य अस्त्र का संधान किया। जयद्रथ के घोड़े धराशायी हो गये। रथ चूर-चूर हो गया किन्तु जयद्रथ और द्रौपदी को खरोंच तक नहीं आयी और भीम ने दौड़कर उसे पकड़ लिया। क्या आज भी ऐसा कोई अस्त्र है जो पचीस आदमियों में से जिसको चाहे मार दे और जिसे चाहे बचा ले, जबकि शत्रु भी अदृश्य हों। अभी तो नहीं है। सिद्ध है उस समय साइंस आज की अपेक्षा अधिक प्रगति पर था।

महाभारत युद्ध के समय दुर्योधन जब बहुत गिड़गिड़ाया तो भीष्म ने कहा- चलो मैं कल ही युद्ध का फैसला किये देता हूँ। एक ही वाण में सम्पूर्ण पाण्डव सेना को धराशायी कर दूँगा। दूसरे दिन भीष्म ने नारायण अस्त्र का संधान किया। वह भयंकर अस्त्र जब चला तब कृष्ण ने कहा- "देखो! इस अस्त्र का एक ही निवारण है कि पीठ दिखा दो। यह शूरवीर को ही मारता है। जो इसे पीठ दिखाता है उसे यह क्षमा कर देता है।" यह सुनते ही पाण्डव सेना ने पीठ दिखा दिया लेकिन भीम ने पीठ नहीं दिखायी। वे तो ताल ठोंक कर खड़े हो गये। कृष्ण ने उन्हें सावधान भी किया कि इस तरह तुम

मारे जाओगे, पीठ दिखा दो। भीम ने कहा-अपना उपदेश उसी अर्जुन को करो। मैं क्षत्रिय हूँ। मरना तो एक बार है ही। किन्तु मैं पीठ नहीं दिखा सकता। इधर वह अस्त्र सभी ओर से सिमटता हुआ समूचे वेग से भीम की ओर बढ़ने लगा तो कृष्ण ने दौड़कर भीम को छाती से लगा लिया। इधर कृष्ण ने अपनी पीठ दिखायी, उधर भीम की पीठ तो थी ही। इस तरह कृष्ण ने उस भक्त की रक्षा की। ऐसे-ऐसे अस्त्र-शस्त्र थे जो हाथ से छूटने पर भी युद्धस्थल में यदि कोई उनसे क्षमा माँग ले तो तत्काल उन्हें छोड़ देता था, जो अँकड़ता था, उनका संहार कर देता था। लौटकर वापस चला आता था। ऐसे ही वाणों को आज बम्ब कहते हैं। अन्यथा क्या वे लोहे की साधारण कीलें थीं? क्या आज भी कुछ ऐसे आविष्कार हैं? विश्व में, विशेषतः भारत में यह साइंस आज की अपेक्षा पचासों गुना बढ़ा-चढ़ा था।

परन्तु जब-तक साइंस पराकाष्ठा पर पहुँचा, उसका परिणाम पहले तो नास्तिकता और तत्पश्चात् सर्वनाश ही हुआ। राम-रावण युद्ध, महाभारत-युद्ध में असंख्य जनता मारी गयी। शक्तियाँ जब अधिक बढ़ जाती हैं तो ऐंठने लगती हैं। जैसे आजकल रूस और अमेरिका ऐंठते रहते हैं। एक न एक दिन उनमें टकराव हो जाता है, जिसका परिणाम सर्वनाश होता है। सर्वनाश का तात्पर्य यह नहीं कि समूची सृष्टि ही समाप्त हो जाती है; अपितु बहुसंख्यक समाप्त हो जाते हैं। अत्यल्प संख्या में लोग बच रहते हैं। जैसे एकाध परिवार इस जिले में बचे तो दूसरा परिवार अगले जिले में। एक दीपक मिर्जापुर में जल रहा है तो दूसरा काशी में, तीसरा जौनपुर में। इस प्रकार पचीस-पचीस, पचास-पचास मील पर मनुष्य रहने लगा। जनसंख्या कम हो गयी। मनुष्य मनुष्य को देखने के लिए तरसने लगा। जहाँ घनी आबादी और लहलहाते खेत थे, वे स्थान घोर जंगल में परिणत हो गये। आज आप यहाँ बैठे हैं, यदि कोई पचास वर्ष तक यहाँ न आवे तो यहाँ के हरे-भरे खेतों में घनघोर

जंगल पाया जायगा। वनस्पतियाँ इतनी शीघ्र पनपती हैं कि यह स्थान जंगली जीव-जन्तुओं का एक निवास होगा। आपके पड़ोस में यहाँ से दो मील पर 'मदरहवा' देखते-देखते जंगल बन गया जबकि वहाँ खेती होती थी।

अब मनुष्य उन आविष्कारों को घृणा की दृष्टि से देखने लगा। उसने विचार किया कि यह उन्हीं आविष्कारों की ही तो देन है कि आज हमारा कोई नहीं बचा। केवल हम एक अभागे थे जो बचे। ढूँढ़ने पर कोई साथी भी नहीं मिलता और कहीं मिलता भी है तो पचासों मील की दूरी पर कोई एक मिलता है। अत: वह उन सिद्धान्तों को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है जिनको वह अपनी सर्वोपरि उपलब्धि समझता था।

धीरे-धीरे वे आविष्कार लुप्त होते गये और लोग साधारण तरीके से रहने लगे। विनाश और विकास तो सृष्टि का नियम है। जिस क्षेत्र के लोग पहले विकसित हुए, वे सभ्य कहलाने लगे और जहाँ कुछ देर से पनपे वे आदिवासी कहे जाने लगे। आदिवासी का तात्पर्य यह नहीं कि जब ब्रह्मा ने सृष्टि रची या आदम पैदा हुआ तभी से असभ्य बने हुए हैं। वस्तुत: वे कई बार सभ्य रह चुके हैं।

इस प्रकार आविष्कार तो बहुत उच्चकोटि के हुए लेकिन उनके आविष्कर्ताओं को किसी ने वैज्ञानिक नहीं कहा। उन्हें असुर कहा जाता था। सुर देवता को कहते हैं। परमदेव परमात्मा पर विश्वास करनेवाले और उनकी ओर चलनेवाले सुर कहलाते हैं। उसे केवल माननेवाले मानव कहलाते थे- जो हृदय में आस्था को सँजोये हैं किन्तु व्यस्तता के कारण ईश्वर-चिन्तन में समय नहीं दे पाते। असुर उन्हें कहते थे जो देवत्व से विलग थे। 'देव'- भगवान अनावश्यक है, मैं ही ईश्वर हूँ, ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ- इस विचारधारा के लोग असुर कहलाये। कम्युनिज्म भी तो यही कहता है। यही हिरण्यकश्यपु

ने किया; आविष्कारों के नशे में यही रावण और उसके परिवार ने किया। इसी मदान्धता में महाभारत का युद्ध हुआ, जिसमें लगभग आधे असुर थे। असुर का तात्पर्य ऐसा नहीं है कि दो सींग, बड़ी-बड़ी आँखों वाले या हाथ-हाथ भर के दातों वाले व्यक्ति रहे हों। देखा तो ऐसा जाता है कि एक भाई देवता है तो दूसरा मानव, उसी के सगे भाई को असुर कहा गया। कृष्ण की सगी बुआ का लड़का शिशुपाल असुर था। सगा मामा कंस राक्षस था। सगा समधी वाणासुर निशाचर था। कृष्ण स्वयं देवता थे, वसुदेव देव श्रेणी में गिने जाते थे। इन्हीं के सगे सम्बन्धी पाण्डव शुद्ध नर थे तो दुर्योधन इत्यादि मध्यम अवस्था वाले थे। उनके पक्ष में अधिकांशतः आसुरी प्रवृत्ति के लोग एकत्र थे। इस प्रकार एक सम्बन्धी मानव है तो दूसरा सम्बन्धी दानव है और उसी का सगा सम्बन्धी देव श्रेणी का भी पाया जाता है।

राक्षसों का एक पर्याय निशाचर भी है। वस्तुतः 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी', गीता के अनुसार जगत् ही रात्रि है। इस जगत्रूपी रात्रि में विचरने वाला ही निशाचर है। जगत् को ही सत्य माननेवाले, जगत् में ही विश्वास रखने वाले, 'खाओ पीओ मौज करो' में ही आस्था रखने वाले निशाचर कहलाए। ऐसे प्राणी भौतिक आविष्कारों को ही अपना गौरव समझते रहे। जिसमें देवत्व नहीं, बल्कि माया का बहाव है। इसीलिए उनके द्वारा जो आविष्कार होता रहा, उस आसुरी माया को आजकल साइंस कहा जाता है। इनके आविष्कर्ताओं को पूर्वकाल में असुर कहते थे।

अंग्रेज जब भारत आये, अंग्रेजी भाषा के शब्दों का हिन्दी रूपान्तरण प्रारंभ हुआ। अंग्रेजी शब्द साइंस के हिन्दी पर्याय का प्रश्न खड़ा हुआ। साइकिल चली तो कहा गया कि यह साइंस की देन है। इतने में 'पीं' करती कार आई! लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह निर्जीव लोहा चल कैसे लेता है। देखते-देखते ट्रेन के लिए पटरी बिछ गयी और भयंकर आकृति वाली

रेल हजारों लोगों को ढोने लगी। घोड़ा जहाँ दस घंटे में जाता था, कार एक घण्टे में जाने लगी। लोगों ने कहा कि यह साइंस है। दूर-दूर के समाचार टेलीफोन से आने लगे। तब भी लोगों ने साइंस का गुण गाया। भारतीयों ने देखा कि ऐसा विशेष चमत्कार तो योग-दर्शन में पाया जाता है, जिसे हमारे मनीषियों ने विज्ञान की संज्ञा दी थी। इसलिए बंगाल के एक भाषाविद् ने साइंस का नाम झट से विज्ञान रख दिया। वस्तुतः यह विज्ञान नहीं है। विज्ञान तो उसे कहते हैं कि-

बिनु बिज्ञान कि समता आवइ। कोउ अवकाश कि नभ बिनु पावइ।।

(मानस ७।८९।३)

बिना विज्ञान के समता नहीं आती। जहाँ विज्ञान आ गया तहाँ विषमता सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाती है। विश्व में उसका कोई शत्रु नहीं रहता। उससे कोई द्वेष करता ही नहीं है। सर्वत्र एक समता की लहर व्याप्त हो जाती है। आज का सबसे बड़ा वैज्ञानिक अमेरिका को कहा जाता है, रूस को कहा जाता है, किन्तु उन्हें नींद नहीं आती। विषमता इतनी बढ़ गयी कि भारत को कैसे खा जायँ? चीन को कैसे मिटा दें? क्या विज्ञान का यही गुणधर्म है? साइंस जिसे भ्रमवश विज्ञान नाम दे दिया गया है, जहाँ-जहाँ बढ़ी है, वहाँ विषमता की बाढ़ आ गयी। राग, द्वेष और शोषण चरम सीमा तक जा पहुँचा। यह विज्ञान नहीं है। यह तो आसुरी माया का लक्षण है कि सब मरे और केवल हम जीयें।

विज्ञान तो कोई ऐसी वस्तु है जिससे एकता आ जाती है, समत्व आ जाता है और जिनके पास आया उसका समर्थन महापुरुषों ने इन शब्दों में किया-

तुम्ह बिज्ञान रूप नहिं मोहा। नाथ कीन्हि मो पर अति छोहा।।

(मानस ७।१२२।४)

कागभुशुण्डि जी गरुड़ की पीठ ठोंकते हुए कहते हैं कि तुम विज्ञान स्वरूप हो, मोह तो तुम्हें हो ही नहीं सकता। विज्ञान कोई ऐसी वस्तु है जिसके आ जाने पर मोह नहीं रह जाता। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।। (गीता ६।८)

ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार। प्रत्यक्ष दर्शन का नाम ही ज्ञान है। इसके पश्चात् विज्ञान आता है। कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! ज्ञान और ज्ञान के पश्चात् कहीं विज्ञान आ जाय तो यह आत्मा तृप्त हो जाती है। आत्मा परिपूर्ण हो जाती है। न तो आत्मा अन्य किसी सम्पत्ति से तृप्त होती है, न दस भाषाओं के ज्ञान से तृप्त होती है और न खान, पान, भोग विलास से ही तृप्त हो सकती है! आत्मा तो अपने ही शाश्वत रूप परमात्मा के दिग्दर्शन और उसमें प्रवेश पाने पर ही तृप्त होती है। उस ब्रह्म पीयूष को प्रत्यक्ष पाकर ही आत्मा सन्तुष्ट होती है। इससे पहले आत्मा को तृप्त कर देनेवाली कोई सत्ता है ही नहीं।

अतः विज्ञान कोई ऐसी वस्तु है जो इस आत्मा को ब्रह्म-पीयूष से भेंट कराती है और उसे पूर्ण तृप्ति प्रदान कर देती है। ऐसी आत्मा फिर कभी अतृप्त नहीं होती। विज्ञान उसे कूटस्थ, अचल और स्थिर कर देता है। फिर वह आत्मा कभी चलायमान नहीं होती। चलायमान होकर योनियों में जन्म नहीं लेती; शाश्वत स्थिति पा जाती है।

इस प्रकार विज्ञान का इतना अधिक महत्त्व है कि वह आत्मा को पूर्ण तृप्ति प्रदान करता है, अचल स्थिति प्रदान करता है। विषमता को समाप्त करके समता प्रदान करता है और जहाँ विज्ञान रहता है वहाँ मोह नहीं रहता। किन्तु इस तथाकथित विज्ञान में तो जिनके पास जितने अधिक आविष्कार हैं, वह उतना ही अधिक इतराता है। उतनी ही द्वेष और जलन की भावना

उसमें अधिक पायी जाती है। संसार को मिटाकर अकेले वही जीने की कामना करने लग जाता है। जिनके पास और अधिक आविष्कार हैं, वे कहते हैं कि भगवान कुछ नहीं है, विषय ही सब कुछ हैं- "खाओ पीओ मौज करो" ही सर्वस्व है। जब-जब आविष्कार बढ़े; हिरण्यकश्यपु, रावण, कंस, दुर्योधन सभी ने एक स्वर से यही कहा! देवासुर संग्राम की गाथाओं से पुराणों के पन्ने भरे पड़े हैं; वे पुराण जिनमें हमारे पुरातन इतिहास का संकलन है। देवासुर संग्राम बार-बार हुआ किन्तु उल्लेखनीय है कि दैवी सम्पत्ति वाले समूल नष्ट कभी नहीं हुए। क्योंकि वे भगवान पर आधारित थे और भगवान ही एक ऐसी सत्ता है जिसे न शस्त्र से काटा जा सकता है, न अग्नि जला सकती है, न वायु सुखा सकता है। 'मैटर' क्षेत्र में पैदा होने वाली कोई भी वस्तु उसका स्पर्श तक नहीं कर सकती। वह सर्वत्र संचालित है, वही अपरिवर्तनशील है और वही एक ऐसी सत्ता है जो शाश्वत है। इसीलिए दैवी सम्पत्ति के अनुयायी सदैव थे, आज भी हैं और नास्तिकता चाहे जितनी बढ़ जाय आस्तिकता का संचार बना ही रहेगा।

आज आप कहते हैं कि "विदेशों में विज्ञान बहुत प्रगति कर रहा है इस पृथ्वी से वैज्ञानिकों ने बहुत कुछ पैदा कर लिया है।" परन्तु यथार्थ तो यह है कि इस पृथ्वी का वे एक कण भी उठा नहीं पाये हैं। उनके सभी आविष्कार मायिक परिधि तक ही सीमित हैं और विदेश क्या? दुनिया ही एक देश है। हाँ, भारत से बाहर आविष्कारों के पीछे भाग-दौड़ अधिक दिखाई देती है। भारत इस बार पीछे दिखाई दे रहा है। लेकिन अतीत में आविष्कार भारत में ही हुए थे। हिरण्यकश्यपु भारतीय था, रावण भारतीय था, देवासुर संग्राम भारतीयों के बीच ही हुआ था, पाण्डव भारतीय ही थे। आज की तुलना में उनके आविष्कार बढ़े-चढ़े थे। किन्तु परिणाम क्या निकला? अपने ही स्वजनों की भयंकर क्षति। अतः यहाँ प्रलयकारी युद्धों में कल्याण न देखकर

भारत शान्ति और भगवच्चर्चा की ओर अग्रसर हुआ। यही कारण है यह देश मायिक आविष्कारों में इस बार पीछे है।

यही भारत की आध्यात्मिक विरासत है जिनके लिए वह सदैव जगद्गुरु रहा है, आज भी है और रहेगा। हमारे पूर्वजों में से क्षत्रिय नरेश विश्वामित्र का नाम बड़े आदर से लिया जाता है, वे अपने युग के जाने माने आविष्कर्ताओं में से थे। उन्होंने रज-वीर्य के संयोग के बिना ही मनुष्यों की सृष्टि का संकल्प किया। भौतिक वस्तुओं को जोड़कर मनुष्याकृति तैयार की, नारियल जैसा मुँह बनाया, सीप जैसी आँखें इत्यादि। जब उनमें प्राण-संचालन करने लगे तो सम्भावित पुरुषों ने आकर उनसे निवेदन किया कि आप यह क्या कर रहे हैं? विश्वामित्र ने कहा कि नयी सृष्टि रचने जा रहा हूँ। महर्षियों ने कहा कि आप समर्थ हैं, रच लेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है किन्तु तनिक विचार करें कि दुःख भोगने के लिए तो दुनिया भर के जीव पड़े ही हैं। आप उन्हीं को और पैदा करने जा रहे हैं। दुःख भोगने के लिए आत्माओं का सृजन आपको शोभा नहीं देता। संसार में इतने जीव दिन-रात हाय-हाय कर रहे हैं। आपको तो ऐसा कुछ करना चाहिए जिससे इन दुःखों से छूटने का कोई मार्ग निकल आये। संसार को न रचकर संसार को पार करा देनेवाली कोई युक्ति रचें। ऐसा सुनकर विश्वामित्र ने अपने उस विचार को बदला। तपस्या में संलग्न हो गये और क्रमशः उस परब्रह्म परमात्मा का दिग्दर्शन कर उसी स्वरूप में परिपूरित हो गये। ब्रह्म से संयुक्त होते ही वे ब्रह्मर्षि कहलाने लगे। इस प्रकार मनीषियों ने मायिक चमत्कारों का कभी भी श्रेय नहीं माना।

विद्यार्थियो! अब तक आपने साइंस पढ़ा जो वस्तुतः आसुरी माया है, जो अधिक बढ़ जाने पर भगवान तक को तिलांजलि दे देता है। यह "खाओ पीओ मौज करो" की ओर ही घूमता है। भ्रमवश इसे ही आपने विज्ञान समझा था और वैज्ञानिक कहलाते रहे। किन्तु अब आप वास्तविक विज्ञान की ओर

बढ़ें, जिसे जान लेने पर और कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। जिसे पा लेने पर और कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता, केवल वही आपको पूर्ण आत्मिक तुष्टि प्रदान करने में सक्षम है।

ॐ

गो-प्रकरण

प्रश्न :- महाराज जी! आप कहते हैं कि अवतार योगी के लिए है, किन्तु 'मानस' में तो गाय के लिए अवतार हुआ। गाय के शरीर में देवताओं का निवास है। गाय हमारा धर्म है। क्या गो-रक्षा के लिए अवतार नहीं हुआ?

उत्तर :- हिन्दू धर्म में गाय के महत्त्व पर प्रायः आन्दोलन हुआ करता है। आज सर्वत्र माँग उठ रही है कि भारत में गो-वध बन्द किया जाय। लाखों भावुक इसके लिए प्राणों की आहुति दे चुके हैं। एक समय हिन्दू-धर्म के प्रचारक बम्बई पहुँच गये। भाविकों ने सत्संग में समस्या रखी कि जब भी धर्म-परिवर्तन होता है, हिन्दुओं को ही फोड़ा जाता है। हिन्दू ही मुसलमान बने, ईसाई भी हिन्दू ही बने। क्यों न हम लोग भी अन्य धर्मावलम्बियों को हिन्दू धर्म में प्रवेश दें। प्रचारक ने कहा, "मुसलमानों को हिन्दू तो बनाया जा सकता है किन्तु उनके पेट में जो गो-मांस चला गया है, उसका क्या होगा?" न जाने कब खाया, अभी वह पेट में पड़ा ही है।

भाविकों ने कहा कि "महाराज! अनर्थ तो हो ही गया। अब उपाय क्या है?" धर्म-प्रचारक ने कहा, "एक उपाय है। सम्पूर्ण तीर्थों की वे पैदल तीर्थयात्रा करें, पुनः काशी में यज्ञ इत्यादि के द्वारा उन्हें शुद्ध करके हिन्दुओं की एक अलग जाति बनाकर रखा जा सकता है।" अब किसे पागल कुत्ते ने काटा है कि भारत भर की पैदल यात्रा करे? दूसरे धर्म में भी भोजन मिलता ही है, वस्त्र और मकान हैं ही, धर्म के नाम पर भी कुछ न कुछ करते ही हैं। हिन्दू-धर्म में कौन सा आकर्षण विशेष है; जबकि जातीय समानता भी मिलने से रही। अन्य जाति के रूप में उपेक्षित होकर रहना कौन चाहेगा?

वस्तुतः ऐसी मान्यताएँ हिन्दू-धर्म के यथार्थ स्वरूप को न जानने के कारण

ही हैं। मनीषियों की व्यवस्थाओं; मर्यादा पुरुषोत्तम राम, योगेश्वर श्रीकृष्ण के निर्देशों एवं आचरण से ही यह जान सकना संभव है कि शास्त्रों का यथार्थ सनातन स्वरूप क्या है? मानस में उल्लेख है कि हनुमान जब सीतान्वेषण हेतु लंका गये तो सर्वप्रथम एक ऊँचे शिखर पर चढ़कर शत्रु की गति-विधियों को परखा। उन्होंने देखा कि विशालकाय निशाचर नगर के चारों ओर पहरा दे रहे हैं। कहीं मल्लयुद्ध-कला का अभ्यास कर रहे हैं तो कहीं "महिष मानुस धेनु खर अज खल निशाचर भच्छहीं" भैंस, मनुष्य, गाय, गधा और बकरों को अधम निशाचर खा रहे थे। वे गाय खाते थे उनके पेट में गो-मांस भी था। उससे भी अधिक महत्त्व रखनेवाले विप्रों का मांस भी उनका आहार था फिर भी रावण से संत्रस्त होकर जितने भी निशाचर राम की शरण में आये उनको राम ने स्थान दिया। विभीषण, उनके मंत्री, रावण का विश्वस्त गुप्तचर-सबको राम ने अपने यहाँ स्थान दिया। ऐसा स्थान नहीं कि तुम आज से हिन्दू तो हो गये, किन्तु शूद्र रहोगे बल्कि उन्हें गले लगाया और अयोध्या की भरी सभा में "भरतहुँ ते मोहिं अधिक पियारे" घोषित किया। राम के हृदय में जो स्थान भरत का था उतना ही बड़ा स्थान उन निशाचरों का भी था। यद्यपि वे गो-मांस भक्षी थे, विप्र-मांस भी उनका भोजन था फिर भी राम ने सगे भाई से बढ़कर उन्हें माना। उन्हें वही स्थान दिया जो सगे भाई का होता है। इस प्रकार वे भी शुद्ध सनातन धर्मी हुए। राम की तो घोषणा है कि पुरुष हो, नारी हो अथवा नपुंसक, चराचर का कोई भी जीव जो कपट तजकर सर्वतोभावेन मुझे भजता है वह मुझे परमप्रिय है। चराचर का अर्थ भारत ही नहीं होता, विश्व का कोई भी प्राणी सनातन-धर्मी हो सकता है। तुलसीदास जी की मान्यता है कि "श्वपच शबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात" भी नाम के प्रभाव से परम पावन हो जाते हैं तथा चौदहों भुवनों में अत्यन्त सम्मानित बन जाते हैं। अतः सनातनधर्म में सबका अधिकार है।

जो अन्यथा कहते हैं वे सनातन धर्म को नहीं जानते बल्कि सनातन धर्म के नाम पर किसी रूढ़ि के शिकंजे में फँस गये हैं। भला जान-बूझकर कौन फँसना चाहेगा?

प्रश्न खड़ा होता है कि हमारे धर्म में गाय कब से आयी? धर्म-प्रेमियों के एक समूह में हमने पूछा कि धर्म के स्थान पर गाय कब आयी? उन्होंने कहा अनादिकाल से। हमने जानना चाहा कि शास्त्रों में कोई उल्लेख है। उन्होंने बताया- "कृष्ण गाय चराते थे"। हमने कहा कि यादव परिवार में पालन-पोषण हुआ तो गाय न चराते तो हाथी-घोड़ा कहाँ से पाते? जिस परिवार में जन्म होता है, बचपन में वैसी ही व्यवस्था भी मिलती है। रैदास को चमड़ा मिला था, मीरा को सिंहासन मिला था और राम को धनुष-बाण मिला था तो क्या धनुष धर्म है? बड़े होने पर कृष्ण ने गाय नहीं चरायी? हमने प्रश्न रखा कि क्या और भी कोई प्रमाण है? इसके पश्चात् उनके पास कहने को कुछ नहीं था। हाँ, हठधर्मिता अवश्य थी। सन्देह की दृष्टि से देखने अवश्य लगे कि गाय के विरुद्ध कहनेवाले ये कहीं मुसलमान तो नहीं हैं?

क्या गाय वस्तुतः धर्म है? उपनिषद् के ऋषियों का कहना है कि सृष्टि में धर्म है तो मानव है। उनका निर्णय है- "गुह्यं ब्रह्मतदिदं ब्रवीमि। न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।।" बड़े रहस्य की बात कहता हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। मनसहित इन्द्रियों की दरार पाट ली जाय, इन्द्रियों की त्रुटियों का निवारण कर लिया जाय तो मनुष्य के रूप में परमात्मा देखा गया। योगेश्वर श्रीकृष्ण का भी यही उपदेश है कि आत्मा ही शत्रु तथा आत्मा ही मित्र है। जिस पुरुष के द्वारा इन्द्रियाँ जीती गई हैं, उसके लिए उसी की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है, परम कल्याण करनेवाली होती है तथा जिस पुरुष के द्वारा इन्द्रियाँ नहीं जीती गई हैं, उसी के लिए उसी की

आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतती है, अधोगति तथा नीच योनियों में फेंकने वाली होती है। अतः अर्जुन तू इन इन्द्रियों को सब ओर से समेटकर मेरा ही चिंतन कर। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू मेरे स्वरूप को प्राप्त होगा अर्थात् जैसा स्वरूप कृष्ण का है, उसी स्वरूप में अर्जुन भी स्थित होगा। स्पष्ट है कि मानव ही परम धर्म परमात्मा तक पहुँच सकता है। देवता तक इसी नर-तन से आशावान हैं। पशु-पक्षी, पेड़-पौधे हमारा धर्म नहीं हो सकते। परम-धर्म तो परमात्मा ही है।

फिर गाय का इतना महत्त्व क्यों है? वैदिक काल से ही गाय का विशिष्ट स्थान रहा है। द्वापर काल तक भैंस का दूध दूहा जा सकता है, ऐसी कल्पना भी नहीं थी। महाभारत-काल में भीष्म एवं द्रोण के पश्चात् दुर्योधन की व्यूह-व्यवस्था भंग होने लगी तो कर्ण को मुख्य सेनापति बनाया गया। कर्ण ने कहा कि मैं अर्जुन को मार सकता हूँ किन्तु सारथी कृष्ण-जैसा होना चाहिए। विचार-विमर्श हुआ तो पता चला कि वैसा रथ-संचालन तो शल्य ही कर सकते हैं। शल्य का आह्वान हुआ। दुर्योधन ने प्रस्ताव किया- "राजन्! हमारे हित के लिए आप कर्ण का सारथित्व सँभालें।" शल्य बहुत बिगड़ा, बोला- "मुझे कायर और कर्ण को बहादुर समझते हो? हमारा हिस्सा निर्धारित कर दो, शाम तक सबको काटकर स्वदेश लौट जाऊँगा।" वह मद्र देश (मद्रास) का राजा था। बोला- "मै मूर्धाभिषक्त राजा हूँ। यह कर्ण तुम्हारे टुकड़े पर पलने वाला है। मैं इसका सारथी नहीं बन सकता।" ऐसा कहकर शल्य उठ खड़ा हुआ और जाने लगा। दुर्योधन ने क्षमा माँगी और बोला- "राजन्! मेरा यह प्रयोजन नहीं था। बात यह थी कि आप-जैसा सारथी कोई नहीं है। एक आप है और दूसरे कृष्ण! और योद्धा तो आप-जैसा कोई है ही नहीं। आप कृष्ण से भी अधिक शक्तिशाली हैं।" शल्य लौट पड़ा, बोला- "इतने राजाओं के बीच में तुमने मुझे कृष्ण से भी शक्तिशाली कहा है। अतः

मैं तुम्हारे हित के लिए कर्ण का सारथित्व भी करूँगा किन्तु मैं जो भी कड़वी बात कहूँ, कर्ण उसे सहन करे क्योंकि मैं नरेश हूँ और यह सूत-पुत्र तुम्हारे टुकड़ों पर पलने वाला है।'' कर्ण ने भी दुर्योधन के हित में यह शर्त स्वीकार किया।

युद्धभूमि में जब शल्य ने कर्ण को कड़वी-कड़वी बातें सुनाना प्रारंभ किया तो कर्ण से न रहा गया। उसने शल्य से कहा, ''तुम उस नीच जाति के लोगों के राजा हो जहाँ लोग लहसुन को दूध से खाते हैं। हमारे यहाँ सभी लोग स्वच्छ एवं साफ-सुथरे हैं, तुम्हारे यहाँ भेंड़-बकरी-गधी और ऊँटनी का दूध पीते हैं।'' स्पष्ट है कि बकरी के दूध का आविष्कार था, भेंड़ के दूध का आविष्कार था, गाय-गधी और ऊँटनी के दूध का प्रचलन था किन्तु ''भैंस का भी दूध होता है''- ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

भैंस और भैंसे जंगली जानवर अवश्य थे। आज भी जंगली भैंसे हैं जिनका शिकार होता है। बनवास काल में एक दिन भीम शिकार खेलने गये। कुछ समय पश्चात् महाराज युधिष्ठिर को अपशकुन होने लगे। युधिष्ठिर को लगा कि भीम संकट में हैं। ऋषियों को साथ लेकर युधिष्ठिर भीम की शोध में निकल पड़े। रास्ते में उनको भीम द्वारा आहत एवं मृत सैकड़ों शेर मिले, सैकड़ों भैंसे पड़े मिले, गैंडे मिले, जंगली हाथी भी मिले। इन्हीं चिह्नों का अनुकरण करते हुए वे वहाँ पहुँचे जहाँ अजगर वेश में नहुष से लिपटा भीम निश्चेष्ट पड़ा था। युधिष्ठिर ने नहुष के प्रश्नों का समाधान कर भीम की जीवन रक्षा की।'' इस प्रसंग में भीम द्वारा मारे गये भैंसों का उल्लेख है। भैंसे, शेर तथा हाथी जंगली जन्तु थे। दुधारू पशुंओं में भैंस का उल्लेख महाभारत काल तक नहीं पाया जाता।

इसीलिए गाय पूजनीय थी क्योंकि दूध देने वाले पशुओं में वही सर्वश्रेष्ठ थी।

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान।।

कृषि-कार्य करने के लिए गो का विशेष महत्त्व था। उस समय विराट के पास गोधन सबसे अधिक था जिससे दुर्योधन आदि नरेश स्पर्धा किया करते थे। बैलों से खेती होती थी, आज की तरह ट्रैक्टर नहीं थे। दूध, दही, घी, अन्न, खाद इत्यादि अत्यन्त उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन का एकमात्र आधार गाय थी। अतएव गाय सर्वश्रेष्ठ धन थी और धन की पूजा तो होती है।

'गज धन'-हाथी एक धन था। युद्धों में टैंक के स्थान पर हाथियों का समूह बढ़ा दिया जाता था। किलों का फाटक तोड़ने के लिए तथा सैनिकों को विचलित करने के लिए हाथी ही एकमात्र साधन था। रास्ता बनाने के लिए, पेड़ों को गिराने के लिए तथा सवारी एवं शृंगार के लिए भी उसका महत्त्व था। इसलिए हाथी की भी पूजा होती थी। उसका स्थान टैंकों और तोपों ने ले लिया तो हाथी को अनावश्यक चारा कौन खिलाए? पहले उसी की पूजा होती थी। आज भी उसका अस्तित्व है किन्तु क्षीणं होता जा रहा है। या तो कुछ लोग भीख माँगते समय 'गणेश जी' कहकर उसकी पूजा कराते हैं अथवा विवाह या कुछ पर्वों पर गजशाला पूज ली जाती है। गज की पूजा समाप्त होती जा रही है क्योंकि वह अब धन के स्थान से च्युत होता जा रहा है।

'बाजिधन'-घोड़ा एक धन था। प्रारंभ में आवागमन के तीव्रतम साधन में उसकी गणना थी। राजा-महाराजाओं के पास जितने अधिक घोड़े और रथ होते थे, उतने ही सम्पन्न समझे जाते थे। मोटर, हवाई जहाज इत्यादि सुलभ तीव्र साधनों के समक्ष घोड़ा भी महत्त्वहीन हो चला है। प्रारंभ में घोड़ा की पूजा होती थी क्योंकि धन था। अब वह भी धन के स्थान से च्युत हो चला

है इसलिए उसकी पूजा का प्रचलन भी अस्तित्व खोता जा रहा है।

'रतनधन' की पूजा पहले भी होती थी और आज भी होती है। सोना, जवाहरात आज भी अपने स्थान पर हैं। उनका स्थानापन्न कोई दूसरा स्वरूप सामने नहीं आया। उनसे भी उपयोगी द्रव्य अभी आविष्कार में नहीं हैं। इसलिए वे धन के स्थान पर यथावत् हैं। दीपदान के समय लक्ष्मी-पूजन की प्रथा अब भी है।

इस प्रकार प्राचीन काल में गाय की पूजा इसलिए होती थी कि वह सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति थी। विराट इत्यादि जिन राजाओं के पास अधिक गोधन था, उनका विशेष महत्त्व था। दूसरे नरेश भी गोधन लूटकर अपनी सम्पत्ति बढ़ाने की ताक में रहते थे। प्राचीन शिक्षा में गोचारण भी अनिवार्य विषय था। राजकुमार भी गाय चराते थे। जिससे गोधन की गतिविधियों से अवगत हो जायँ और उनकी रक्षा कर सकें। आज गाय की अपेक्षा भैंस दूध की अधिक पूर्ति करती है। कृषि भी ट्रैक्टरों पर आधारित होने लगी है। बैल उपेक्षित होते जा रहे हैं। विदेशों में तो बैल से खेती करने की कल्पना भी नहीं रह गई। खाद की समस्या भी दूसरी तरह से हल हो रही है। रासायनिक उर्वरक आवश्यक हो रहे हैं। इस प्रकार गाय अब धन के स्थान से च्युत हो रही है किंतु अंत में च्युत हुई इसलिए अभी घाव ताजा है। प्राचीन प्रथा को तोड़ते संकोच लग रहा है। सहन नहीं हो रहा है कि वह हमारा धर्म नहीं है। वस्तुतः गोधन थी इसलिए पूजा होती थी, न कि वह हमारा धर्म या उसका अंग है। भारत ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में गाय की पूजा होती थी क्योंकि वह धन था। वैदिक वाङ्मय में धर्मशास्त्रों में स्थान-स्थान पर गो-रक्षा का निर्देश है। उस साहित्य में मनसहित इंद्रियों को 'गो' कहा जाता था। 'मानस' में भी इसी आशय से 'गो' का प्रयोग है। 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया

जानेहु भाई।। ३।१४।१३।। इंद्रियाँ और इंद्रियों के विषयों में जहाँ तक मन कल्पना कर सकता है, उसे माया जानना चाहिए। जिन महापुरुषों ने मनसहित इंद्रियों को संयमित कर लिया उन्होंने तत्क्षण परम धर्म परमात्मा में प्रवेश पा लिया। काम, क्रोध, मद, लोभ इत्यादि के द्वारा इन्द्रियाँ विकृत होती हैं, विषयों में बिखर जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं यही इंद्रियों का वध है, यही गो-वध है। विवेक, वैराग्य, नियम,संयम, ध्यान और समाधि द्वारा मन सहित इंद्रियाँ केन्द्रित होती हैं। यही गो-रक्षा है।

अत: 'गो-वध बंद करो' 'गो-रक्षा करो' 'तभी धर्म की जय होगी, परमधर्म परमात्मा पर विजय मिलेगी। गो-रक्षा पर ही धर्म निर्भर है।यदि हमें परमधर्म की चाह है तो गो-रक्षा करें, उन्हें संयत करें। यदि इन्द्रियाँ विकृत हैं तो आप परमात्मा की पूजा नहीं कर सकेंगे। मनसहित इंद्रियों के निरोध के साथ ही उस पूजन का विधान है। इसलिए गो-रक्षा सनातन धर्म का सर्वोपरि अंग है।

साधना के सही दौर में पड़कर जब मन इष्ट के चरणों में लगते लगते अतिसूक्ष्म होने लगता है, तहाँ ब्रह्म-पीयूष का स्रोत योगी के हृदय में मिलने लगता है। यह आनन्द-स्रोत ही नन्दिनी है। यही इंद्रियाँ जब पूर्णत: साध ली जाती हैं, उस अवस्था में यही गो कामधेनु हो जाती है। इन्द्रियाँ जब तक विषयोन्मुख दौड़ती हैं, इच्छित वस्तुओं के लिए मन दौड़ता रहता है, पूर्ति नहीं होती, किंतु मनसहित इन्द्रियाँ जब सिमटकर इष्ट के तद्रूप अचल स्थिर ठहर जाती हैं, उस समय इच्छायें शक्ति से संयुक्त हो जाती हैं, फिर तो "जो इच्छा करिहउ मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं"। उस समय कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता और अंत में जब यह द्रष्टा जीवात्मा अपने परमात्म स्वरूप में स्थित हो जाता है उस समय कामना ही नहीं रह जाती। "पाप पुण्य की करे न आसा। सो पहुंचा रघुनायक पासा" उससे श्रेष्ठ आगे कुछ सत्ता ही नहीं है तो कामना किसकी करें। ऐसा पुरुष पूर्णकाम होता है।

इस प्रकार योगशास्त्रों में 'गो' का तात्पर्य इन्द्रिय ही होता है। मन सहित इन्द्रिय-समूह को विकृत न करें, इनका संयम करें, गो रक्षा करें। जब हम वासनाओं से इन्द्रियों की रक्षा करने में सक्षम होंगे, परमधर्म परमात्मा विदित हो जायगा। इसलिए यदि धर्म की आवश्यकता है तो गो-रक्षा करें किंतु ऐसा नहीं कि किसी पशु का पीछा कर बैठे। यदि पूर्वजों ने किसी पशु का पीछा किया हो तो आप करें। किंतु धर्म-ग्रन्थों में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। पशु के रूप में गाय, बैल, हाथी तथा घोड़ों की पूजा करना 'धर्म' नहीं है। गाय का महत्त्व सामाजिक एवं आर्थिक उपादेयता के कारण था और धन तो आज भी पूजा जाता है।

आर्थिक महत्त्व की दृष्टि से गायों का संवर्धन विदेशों में भी रहा है। मुहम्मद साहब ने कुरान शरीफ में लिखा है कि गाय पालतू पशु है, यह मारने की चीज नहीं है, इसकी रक्षा करो। 'कुरआन' का दूसरा सूरा 'अलवकर' है। गाय को अरबी में 'बकर' कहते हैं। वहाँ भी इन्द्रियों के दमन का निर्देश है। जिसे अल्पज्ञ 'गो-कुशी' मान लेते हैं। वहाँ विचित्र गाय का उल्लेख है जो न खेत जोतती हो, जिस पर जुआ न रखा गया हो, जो खेत को पानी न देती हो, एक रंग की हो, किसी दूसरे रंग की मिलावट न हो। सुनहले रंग की हो, ऐसी गाय को ईश्वर के निमित्त मारना है। यहाँ भी इन्द्रियों द्वारा विषय सेवन का निरोध कर विशुद्ध अंतःकरण से उन्हें ईश्वर में लगा देने मात्र का निर्देश है। मुहम्मद साहब ने गाय के दूध और मां के दूध को समान माना है और गायों की रक्षा पर बल दिया है। बकरीद का पर्व और उसमें गायों को काटना कुरान में कहीं नहीं लिखा है। किंवदन्ती है कि ईश्वर ने रसूल से उसकी प्रिय वस्तु माँगी। उसने अपने पुत्र की बलि दी तो पुत्र के स्थान पर "बकरा" हो गया, लड़का बच गया। किंतु कुरान में बकरीद की चर्चा तक नहीं है। खाने-पीने का एक तरीका धर्म के नाम पर चल पड़ा।

मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया तो गाय के प्रति हिंदुओं की कमजोरी को भाँप लिया। महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी तथा बाबर आदि सभी ने गायों को आगे करके आक्रमण किया। स्वस्तिवाचक पुजारियों के निर्देश पर धर्मभीरू क्षत्रियों ने गोमाता की रक्षा के लिए शस्त्र नीचे रख दिये। मुट्ठी भर मुसलमानों ने गाय की ओट से निशाना लेकर पहले तो सैनिकों को मारा, पंडितों को पकड़कर मुसलमान बना लिया और हिंदुओं की भावनाओं को उत्पीड़ित करने के लिए गायों को भी भूनकर पचा लिया, जिसका इतिहास साक्षी है। अकारण ही हिंदुओं का पतन हो गया। मुसलमानों ने ऐसा जो किया उनका दोष नहीं है, दोष तो हमलोगों का है जो हमने धर्म को नहीं समझा और धर्म के नाम पर रूढ़ि पूजी जाने लगी। अतः पशु-पूजा, वृक्ष-पूजा, नाग-पूजा जैसी रूढ़ि न अपनावें। धर्म का वास्तविक रहस्य एवं उसकी क्रिया समझने के लिए किसी तत्त्वदर्शी महात्मा की शरण में जायँ।

यदि भगवान के अलावा और कोई धर्म हो तो आप ही बतायें। क्या गीता, क्या रामायण, क्या उपनिषद्, क्या धर्म योग-दर्शन, सब में साधनाओं की ऊँची-नीची अवस्थाएँ तो ध्रुव अकाट्य है। इन अवस्थाओं का चित्रण तो अवश्य मिलेगा किंतु वह अलग-अलग धर्म नहीं है।

ॐ

''आर्य''

प्रश्न- महाराज जी! अंग्रेज इतिहासकार भारत के इतिहास को आर्यों का इतिहास तो मानते हैं, लेकिन उनका कहना है कि आर्य भारत के रहने वाले नहीं थे बल्कि भारत के बाहर से, यूरोप की ओर से आये थे। आर्य गोरे थे, अंग्रेज भी गोरे हैं; अतः अंग्रेज ही शुद्ध आर्य हैं, म्लेच्छ नहीं। यह देश सदैव विदेशियों द्वारा जीता गया, अतः अंग्रेज राज्य करने आये तो बुरा क्या है? अंग्रेज यह भी कहते हैं कि आर्यों के आने से पहले भारत में असभ्य काले लोग रहते थे। आर्यों ने उनको दक्षिण भारत की ओर खदेड़ दिया। सिन्धु नदी के किनारे सभ्य लोगों की पुरानी बस्तियाँ खुदाई में आयीं तो अंग्रेजों ने कहा कि अपवाद रूप में कुछ काले लोग सभ्य हो गये थे। इसीलिए इस सभ्यता को आर्यों से भिन्न माना जाता है और इसे केवल सिन्धु घाटी की सभ्यता कहते हैं। सिन्धु घाटी में कोई मन्दिर नहीं मिला, और जो कहते हैं कि लाखों शिवलिङ्ग मिले हैं, वास्तव में मूसल, लोढ़े और सिल बट्टे हैं- ऐसा अर्नेस्ट मैके ने लिखा है। आर्य और अनार्य का प्रश्न खड़ा करके दक्षिण भारत में राम का पुतला जलाया गया। अंग्रेज यह भी कहते हैं कि पहले के भारतीय इतिहास लिखना ही नहीं जानते थे। उसमें सन्-तारीख लिखा ही नहीं गया, इसलिए पुराणों में वर्णित इतिहास गप्प है। भारतीय ग्रन्थों में लाखों वर्ष पहले का इतिहास लिखा गया है जबकि 'बाइबिल' में मानव-सृष्टि चार हजार पहले की बताई गई है। इधर मुसलमान कहते हैं, चौदहवीं शताब्दी के बाद यहाँ प्रलय हो जायगा। इन विचारों में कहाँ तक सत्यता है?

उत्तर- भारतीय इतिहास के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ हैं, इसमें सन्देह नहीं है। इतिहास लेखन की ही बात लीजिए। हमारा इतिहास वेद में है,

पुराणों में है; उसे अंग्रेज इतिहास मानने को तैयार ही नहीं हैं। महाराज हर्ष के समय में चीन का एक यात्री 'ह्वेनसांग' भारत आया था, उसने लिखा है कि प्रत्येक गाँव में एक कर्मचारी होता था जो अच्छी-बुरी सभी घटनाओं को लिखता था। इतिहास और कैसा होता है? उससे भी हजार वर्ष पहले चाणक्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन में प्रत्येक गाँव में 'अक्ष पटल' विभाग होता था जो गाँवभर के धर्म, व्यवहार, चरित्र और अच्छी-खराब घटनाओं को रजिस्टर में दर्ज करता था। सिकन्दर के जहाजी बेड़े के एडमिरल नियार्कस ने लिखा है कि भारतीय लोग कपड़े पर भी लिखते थे। अत: भारत में लिखने की परम्परा थी--यह निर्विवाद है।

प्रश्न उठता है कि पहले का इतना अधिक हमारा लिखित इतिहास कहाँ है? तो आप जानते हैं कि शान्ति-प्रिय भारतीयों के साहित्य अनेकानेक आक्रमणों में जलाये जाते रहे। विश्वविख्यात नालन्दा विश्वविद्यालय का पुस्तकालय तीन वर्ष तक लगातार जलता रहा। पहले पुस्तकें बड़े परिश्रम से लिखी जाती रहीं। आजकल की तरह प्रेस, साधन नहीं थे। अत: उनको पुस्तकालयों में सुरक्षित रखा जाता था। हूणों ने, मुसलमानों ने; आक्रमणकारियों ने सारा साहित्य ही समाप्त करने का प्रयास किया। वेद,पुराण, रामायण, महाभारत इत्यादि जो गिने-चुने ग्रन्थ बच रहे हैं, वे तो लोगों के याद रहने के कारण और घर में पड़ी रहने से बच गये। भारत में श्रुतिधरों की कमी कभी नहीं रही और आज भी इन शास्त्रों को कण्ठस्थ करनेवाले विद्वान् भारत में भरे पड़े हैं। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत की सामग्री आध्यात्मिक दृष्टि से इतनी बहुमूल्य थी कि लोगों ने उसे कण्ठस्थ करना ही श्रेयस्कर समझा और इन्हीं के माध्यम से प्राचीन गौरवशाली इतिहास की भी एक झलक हमें मिल जाती है। यह बात अलग है हमारे साहित्य को अंग्रेज इतिहास की संज्ञा नहीं देते। उनकी दृष्टि में जब तक किसी घटना की तारीख और सन् न हो

तब तक इतिहास कैसा? तारीख लिखना तो अंग्रेजों ने दो हजार वर्ष से सीखा, यहाँ तो अरबों वर्ष का इतिहास है। हमारे पूर्वज इतने तुच्छ स्तर पर सोचते भी नहीं थे।

एक अंग्रेजी कहानी है। लन्दन में एक पादरी रहता था। बहुत धार्मिक था। बूढ़ा हो चला था अतः सोचता था कि मेरे महान् आचरण पर प्रसन्न होकर परमपिता मुझसे स्वर्ग के दरवाजे पर ही मिलेंगे, स्वागत करेंगे। एक दिन उसने सपने में देखा कि वह मर गया और स्वर्ग के दरवाजे पर पहुँच गया है। दरवाजा बन्द था, बहुत ही विशाल था। उसने दरवाजा खोलना चाहा किन्तु वह टस से मस नहीं हुआ। पादरी सोचने लगा, संभवतः परमपिता को मेरे आने की सूचना न मिली हो, अतः वह दरवाजा पीटने लगा किन्तु उससे इतनी भी आवाज नहीं हुई जितनी चींटी के पीटने से होती है। बूढ़ा पादरी हाँफने लगा। दरवाजा पीटने में उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी। भीतर से किसी के आने की आहट मिली। आनेवाले ने दरवाजे में बनी खिड़की से बाहर झाँका तो इतना प्रकाश निकला कि बूढ़ा पादरी चौंधिया गया और दरवाजे से दुबककर खड़ा हो गया। बिजली सी कड़की--कौन है? पादरी थर-थर काँपने लगा। मरियल सी आवाज में बोला--'पहले आप अपना सिर भीतर कर लीजिये। इतना प्रकाश मुझ से सहन नहीं हो रहा है।' आगन्तुक ने सिर भीतर किया तो पादरी ने पूछा--'क्या आप परमात्मा हैं?' भीतर से आवाज आई कि 'नहीं, मैं तो उनका एक मामूली नौकर और यहाँ का चौकीदार हूँ।'

'चौकीदार' शब्द सुनते ही पादरी को अपना सम्मान याद आ गया, बोला- 'जाओ, परमपिता से कह दो कि उनसे मिलने लन्दन का पादरी सेन्टपाल आया है।' चौकीदार ने पूछा--'लन्दन कैसा?' पादरी ने बताया, 'ब्रिटेन में लन्दन है।' चौकीदार ने पुनः कहा, 'अपना पता ठीक-ठीक बताओ, ब्रिटेन

क्या होता है?' पादरी ने सोचा चौकीदार गँवार है; इसे विस्तार से समझाना होगा। बोला--'देखो! आकाश में जो सूर्य है उसके कई ग्रह-उपग्रह हैं, जिनमें से एक पृथ्वी है। पृथ्वी पर अनेक देश हैं, उनमें से एक ब्रिटेन है। ब्रिटेन में अनेक धर्मावलम्बी रहते हैं, उनमें मैं ईसाई हूँ। ईसाइयों के अनेक गिरजाघर हैं। उनमें से सबसे बड़े गिरजाघर का सबसे बड़ा पादरी मैं सेन्टपाल हूँ।' चौकीदार ने कहा, 'देखो! तुम अनावश्यक समय बर्बाद कर रहे हो। सबसे पहले तुम यह बताओ कि किस सूर्य से आ रहे हो?' पादरी चौंका--'क्या सूर्य भी कई हैं?' चौकीदार ने कहा, 'कई नहीं, अनन्त कहो। अनन्त आकाश में दिखाई पड़नेवाले अनन्त सितारे सूर्य ही हैं। एक-से-एक बड़े हैं। प्रत्येक के अनेकों ग्रह हैं, अनन्त पृथ्वी हैं। अब बताओ तुम किस सूर्य के किस पृथ्वी के किस लन्दन से आये हो?' उत्तर न पाकर चौकीदार ने उसे वहाँ से ढकेल दिया। नीचे गिरते ही पादरी की नींद खुल गई, उसे बोध हो गया कि छोटे-मोटे पुण्य पर हमें इतराना नहीं चाहिए।

जिस प्रकार सूर्य अनन्त हैं, पृथ्वी अनन्त हैं, उसी प्रकार समय भी अनन्त है। इस अनन्त समय को महीनों और वर्षों में गिनना उसी तरह हास्यास्पद है जैसे समुद्र की जलराशि को मापने के लिए लीटर की ईकाई निर्धारित करना। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने लाखों वर्षों के कलियुग, द्वापर, त्रेता इत्यादि युगों की कल्पना की जो ब्रह्मा का एक दिन भी नहीं है। इसीलिए उन्होंने सन्, सम्वत्, तारीख- जैसे छोटे पैमानों का उपयोग इतिहास लेखन में नहीं किया। मनीषियों की सारग्राहिणी दृष्टि में घटनाओं का महत्त्व होता था, तारीख का नहीं। किसी महापुरुष के जन्म-मृत्यु की तारीख क्या लिखी जाय, जबकि आत्मा का न तो जन्म होता है, न मृत्यु होती है? यह तो विराट प्रभु तक की यात्रा के विभिन्न पड़ाव हैं। यात्री की दृष्टि लक्ष्य पर ही रहती है। पड़ाव पर नहीं। आजकल के भौतिकवादी अपने नाम का प्रचार करने के लिए सड़क,

पार्क, गार्डेन, शहर के नाम अपने से जोड़ देते हैं, पर महर्षियों ने अपना स्मारक सितारों पर बनाया जो युगों तक मानवता को अनुप्राणित करते रहेंगे। विक्टोरिया पार्क से गांधी पार्क भले ही बन जाय, किन्तु ध्रुव तारा, सप्तर्षि मण्डल, अगस्त्य तारा युगों तक उनकी उपलब्धियों का स्मरण कराता रहेगा। तुच्छ स्मारकों अथवा पैमानों में पूर्वजों की कोई रुचि नहीं थी। जिन महापुरुषों के इतिवृत्त से जीव का वास्तविक कल्याण सम्भव है केवल उन्हीं आख्यानों को मनीषियों ने संकलित किया, साथ ही लोक शिक्षण हेतु दुर्जनों का उदाहरण भी संग्रहीत कर लिया। चाणक्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि इतिहास के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सभी आते हैं।। अर्थ. १/५।। पुराण का अर्थ ही पुरानी घटनाएँ हैं। अतः भारतीय आर्षग्रन्थों में निहित हमारा इतिहास सर्वथा प्रामाणिक है। महाभारत की घटना आज से पाँच हजार उन्नासी वर्ष पहले की है-ऐसा शिलालेखों तथा पंचाङ्गों की परंपरा से प्रमाणित है। महाभारत में रामायण की घटना का संकेत है। रामायण पुराण, शास्त्र, उपनिषद और वेदों का सारांश है। जिससे स्पष्ट है कि उक्त ग्रन्थ और भी प्राचीन हैं। अतः यदि आज कोई विश्व की सभ्यता को चार-छः हजार वर्ष पहले तक ही सीमित कहे तो उसका केवल यही आशय है कि वह अपने चार-छः हजार वर्ष पहले से सभ्य होने का दावा कर रहा है। रही प्रलय और महाप्रलय की बात! तो पूज्य महाराज जी का कहना था कि सृष्टि अनादि है और रहेगी। प्रलय न हुआ है, न होगा।

वस्तुतः 'प्रलय', 'महाप्रलय' योग के शब्द हैं। प्रलय के चार रूप होते है--नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्रलय और महाप्रलय। नित्य प्रलय वह है जिसमें आप सो जाते हैं, आपके लिए सृष्टि डूब गई और सृष्टि के लिए आप अदृश्य हैं। नैमित्तिक प्रलय वह है जब आप नियम में ढल जाते हैं। नियम में बँधकर जब श्वास की डोरी लग जाती है, मन सब ओर से सुध-

बुध खोकर इष्ट के चरणों में केन्द्रित होने की क्षमता पा लेता है, उस समय संसार और संसार की लहरें आप में नहीं रह जातीं। प्रलय वह है जब आपके जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों की रील का शमन हो जाता है तथा महाप्रलय तब होता है जब संस्कारों से परे शाश्वत सत्ता का दिग्दर्शन और उसमें स्थिति मिलती है। प्रकृति पुरुषत्व में विलीन हो जाती है, यही 'महाप्रलय' है। न सृष्टि है, न हम हैं, न होंगे। सेवक खो जाता है और स्वामी ही शेष बचता है। ईश्वर की स्थिति और विलय वाला स्तर जब आता है तो 'ईशावास्यमिदं सर्वं' ईश्वर ही सर्वत्र दिखाई पड़ता है। यह स्थिति कहने में नहीं आती। इसीलिए बुद्ध आदि ने मूक प्रेरणा से इसे व्यक्त किया। शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद इस स्थिति पर पहुँचे तो उन्होंने कहा सृष्टि हुई ही नहीं; जब कि उन्हीं के हजारों शिष्य कल्याण के लिए साधन ही कर रहे थे। हाँ, जिसने पाया उसके स्वरूप में सृष्टि नहीं रह गई। जो भी ईश्वरमयी स्थिति पाता है, उसी में फना हो जाता है, मिट जाता है, उसके लिए सृष्टि मिट गई। इसी को कबीर ने अपने शब्दों में समझाने का प्रयास किया--

'अवधू! बेगम देश है मेरा' -- वह बेगम है, अगम्य है। वहाँ न ईश्वर है, न जीव है, न माया है। प्रलय और कैसा होता है? **"कहत कबीर सुनो भाई साधो, नहि तहँ द्वैत बखेड़ा"**। वहाँ द्वैत का बखेड़ा ही नहीं हैं। काला-गोरा वहाँ कुछ भी तो नहीं है, वह स्थिति अनिर्वचनीय है। यही है महाप्रलय। बाहर दुनिया में न प्रलय हुआ है, न होगा। सृष्टि अनादि है और रहेगी। अंग्रेजों ने सृष्टि प्रारम्भ होने की तारीख को खोज निकाला, तो मुसलमानों ने प्रलय की तारीख निर्धारित कर दी। असल में महापुरुषों की ओट में इन लोगों को तारीख खोजने का नशा है।

भारत में एक अंग्रेज ट्रेन से यात्रा कर रहा था। वह संस्कृत साहित्य पर शोध करने भारत आया था। समय बिताने के लिए उसने सहयात्री की किताब

ले ली और पढ़ने लगा। संयोग से वह पुस्तक गीता थी। दो-तीन घंटे में वह पूरी गीता पढ़ गया। भारतीय साथी से उसने प्रश्न किया कि आप रोज गीता पढ़ते हैं। क्या आप बता सकते हैं कि अर्जुन किस तारीख को पैदा हुआ था? भारतीय सज्जन भौंचक्के रह गये। उन्होंने कभी ऐसे प्रश्न की कल्पना ही नहीं की थी। अतः बोले--गीता में ऐसा कहाँ लिखा है? अंग्रेज ने छाती फुलाते हुए कहा--'यही तो भारतीय और अंग्रेजों में अन्तर है। आप रोज पढ़ते हैं लेकिन जान नहीं सके। मैंने एक घंटे उलटा-पुलटा और अर्जुन के जन्म की तारीख खोज निकाला।' भारतीय सज्जन ने उससे गीता में ऐसा दिखाने का आग्रह किया तो अंग्रेज ने अध्याय चार का पाँचवाँ श्लोक दिखाया-

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।

कृष्ण कहते हैं कि--अर्जुन! मेरे जन्म को तो बहुत दिन बीत गये। हाँ, तुम्हारा जन्म चार जून को हुआ था। 'चार्जुन' स्पष्ट लिखा है। ऐसे अंग्रेज विद्वान् (?) शिवलिङ्ग को मूसल, लोढ़ा, सिलबट्टा कह दें तो आश्चर्य क्या? यह तो तोड़-फोड़ की गर्हित कला है। मैकाले का विचार था कि किसी देश को नष्ट करना हो तो पहले उसकी भाषा और संस्कृति को नष्ट कर दो। इसीलिए बहुत से अंग्रेज संस्कृत को देवभाषा नहीं, गँवारू 'डेड लैंग्वेज' कहते हैं। वेद को गड़ेरियों के गीत मानते हैं; कहते हैं, इससे अधिक उनका महत्त्व नहीं है। मतलब, वेद और बिरहे में अंतर नहीं है। ये शंकर जी नहीं, लोढ़े हैं। वे हमारी ही दृष्टि में हमारी संस्कृति को गिराना चाहते हैं। वे कहते हैं--शिवलिङ्ग किसी मन्दिर में स्थापित नहीं है। वस्तुतः शिवलिङ्ग सदैव मन्दिरों में स्थापित नहीं होते। गणेश चतुर्थी को अभी इसी बरैनी गाँव में सवा लाख मिट्टी के शिवलिङ्ग बनाकर उनकी पूजा की गई। अपनी शक्ति के अनुसार कोई मिट्टी का तो कोई पत्थर का, कोई सोना-चाँदी का शिवलिङ्ग बनवाता है। यदि इस तरह की परम्परा प्राचीनकाल में घर-घर में रही तो विस्मय की

बात नहीं है।

मोहन जोदड़ो और हड़प्पा में जो खुदाई हुई है, उसी प्रकार की खुदाई राजस्थान, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश में भी हुई है। वैसा ही रहन-सहम गंगा के किनारे, नर्मदा के किनारे भी मिला है। यदि सिन्धु के किनारे रहने से सिन्धु घाटी की सभ्यता का नाम दिया जाय फिर तो गंगा घाटी की सभ्यता, नर्मदा की सभ्यता, लोथल की सभ्यता अनेकों सभ्यताएँ निकल आयेंगी। वस्तुत: यह सभ्यता भारत की सभ्यता थी। आर्यों की सभ्यता ही थी। किसी एक प्रदेश अथवा किसी भिन्न जाति की आकस्मिक सभ्यता नहीं थी।

लगे हाथ अंग्रेजों के 'ह्वाइट मेन्स बर्डेन' के दावे पर भी विचार कर लिया जाय कि उन्होंने भारतीयों को सभ्यता सिखाई। हम उन्हीं की बात मान लेते किन्तु प्राचीन खुदाइयों में अंग्रेजी सभ्यता का नामोनिशान भी नहीं मिलता। एक भी मूर्ति कोट, पैन्ट, हैट, टाई लगाये नहीं मिली। एक भी क्रास नहीं मिला। इसके विपरीत विदेशों में होनेवाली खुदाइयों में हमारी सभ्यता की वस्तुएँ चूड़ियाँ मिली हैं, हमारे देवताओं के चित्र मिले हैं, हमारी गाथायें उत्कीर्ण हैं। कोलम्बस से भी हजारों वर्ष पूर्व भारतीयों ने अमेरिका को शोध निकाला था। इसी वर्ष अमेरिका में हुई खुदाई से यह तथ्य उद्भासित हुआ है। वहाँ की खुदाई में वही वस्तुएँ, वही संस्कृति निकल रही हैं जो सिन्धु घाटी में मिली है। उनकी भाषा तमिल से मिलती-जुलती है इसलिए भारतीय भाषाविद् वहाँ बुलाए गये हैं। स्पष्ट है कि भारत वहाँ से लेकर यहाँ तक एक था। सर्वत्र भारतीय सभ्यता थी। अभी ढाई हजार वर्ष पहले यूनान, मिस्त्र, चीन, जापान आदि जिन-जिन देशों में गौतम बुद्ध की परम्परा गई; सभी आर्य हैं। हम तो यह कहते हैं कि विश्व को भारत ने सभ्यता सिखाई। सिन्धु घाटी की खुदाई में कांसे की नर्तकी मिली है जिसका पूरा हाथ चूड़ियों से

भरा है। आज भी सिन्धु प्रदेश के समीपवर्ती राजस्थान में स्त्रियाँ कलाई से लेकर गले तक चूड़ियाँ पहनती हैं। वैसा ही सिंगार-पटार आज भी है, जैसा सिन्धु घाटी में मिला है। अतः सिन्धु घाटी की सभ्यता विशुद्ध आर्य सभ्यता है और यही सभ्यता घूम-फिरकर विश्व के कोने-कोने में पहुँची। भारतीय सभ्यता ही विश्व की प्राचीनतम सभ्यता है। स्वयं अंग्रेज भी वेद को विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ स्वीकार करते हैं।

इतिहासकारों का यह कहना भी ठीक नहीं है कि आर्य बाहर से आये और काले रंगवाले भारत के आदिम निवासी हैं। उनका यह कहना भी धूर्ततापूर्ण है कि आज भारतीय न तो आर्यों की तरह गोरे रह गये न द्रविड़ों की तरह काले, बल्कि देशी-विदेशी लोगों के मेल से पैदा होने के कारण अपने रक्त की शुद्धता का दावा नहीं कर सकते। वस्तुतः रंग का निर्धारण जलवायु से होता है। अक्षांश और देशान्तर के विपुल विस्तार के कारण भारत में तीन प्रकार की जलवायु पायी जाती है--शीत, उष्ण और समशीतोष्ण। ठण्डे प्रदेश कश्मीर के निवासी गोरे हैं, दक्षिण भारत में अधिक उष्णता है, इसलिए निवासी काले हैं। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश जहाँ दोनों प्रकार की जलवायु का टकराव है वहाँ बालों का रंग गेहुवाँ है। दूसरा कारण भी है, भारत को पहले सोने की चिड़िया कहा जाता था। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारतीय सोने की थाली में भोजन करते थे। गीतों में प्रसिद्ध है--'सोने की थाली में जेवना परोस्यों"। घरों में सोने की थालियाँ होती थीं। बार-बार आक्रमण होने से वह सोना-चाँदी-जवाहरात विदेशों में खिंचता गया। भोली-भाली जनता खोखली होती गई। फिर तो जनता को जीवन-निर्वाह के लिए अथक परिश्रम करना पड़ा। धूप में अधिक परिश्रम करने से रंग प्रायः काला हो ही जाता है। मल्लाहों के यही लड़के जब तक पढ़ते रहते हैं गोरे रहते हैं; किन्तु धूप में जहाँ नाव चलाना पड़ा; काले पड़ जाते हैं। यह तो ताप की देन है। ऐसी

बात नहीं है कि गोरे रंग वाले कहीं बाहर से आये हैं। वस्तुतः सभी प्रकार के 'कलर' भारत में पाये जाते हैं और सबके सब 'आर्य' हैं।

जहाँ तक आर्यों के विदेश से भारत आने का प्रश्न है, आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व का विदेशी मेगस्थनीज लिखता है, "सिकन्दर से पहले न तो किसी देश ने भारत पर आक्रमण किया था, और न भारत ने ही किसी देश को गुलाम बनाया। किसी भी देश ने भारत में अपनी बस्ती नहीं बसाई, भारत के सभी निवासी यहीं के मूल वंशज हैं।" मेगस्थनीज के समय में किसी को यह ज्ञात नहीं था कि भारतीय बाहर से आये हैं और ढाई हजार वर्ष बाद अंग्रेजों ने खोज लिया कि आर्य बाहर से आये हैं, जब कि अंग्रेज जाति स्वयं ढाई हजार वर्ष की भी नहीं है।

जो लोग यह कहते हैं कि--"बाहर से आने वाले आर्यों ने उत्तर भारत पर अधिकार कर काले द्रविड़ों को दक्षिण खदेड़ दिया और अपने एजेन्ट राम-लक्ष्मण को भेजकर दक्षिण भारत के नेता रावण को कटवा कर फेंक दिया।" उनका यह कथन भी राजनीति प्रेरित एवं दुरभिसन्धिपूर्ण है। राम से भी पहले सुग्रीव, बाली इत्यादि के पूर्वज तथा केरल-मद्रास तक विस्तृत उनके राज्य के निवासी भी आर्य ही थे। राम-रावण युद्ध हो रहा था। रावण के अनेक सेनापति मारे जा चुके, तब कुम्भकरण को जगाने का उपक्रम किया जाने लगा। बहुत प्रयास के बाद कुम्भकरण जागा। कुछ खा-पीकर अकेला ही युद्ध करने निकल पड़ा। भयंकर आकृति वाले इस निशाचर को देखते ही बानरों में भगदड़ मच गई। बहुत से छटपटा कर गिर पड़े। बहुतों की हृदय-गति रुक गयी। बहुत से भालू, बानर दलदल में दुबक गये। भाग-दौड़ में लाखों समुद्र में गिर गये। बहुत-सी सेना पुल से लौटने लगी। राम ने विभीषण से पूछा-"यह कौन है? हमारी पूरी सेना इसके आतंक से विचलित हो गयी है। अब लड़ाई कैसे होगी?" विभीषण ने कहा--"यह हमारा बड़ा

भाई तथा रावण का छोटा भाई कुम्भकर्ण है। लंका नगरी में इससे शक्तिशाली और बलवान कोई नहीं है। आपकी सेना वास्तव में नहीं रुक सकेगी। सेना को धैर्य बँधाइये कि यह कोई जीवधारी मानव नहीं है बल्कि यन्त्र है। यदि इन्हें आभास होगा कि यह जीवधारी है तो कभी नहीं रुकेंगे।'' यह कार्य अंगद को सौंपा गया। अंगद भागकर सेना के मुहाने पर आया और उपदेश देने लगा-- "बन्धुओ! हम लोगों के पूर्वजों ने बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ जीती हैं। हम लोग आर्य हैं। आज पीठ दिखलाने पर अनार्य कहलायेंगे।'' देखें, सुग्रीव और बालि का खानदान शुद्ध आर्य था। समुद्र तटवासी बानरी सेना आर्य थी। राम तो बाद में पहुँचे। आर्य का तात्पर्य है, जो सत्य से पीछे नहीं हटता, जो कर्त्तव्य से च्युत नहीं होता।

कनक-मृग के पीछे जब राम चल गये, उसे मारा तो मृगरूपधारी कपटी मारीचि ने राम के स्वर में लक्ष्मण को पुकारा। सीता सुनते ही विकल हो गई। बोली-'लक्ष्मण शीघ्र जाओ। तुम्हारे भ्राता संकट में हैं।' लक्ष्मण ने कहा--'नहीं! वे कभी संकट में नहीं पड़ सकते। आपकी रक्षा का भार मुझ पर है। वे आपको मुझे सौंप कर गये हैं। यह राम की आवाज नहीं, किसी कुटिल निशाचर की करतूत है।' सीता बिगड़ पड़ी--'कपटी लक्ष्मण! तू भाई की भक्ति जताकर पीछे लग गया। अयोध्या से ही मैं तेरे स्वभाव को ताड़ रही थी। तू सोचता था कि वनवास में राम कहीं मारे गये तो सीता को मैं प्राप्त कर लूँगा। कपटी लक्ष्मण! तुझे धिक्कार है। अनार्य लक्ष्मण! तुझको धिक्कार है।' स्पष्ट है कि वह पुरुष अनार्य है जो सत्य से विचलित हो जाता है। जो सत्य पर आरूढ़ रहता है उसे ही आर्य कहते हैं। जहाँ-जहाँ सत्य से च्युत होने का प्रश्न आया, वहाँ अनार्य शब्द का प्रयोग हुआ है।

वाल्मीकि रामायण का ही प्रसंग है कि एक बार रावण ने अपनी वेधशाला में राम का कृत्रिम सिर बनवाया। लाकर सीता के सामने फेंक दिया,बोला-

-'ले! अजय राम! मर्यादा राम! यह ले अपना राम! देख, हमारा सेनापति प्रहस्त गया और काटकर ले आया। अब तो मानेगी हमको?' सीता ने खून से लथपथ राम का सिर देखा, विलाप करने लगी, 'मुझ अनार्या को धिक्कार है जो मैं आपको प्राप्त न कर सकी। सिद्ध है कि मेरे सत्य में कोई कमी थी।' सिद्ध है कि आर्य वह है जो सत्य पर आरूढ़ रहता है। आर्य एक निष्ठा हैं, एक गुणवाचक कसौटी है। प्रत्येक मानव इस कसौटी पर पहुँच सकता है।

महाभारत का प्रसंग है। जब दुर्योधन की जाँघ टूट गई, तब भीम ने आक्षेपयुक्त वचन कहते हुए उसके सिर पर पाँव रखा, तब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भीम को सान्त्वना देते हुए कहा-'भीम! यह तो पहले से ही मरा हुआ है। अब इसको मत मारो। इसने झूठे जुए का स्वांग करके धर्मात्मा युधिष्ठिर को वनवास में भेजा था। यह तभी से मरा हुआ है। इसे अब कुछ मत कहो।'

कठिनाई से लम्बी साँस खींचते हुए दुर्योधन बोला-'ओ कंस के दास के बेटे! छली कृष्ण! तुमको धिक्कार है। तुम्हीं ने छल करके द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और मुझ दुर्योधन को मरवाया है, अन्यथा पाण्डव तो क्या, विश्व की कोई भी शक्ति हमारी सेना को जीत नहीं सकती थी। शिखण्डी को आगे करके तुमने भीष्म को मरवाया--क्या मैं इसे नहीं जानता? ताल ठोंककर भीम को मेरी जाँघ पर प्रहार करने का संकेत तुमने किया--क्या यह भी मुझसे छिपा है? अनार्य कृष्ण! तुमको धिक्कार है।'

यहाँ दुर्योधन ने कृष्ण के लिए 'अनार्य' शब्द का प्रयोग किया। स्पष्ट है कि सत्य से हटकर असत्य के आश्रित होनेवाला ही अनार्य है। आर्यत्व गुण है, जाति नहीं।

आर्य शब्द का अर्थ श्रेष्ठ होता है। यह शब्द संस्कृत के 'ऋ' धातु से

निकला है, जिससे ऋतु शब्द बना है। 'ऋ' का अर्थ तीक्ष्ण तथा काटने वाला तथा 'अर' हठपूर्वक काटने को कहते हैं। जो चिन्तन पथ की बाधाओं को हठपूर्वक काटता है उसे आर्य कहते हैं। 'अर : यम' अर यम को भी कहते हैं। पातंजल योगदर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पाँच यम हैं। इस यम-पालन में आनेवाली रुकावट को काटने में जो सक्षम है वही आर्य है? वही सत्यान्वेषी है। जो इनका पालन नहीं करता, उसके लिये यही यम दण्डधारी यमराज बन जाते हैं। इनका पालन करनेवाला आर्य है, भले ही वह मध्य एशिया का हो अथवा यूरोप, भारत या विश्व के किसी कोने का रहनेवाला ही क्यों न हो।

इस प्रकार आर्य शब्द गुणवाचक है, जातिवाचक नहीं है। यह रंग-भेद पर आधारित नहीं है। जो लोग यह कहते हैं कि 'उत्तर भारत के निवासी आर्य बाहर से आये, दक्षिण के काले द्रविड़ भारत के मूल निवासी हैं' केवल समाज में दरार डालने के लिए, भारत में फूट डालने के लिए ऐसा कहते हैं। उनका उद्देश्य है कि यदि भारतीय एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखने लगे तो उन्हें तोड़कर आसानी से ईसाई बना लिया जाय। उनकी यह चाल सफल भी रही। आज आधा तामिलनाडू, आधा केरल ईसाई है; चौथाई कम्युनिस्ट हो गये, केवल चौथाई हिन्दू बचे हैं। वहाँ प्राय: आन्दोलन होता है कि राम की मूर्ति फूँक दो, राम तो उत्तरी भारत के आर्य थे, हम तो रावण की वंश-परम्परा में हैं। कम्युनिस्टों का वहाँ भाषण होता है कि 'देवी-देवता व्यर्थ हैं, खाओ-पीओ मौज करो। जिसके पास अधिक धन है छीन लो। ब्राह्मणों को गालियाँ दो, इन्होंने ही हमें भटकाया है, उत्तर से दक्षिण की ओर भगाया है।' वहाँ के ईसाई भी उनका समर्थन करते हैं, यद्यपि रंग उनका भी काला ही है, भारतीयों में से ही तो बने हैं। रूढ़ि से आक्रान्त विदेशियों का यह एक षड्यंत्र है। वास्तविकता यह है कि दक्षिण भारत वाले रावण

की वंश-परम्परा में नहीं हैं। वे अंगद और सुग्रीव की सन्तानें हैं, जो आर्य ही थे। स्वयं रावण के पिता, पितामह सभी आर्य थे किन्तु आर्य गुण से च्युत होने के कारण रावण असुर बन गया। इसी प्रकार, देखा जाय तो दक्षिण वालों ने ही रावण को मारा। उत्तर भारत की तो एक चूहिया तक नहीं मरी थी, एक भी सैनिक उत्तर भारत का नहीं था। राम को सीता की शोध में जाना ही था। दक्षिण के लोग रावण से त्रस्त हो चुके थे। राम ने केवल उनका संगठन खड़ा कर दिया। वस्तुतः उत्तरी-दक्षिणी भारत के निवासी आर्य-परम्परा के ही हैं। इतना ही नहीं बल्कि जापान, चीन, मध्येशिया, अमेरिका इत्यादि जिन देशों में गौतम बुद्ध की परम्परा गई, गुरु नानक के उपदेश गये, आर्य-संस्कृति का प्रचार-प्रसार हुआ, सबके सब आर्य हैं, सत्य की ओर अग्रसर हैं। यह अवश्य है कि सर्वत्र सभी आर्य ही नहीं हैं। आसुरी विचारधारा के लोगों का अस्तित्व भी सदैव रहा है।

प्रायः प्रत्येक देश में, प्रत्येक समाज में आर्य-अनार्य, दैवी-आसुरी प्रवृत्तियों का प्रचलन रहा है। यह बात अलग है कि कभी दैवी प्रतिशत अधिक रहता है तो कभी आसुरी प्रवृत्तियों का बोलबाला हो जाता है। शास्त्रों को उठाकर देखें, पुराणों के पृष्ठ पलटें, इतिहास साक्षी है कि समय-समय पर देवता पहाड़ों में जाकर छिप जाते थे और सर्वत्र असुरों का आतंक छा जाता था। यही हिरण्यकश्यपु ने किया, यही रावण ने किया तथा यही समय-समय पर दानवों ने भी किया। परमदेव परमात्मा से विलग प्रकृति में विश्वास रखनेवाले असुर कहलाये और परमदेव परमात्मा की प्राप्ति में प्रयत्नशील पुरुष देवता एवं आर्य कहे गये। दोनों में केवल इतना ही अन्तर है। 'छान्दोग्य उपनिषद' के आख्यान से इसी अन्तर पर प्रकाश डाला गया है। एक समय इन्द्र और विरोचन प्रजापति ब्रह्मा से आत्मा के विषय में जानने के लिए गये। प्रजापति ने कहा--'आत्मा को शरीर में खोजो।' दोनों लौट आये। प्रजापति

ने इन्हें लौटता देखकर कहा-"दोनों आत्मा का साक्षात्कार किये बिना ही जा रहे हैं। 'यह शरीर ही आत्मा है।' ऐसा मानकर जो बैठ जायगा, वह देवता हो अथवा असुर उसका पतन हो जायगा।" असुर विरोचन शरीर को ही आत्मा मानकर उसे अलंकृत करके सुख देने में लगा रहा, जबकि इन्द्र ने बार-बार विचार करके, सकलेन्द्रिय-संयम-ब्रह्मचर्य का पालन करके अन्त में आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया। 'खाओ, पीओ और मौज करो।'-यही असुरों का मत है। आज भी ऐसा प्रचार संसार में न्यूनाधिक हो रहा है। यहं अवश्य कहा जा सकता है कि आज दैवी प्रकृति के पुरुषों को गुफाओं में छिपना नहीं पड़ रहा है। भारत की आर्य संस्कृति विश्व में फैल चुकी है, न्यूनाधिक मात्रा में आर्य विश्व में सर्वत्र हैं। लोग केवल फूट डालने के लिए ऐसा कहते हैं कि आर्य बाहर से आये। अनेक भारतीय विद्वान् भी उसी लकीर के फकीर हो रहे हैं क्योंकि उन्हें भी बचपन से वही पढ़ाया गया है, वास्तविकता लिखने पर उन्हें 'डिग्री' ही न मिले, नौकरी या कुर्सी भी न मिले। भारत और उसकी सभ्यता से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है। वे भी अंग्रेजों के स्वर में स्वर मिलाकर आँख मूँद लेते हैं। कुछ अंग्रेजों ने वास्तविकता के प्रतिपादन का साहस भी किया किन्तु विरोधियों के नक्कारखाने में तूती (शहनाई) की आवाज कौन सुनता है?

बरैनी निवासी श्री ओंकारनाथ सिंह ने प्रश्न किया कि महाराज जी! यदि संसार भर के निवासी आर्य हो सकते हैं तो यह मानने में क्या आपत्ति है कि आर्य बाहर से आये? महाराज जी ने कहा--'दो बातें हैं। यदि ईसाई भी आर्य ही हैं तो वे अपने को आर्य ही क्यों नहीं कहते? 'आर्य' शब्द ईसा से पहले का है अतः इन्हें आर्य कहलाने में हिचकना नहीं चाहिए। आपकी बात मानने में दूसरी आपत्ति यह है कि भारत में सदा से ही धर्म का अनुष्ठान एवं महापुरुषों का अवतरण अन्य देशों की अपेक्षा अधिक रहा है। आज

के ही विश्व को लीजिए। संसार के अनेक देशों में जीवन की सुविधाएँ भारत से अधिक हैं। मोटर, बङ्गला और विलासिता में अनेक देश भारत से आगे हैं, परन्तु अशान्ति, कलह, पागलपन और आत्महत्या की घटनाएँ वहाँ पर भारत से कई गुना अधिक हैं। आबादी भारत की अधिक है, किन्तु दुर्घटनाएँ उन देशों में अधिक हैं। भारतीय गरीब भले हो गये परन्तु संतुष्ट हैं। मानसिक अशान्ति नहीं है। विवाह की स्थिरता भारत में ही है। विदेशों में सातवाँ-आठवाँ तलाक सामान्य है। स्त्रियों का सतीत्व भारत में ही मर्यादा की वस्तु है। कम्युनिस्ट अथवा पूँजीवादी तथाकथित उन्नत देशों में यह शारीरिक भूख मात्र है। इतना सदाचरण तो भारत में आज भी सर्वत्र है।

प्राचीन काल में भारत का सदाचरण कितना ऊँचा था? इसे एक विदेशी के मुख से सुनिये। आज से लगभग साढ़े तेरह सौ वर्ष पहले चीन का पर्यटक ह्वेनसांग भारत आया था। पन्द्रह वर्षों तक उसने सम्पूर्ण भारत का पैदल भ्रमण किया। लौटने पर उसने यात्रा वृतान्त लिखा-- "भारतवासी बड़े सत्यवादी और प्रतिष्ठावान होते हैं। वे पाप-पुण्य का सदैव ध्यान रखते हैं। उनका व्यवहार मधुर और नम्र होता है। पवित्रता इतनी अधिक है कि देश में मांस, मदिरा, लहसुन और प्याज का प्रयोग नहीं होता। केवल चाण्डाल लोग ही इनका प्रयोग करते हैं, जो नगर से बाहर ही रहते हैं। कहा जाता है कि इस देश की भाषा को ब्रह्मा ने बनाया है। सम्भवत: इसीलिए भारतीयों की भाषा बड़ी शुद्ध है, उनका उच्चारण बड़ा मधुर है। उनकी भाषा देवताओं सी प्रतीत होती है, जबकि भारत से बाहर रहनेवालों की भाषा और उच्चारण अशुद्ध है। इस देश को हिन्दुस्तान कहा जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि 'हिन्दू' शब्द सिन्धु नदी से बना है, कुछेक कहते हैं यह इन्दु से निकला है; जिसका अर्थ यहाँ चन्द्रमा होता है किन्तु मेरे विचार से इस देश का वास्तविक नाम देवभूमि होना चाहिए क्योंकि यहाँ आदमी नहीं, देवता रहते हैं।"

वस्तुतः दैवी प्रकृति हमारी थी। दूसरी संस्कृतियों को, दूसरे देशों को यह गौरव कभी किसी ने नहीं दिया। अतः यह मानने का प्रश्न ही नहीं उठता कि हम बाहर से आये। आर्य संस्कृति का गढ़ तो भारत है। विश्व ने जो कुछ सीखा है, वह भारत की ही देन है। साधना के प्रारम्भ में ईसा भी योग सीखने भारत आये थे -ऐसा तिब्बत के पुस्तकालय की प्राचीन पुस्तकों से प्रमाणित हुआ है। बाइविल में 'चिलचिलाती धूप में खेलनेवाले नङ्गे बच्चे', 'पानी भरती पनिहारिने', 'आम की अमराई' का वर्णन है कि जिसे इंगलैण्ड या जेरूसलम में पले लोग स्वप्न में भी नहीं सोच सकते। स्वयं ईसा शब्द भारतीय शब्द ईश, ईश्वर की नकल है। ईसा को मसीहा कहा जाता है। मसीहा वैद्य को कहते हैं। गुरु ही सबसे बड़ा वैद्य है, जो भवरोग से बचा लेता है। इसीलिए ईसाई मिशनरियों में गाया जाता है--'ईसू मसीह मेरो प्राण बचैया।' वस्तुतः यह सभी भारतीय दर्शन से प्रभावित है और कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि विश्व में जो कुछ श्रेष्ठ है, वह आर्यभूमि भारत की ही देन है। इसी आत्मिक उपलब्धि के लिए भारत जगद्गुरु था, और रहेगा। यह बात अलग है कि भारतीय शान्तिप्रिय दैवी सम्पत्ति में जीवन बिताने वाले थे, जबकि विदेशी आक्रमणकारी क्रूर और हिंसक थे। इसीलिए समय-समय पर भारत को गुलाम बनना पड़ा, न कि विदेशी शक्ति में अधिक थे। यही कारण है कि भारत और उसकी आर्य विरासत सर्वथा नष्ट कभी नहीं हुई। जब भी अपने शौर्य का स्मरण हुआ भारत पुनः जागा और पुनः अपने उसी स्थान पर पहुँच गया। इसीलिए भारत आज स्वतन्त्र है। विदेशियों की अनेक चालों के बावजूद भारतीय संस्कृति आर्य संस्कृति अक्षुण्ण है। आर्य गुणधारी मनुष्यों की बहुसंख्या के कारण समग्र भारत ही मूल आर्यभूमि है। वैसे है सर्वत्र। इस आर्यत्व की उपलब्धि के लिए महर्षियों का सत्संग आवश्यक है?[1]

---

१. भगवान गौतम बुद्ध के अनुसार मनुष्यों के दो विभाग हैं। जो सन्मार्ग

पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हैं तथा जो सन्मार्ग पर आरूढ़ नहीं हैं, पृथग्जन कहे जाते हैं। वे भी जन ही हैं क्योंकि आर्य बनने की क्षमता उनमें प्रसुप्त है।

'मज्झिम निकाय' के पास रासि सुत्त (१-३-६) में कथा आती है कि एक बार भगवान श्रावस्ती में अनाथ पिण्डिक के आराम जेतवन में विहार करते थे। पूर्वाह्न के समय पात्र-चीवर लेकर श्रावस्ती में भिक्षाटन करते हुए वे रम्यक ब्राह्मण के आश्रम में पहुँचे जहाँ धर्म-कथा हो रही थी। तथागत ने सम्बोधित किया--'तुम्हारे बीच कौन-सी गाथा चल रही थी?' उन लोगों ने बताया--'भगवान की ही कथा हमारे बीच में उठी थी, इतने में भगवान पहुँच गये।'

साधुवाद देते हुए शास्ता ने कहा--'श्रद्धापूर्वक घर से प्रव्रजित तुम कुल-पुत्रों के लिए यही शोभनीय है। भिक्षुओ! तुम्हारे लिए दो ही कर्तव्य हैं-(१) भगवान का चिन्तन या (२) आर्यत्व के गुणों का मनन। अर्थात् उन गुणों का चिन्तन जिन पर चलकर जातिधर्मा, व्याधिधर्मा, शोकधर्मा, संक्लेशधर्मा, और मरणधर्मा पुरुष अ-जात, व्याधि रहित, अ-शोक, अ-संक्लिष्ट एवं अमृत बन जाता है। भिक्षुओ ! वही आर्य है। जो पूर्णत्व प्राप्त कर चुका है, वह आर्य है।

ॐ

शास्त्र और ब्राह्मण

प्रश्नः- महाराज जी,

पूजिय विप्र शील गुण हीना।
शूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना।।

यह तो स्पष्ट ही किसी की वरीयता और किसी की हीनता है, जबकि गीता के अनुसार आचरण से अन्य वर्ण और ब्राह्मणत्व अर्जित होता है। अतः रामचरितमानस तथा अन्य महत्वपूर्ण शास्त्रों के आलोक में स्पष्ट करें कि द्विज, विप्र अथवा ब्राह्मण है क्या?

उत्तरः-

देखिये-- गृद्धराज जटायु का दाह-संस्कार कर वनवासी श्रीराम, सीता के अन्वेषण हेतु दण्डकारण्य से मतंग मुनि के आश्रम की ओर बढ़े कि चौड़ी छाती वाले विशालकाय राक्षस कबन्ध पर उनकी दृष्टि पड़ी। कबन्ध अर्थात् धड़मात्र उसका स्वरूप था। पेट में ही दहकती हुई दो आँखें, दो विशाल भुजाएँ और बिना पैर के लुढ़ककर चलनेवाले विकराल राक्षस ने श्रीराम और लक्ष्मण को एक साथ ही पकड़कर विवश कर दिया। लक्ष्मण अधीर हो गये। राम ने उन्हें सान्त्वना दी। दोनों भाइयों ने मिलकर कबन्ध के हाथ काट डाले तथा उसके शरीर को एक गड्ढे में डालकर उसमें आग लगा दी। राम के हाथों मरते ही कबन्ध ने अपना दिव्य शरीर धारण कर लिया और उसने बताया--

दुरवासा मोहिं दीन्हीं सापा।
प्रभुपद पेखि मिटा सो पापा।। (मानस ३।३२।७)

भगवान राम को कबन्ध की यह बात अच्छी लगी। उन्होंने कहा--'गन्धर्व!

तुमसे यह भूल कैसे हो गई?' गन्धर्व ईश्वरीय पथ का वह गायक है, श्वास का तार जिसकी पकड़ में आ गया हो। ऐसा साधक प्राय: उच्छृंखल हो जाता है। इतने को ही उपलब्धि मानकर वह महापुरुषों का अपमान करने की भूल कर बैठता है। कुछ ऐसी ही भूल कबन्ध से भी हुई थी। श्रीराम ने उसे अपना धर्म समझाया--

मन क्रम वचन कपट तजि, जो कर भूसुर सेव।
मोहिं समेत विरंचि शिव, बस ताके सब देव।।

मन, क्रम और वचन से छल-कपट त्यागकर जो विप्र के चरणकमलों की सेवा करता है, ब्रह्मा, शिव और चराचर देवताओं सहित मैं परमात्मा उसके वश में हो जाऊँगा। केवल एक ही सूत्र याद रखना है, वह है विप्र के चरण-कमलों की सेवा। चिन्ता न करें, न तो आपसे कभी विन्ध्यवासिनी माई रुष्ट होंगी और न ही कभी डीह बाबा ही नाराज होंगे। यदि आप केवल विप्र के चरण-कमलों की पूजा करें, तो परमतत्त्व परमात्मा आपको अवश्य ही विदित होगा। केवल इतना ही नहीं--

सापत ताड़त परुष कहन्ता।
विप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता।। (मानस ३।३३।९)

शाप देता हुआ, प्रताड़ित करता हुआ, अपशब्द कहता हुआ और शील-गुण दोनों से हीन होने पर भी विप्र परम पूजनीय है। यथा--

पूजिय विप्र शील गुण हीना।
शूद्र न गुन-गन ग्यान प्रवीना।। (मानस ३।३२।२)

ऐसी मान्यता थी भगवान राम की; किन्तु जब ज्ञात हुआ कि सीता का अपहरणकर्त्ता एक ब्राह्मण है, तो उसकी वह दुर्गति की कि "रहा न कुल

कोउ रोवनिहारा।'' उस रावण के कुल में कोई जलदाता या आँसू बहानेवाला न बचा। लगता है कि इस मर्यादा के रचयिता भगवान स्वयं उस पर आरूढ़ नहीं हैं। राम उसे स्वयं मारते तो कदाचित् आपत्तिजनक न होता, क्योंकि **''समरथ को नहीं दोष गुसाई।** (मा. १।६८।८) अथवा दूसरा उदाहरण- **-''प्रभु समरथ कोशलपुर राजा। जो कछु करें तिनहिं सब छाजा।''** किन्तु राम के अनुयायी वानर-भालुओं ने रावण के वंश का मूलोच्छेदन कर डाला। यज्ञ करते रावण को लातों से मारा, उसकी नारियों के केश पकड़कर बाहर घसीटा। राम कम से कम अपने अनुयायियों से तो कहते कि ब्राह्मण-पूजा करो।

रावण चारों वेदों का प्रकाण्ड विद्वान् था। ज्योतिष का मर्मज्ञ था। ब्रह्मा के लेख को पढ़कर उसे अपने आयु का ज्ञान था। निःसन्देह रावण गुणी था, यद्यपि उसमें शील का अभाव था। गुणों के अनुसार उसका आचरण नहीं था। राम तो शील-गुण दोनों से हीन ब्राह्मण को भी पूज्य मानते थे। वे स्वयं अपने नियम का पालन नहीं करते। वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदास जी कहना क्या चाहते हैं?

ब्राह्मणों में भी उत्तम कुल वाले महर्षि पुलस्ति के पुत्र महर्षि विश्रवा का पुत्र था रावण। उसका छोटा भाई विभीषण श्रीराम की शरण में आया। उसे सन्देह था कि राम शरण देंगे अथवा नहीं? किन्तु राम ने अपना सिद्धान्त बताते हुए उसे आश्वस्त किया--

सगुण उपासक परहित, निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्राण समान मम, जिन्हके द्विज पद प्रेम।।

सुनु लंकेश सकल गुण तोरे।
ताते तुम अतिसय प्रिय मोरे।।

जो मुझ सगुण का उपासक है, पर के हित में अनुरक्त है, साथ ही वह नर मुझे अपने प्राणों के समान प्रिय है, जिसका कि द्विज के चरण-कमलों में अटूट प्रेम है।

"विभीषण! तुम्हारे पास समस्त गुण हैं, इसलिए तुम मुझे अत्यंत प्रिय हो।" मानस के मर्मज्ञजन विचार करें कि क्या विभीषण द्विज के चरण-कमलों का प्रेमी था? विभीषण कोई पुजारी नहीं था। वह युद्ध-कला में पारंगत था। अपने भाई से काल की तरह लड़ा था। राम उससे परामर्श करते थे। क्या उस विभीषण ने द्विज के चरण-कमलों की पूजा की? हाँ, एक बार पूजा अवश्य की थी। सीता की खोज में हनुमान लंका पहुँचकर विप्र-वेश धारण कर उससे मिले थे किन्तु अन्त में हनुमान ने स्पष्ट कर दिया कि मैं कपि हूँ। प्रातः कोई मेरा नाम ले तो उसे भोजन न मिले। स्पष्ट है कि द्विज की सेवा न तो कभी विभीषण ने की, न राम ने और न उनके अनुयायी वानर-भालुओं ने। ऐसा क्यों? तब यहाँ किस द्विज की सेवा पर राम बल दे रहे हैं?

द्विज वह महापुरुष है, जिसने द्वैत पर विजय पा लिया है। जो ब्रह्मपरायण व्यक्ति है, आत्म-साक्षात्कार के लिए जो क्रियाशील है, वह ब्रह्मकुल में आ जाता है। साधना की पूर्ति-स्थिति में जो ब्रह्म से परिपूरित है, वही विप्र है, वही ब्राह्मण है, भूसुर है, महीसुर भी वही है। ऐसे महापुरुषों के लिए कोई विधि-निषेध नहीं रह जाते। उनका मापदण्ड बाह्य क्रिया-कलापों से नहीं, अपितु आन्तरिक उपलब्धि से होता है। उनकी वेश-भूषा, उनका स्नान-ध्यान भी जनसाधारण से परे है। पूज्य महाराजजी कहते थे कि महापुरुष कब भजन करते हैं, इसे पास रहनेवाला साधक भी तब तक जान नहीं पाता, जब तक वे स्वयं न बता दें। ऐसे महापुरुषों का आचरण साधकों के लिए निर्धारित आचरण से सर्वथा भिन्न होता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता, अध्याय ३/१७ में कहते हैं--

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।

जो पुरुष आत्मा से ही सन्तुष्ट, उसी से ओत-प्रोत और उसी आत्मा में भली प्रकार से स्थित है, उस महापुरुष द्वारा कर्म किये जाने से न कुछ लाभ है, और यदि वे कर्म छोड़ भी दे तो न उसकी कोई हानि ही है; क्योंकि उसे जिस लक्ष्य को पाना था, पा लिया है, उसी से आप्लावित है, उसी में स्थित है तो कर्म द्वारा अब किसे ढूँढ़े? अब तो--

भजन हमार हरि करै, हम पायो विश्राम।

ऐसे महापुरुष पेन्शनीयर हो जाते हैं। महाराजजी कहते थे-- 'हे हो! मोके पेन्शन मिल गई है, तुमलोग आपन देखो। बगैर किये कोई पाई न; भजनियाँ करै का परी!'

वारि मथे घृत होय बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिन हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल।।

लेकिन हमार नकल मत करो। किसी प्रोफेसर से कहा जाय कि वह रात दो बजे से उठकर बत्ती जलाकर पढ़े तो कितना हास्यास्पद होगा? पूर्ण महापुरुष के लिए आचरण की आवश्यकता नहीं रह जाती। संत कबीर की रहनी देखें-

जहँ जहँ जाऊँ सोई परिक्रमा, जो कुछ करूँ सो पूजा।
भीतर-बाहर एकै देखूँ, भाव मिटा सब दूजा।।
'अवधू सहज समाधि भली।'

जो सहज है, अनादि है, उसी की रहनी मिल गई तो कौन किसकी पूजा करे?

अवधू बेगम देश है मेरा।
तहाँ न ईश्वर जीव न माया, पूजक पूज्य न चेरा।।

वहाँ ईश्वर-जीव का द्वैत नहीं है। पूजने योग्य कोई नहीं है, पूजनेवाला कोई नहीं। यही है विप्र। ऐसे ही महापुरुष थे जड़भरत। स्नान नहीं करते थे। ऐसे महापुरुषों के संदर्भ में मानसकार लिखते हैं--

सापत ताड़त परुष कहन्ता।
विप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता।।

शाप देता हुआ, ताड़ना करता हुआ और कठोर वचन कहता हुआ भी विप्र पूज्य है। महर्षि दुर्वासा का क्रोध प्रसिद्ध है।

किन्तु पूज्य महाराज जी कहा करते थे--'गाली देत न पावत शोभा' लेकिन करी का, भगवान मोके आदेश दिये हैं कि गाली देईहें तो कल्याण होई जाई। कल फाँसी होनी है और आज मोर छड़ी लग जाय तो उसकी फाँसी नहीं होगी। सजा चाहे जो हो जाय। इसीलिए ताड़ना दी जाती है। नहीं तो मोके कहाँ शोभा है गाली देना।' ब्रह्म से परिपूरित ऐसे महापुरुष विप्र हैं, परम पूज्य हैं। सन्तों ने ऐसा गायन किया है। इनका आचार-विचार समाज से अलग रहता है। बाह्य आचरण को देखकर कोई उनकी अवहेलना न कर बैठे, इसलिए भगवान का आदेश है--

पूजिय विप्र शील गुण हीना।

गुणातीत उस महापुरुष में कोई आचरण भी नहीं दिखाई पड़ता। तत्त्व विदित है, सत्ता अलग है ही नहीं तो किसके लिए आचरण करें? उनके पास अध्ययन भी नहीं है, उनकी वाणी ही वेद है, जिनमें न तो शील है, न गुण और न आचरण। वह शूद्र नहीं तो और क्या होगा? किन्तु मानसकार

कहते हैं नहीं, वह--

शूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना।।

वे शूद्र नहीं बल्कि ज्ञान प्रवीना। हृदय में ईश्वर की प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ज्ञान है। उस साक्षात्कार के साथ आत्मा से ओत-प्रोत और आत्मस्थिति वाले होने के कारण वे प्रवीण हैं। वे शूद्र दिखाई भर पड़ते हैं। वस्तुत: वे परम पूज्य हैं। द्विज एक स्थिति विशेष का नाम है।

सामाजिक परिवेश में जाति-व्यवस्था का निर्धारण चाहे जैसे हो किन्तु धर्मग्रन्थों में ब्राह्मण का निर्धारण जन्मना कभी भी नहीं रहा। रामचरित मानस में कुछ ऐसे द्विज हैं, जो जन्मना ब्राह्मण नहीं थे। विश्वामित्र का उदाहरण लें - अपने यज्ञ कीं रक्षा के लिए उन्होने दशरथ से श्रीराम और लक्ष्मण को माँगा। दशरथ जी अधीर हो उठे और बोले--

चौथेपन पायउँ सुत चारी।
विप्र वचन नहिं कहेउ विचारी।। (१।२०७।९)

विश्वामित्र कौन थे? क्षत्रिय थे। दशरथ जी के सगे रिश्तेदारों में थे। समकालीन नरेश थे। दशरथ जी उन्हें भली प्रकार पहचानते थे, किन्तु उन्होंने विश्वामित्र को विप्रवर शब्द से सम्बोधित किया। वस्तुत: जो ब्रह्म परायण हैं, वे ऋषि-कुल में आ जाते हैं। भजन की पूर्तिकाल में जो ब्रह्म से आच्छादित है, वही पूर्ण विप्र है। वही ब्राह्मणत्व की अधिकतम सीमा है। वाल्मीकि रामायण का प्रसंग है कि एक बार विश्वामित्र जी की तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी आये और बोले--'आप ऋषि हुए।' विश्वामित्र जी को यह उपाधि अच्छी नहीं लगी। वे पुन: तपस्या में रत हो गये। देवताओं के साथ ब्रह्माजी पुन: आकर बोले, "आज से आप राजर्षि हुए" किन्तु उनकी तपस्या को विराम

नहीं मिला। ब्रह्माजी ने उन्हें महर्षि की उपाधि दी। तब वे बोले--'क्या आप मुझे जितेन्द्रिय ब्रह्मर्षि नहीं कहेंगे?' ब्रह्मा ने कहा, "अभी आप में वह क्षमता नहीं है।" विश्वमित्र पुनः तपस्या में लग गये। तपस्या का धुआँ स्वर्ग तक पहुँच गया। ब्रह्मा पुनः देवताओं के साथ आये और बोले--'विश्वामित्र अब हठ छोड़ दो, आज से आप ब्रह्मर्षि हुए।' विश्वामित्र ने निवेदन किया--'यदि मैं ब्रह्मर्षि हो गया तो वशिष्ठ जी आकर प्रमाणित करें और वेद हमारा वरण करें।'

ब्रह्माजी ने 'तथास्तु' कहा। वशिष्ठ जी ने भी समर्थन किया और वेद विश्वामित्र जी के हृदय में उतर आये। वेद कोई पुस्तक नहीं कि अध्ययन से आ जाय। वस्तुतः जिस परम तत्त्व की चाह है, चिन्तनकाल में उसी तत्त्व का विदित हो जाना ही वेद है। तब वह महापुरुष जानता है कि ईश्वर कैसे चलता है? कैसे सुनता है? कैसे रहता है?

कर बिनु कर्म करै विधि नाना।

तो भला किस प्रकार? इसको वही व्यक्ति जानता है, जिसके हृदय में वेद उतर आये हैं, वही विप्र है। विश्वामित्र जी जब दशरथ जी से मिले थे, तब इस ब्रह्म ऋषित्व के प्रवेशकाल में थे; इसीलिए चक्रवर्ती जी उन्हें विप्र कहा। दूसरा उदाहरण देखिये--जन्मना ब्राह्मण-कुलेतर वाल्मीकि के आश्रम में वनवासी राम पहुँचे तो--

मुनि कहँ राम दण्डवत कीन्हा।
आशीर्वाद विप्रवर दीन्हा।। (२-१२४-१)

राम ने मुनि को नमस्ते नहीं, प्रणाम नहीं अपितु विनयावनत होकर साष्टांग दण्डवत किया। उन विप्रश्रेष्ठ ने आशीर्वाद दिया। क्या वाल्मीकि विप्र थे? कोल-भीलों में शादी-विवाह, उसी समाज में उठना-बैठना। कर्म से चाण्डाल

वाल्मीकि भी गुरु-कृपा से विप्र हो गये। यथा:-

भील जाति करनी कठिन, धर्म सुना नहीं कान।
सद्‌गुरु के कारण मिला विप्र रूप सम्मान।।

वह विप्र नहीं, विप्रवर बन गये। अत: मानस के अनुसार विप्र एक स्थिति विशेष है। यदि जन्मना विप्र की सेवा राम को अभीष्ट थी तो राम भी झूठे हैं और उनके अनुयायी भी; क्योंकि तब तो स्वयं अपनी मान्यताओं का उन्होंने निर्वाह नहीं किया।

रामचरित मानस में कहीं शिव-पार्वती-सम्वाद, कहीं याज्ञवल्क्य और भारद्वाज-सम्वाद तो कहीं कागभुशुण्डि और गरुड़-संवाद है। किन्तु जहाँ अपनी निजी भक्ति और सन्तों के लक्षण का प्रश्न आया वहाँ श्रीराम स्वयं बोले।

वनवासी और विरही राम से नारद ने अपने मन की एक कसक का समाधान चाहा कि आपने मुझे विवाह क्यों नहीं करने दिया? श्रीराम ने बताया कि जैसे शिशु-रक्षा माता करती है, वैसे ही मैं अपने भक्त की रखवाली सदैव करता हूँ। नारद के मन में कौतूहल हुआ कि मुझमें वे लक्षण हैं भी अथवा नहीं? अत: उन्होंने पूछ लिया कि भगवान जिन सन्तों की आप रक्षा करते हैं, उनके लक्षण क्या-क्या हैं? प्रभु ने बताया--

सुन मुनि सन्तन के गुन कहऊँ। जिन्हते मैं उनके बस रहऊँ।।
षट् विकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुख धामा।।

सन्त काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद और मत्सर इन छ: विकारों पर विजय प्राप्त किए रहते हैं। वे पाप से रहित, कामनाओं से रहित, शुद्ध और सुख के धाम होते हैं। इसी संदर्भ में उन्होंने बताया:-

विरति विवेक विनय विज्ञाना। बोध जथारथ वेद पुराना।।

वे विरक्त हैं। किसी में कहीं लगाव नहीं। वे विवेकी हैं। अपने पथ का उन्हें यथार्थ बोध है। निरन्तर चिन्तन परायण हैं:-

जप तप व्रत दम संयम नेमा।
गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा।। (मा. ३-४५-३)

जप-तप-संयम-नियम, गुरु-गोविन्द-विप्र के चरणों में प्रीति इत्यादि सन्त के लक्षण हैं। विचारणीय है कि जो विरक्त है, घर छोड़ा, द्वार छोड़ा तो किस विप्र का वह चरण धारण करेगा?

राज्याभिषेक के पश्चात् एक बार राम अमराई में बैठे थे। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, हनुमान इत्यादि सेवा में थे कि सहसा चार ऋषि दिखाई पड़े। राम खड़े हो गये। पीताम्बर बिछाया। जब तक वे रहे तब तक सब सेवकों के रहते हुए भी राम स्वयं उनकी सेवा में लगे रहे। यह देख भरत को कौतूहल हुआ कि इसी संत-वेष में माँ सीता की चोरी हुई, इसी वेष में भाई लक्ष्मण की मृत्यु का भरसक प्रयास किया गया, फिर भी राम सेवा में खड़े रहे। भरत ने हनुमान के माध्यम से अनुमति ले प्रश्न रखा कि सन्तों की महिमा वेद-पुराणों में है, जिनकी आपने स्वयं बड़ाई की है। उन सन्तों के लक्षण कैसे हैं? भगवान ने कहा-'भाई, सन्तों के लक्षण तो अगणित हैं। वे विषयों से विरक्त, गुण और शील के निधान, मद-रहित, अजात शत्रु होते हैं।

सम अभूत रिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी।।
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धरम जनयत्री।।

ये विरक्त होते हैं। लोभ-अमर्ष-हर्ष-भय से रहित हैं। इनमें शीतलता है, सरलता है, सर्वत्र मैत्री भाव है और द्विज के चरणों में अटूट प्रीति है। घर-द्वार छोड़कर एकान्त सेवी, परम विरक्त किस द्विज का चरण हृदय में धारण करे?

वस्तुतः द्विज एक स्थिति विशेष है। यह सन्त की अवस्था है; परम से

संयुक्त महापुरुष की अवस्था है। इन्हीं सन्तों को मानस में भूसुर, महीसुर, महीदेव इत्यादि उपाधियों से सम्बोधित किया गया है। मंगलाचरण में गोस्वामी जी ने सर्वप्रथम महीसुर के चरणों की वन्दना बीसों पंक्तियों में की है।

वन्दऊँ प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना।।

सर्वप्रथम मैं पृथ्वी के देवता-'विप्र'- के चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ, जो मोह से उत्पन्न समस्त संशयों का अपहरण कर लेते हैं। यही है विप्र की परिभाषा। किन्तु जो स्वयं मोहाच्छादित है, वह दूसरों का मोह क्या हरेगा? स्वयं दलदल में फँसा जीव दूसरों को क्या निकालेगा? जन्मना ब्राह्मणत्व का निर्धारण करने वाले समाज के तथाकथित ठेकेदार क्या मोहजनित संशयों का हरण करने में सक्षम हैं? इसी प्रकरण में गोस्वामी जी ने महीसुरों को **"सुजन समाज" "सन्त समाज" "साधु समाज"** तथा उनके कृत्यों को साधु-चरित कहकर महीसुर और सन्त को पर्यायवाची माना है। इसी को दूसरे शब्दों में भक्ति की महिमा के संदर्भ में श्रीराम ने कहा--

भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलहिं जो सन्त होहिं अनुकूला।।

भक्ति अनुपम सुख की मूल है किन्तु मिलती है कब? भक्ति तभी मिलेगी, जब सन्त अनुकूल हों, द्विज अनुकूल हों।

रामचरितमानस में स्थान-स्थान पर सन्त और विप्र की समरूपता पर बल दिया गया है। एक विशाल अन्तराल के बाद अयोध्या की विशाल जनसभा को पहली बार सम्बोधित करते हुए भगवान राम ने केवल यही बताया -

भक्ति सुतन्त्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी।।
पुन्य पुन्ज बिनु मिलहिं न सन्ता। सतसंगति संसृति कर अन्ता।।
पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम वचन विप्र पद पूजा।।
(७/४४/५-७)

भक्ति निःसन्देह अक्षय सुख का स्रोत है, किन्तु सत्संग के बिना उसे कोई प्राप्त नहीं कर सकता। आवागमन का अन्त करा देने वाले सन्तों का संग बहुत पुण्य का परिणाम है और सबसे बड़ा पुण्य मन और वचन से विप्र के चरणों की पूजा है।

सानुकूल तेहिं पर मुनि देवा। जो तजि कपट करत द्विज सेवा।।
बहुत कहौं का कथा बढ़ाई। एहि आचरण वस्य मैं भाई।।
मन क्रम वचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।
मोहिं समेत विरंचि सिव वस ताके सब देव।।

मैं वश में हो जाऊँगा। ब्रह्मा-विष्णु-महेश तुम्हारे हैं। अनन्त कोटि देवी-देवता तुम्हारे हैं। तुम्हारे विरुद्ध कोई बचेगा ही नहीं। जिसमें कुछ भी क्षमता है, तुम्हारे विरुद्ध रहेगा ही नहीं। इन सबको और मुझको अनुकूल रखने के लिए क्या करना होगा? केवल एक साधन, वह है द्विज की सेवा--विप्र-पद-पूजा। ऐसे द्विज, जो संशयों का अन्त कर चुके हों, जो मोह का शमन करने में सक्षम हों, ऐसे ही सन्त (सद्गुरु) का जब शरण-सान्निध्य प्राप्त हुआ तब--

"वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना"। ऐसे ही द्विज की सेवा से वाल्मीकि, नारद, घटयोनि (अगस्त्य) त्रिकालद्रष्टा बन गये, विप्र बन गये, जब कि ये शरीर से कुलीन नहीं थे।

वेदादिक आर्षग्रन्थों में वर्ण परिवर्तन के कथानक भरे पड़े हैं। श्रीमद्भागवत् के एकादश स्कन्ध में क्षत्रिय कुल में उत्पन्न ऋषभदेव के सौ पुत्रों का उल्लेख है, जिनमें से सबसे बड़े भरत के नाम पर यह देश भारतवर्ष कहलाया। शेष निन्यानवे पुत्रों में से नौ राजा, इक्यासी विहित कर्म परायण ब्राह्मण और नौ योगेश्वर हुए जिनमें से एक योगेश्वर कवि ने विदेहराज निमि के यज्ञ में

उपदेश करते हुए कहा--'अपने गुरु को ही आराध्य देव एवं परम प्रियतम मानकर अनन्य भक्ति द्वारा उस ईश्वर का भजन करना चाहिए।' इसी स्कन्ध के दशम अध्याय में स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने भक्त उद्धव के माध्यम से सन्देश दिया कि जिज्ञासु पुरुष के लिए सभी नियमों के पालन से भी बढ़कर आवश्यक बात यह है कि वह अपने गुरु की, जो मेरे स्वरूप को जानने वाले और शान्त हों, मेरा ही स्वरूप समझकर सेवा करे।

विचारणीय है कि जिस भक्ति को राम सन्त-सेवा अथवा द्विज-सेवा-जन्य मानते हैं, उसी को श्रीकृष्ण गुरुसेवा जन्य कहते हैं। वस्तुतः ब्राह्मण-सद्‌गुरु अथवा ब्रह्मर्षि पर्यायवाची हैं। क्रियात्मकं पथ पर चलकर ब्रह्म की अनुभूति करनेवाले ब्राह्मण हैं। यह क्रिया है केवल एक परमात्मा में निष्ठा। उसके शोध का स्थल केवल अपना हृदय और शोध का विधान है केवल श्वास द्वारा परमात्मा के किसी दो-ढाई अक्षर का नाम-जप तथा उस नाम-जप के अर्थस्वरूप किसी स्थिति वाले महापुरुष (सद्‌गुरु) के स्वरूप का चिन्तन एवं उनकी सेवा। इस क्रिया से चलकर आत्मस्वरूप में स्थित होने वाले महापुरुष वर्ण से ऊपर उठ जाते हैं। किन्तु उन्हें विप्र के अतिरिक्त कहा ही क्या जाय? इस स्थिति पर पहुँचकर आदि शंकराचार्य कह उठते हैं -

न ब्राह्मण न क्षत्रिय न वैश्यो न शूद्रो।
चिदानन्द रूपो शिवो केवलोऽहम्।।

श्रीमद्‌भागवत् के एकादश स्कन्ध में वर्णन आता है कि एक बार धर्म के मर्मज्ञ राजा यदु ने एक त्रिकालदर्शी अवधूत "ब्राह्मण" देखा और उसने पूछा, "ब्राह्मण! आप जड़, उन्मत्त और पिशाच के समान रहते हैं। न तो आप कोई क्रिया ही करते हैं, न कुछ चाहते हैं। आप आत्मा में ही आनन्द का अनुभव कैसे कर लेते हैं?" यह ब्राह्मण और कोई नहीं थे, संन्यासियों

के शिरोमणि भगवान दत्तात्रेय थे। पागल-पिशाच-दिगम्बर और क्रियारहित दिखाई देने वाले जिस महापुरुष को भगवत्कार महर्षि व्यास ब्राह्मण कहते हैं, मानसकार गोस्वामी तुलसीदास उसी विप्र की पूजा पर बल देते हैं- **''पूजिय विप्र शील गुण हीना।''** क्रियाशून्य दिखाई देने के कारण वह शूद्र जैसा लगता भर है, वस्तुतः वह शूद्र नहीं है; बल्कि- **''गुन गन ग्यान प्रवीना।''** साक्षात्कार के साथ होने वाले प्रवीण ही मानने योग्य है, सदैव पूज्य है। महाभारत में महर्षि व्यास ने भी इसी प्रश्न को लिया। यक्ष ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया कि व्यक्ति सच्चा ब्राह्मण कैसे बनता है?

राजेन कुलेन वृत्येन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा।
ब्राह्मण केन भवति तव प्रव्यहत सुनिश्चितम्।।

कुलाचार, स्वाध्याय, शास्त्र-श्रवण इनमें से किसके द्वारा ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है? युधिष्ठिर ने इसके उत्तर में कहा -

शृणु यक्ष कुलं तात् न स्वाध्याये न श्रुतेन वा।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्यमेव न संशयः।।

हे यक्ष! ब्राह्मण की उत्पत्ति न तो स्वाध्याय से, न शास्त्र-श्रवण से और न तो जन्मजात कुलाचार से होती है। ब्राह्मण के जन्म का कारण वृत्ति अर्थात् आचरण है। केवल अच्छे आचरण से ही वह सच्चा ब्राह्मण बनता है। कोई व्यक्ति चाहे कितना ही विद्वान् क्यों न हो, वह चारों वेदों का ज्ञाता ही क्यों न हो, यदि वह अपनी बुरी आदतें नहीं छोड़ता है तो वह व्यक्ति ब्राह्मण नहीं है। बुरे आचरण वाला व्यक्ति निश्चय ही निम्न वर्ग का हो जाता है। स्मृतियों का उल्लेख है कि ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने वाला भी यदि लगातार तीन दिन तक ईश्वर-चिन्तन, संध्या-वन्दन नहीं करता तो वह शूद्र हो जाता है।

आज ब्राह्मण जाति धर्मग्रन्थों की दुहाई देकर अपनी पूज्यता प्रमाणित करने

में और बाकी अधिकतर जातियाँ उनके हीन आचरण को इंगित कर उनका खण्डन करने में लगी हैं, ऐसा क्यों? वस्तुतः वर्ण एक आध्यात्मिक शब्द है, जबकि जाति एक सामाजिक शब्द है। वर्ण और जाति को एक मान लेना ही विवाद का मूल कारण है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों सनातन धर्म के क्रियात्मक एवं क्रमोन्नत सोपान हैं। यह व्यक्ति के स्वभाव में निहित गुणों की आन्तरिक कसौटियाँ हैं, जिनका सम्बन्ध व्यक्ति और उसके अन्तःकरण में भगवत् पथ की क्षमता से है। बाहर किसी से इसका सम्बन्ध नहीं है। अतः आश्चर्य नहीं कि एक परिवार के सदस्य भिन्न-भिन्न वर्ण के हों। क्षत्रिय ऋषभदेव के पुत्रों में से कोई राजा, कोई कर्म-परायण ब्राह्मण और कोई वर्णों से भी उपर उठकर योगेश्वर हो गये। ऋवेद में भी ऐसे कई उल्लेख हैं। गुणों के परिवर्तन से स्वभाव में परिवर्तन और स्वभाव-परिवर्तन से वर्ण-परिवर्तन का सिद्धांत श्रीमद्भगवद्गीता के चौदहवें अध्याय में द्रष्टव्य है। जब से क्रियात्मक साक्षात्कार का स्थान मात्र पुस्तकीय अध्ययन ने ले लिया, पुस्तकों की बाढ़-सी आ गयी। अन्दर की योग्यता के स्थान पर बाहर चार वंशानुगत जातियाँ गढ़ ली गईं। आन्तरिक परिष्कार शिथिल हो चला। इसीलिए इतिहास में सबसे निकटतम अवतार महामानव बुद्ध ने वेद, पुराण, पोथी की प्रामाणिकता मानने से इनकार कर दिया। जब मानव मात्र उत्कर्ष कर सकता है, तो ब्राह्मण जाति ही श्रेष्ठ क्यों? गीता में वर्ण शब्द का आध्यात्मिक अर्थ करते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा - "चातुवर्ण्यं मया सृष्टं" यदि चार वर्णों का अर्थ चार जातियाँ मान लें तो क्या सृष्टि का अर्थ केवल भारत होगा? भारत से बाहर भगवान की बनाई इन जातियों के वंशज कहाँ गये?

स्पष्ट है कि जाति-व्यवस्था एक सामाजिक प्रश्न है। अन्तर्जातीय विवाह का औचित्य चाहे जो हो, अपनी जाति में ही शादी-विवाह के प्रश्न पर सभी

एकमत हैं। इस दृष्टि से भी सभी जातियों का समान मूल्य है।

प्रश्न उठता है, कोई जाति अपने को ही श्रेष्ठ क्यों मनवाना चाहती है? दूसरी जाति उसे श्रेष्ठ मान क्यों नहीं लेती? प्रश्न मनवाने या मानने का नहीं, प्रकृति के गुणों का है। प्रकृति में समता है कहाँ?

''बिनु विज्ञान कि समता आवइ'' प्रकृति के गुण-धर्मों से ऊपर उठकर जब तक मानव ईश्वरीय गुण-धर्मों से संचालित नहीं होगा, तब तक जातीय अहं, कलियुगीन विरोध बना ही रहेगा।

कम्युनिस्टों की तरह यदि सभी जातियों को समान घोषित कर दिया जाये, तब भी कालान्तर में उनके छोटे-बड़े वर्ग बनते रहेंगे, नाम उनका चाहे जो हो। वर्णों का उत्कर्ष-अपकर्ष दैवी गुणों के अर्जन पर आधारित है और इसलिए विप्र सदैव पूज्य हैं। जातीय ऊँच-नीच की भावना आपसी छिद्रान्वेषण मात्र है।

प्रश्न-महाराज जी! ''विप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार'' सन्त तो विरले होते हैं। सामान्य मनुष्यों में अवतार केवल ब्राह्मण के लिए होता है। क्या और किसी की पुकार भगवान नहीं सुनते?

उत्तरः- ठीक कहते हो! सुनो, हिन्दू धर्मशास्त्रों में चौबीस अवतार बताये गये हैं। मुसलमानों में भी चौबीस ही नबी और जैन विचारधारा में चौबीस ही तीर्थंकर हैं। न तेईस और न पचीस। विलक्षण समानता तो यह है कि लगभग सबके सब अवतार महात्मा ही हैं जिन्होंने हमारी आपकी तरह जन्म लिया। कोई परिस्थितियों से प्रेरित हुआ तो कोई पूर्व पुण्य-पुरुषार्थ से। वे सब उस तत्त्व की तलाश में निकल पड़े, चिन्तन किया, उस चिन्मय अविनाशी की स्थिति प्राप्त की और अवतार (नबी) कहलाये।

सनातनी मनीषा में अवतार के बारे में प्रायः यह भावना है कि अवतार

कोई चमत्कार है जो भक्तों की आर्त पुकार पर अचानक कहीं प्रकट होगा, खलों का विनाश और हम सज्जन लोगों की रक्षा करेगा किन्तु मूल शास्त्रों में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। हिन्दू शास्त्रों के चौबीस अवतारों में अठारह महात्मा निकले और कच्छप, मत्स्य, शूकर, नृसिंह, हंस इत्यादि पशु-पक्षी अवतार भी रूपक हैं जिनमें प्रभु के अवतरण की एक जैसी विधि-विशेष का चित्रण मात्र है। रहे भगवान राम और श्रीकृष्ण, तो उनमें भगवान श्रीकृष्ण के ही शब्दों में वे योगेश्वर हैं।

रामचरित मानस की कुछेक पंक्तियों से लगता है कि अवतार मनुष्यों में केवल ब्राह्मण के लिए होता है। अवतार पर सीधा प्रकाश डालते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है-

जब जब होइ धरम की हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी।।
तब तब धरि प्रभु विविध शरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।

विप्र, गाय, सुर और धरती - ये जब कष्ट पाते हैं, तब-तब विविध शरीरों में प्रभु प्रकट होते हैं। प्रथम धरती को लें। उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक की धरती! भगवान के आविर्भाव से जो दुःख-सुख मिलेगा इसे तो वही जानें। देवता का दुःख-सुख भी वही जानें। रही पशु श्रेणी की गाय तो हम गाय तो हैं नहीं कि हमें भी भगवान का कुछ अंश मिलता। मनुष्य में यदि किसी के लिए अवतार होता है तो केवल वर्ग-विशेष ब्राह्मण के लिए होता है। 'सीदहिं विप्र' जब विप्र कष्ट पाता है तब निवारण के लिए होता है, अन्य किसी के लिए नहीं।

विश्व के लगभग पौने चार सौ देशों में से एक देश भारत! विश्व की असंख्य जातियाँ। उनमें भी प्रचलित चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और

शूद्र में से केवल ब्राह्मण वर्ग के लिए भगवान प्रकट होते हैं। तब तो यह भगवान एक कबीले का हो गया, विश्वव्यापी कैसे?

अवतार लेकर भगवान करते क्या हैं? "असुर मारि थापहि सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु।" असुरों को मारते हैं। जो विप्र और धेनु को सताते हैं, वे ही असुर हैं। विप्र तो विप्र को सतायेगा नहीं। जब भी कोई सतायेगा तो विजातीय ही। भगवान उन्हें मारने के लिए ही आते हैं तो भला ऐसे भगवान को कोई क्यों भजेगा? जिसकी वह रक्षा करता है वे भजें! शेष दुनिया वाले यदि भज ही लेंगे तो वह उठकर गर्दन ही तो काटेगा। ऐसे सोते शेर को कौन जगाये? अन्त में कहते हैं - "राखहिं निज श्रुति सेतु" अपने वैदिक मर्यादा की रक्षा करते हैं। वास्तव में यही वेदोक्त तरने का तरीका है।

पूरे रामचरित मानस में "निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि" और आगे चलकर भगवान केवल "गो द्विज हितकारी जय असुरारी" मात्र गो और द्विज के हितैषी रह जाते हैं। मनुष्य में भगवान केवल ब्राह्मण-वर्ण की पुकार सुनते हैं जो केवल भारत में पाया जाता है। ऐसे भगवान से विश्व के अन्य मानवों को क्या लेना-देना? अन्य वर्ग और मजहब उसके लिए क्यों आँसू बहायें? फिर भारत विश्वगुरु कैसा? अतः विचारणीय है कि वह द्विज है कौन, जिसके लिए भगवान अवतार लेते हैं?

वास्तव में शास्त्रों का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि भगवान "गो द्विज हितकारी" हैं किन्तु जिस विप्र के लिए वे अवतरित होते हैं वह संसार में प्रचलित कोई जाति नहीं अपितु एक स्थिति है, जैसा की मानस की ही पंक्तियों में अभी आपने सुना। इसी की पुष्टि आर्षग्रन्थों में यत्र-तत्र सर्वत्र है। उदाहरण के लिए महाराज अत्रि की वाणी देखें, गीता देखें - सबमें आप यही पायेंगे। महर्षि अत्रि कहते हैं:-

जन्मना जायते शूद्र संस्कारात् द्विज उच्यते।
वेदाध्यायी भवेत् विप्र ब्रह्म जानाति ब्राह्मण:।।

अर्थात् जन्म लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति शूद्र है, अल्पज्ञ है। संस्कार से (स अंश आकार) स माने वह परमात्मा उस परमात्मा का आंशिक संचार, आकार जब प्राप्त होने लगता है तब वही द्विज है, दूसरा जन्म पाया है जो गर्भवास के यातनाग्रस्त जन्म से भिन्न अजर, अमर, निर्दोष आत्मस्थिति है, शाश्वत सत्य का प्रवेश है। साधना जब और सूक्ष्म हुई तो 'वेदाध्यायी भवेत् विप्र' जो तत्त्व विदित नहीं था वही परमात्मा अपनी अनुभूति देने लगता है। उस अनुभूति का अध्ययन करने वाला, उन निर्देशों पर चलने वाला ही वास्तविक वेदाध्यायी है, विप्र है। यदि वेद नामक ग्रन्थ पढ़ने से कोई विप्र बनता तो आज अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय अध्येता विप्र हो जाते क्योंकि पहले सबको पढ़ने का अधिकार नहीं था, आज है; किन्तु ऐसा कुछ नहीं है। वस्तुत: जो भली प्रकार ब्रह्म के परायण हैं, वही विप्र हैं। साधना और सूक्ष्म हुई तो "ब्रह्म जानाति ब्राह्मण:" जहाँ से वह ब्रह्म अनुभूति देता है, उस मूल का स्पर्श पाने वाला ब्राह्मण है। ब्राह्मण एक स्थिति विशेष है।

भगवान वास्तव में गो द्विज हितकारी हैं क्योंकि जिसने भी उधर सिर झुकाया, समर्पण किया, उसका गो-संयम कर आत्मिक जागृति को सुरक्षित रखते हैं, सहायता करते हैं; इसलिए हितकारी हैं और जो उधर झुकाव नहीं लेता, उसके लिए भगवान की वह महिमा नहीं है जो अवतारजन्य है। "कृपासिंधु जन हित तन धरहीं।" "सो केवल भगतन्ह हित लागी।" वह केवल भक्तों के हितकारी हैं।

वास्तव में ब्राह्मण चिन्तन-पथ की एक योग्यता है। जो शाश्वत ब्रह्म के लिए विकल है, वही विप्र है। आइये देखें वेद, उपनिषद और शास्त्रों के

सारांश गीता में अवतार के सम्बन्ध में क्या कहा गया है? अर्जुन ने पूछा - भगवन्! आपका जन्म तो अब हुआ है और सूर्य का जन्म तो बहुत पुराना है। आपने इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में सूर्य के प्रति कहा, यह मैं कैसे मान लूँ? योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया -

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिम् स्वामधिष्ठाय संभवामि आत्ममायया।।

अर्जुन! मैं अजन्मा, अव्यक्तात्मा तथा सभी भूत प्राणियों के स्वर में संचारित (ईश्वर) होते हुए भी अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति को "आत्ममायया" आत्मिक प्रक्रिया के द्वारा स्वाधीन करके प्रकट होता हूँ। आत्म-माया, योग- माया पर्याय हैं। आत्म-माया वह है जो आत्मा तक की स्थिति तय करा दे। योगमाया वह है जो परमात्मा से मिलन करा दे, इसी को मानस में राममाया या विद्यामाया कहा गया, जो हरिप्रेरित होती है किन्तु प्रकृति का ही एक पहलू है। इस आत्मिक माया द्वारा तीनों गुणों के संयत होते ही भगवान प्रकट हो जाते हैं? कहते हैं -

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

"धर्मस्य ग्लानि:" धर्म एकमात्र परमात्मा है। धर्म शाश्वत है, धर्म सनातन है और इधर "यान्तो ब्रह्मसनातनम्" ब्रह्म सनातन है। ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा एक ही परम पुरुष के पर्यायवाची शब्द हैं। वह सनातन परम पुरुष परमात्मा ही धर्म है। हम कौन हैं? सनातनधर्मी! उस सनातन के पिपासु! तो जब उस धर्म के लिए हृदय ग्लानि से भर जाता है, अधर्म की वृद्धि देखकर विकल हो जाता है तब मैं अपने रूप को रचता हूँ। जो उसके लिए विकल है वह ब्राह्मण है, उसी के लिए अवतार है।

उस अविनाशी तत्त्व को पाने के लिए विरह किसी में भी हो सकता है, ग्लानि से किसी का भी हृदय भर सकता है, ब्रह्मपरायण कोई भी हो सकता है, बस उसी के लिए प्रकट हो जायेंगे। ऐसी ही ग्लानि महाराज मनु को हुई कि "होई न विषय विराग, भवन बसत भा चौथपन। हृदय बहुत दुःख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु।।" विषयों से वैराग्य नहीं हो रहा है। बिना भजन के जीवन बीत जाना चाहता है। ग्लानि से हृदय भरा तो तुरन्त भगवान ने सन्देश देना शुरू किया और मनु पा गये।

योगेश्वर कहते हैं कि "जन्म कर्म च मे दिव्यम्" मेरा वह जन्म और जन्म लेकर करने वाला कर्म दोनों ही दिव्य हैं। "एवं यो वेत्ति तत्त्वतः" इस प्रकार का मेरा स्वरूप जो देखता है, वह तत्त्वदर्शी है। केवल तत्त्वदर्शी ही जान पाता है। फिर सब लोग क्यों झुण्ड के झुण्ड दौड़ पड़ते हैं कि कहीं अवतार हो तो देख लें?

वस्तुतः उस अवतार की व्यवस्था सबके अन्दर है। अतः हर परिस्थिति में आपको संभालने के लिए वह सदैव तैयार है चाहे आप कहीं जन्मे हों। जो कोई भी उस ब्रह्म को पाने के लिए भली प्रकार तत्पर है, चिन्तनरत है, जिस किसी ने भी आत्म-संयम के लिए समय दिया है, अवस्था-भेद से उसी को द्विज तथा ब्राह्मण कहते हैं। अतः विप्र के पवित्र स्वरूप को धूमिल करने वाले अन्ध-बन्धनों को तोड़कर विप्र के उद्गम की खोज करें, चिन्तन करें और विप्रत्व अर्जित करें।

ॐ

साधक का आचरण

प्रश्न - महाराज जी! साधक का आचरण कैसा होना चाहिए?

उत्तर- देखिए साधक को इतना ही करना चाहिए जितना कुछ सुतीक्ष्ण ने किया। वे महर्षि अगस्त्य के प्रिय शिष्य थे। जब सुना कि वनवास में पर्यटन करते हुए भगवान इसी जंगल में कहीं आये हैं तहाँ प्रार्थना करने लगे -

हे विधि दीन बन्धु रघुराया। मोसे सठ पर करिहहिं दाया।।

हे विधाता! दीनों पर दया करने वाले प्रभु! क्या मेरे जैसे शठ पर भी दया करेंगे? मेरे जैसे मूर्ख पर भी दया करेंगे? क्या वे मूर्ख थे? कुछ ही घंटे पश्चात् तो भगवान मिल गये। वे सोचते हैं -

मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ज्ञान मन माहीं।
नहिं सत्संग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा।।

३।९।६-७

मेरे हृदय में दृढ़ भरोसा नहीं है; न भक्ति है, न वैराग्य है और न मन में ज्ञान ही है। मुझमें न तो सत्संग है, न योग है, न जप है, न यज्ञ ही है और न तो चरण-कमलों में दृढ़ अनुराग ही है! क्या वस्तुतः उनमें इन गुणों का अभाव था? कदापि नहीं, वे इन सभी गुणों से सम्पन्न थे, 'मन क्रम वचन राम पद सेवक' थे; स्वप्न में भी इष्ट के अतिरिक्त किसी अन्य देवता का भरोसा नहीं करते थे, अनन्य श्रद्धा थी उनकी! किन्तु उनके उद्‌गारों में कितना दैन्य है! कितनी विनम्रता है।

आजकल के महात्मा लोगों को घर छोड़े जहाँ चार-छः वर्ष हुआ, वेश तो मिल ही जाता है, फिर भी वे ऐड़ने लगते हैं। पाँच-सात साल में ही समझते

हैं कि हम सन्त हैं। कुछ भी उनके मान-सम्मान के विरुद्ध हुआ कि वे बौखला जाते हैं, कहते हैं 'हम साधू हैं!' किन्तु जो वास्तव में अनुरागी होते हैं, उनकी दशा ऐसी नहीं होती। वे विरही होते हैं। उनको कोई सन्त कहे, अवधूत कहे, रजपूत कहे, अथवा जोलहा ही क्यों न कहे; उनके चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनका चित्त अपने इष्ट-सम्बन्धी तथ्यों के अतिरिक्त कुछ ग्रहण ही नहीं करता। वास्तव में अनुरागी के लिए ही इस पथ का विधान है।

साधक का आचरण भरत-जैसा होना चाहिए। राम वनवास में गये तो भरत विकल की तरह उनका पीछा करते चित्रकूट पहुँच गये। राम नहीं लौटे तो खड़ाऊँ प्राप्त हुई। चरण-पादुका मस्तक पर रखकर भरत अवध आये। राजपाट देखना तो दूर की बात थी, नन्दिग्राम में एक कंदरा बनवायी और उसके अंतराल में बैठ गये। उस खड़ाऊँ का ध्यान करते हुए अश्रुपूर्ण नेत्रों से रात-दिन बिताने लगे। निरन्तर रुदन करते रहे।

हनुमान संजीवनी बूटी ला रहे थे, उसी रास्ते से निकले, तब भी भरत विकल की तरह उन्हें दिखाई पड़े। हनुमान रास्ते भर प्रभुचरणों में उनके अपार अनुराग की सराहना करते रहे। इतना ही नहीं, अपितु चौदह वर्ष पश्चात् प्रभु-आगमन की सूचना देने हनुमान आये तो उसी दशा में भरत को पाया। राम ने कहा था - "जाओ, अयोध्या में भरत को सूचना दे दो कि हम आ रहे हैं, अन्यथा कहीं वह प्राण न त्याग दे।" पूज्य महाराज जी से लोग जब पूछते कि महाराज जी! क्या भगवान मिलते हैं? तब महाराज जी कहते थे - "हाँ हो! काहे न मिलिहैं? यदि अनुरागी को भगवान न मिलिहै त ऊ मरि न जाई? ऊ प्राण दे देई! मोके मिली के तो स्थिति दिये हैं।"

साधक का विरह इतना ही तीव्र होना चाहिए। राम ने हनुमान से कहा - "जाओ, सूचना दे दो। मेरे विरह में विकल होकर भरत कहीं प्राण न

त्याग दें।'' हनुमान गये, भरत की दशा देखी -

बैठ देख कुशासन, जटा मुकुट कृश गात।
राम राम रघुपति जपत, स्त्रवत नयन जल जात।।७।१ख।।

चौदह वर्ष पूर्व भरत की जो दशा थी उससे भी विकल दशा में हनुमान जी ने उन्हे देखा। कुश के आसन पर बैठे थे। अपने पास उन्होंने कुछ भी तो नही रखा था। जटा का मुकुट, गात कृश है। 'राम-राम रघुपति' यही जप चल रहा है। हृदय में स्वरूप है, आँखो से अविरल अश्रुपात् हो रहा है।

ऐसा कुछ देखकर हनुमान जी बहुत हर्षित हुए, रोमांच हो आया, अश्रुपात् होने लगा; मन में बहुत सुख माना। अनुरागी भक्त अपने से भी अच्छे अनुरागी को देखकर प्रसन्न होता है, न कि उसे जलन होती है। हनुमान ने अमृत के समान वचन कहा कि ''जिसके विरह में दिन-रात सोचते रहते हो, जिसके गुण-गणों की पंक्तियाँ निरन्तर रटते रहते हो, वही राम आ रहे हैं।'' इतना सुनते ही भरत के सारे दुःख दूर हो गये, प्यासा मानो अमृत पा गया। भरत बोले- ''यह ऐसा संदेश है जिसकी समता का संसार में कुछ है ही नहीं।'' इष्ट की उपलब्धि ही साधक का सर्वस्व है। वह कभी नहीं भूलता कि इसी के लिए तो वह साधक बना है। अत: पूर्तिपर्यन्त साधक के विरह-वैराग्य-विकलता में न्यूनता तथा शिथिलता नहीं आनी चाहिए। भरत के चरित्र से, सुतीक्ष्ण के चरित्र से अपने को जोड़ना चाहिए, उससे प्रेरणा लेकर अपने को उसी आचरण में ढालना चाहिए। हवा भर भी इष्ट से फासला है, तब तक अपने को साधक ही मानना चाहिए; अनुनय-विनय एवं विकलता में उत्तरोत्तर उत्कर्ष होना चाहिए। इष्ट से सूत भर भी अन्तर है और साधक उस कमी को पूरा करने के प्रयत्न में ढील देता है, तो माया कामयाब हो जाती है। इस जरा-सी दरार के लिए जड़ भरत को तीन जन्म लेना पड़ा। रंचमात्र ही सही, दूरी तो दूरी ही है। बहुत दूर से दौड़कर आनेवाला यदि हताश

होकर गंगा से दो हाथ दूर ही बैठ जाय तो गंगा-जल का उसके लिए क्या उपयोग? दो हाथ की दूरी से ही तो वह प्यासा मर रहा है। वह दूरी ही उसके लिये योजन है, कणमात्र का अवरोध भी पहाड़ है। परन्तु साधकों को ऐसा समझ कर हताश नहीं होना चाहिए कि भगवत्पथ में विघ्न ही विघ्न हैं, कौन इतना झंझट पाले? वस्तुतः भक्ति-पथ में कठिनाई कुछ भी नहीं है; पार तो निश्चित है। हाँ, उत्तम साधक को विरह-वैराग्य में न्यूनता नहीं लानी चाहिए।

"सच्चा लिंग फकीर का घूमे बजार बजार।" सच्चे साधु के लिए सर्वत्र मंगल है। दिखावटी साधु नहीं बनना चाहिए। 'बनना' नहीं चाहिए। भगवान् ही कुछ बना दें तो बात अलग है। साधक के सुरत की डोरी न टूटने पाये तथा दम्भ न जमने पाये तो सब ठीक हो जाता है।" अपने शिष्य को ऐसा उपदेश देते हुए एक विचरणशील महात्मा ने कहा- "बेटा! अपने से कुछ मत बनना।" शिष्य ने आज्ञा शिरोधार्य की। कुछ दूर चलने के पश्चात् सड़क के पार्श्व में सुरम्य उद्यान दिखायी पड़ा। शिष्य के आग्रह पर महात्मा उस उद्यान में गये, उपवन के जनशून्य भवन में पड़े एक तख्त पर अपना आसन लगाया। शिष्य भी पार्श्ववर्ती कक्ष में पड़ रहा।

उपवन किसी राजा का था, यदा-कदा वहाँ विश्राम करने आ जाता था। संयोग से राजा भी उसी समय आया, जिस समय उसके कक्ष में गुरु-शिष्य विश्राम कर रहे थे। सिपाहियों ने लपक कर शिष्य को डाँटा-"कौन हो? जानते नहीं कि यह महाराजाधिराज का विश्रामालय है?" शिष्य ने कहा- "मैं साधू हूँ।" सिपाही ने कसकर एक झापड़ लगाया और बाहर की ओर झोंक दिया। तब तक राजा भी समीप आ चुके थे। सिपाही ने दौड़कर उनका कक्ष खोला तो महात्मा पर बरस पड़ा- "कौन है? महाराज के तख्त पर लेटने का दुस्साहस तुमने कैसे कर लिया?" महात्मा चुपचाप उठे और बैठ गये।

अंगरक्षक ने अपना प्रश्न दुहराया- "कौन हो? यहाँ कैसे आ गये?" तब तक राजा ने ही कहा- "लगता है कोई महात्मा हैं, तभी तो इतने शान्त हैं। इन्हें सादर दूसरे कमरे में ले जाओ।" किन्तु विचरण-प्रिय महात्मा नहीं रुके; सड़क पर मिलते ही शिष्य ने कहा - "महाराज! हमको तो बड़ी मार पड़ी।" महात्मा ने कहा- "कुछ बने होगे!" शिष्य ने कहा - "महाराज उन्होंने पूछा था कि कौन हो? मैंने कह दिया- साधू हूँ। बस, उसने मुझे मार दिया।" महात्मा ने कहा साधू बन गये न! इसलिए मारे गये। साधू बनने की वस्तु नहीं है बल्कि साधनात्मक क्रिया पकड़कर जब क्रमशः उत्थान करते-करते योगारूढ़ता की स्थिति आ जाये तो मन के निरोध काल में साध्य वस्तु स्वतः प्रवेश पा जायेगी, साधक को उठा लेगी; साधू बना देगी। जो परमात्मा को साध लेता है, वही साधू है। ढोंग नहीं करना चाहिए।

साधना की अवधि में भयंकर विघ्न आ सकते हैं लेकिन साधक को चाहिए कि अपनी टेक पर अडिग रहे। प्रण का सच्चा उत्साही ही इस पर चल पाता है। प्रण पर अडिग रहकर साधनारत रहने से विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है जैसा अर्जुन या महर्षि काग के जीवन में दृष्टिगोचर होता है। अर्जुन ने उर्वशी को मातृवत् ही देखा, भले ही उसे एक वर्ष के लिए नपुंसक बनना पड़ा। वह शाप भी अज्ञातवास की अवधि में सहायक सिद्ध हुआ, अर्जुन के लिए वही वरदान हो गया। कागभुशुण्डि की दृढ़ता के लिए मिलने वाले शाप के पीछे वरदानों का ताँता लग गया। अतः साधक को अपने धर्म पर प्राणपण से स्थिर रहना चाहिए।

साधक भी इसी दुनिया में रहकर भजन करता है। भले ही वह जंगल में रहे, गाँव से दूर कुटिया बनाकर भजन करे (गाँव के समीप तो रहना ही नहीं चाहिए) फिर भी सांसारिक लोग, हमारे ही भाई वहाँ पहुँचते रहेंगे, संग-दोष होता ही रहेगा। ऐसी परिस्थिति में उनके भले-बुरे संग-दोष से सदैव

बचते रहना चाहिए। मान लीजिए, साधक सही चल रहा है किन्तु सांसारिक लोगों के शब्द तो कान में पड़ेंगे ही, उनके बुरे विचार, संकल्प टकरायेंगे! इससे बचा कैसे जाये? इस क्षेत्र में महर्षि दत्तात्रेय से साधक को प्रेरणा लेना चाहिए। दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति में एकाध गुण अवश्य होता है। साधक की दृष्टि बस उसी गुण पर होनी चाहिए।

महात्मा दत्तात्रेय विचरण कर रहे थे। कुत्ता दिखाई पड़ा। किसी ने डंडा उठाया तो भाग खड़ा हुआ, पुचकारा तो पास चला आया; टुकड़ा फेंका, ले लिया अन्यथा बैठा रहा। दत्तात्रेय ने विचार किया कि यह तो गुरुओं का भी गुरु है। इससे सद्गुरुओं की एक शिक्षा मिली कि अवधूत को सदैव मान-सम्मान से रहित और सन्तोषी होना चाहिए। वैसे, कुत्ते में दुर्गुण भरे पड़े हैं किन्तु दत्तात्रेय का उससे क्या प्रायोजन? अनन्त दुर्गुणों में भी एक गुण दिखाई पड़ा, उन्होंने उसी पर विचार केन्द्रित रखा।

दत्तात्रेय आगे बढ़े। एक अजगर दिखाई पड़ा, इतना मोटा कि सरक भी नहीं सकता था। दिन भर में एक फुट भी चल नहीं पाता था। महात्मा को कुतूहल हुआ कि वह जीता कैसे है? खाता क्या है? अतः वहीं आसन लगाकर बैठ गये, देखा प्रतिदिन कोई न कोई खग-मृग ठीक उसके मुँह के सामने पहुँच ही जाता था, जिसे पकड़कर वह उदरस्थ कर लेता था। अजगर की हिंसक वृत्ति से दत्तात्रेय को कुछ लेना-देना नहीं था, उसमें भी एक गुण दत्तात्रेय को दिखाई पड़ा कि अवधूत को पेट के लिए द्वार-द्वार नहीं भटकना चाहिए। अजगर की प्रशंसा करते हुए दत्तात्रेय चल पड़े कि तुममें भी गुरुओं का एक गुण देखने को मिला है। वह अजगर दत्तात्रेय का गुरु नहीं था; गुरुओं की विद्या तो कुछ और ही होती है; फिर भी सद्गुरु की रहनी का एक गुण अजगर में भी उन्हें दिखाई पड़ा। समस्त भूत-प्राणियों की अच्छाइयों में उन्होंने अपने गुरु अथवा इष्ट को ही देखने का प्रयास किया।

सिमटि सिमटि जल भरहिं तलावा। जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा।।

एक-एक बूँद करके तालाब भर जाता है। ठीक उसी प्रकार अधिकारी साधक एक-एक करके गुणों का संचय करते हैं। दूसरों का छिद्रान्वेषण करने से साधक भी उन दुर्गुणों से आक्रान्त होता है। अत: साधक को सदैव सजग रहना चाहिए, किसी महात्मा अथवा सांसारिक जीव की भी निन्दा नहीं करनी चाहिए। परनिन्दा साधक के पतन का कारण वन जाती है - 'परनिन्दा सम अघ न गरीसा।'

साधक को लँगोटी का सच्चा होना चाहिए। जो व्यक्ति दुराचरण से विरत नहीं हुआ है, जिसे एकान्त अच्छा नहीं लगता, जागतिक वस्तुओं के त्याग की भावना जिसके लिए असम्भव है, उसे अक्षय पद नहीं मिल सकता। जिन वस्तुओं की अधिकता में मूर्खों को अनुराग होता है उन्हीं की प्राप्ति में प्राज्ञ पुरुष को वैराग्य होता है। विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है तथा सद्गुरु की कृपा के बिना सहजावस्था की प्राप्ति दुर्लभ है। अत: बन्धुओं! अनुभवी सद्गुरु का सान्निध्य प्राप्त करें। मन-क्रम-वचन से उनकी शरणागति का चिरन्तन विधान है। उन महापुरुषों से अन्त:प्रेरणा के स्रोत मिलने लगे, साधक की आत्मा में जागृत होकर वे महापुरुष हृदय में निर्देश देने लगे तब समझना चाहिए कि साधना का अन्तर्प्रवेश हुआ। वह अन्त:प्रवेश निवृत्ति का निश्चित स्रोत है। उसे जानने के लिए गुरु के पास जाना ही होगा- 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।' ऐसा उपनिषदों का निर्देश है। उन महापुरुषों की प्राप्ति में आपका पुण्य माध्यम है। सन्त एवं सद्गुरु जिस दृष्टि से पहचान में आते हैं, वह दृष्टि ही पुण्यमयी है।

ॐ



परमहंस-आश्रम-स्थानासीन श्रद्धेय श्री भगवानानन्द जी महाराज



गीता पर उपदेश देते हुए परमार्थ-पथिकों के बीच

श्री परमहंस जी

महाभारत का प्राण गीता और उसका क्षेत्र

महाभारत का युद्ध अत्यन्त मार्मिक एवं जनसमूह के लिए एक आदर्श है किन्तु उसका रूप ही दूसरा है। इस संसार में मानव समय-समय पर विशाल समूहों में विभक्त होकर परस्पर लड़ता आया है। उदाहरण के लिए देवासुर-संग्राम आदि। इस संसार में मानव ने मायिक स्तर पर जब-जब कुछ आविष्कार किया, तब-तब परस्पर दुनियावी स्थिति वाले युद्ध के परिणामस्वरूप अपना सर्वस्व नाश कर दिया। उस सर्वनाश के अतिरिक्त जो अल्पसंख्यक बचे उसे शान्ति कह लिया जाये, चाहे विवशता। अस्त्र-शस्त्र के प्राप्तिकाल में संतोष तो अवश्य होता है किन्तु वे जब भी कार्य रूप में आते हैं तो मानव का कल्याण नहीं बल्कि सर्वनाश ही होता है।

इसी प्रकार कुछ विशेष आविष्कारों के आधार पर महाभारत के भयंकर युद्ध का प्रणिपात हुआ था, इसमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु आज हम लोगों के समक्ष उस महाभारत का चित्रण एक पुस्तक के रूप में है, जिसकी रचना महर्षि व्यास के द्वारा हुई है। महापुरुषों की रचना व्यवस्थापूर्वक जीने-खाने तक ही सीमित न रहकर बल्कि इस जीवात्मा के पूर्ण कल्याण के लिए होती है। पूर्ण कल्याण उसे कहते हैं, जिसे प्राप्त कर मानव कभी ईश्वर से विलग नहीं होता। भरत, महावीर, ऋषभ एवं बुद्ध आदि एक अच्छे सम्राट थे, जिनके पास जीविकोपार्जन-सामग्री की कमी नहीं थी, जिसे आज संकीर्ण विचार वाला मानव कल्याण समझता है। ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं, जिनके सामने जीवन सम्बन्धी भौतिक व्यवस्थाओं की समस्या नहीं थी किन्तु एक अलक्षित (अलौकिक) वस्तु की कमी के कारण उन्हें साम्राज्य त्यागकर फकीर होना

पड़ा। व्यावहारिक व्यवस्था वाले लाखों होंगे तो परमार्थ चिन्तन वाला कोई एक। व्यावहारिक व्यवस्था का संचार उन पुरुषों में तो पाया जाता है जिनकी संख्या एक के मुकाबिले लाख है किन्तु जिन परमार्थी पुरुषों की संख्या लाखों में एक है, वे कहीं से भी उपदेश प्रारम्भ कर मानव की सांसारिक प्रवृत्तियों को समेटते हुए क्रमशः परमार्थ-चिन्तन के प्रशस्त पथ पर खड़ा कर देते हैं। कारण कि उन्होंने चलकर देखा है कि अन्यत्र कल्याण सम्भव नहीं है।

अब आप उसी स्तर के महापुरुष योगेश्वर श्रीकृष्ण की वाणी भगवद्गीता को जरा विचार से देखें। कर्म की आवश्यकता पर बल देते हुए श्रीकृष्ण कहते है कि हे अर्जुन! काम-क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के मूल द्वार हैं, जिन पर आसुरी सम्पत्ति आधारित है। इन तीनों का त्याग कर देने पर ही वह क्रिया प्रारम्भ होती है जिसका परिणाम मोक्ष है। इसी संदर्भ में आगे कहते हैं कि मुख्य विकार काम, क्रोध इत्यादि त्याग देने पर ही इस क्रिया का प्रारम्भ होता है जिसका परिणाम परमात्मा है। इस स्थिति में मनुष्य सुख-दुःख से उपराम हो जाता है। अर्थात् ऐसे सुख की प्राप्ति होती है जिसके पीछे दुःख नहीं है। सभी पढ़ते एवं इन शब्दों पर विचार भी करते हैं, किन्तु इन विकारों को छोड़ना नहीं चाहते। बहुत से ऐसे भी हैं जो विकारों से छूटने के लिए प्रयत्न करते हैं एवं विकल हैं, किन्तु इनसे पिण्ड छूटता नहीं। इसलिए महापुरुषों ने इनको दुर्जय शत्रु की संज्ञा दिया है। हे अर्जुन! काम और क्रोध जो रजोगुण से उत्पन्न होने वाले हैं, इस पथ में यही मुख्य शत्रु हैं। असंगतारूपी शस्त्र, ज्ञानरूपी तलवार द्वारा इनको काट। ये काममय शत्रु भोगों से कभी भी न संतुष्ट होने वाले एवं ज्ञान व विज्ञान को नष्ट करने वाले अत्यन्त भयंकर एवं दुर्जय हैं। ये शत्रु विज्ञानियों के निरन्तर वैरी हैं। इसलिए युद्ध के लिए "उत्तिष्ठ" खड़ा हो। अब आप ही वताइये, जब शंत्रु अन्दर हैं तो वाहर झगड़ा करने से क्या लाभ? खैर, यह युद्ध का प्रश्न आगे आयेगा।

महापुरुषों के शब्दों में वह क्रिया तभी फल देती है जब कि विकारों का शमन हो जाता है। ऐसी ममत्व ग्रसित अवस्था मे कल्याण की व्यवस्था कैसे सम्भव हो सकेगी। उसी का निदान करने के लिए महापुरुषो ने शास्त्रो को ऐसी खूबी के साथ रचा कि दुनियावी स्तर पर खड़ा मानव कल्याण की पूर्ण योग्यता प्राप्त कर सके। जैसा कि क्रोध का पूरक युद्ध, लोभ का पूरक उपार्जन व मोह का पूरक सम्वन्ध इत्यादि, मन के फँसाव के जितने भी साधन हैं, सभी उपयुक्त हैं। आप खूब भोगिये परन्तु इष्ट पर दृष्टि रखते हुए, संयम के साथ। यह संयम मानव के लिए एक विशेष प्रशिक्षण है जिसके द्वारा सांसारिक प्रभाव क्रमशः दुर्वल हो जाते हैं और इष्टोपलब्धि की सही परिधि प्राप्त हो जाती है जहाँ से क्रिया का आरम्भ है। कर्मकाण्डियों द्वारा इसकी धज्जी-धज्जी उड़ा दी गई, किन्तु उसका वास्तविक स्वरूप इतना ही है कि सुवह-शाम पाँच-दस मिनट अवश्य अपने इष्ट के समक्ष हाजिर होना चाहिए। इष्ट का स्वरूप हृदय में स्मरण कर अति विनीत भाव से अपने आप को समर्पित कर दें और अग्रिम कार्य के लिए निवेदन करें कि भगवान मैं दिवस की तरह निरन्तर सांसारिक उलझनों में बहता जा रहा हूँ, आप ही मेरे एकमात्र रक्षक हैं। इसी प्रकार सोने के पूर्व भी कल्याण-विषयक उनके दर्शन की कामना करनी चाहिए और साथ ही साथ एक नाम, जैसे-राम, ओम्, शिव आदि जो प्रिय हो ले लें, फिर इसी नाम को चलते-फिरते, उठते-वैठते सभी समय में निरन्तर जपने का प्रयास करें। इस नाम-जप के लिए कोई स्थान अपवित्र नहीं होता।

याद रक्खें इस प्रकार हमें मन के अन्तराल में यहाँ तक योग्यता प्राप्त करनी है कि हर समय नाम यजन और समर्पण की भावना बनी रहे। वस आगे भगवान किसी न किसी रूप में रास्ता बताने लगते हैं। जहाँ कुछ भी आभास मिला तो समय का क्रम धीरे-धीरे बढ़ने लगता है और बढ़ते-बढ़ते

निर्दोष साधन की अवस्था प्राप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में बाह्य क्रियाओं का रूप मिट जाता है। लोभ, मोह, क्रोध आदि से प्रेरित उपार्जन, सम्बन्ध व युद्ध की आवश्यकताएँ पूर्णतया मिट जाती हैं और आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध कराने वाले एवं पुरुष व प्रकृति के संघर्ष का विच्छेद कराने वाले वास्तविक आध्यात्मिक युद्ध का प्रादुर्भाव होता है। वह ईश्वर ही सच्चा सम्बन्धी है वह परम हितैषी है जो अपना ही अपरिवर्तनशील स्वरूप है। उसी की कृपा से सांसारिक प्रवृत्तियाँ व जन्म-मरण के बन्धन को काटने वाले युद्ध का प्रवेश-द्वार मिल जाता है। बस गीता इसी स्तर के युद्ध की प्रवेशिका है। गीता में एक भी श्लोक ऐसा नहीं है जो मार-काट अथवा दुनियावी युद्ध का समर्थन करता हो। गीता में महाभारत का विरोध नहीं है किन्तु मानव-उत्थान के इस पवित्र शास्त्र का अन्तरंग व सूक्ष्म भाग है। यह आवागमन के बन्धन को काटने वाला युद्ध तभी सम्भव है जब आप चिन्तन-कार्य को समझकर करें। यह चिन्तन में होनेवाला युद्ध है। कृष्ण कहते हैं कि दुनिया में जन्म लेने वाले मनुष्य दो प्रकार के होते हैं। पहला देवताओं जैसा, दूसरा असुरों जैसा। इस अन्तःकरण की दो पुरातन पार्टियाँ हैं, एक दैवी सम्पत्ति और दूसरी आसुरी सम्पत्ति। जब अन्तःकरण में आसुरी सम्पत्ति को दबाकर दैवी सम्पत्ति कार्य करती है तो मनुष्य देवताओं जैसा हो जाता है। और जब दैवी सम्पत्ति को दबाकर आसुरी सम्पत्ति कार्य करती है तो मनुष्य निशाचरों जैसा हो जाता है। आसुरी सम्पत्ति अधम योनियों की तरफ प्रेरित करती है और दैवी सम्पत्ति परमतत्त्व परमात्मा की ओर। "तू दैवी सम्पत्ति को प्राप्त हुआ है, कल्याण को प्राप्त होगा अतः शोक मत कर।"

तत्पश्चात् दोनों सम्पत्तियों के लक्षण गिनाते हुए कहते हैं कि ज्ञान व योग की प्रक्रिया दान, दया, धर्म, अभय व अन्तःकरण की स्वच्छता, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी लगाव का न होना, मन का निरोध,

चित्त का सर्वथा रुक जाना आदि दैविक सम्पत्ति हैं, जो यौगिक प्रक्रिया में प्रवेशिका से लेकर पराकाष्ठा पर्यन्त आनेवाले स्थल विशेष हैं। जिसके मूल चौबीस लक्षण बतलाये गये हैं और जिनका विस्तार सम्पूर्ण दैवी प्रवृत्ति है, उसका वास-स्थान मन है। ठीक इसी प्रकार आसुरी सम्पत्ति भी मन की ही एक प्रवृत्ति है जो नीच योनियों की तरफ प्रवाहित करती है और मानव को पतन की ओर ले जाती है अर्थात् लक्ष्य से विमुख रखती है। इसमें काम, क्रोध, द्वेष, दम्भ, पाखण्ड, शत्रुता, अनन्त आशा व व्यर्थ तृष्णा का संचार इत्यादि अधोमुखी प्रवाह ही आसुरी सम्पत्ति है। इनका भी वास स्थान मन ही है। जब हम तत्त्व की खोज के लिए दैवी सम्पत्ति का संग्रह व पालन प्रारम्भ करते हैं, तब आसुरी सम्पत्ति बाधा के रूप में प्रगट हो जाती है। श्रृंगी इत्यादि जो करीब की स्थिति में थे, ऐसे बहुत से महात्माओं को बरबस इसी आसुरी सम्पत्ति से रुक जाना पड़ा। बस गीता का प्रतिपादित वास्तविक युद्ध यहीं से खड़ा होता है जिसको महापुरुषों ने विभिन्न नामों से समझा है, किन्तु गीता इन्हीं दो पार्टियों को धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र के नाम से प्रारम्भ कर सजातीय-विजातीय, विद्या-अविद्या, दैव-असुर आदि कई नामों से पुष्ट कर लक्ष्य (परमात्मा) की परम आवश्यकता का निर्देश करती है। उसकी प्राप्ति के बाद गीता के शब्दों में पुनर्जन्म नहीं होता।

ॐ

देवता

प्रश्न - महाराज जी! योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता में कहीं बाह्य देवताओं पर कटाक्ष करते हैं तो कहीं देवताओं की उन्नति करने को कहते हैं, ऐसा क्यों?

उत्तर- गीता में देवताओं के दो रूप हैं। एक तो अन्त:करण की प्रवृत्ति (दैवी सम्पत्ति) है। यह दैवी सम्पत्ति परमदेव परमात्मा के स्वरूप की ओर प्रेरित करने वाली है। परमदेव का देवत्व यही अर्जित कराती है। यही परमतत्त्व में प्रवेश देती है, देव बनाती है; इसलिये यह इष्ट प्रसारिणी सम्पत्ति 'दैवी-सम्पत्ति' कहलाती है। तीसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में श्रीकृष्ण इसी सम्पत्ति को उन्नत बनाने का निर्देश देते हैं। विवेक, वैराग्य, शम, दम, एकाग्रता, धारावाही चिन्तन की प्रवृत्ति, वास्तविक जानकारी तथा अनुभवी संचार इत्यादि दैवी सम्पत्ति के चौबीस लक्षणों का सविस्तार निरूपण योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता के सोलहवें अध्याय में किया है। इन देवताओं के द्वारा परमदेव परमात्मा शनैः-शनैः सुलभ होता है। क्रमशः उत्थान करते-करते जब दैवी सम्पत्ति परिपक्व होती है तो अदृश्य, अव्यक्त परमात्मा भी विदित हो जाता है।

दूसरे देवता वे हैं जिनका संसार में प्रचलन है। बहुत पहले की एक गणना के अनुसार उनकी संख्या तैंतीस करोड़ थी और अब तक तो न जाने कितने और हो गये हैं। भूत, भवानी, धात्री, सावित्री, भैरव, ब्रह्म बाबा, डीह, चौरा, सन्तोषी माँ इत्यादि असंख्य देवता नित्य बनते और कुछ काल में प्रसुप्त हो जाते हैं। इन्हीं देवताओं की ओर इंगित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि बहुत से लोग मुझे छोड़कर अन्य देवताओं की पूजा करते हैं, अविधिपूर्वक करते हैं (गीता-७।२०;९।२३)। उनके चिन्तन की विधि गलत है, इसलिए

वे फल तो पाते हैं किन्तु मेरी प्राप्ति नहीं कर पाते। वे फल नाशवान् हैं, इसलिए उनसे कल्याण नहीं हो सकता (गीता-७।२३)। देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजनेवाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरा भक्त मुझको ही प्राप्त होता है (गीता ९।२५)। ब्रह्मलोक से लेकर सभी लोक पुनरावर्त्ती स्वभाव वाले हैं, परन्तु कौन्तेय! मुझे प्राप्त भक्त का पुनर्जन्म नहीं होता (गीता ८।१६)।

देवताओं के स्थान पर देवता नाम की कोई वस्तु भी नहीं है। न तो वहाँ कोई हनुमान जी हैं, न विध्यवासिनी। न गंगा में कुछ है, न प्रयाग में। मनुष्य की श्रद्धा जहाँ झुक जाती है, कृष्ण कहते हैं, उस देवता के प्रति उस भक्त की श्रद्धा को मैं ही स्थिर करता हूँ (गीता, ७।२१)। उस देवता के नाम पर मैं ही खड़ा होकर फल देता हूँ (७।२२) और वह फल भी तत्काल देता हूँ (४।१२) किन्तु उन्हें मेरी प्राप्ति नहीं होती, उनका पतन हो जाता हैं (गीता, ९।२४)।

वस्तुत: देवताओं का परमदेव परमात्मा से स्वतंत्र न तो कोई अस्तित्व है और न पृथक्-पृथक् उनकी कोई सत्ता ही है। केनोपनिषद की कथा है कि उस परमेश्वर के शक्ति के विना अग्नि एक तिनके को भी जला नहीं सकती, वायु उस तिनके को उड़ा नहीं सकता। इसी रहस्य पर प्रकाश डालते हुए सामवेदीय जाबालदर्शनोपनिषद के चतुर्थ खण्ड में भगवान दत्तात्रेय ने साङ्कृति मुनि से कहा- "महामुने! बाह्यतीर्थ से श्रेष्ठ आन्तरिक तीर्थ ही है। शरीर के भीतर रहनेवाला दूषित चित्त बाह्यतीर्थों में गोते लगाने मात्र से शुद्ध नहीं होता, जैसे मदिरा से भरा हुआ घड़ा ऊपर से सैकड़ों बार धोने पर भी ज्यों का त्यों रहता है। आत्मतीर्थ ही महातीर्थ है, उसके सामने दूसरे तीर्थ निरर्थक हैं। मस्तक ही श्री शैल है, ललाट केदार तीर्थ है, नासिका

और भौंहों के मध्य काशीपुरी है, दोनों स्तनों के स्थान पर कुरुक्षेत्र है और हृदय कमल में तीर्थराज प्रयाग है। मूलाधार में कमलालय तीर्थ है। जो शरीर के भीतर स्थित इन तीर्थों का परित्याग करके बाहर के तीर्थों में भटकता है वह हाथ में रखे बहुमूल्य मणि को त्यागकर काँच खोजता फिरता है। भावनामय तीर्थ ही सर्वश्रेष्ठ है। इसलिये योगी जल से भरे तीर्थों और काष्ठ आदि से निर्मित देव-प्रतिमाओं की शरण नहीं लेते। योगी अपने आत्मा में ही शिव का दर्शन करता है, प्रतिमाओं में नहीं। अज्ञानी मनुष्यों के हृदय में भगवान के प्रति भावना जागृत करने के लिए ही प्रतिमाओं की कल्पना की गई है। किन्तु मुनिश्रेष्ठ! अज्ञानी मनुष्य के अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिए तत्त्वदर्शी महात्माओं का चरणोदक सर्वोत्तम तीर्थ है।''

इस परम पथ की प्रवेशिका में सामान्य एवं सरल मनुष्य के समक्ष सर्वप्रथम देवी-देवता, मंदिर-मूर्तियाँ, तीर्थ-व्रत ही पड़ते हैं जिनसे संस्कार बनता है, पुण्य बढ़ता है किन्तु मनुष्य उन देवताओं को परमदेव परमात्मा से पृथक् एवं प्रत्येक देवता को एक दूसरे से भिन्न, उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट मान बैठता है; वह ऋग्वेद की इस ऋचा को भूल जाता है- ''एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति।''- एक परमेश्वर ही सत्य है, विप्रगण उसे अनेक नामों से सम्बोधित करते हैं क्योंकि किसी एक नाम से उस विराट प्रभु की प्रभुता का बोध नहीं होता। सामान्य मानव देवताओं की अनेकता में निहित एकता को परखने का प्रयास नहीं करता, देवता की पृथक् सत्ता को ही गन्तव्य मान लेता है; इसीलिए कृष्ण कहते हैं, उन्हें मेरी प्राप्ति नहीं होती। साधना के प्रारम्भ में मुझे भी एक देवता ही मिला किन्तु तत्त्वस्वरूप महापुरुष (परमहंस जी) के अनुभवी प्रवेश के साथ ही वह शान्त हो गया।

वस्तुतः देवता भी मरणधर्मा हैं। अपने पुण्य पुरुषार्थ से स्वर्ग लोक की प्राप्ति करनेवाले तथाकथित 'अमर' विशाल स्वर्गिक भोगों का उपभोग करने

के उपरान्त "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" पुण्य क्षीण हो जाने पर उसी मृत्युलोक में गिर जाते हैं उसी स्थान पर आ जाते हैं जहाँ से साधन प्रारंभ किया था। इससे बड़ी क्षति क्या होगी? वह देव-तन ही किस काम का जिसमें संचित पुण्य भी समाप्त हो जाय?

देवता तक मानव-तन से आशावान् है क्योंकि मुक्त होने के लिए उन्हें भी मानव-तन प्राप्त करना होता है। देव,पशु इत्यादि भोग-योनियाँ हैं। केवल मनुष्य ही कर्मों का रचयिता है; जिसके द्वारा वह उस परम धाम को प्राप्त कर सकता है; जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता।

मरणधर्मा देवता हमारा लक्ष्य कदापि नहीं हो सकता। हमारा लक्ष्य तो परमदेव परमात्मा ही हो सकता है जिसकी प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य उस स्वरूप से कभी विलग नहीं होता। यही वह पराकाष्ठा है जहाँ पहुँच कर मनुष्य देवताओं को भी ललकार देता है -

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः,

आ ये च धामानि दिव्यानि तस्थुः।

x x x

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्

आदित्यवर्णः तमसः परस्तात्।

तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।

(श्वेताश्वतर उपनिषद्, ३।८)

अर्थात् "संसार भर में रहने वाले, अमृत-पुरुष के पुत्रों तथा दिव्य धाम

के निवासी देवतागण! सुनो; मैंने आदित्य के समान देदीप्यमान उस महान् पुरुष को जान लिया है जो समस्त अज्ञान अंधकार से परे है। केवल उसे जानकर ही मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसके अतिरिक्त मृत्युञ्जय होने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।'' अत: आप सभी परमदेव परमात्मा को ही लक्ष्य बनाकर दैवी सम्पद् का अर्जन करें, दैवी प्रवृत्तियों को उन्नत बनायें।

ॐ

अवतार

प्रश्न - महाराज जी ! अवतार के विषय में आये दिन कुछ न कुछ सुनाई पड़ता है। कृपया बतायें कि वास्तविक अवतार कैसा होता है?

उत्तर- हाँ, प्राय: प्रतिवर्ष अवतार के नाम पर कोई न कोई रूढ़ि पनप कर सामने आती है और दो-चार वर्ष के अन्तराल में विलीन हो जाती है। कुछ ही वर्ष पहले बाँदा जिले के मानिकपुर में नौ वर्ष की एक कन्या के पेट में ट्यूमर हो गया था। पेट फूलने लगा। लोगों ने प्रचार कर दिया कि कुमारी कन्या से कलंकि (कल्कि) अवतार होने वाला है। भीड़ टूट पड़ी। आठ-दस व्यक्ति रेल की छत से गिर गये। भीड़ इतनी उमड़ी कि दिल्ली तक हलचल मच गयी। वहाँ से सत्यता की जाँच का आदेश आया। जिलाधीश और सर्जन ने जीप में कन्या को बैठाना चाहा तो 'भक्तों' ने कहा, "देवी शाप दे देंगी, भस्म हो जाओगे।" वे लोग बोले, "भाई! हम प्रणाम करते हैं, देवीजी को! नौकरी खतरे में है। हम कल देवी जी को वापस ला रहे हैं।" इलाहाबाद में डाक्टरों ने जाँच की तो बताया, यदि दो-चार दिन यह लड़की न आती तो ट्यूमर फूट जाता और मृत्यु हो जाती। यह भी भ्रान्ति थी। अवतार के नाम का ऐसा भूत मस्तिष्क में सवार है कि जहाँ किसी ने कुछ कहा कि लोग भाव विभोर होकर दौड़ पड़ते हैं।

मद्रास में एक ब्राह्मण पुजारी से सर्प ने कहा कि इस स्थान पर अवतार होगा। बहुत दिनों तक इस आशय की पर्चियाँ बँटती रहीं फिर स्वत: शान्त हो गयीं। बहुत से महात्मा ऐसे निकले जिन्होंने कहा मैं अवतार हूँ। मैहर बाबा अवतारी थे। इसी प्रकार बालयोगेश्वर को अवतारी कहा गया किन्तु जब उन्होंने विवाह इत्यादि कर लिया तो उनकी माता ने कहा कि यह अवतार तो नष्ट हो गया। अब हमारा दूसरा लड़का अवतार है। धन्य हैं अवतार प्रसविनी

माता जी! बलिया में कोई कन्या अन्न-जल ग्रहण नहीं करती। लोग कहते हैं अवतार है। इसी तरह अवतार को लेकर भ्रान्तियाँ प्रचलन में आती हैं तिरोहित हो जाती हैं।

अब आइये श्रीकृष्ण के शब्दों में अवतार के यथार्थ स्वरूप पर विचार किया जाय। अर्जुन ने पूछा, "भगवान! आपका जन्म तो अब हुआ, सूर्य का जन्म तो पुराना है। मैं यह कैसे मान लूँ कि आपने इस योग को सूर्य से कहा।" श्रीकृष्ण ने कहा, "अर्जुन ! तेरे-मेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं जिसे तू नहीं जानता किन्तु मैं सबकुछ जानता हूँ। मैं अव्यक्त आत्मा, विनाश रहित, सम्पूर्ण भूत प्राणियों के स्वर में प्रवाहित होने पर भी आत्म-माया के द्वारा अपनी प्रकृति को अधीन करके प्रकट हो जाता हूँ।" माया के दो भेद हैं जड़ अथवा अविद्या माया तथा योग माया या आत्म माया, जो आत्मा की स्थिति दिलाने वाली होती है। "अर्जुन ! आसुरी सम्पत्ति से युक्त पुरुष मुझे तुच्छ कहकर सम्बोधित करते हैं। मनुष्य शरीर का आधार वाला होने से मुझे भी साधारण मनुष्य ही समझते हैं क्योंकि योग-माया से ढँका हुआ मैं सबके सामने प्रकट नहीं होता।" पहले तो जड़ माया एक आवरण है। इसके पश्चात् योग आरम्भ होता है। योग भी एक आवरण है। क्रमशः पालन करते-करते जब योगारूढ़ता आ जाती है, जब योग पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है; उस समय योग-क्रिया की आवश्यकता नहीं रह जाती। परिणाम निकल आता है, इष्ट विदित हो जाता है। कृष्ण कहते हैं कि "मैं उसी के सामने प्रकट होता हूँ जिसके सामने से योगमाया भी हट चुकी हो। सबको मैं विदित नहीं होता। इसीलिए अन्य लोग भी कहते हैं, उन्हें मैं दिखाई नहीं देता।" स्पष्ट है कि अवतार योगी के लिए है। वह जनसाधारण में प्रदर्शन की वस्तु कदापि नहीं है यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप से वह सबके समक्ष रहता है और कल्याण करता है। 'मानस' की उक्ति है--

"जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे"

X X X

"ते सब भये परम पद जोगू"-(२।२१६।१-२)।

जिन्होंने प्रभु को देखा या जिसे प्रभु ने ही देख लिया वे सभी परम पद के योग्य हो जाते हैं। महापुरुषों की दृष्टि से चराचर का निश्चित कल्याण हो जाता है। इससे पुरुष कतिपय चोले बदलकर परम कल्याण का भाजन हो जाता है। अर्जुन! मैं आत्मिक प्रक्रिया द्वारा अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति को वश में करके प्रकट होता हूँ। अर्थात् जब तक प्रकृति वश में नहीं हो जाती तबतक हमारे लिए अवतार नाम की कोई वस्तु नहीं है। आत्म-माया ऐसी माया है जो इस प्रकृति का निरोध कर लेती है। दैवी सम्पत्ति ही आत्म-माया है। इसी के द्वारा अवतार का सृजन होता है। आप प्रकट कब होते हैं? कृष्ण बतलाते हैं--

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युथानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।४।७।।

धर्म अर्थात् परमधर्म परमात्मा को लेकर जब हृदय ग्लानि से भर जाता है, अधर्म की वृद्धि देखकर तब ही तब साधक के हृदय में मैं अपने स्वरूप को रचने लगता हूँ। ऐसी ही ग्लानि मनु को हुई थी--"हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु।"

प्रकट होकर आप करते क्या हैं? कृष्ण कहते हैं--

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।४।८।।

विवेक, वैराग्य, इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, ब्रह्मचर्य का पालन, ध्यान, चिन्तन की प्रवृत्ति, अनुभवी संचार इत्यादि साधु प्रवृत्तियों के परित्राण के लिये; जिनसे परम साध्य ईश्वर की प्राप्ति होती है, उन प्रवृत्तियों की रक्षा के लिए तथा दूषित का सृजन करने वाले काम, क्रोध, मद, लोभादि 'दुष्कृताम्' के विनाश के लिए एवं परमधर्म परमात्मा में पूर्ण स्थिति दिलाने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ। अतः परमात्मा के प्रकट होने के लिए कोई विशेष युग निर्धारित नहीं है। प्रत्येक युग में वे प्रकट होते हैं यदि हृदय में उस ग्लानि का संचार हो।

आप जब पैदा होते हैं तो क्या सभी देखते हैं? कृष्ण कहते हैं नहीं, यह केवल योगी के हृदय की वस्तु है--

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।।४।९।।

अर्जुन ! मेरा जन्म-कर्म अर्थात् जन्म लेने की क्रिया दिव्य है, अलौकिक है। उस अलौकिकता को जो भली प्रकार जानता है, वह तत्त्व से संयुक्त पुरुष शरीर को त्यागकर फिर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता; अपितु मुझे प्राप्त होता है। अपना स्वरूप खो देता है और मेरे स्वरूप को पा जाता है। स्पष्ट है कि प्रकट होने की यह क्रिया अलौकिक है, लौकिक शरीर ही अवतार होता तो सभी देख लेते। क्या ऐसा विधान आज से आरम्भ हो रहा है। कृष्ण कहते हैं - नहीं, बहुत से लोग मेरे स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं--

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।४।१०।।

राग, भय और क्रोध से रहित, अनन्य भाव से मेरी शरण वाले, ज्ञान और तप से पवित्र बहुत से पुरुष मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त हुए हैं। अपना

स्वरूप उन्होंने खो दिया और मेरे स्वरूप में स्थित हो गये। जैसा मेरा रूप है, वही उनका भी स्वरूप हो जाता है। जिन महापुरुषों के हृदय में अवतरण की स्थिति हो जाती है, वे स्वयं उन्हीं योगेश्वर श्रीकृष्ण के शाश्वत एवं अव्यक्त स्वरूप को ही प्राप्त कर लेते हैं।

ऐसे महापुरुष समाज में यह कहते नहीं फिरते कि मैं अवतार हूँ। जो प्रचार करते हैं कि अमुक स्थान पर अवतार होगा अथवा वहाँ अवतार हुआ है, केवल किसी प्रलोभन अथवा लिप्सा का साधन मात्र है। यही कारण है कि कुछ दिन तो अवतार की चर्चा होती है, फिर शान्त हो जाती है। सीमित तेल के दीपक की तरह टिमटिमाता हुआ अवतार भी स्वतः शान्त हो जाता है। वस्तुतः जो राग, भय और क्रोध से रहित है, ज्ञान और तप से पवित्र है वही अवतार को देख सकता है, उसे प्राप्त करता है।

भगवत्स्वरूप में स्थिति के पश्चात् महापुरुष भी समाज में साधारण और सामान्य रूप से ही रहते हैं यद्यपि उनमें कल्याण और दया का अक्षुण्ण स्रोत रहता है। छोटा-बड़ा आशीर्वाद उनसे बराबर प्रस्फुटित होता ही रहता है। वे शरीर नहीं, केवल शरीर के आधार वाले हैं। समाज यह नहीं जान पाता कि वे कल्याणस्वरूप हैं, न महापुरुष कहते ही हैं। किन्तु जो अनन्य भक्त हैं, अधिकारी हैं, उनसे वे स्पष्ट कहते हैं कि मैं ही वह शाश्वत हूँ, पुरातन हूँ, परमात्मा हूँ, परम का स्पर्श करके परम भाव में स्थित हूँ, ऐसा अव्यक्त स्वरूप हूँ जिसे सूर्य-चन्द्रमा कोई प्रकाशित नहीं करता। महापुरुष यदि अधिकारियों से न कहें तो उनका कल्याण सम्भव न हो। अधिकारियों से वे इसलिए कहते हैं क्योंकि इसी में उन भक्तों का कल्याण निहित है। पहले तो वाणी से व्यक्त करते हैं फिर अंतःप्रेरणा से व्यक्त करते हैं और भली प्रकार उन्हें समझा-बुझाकर साधना की प्रशस्त पटरी पर खड़ा कर लेते हैं।

उन्हें ऊपर उठाकर अपनी स्थिति की ओर बढ़ा देते हैं जिससे वे साधक भी कल्याण स्वरूप हो जाते हैं।

इस प्रकार महापुरुष किसी विरले अधिकारी के सामने ही अपनी स्थिति स्पष्ट करते हैं, जैसा कि अर्जुन से स्पष्ट किया है कि मैं परमात्मा हूँ, शाश्वत हूँ, मेरे स्वरूप का चिंतन कर, तू मुझमें निवास करेगा, क्योंकि शाश्वत स्वरूप में स्थित किसी महापुरुष के ही ध्यान और चिंतन का सदैव विधान रहा है। किन्तु दुर्योधन, कंस, वाणासुर इत्यादि से कृष्ण ने कभी नहीं कहा कि मैं भगवान हूँ, अवतार हूँ। ऐसे महापुरुष समदर्शी और समवर्ती होते हैं। दैवी अथवा आसुरी स्वभाव वाले सभी लोगों को वे समान दृष्टि से ही देखते हैं। इसीलिए दुर्योधन इत्यादि को भी श्रीकृष्ण ने आदर दिया।

कभी राजन् कहकर सम्बोधित किया तो धृतराष्ट्र इत्यादि वयोवृद्धों को धर्मात्मा नरेश कहकर आदर प्रदान किया। इनके समक्ष अपने को अवतार बताने से भी लाभ नहीं था क्योंकि माया के घने आवरण से घिरे आसुरी स्वभाव वाले समझ ही नहीं सकते। कौरवों की सभा में कृष्ण का विराट रूप देखकर भी दुर्योधन ने कृष्ण को जादूगर ही समझा। अपनी सहायता के लिए भी उसने कृष्ण के स्थान पर नारायणी सेना को ही पसन्द किया। कृष्ण-काल के अधिकांश लोग उन्हें साधारण मानव ही मानते थे, अधिक से अधिक तेज बुद्धिवाला मानते थे। कृष्ण ने उनसे कहा भी नहीं। उन्होंने अर्जुन, अक्रूर, उद्धव, विदुर से ही अपने वास्तविक स्थिति की चर्चा की। इसीलिए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से कृष्ण की लीलाओं का मूल्यांकन किया गया जिनका विस्तृत उल्लेख महाभारत में है किन्तु साधना की दृष्टि से उनके उपदेशों का संकलन गीता में उपलब्ध है।

इसी प्रकार महात्मा रामकृष्ण परमहंसदेव थे। पहले वे निरन्तर साधना में लगे थे। पचास वर्ष की आयु में अपने अन्तःकरण में परम चेतन की

प्रत्यक्ष अनुभूति पाने पर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। भक्तों ने पूछा कि 'महाराज! आज आप बड़े प्रसन्न हैं। क्या कारण है?' रामकृष्ण बोले--'लगता है आज मैं परमहंस तोतापुरी बन गया।' तोतापुरी जी उस समय के एक अच्छे महात्मा थे, उन्हीं की ओर उन्होंने इंगित किया। किन्तु जो विरक्त उनके पीछे मुक्ति की आशा से लगे थे उन्हें एकान्त में बुलाकर कहा कि 'तुम लोग अब संदेह मत करना। मैं वही राम हूँ जो त्रेता में हुए थे, मैं वही कृष्ण हूँ जो द्वापर में हुए। मैं उन सबकी पवित्र आत्मा हूँ। मेरा भी वही स्वरूप है। मेरा ही ध्यान करो। मुझसे ही तुम लोगों का कल्याण है।' अत: अवतार किसी योगी के हृदय की वस्तु है, उन्हीं के उपयोग के लिए है।

गौतम बुद्ध से भी जब आत्मानुभूति के विषय में पूछा गया तो मौन हो गये, क्योंकि वह स्थिति अनिर्वचनीय है, उसे वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता। महापुरुष कभी प्रचार नहीं करता कि मैं अवतार हूँ या मैंने उस स्थिति को पा लिया। यही अवस्थां महावीर स्वामी की भी थी। पहले वे भी संसार से भयभीत थे किन्तु वही जब महापुरुष बन गये तो कहा कि महापुरुषों (तीर्थंकरों- जो तीर्थ स्वरूप हैं, वास्तविक तीर्थ हैं) के अतिरिक्त कोई भी पूजनीय नहीं है। पूज्य महाराज जी (गुरुदेव भगवान अनुसुइया) के मुख से भी इसी से मिलते-जुलते शब्द नि:सृत होते रहते थे। जब दर्शनार्थी आया करें, अधिक भीड़ प्रतीत हो तो कहा करें--

तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता।।

हाथ से स्वयं की ओर इशारा करते कि आँख से दर्शन करो और गंगा की ओर हाथ उठाकर कहते कि गंगा में स्नान करो--

कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा।

इसी प्रकार भरत जी ने भी इस तीर्थ (चित्रकूट) का दर्शन पाँच दिन में

किया था किन्तु विरक्ति की आशा वाले साधकों के समक्ष यही कहते थे, 'मोर रूपवा देख और 'ॐ' का जाप कर।' केवल अनन्य भक्तों से कहा मैं भी वही हूँ। रहीम ने इसी स्थिति को देखा तो कहा--

जिन्ह देखा तिन कहा नहिं, कहा सो देखा नाहिं।
रहिमन अगम बात कहँ, कहन-सुनन को नाहिं।।

अतः जो लोग इस आशा में कतार बाँधे खड़े हैं कि शरीरधारी अवतार होगा तो देखेंगे, मात्र भ्रान्ति में हैं। अवतार योगी ही देखता है और योगी के हृदय में ही अवतार होता है। अन्यत्र न कोई देख सकता है और न होता है।

ॐ

"कृष्ण एक योगी थे"

प्रश्न - महाराज जी! कुछ लोग कहते हैं कि रास रचाने वाले कृष्ण और गीता के उपदेशक कृष्ण भिन्न-भिन्न थे। दोनों एक हो नहीं सकते। कुछ लोग कहते हैं वे मनुष्य नहीं बल्कि सोलह कला के पूर्ण अवतार थे, साक्षात् भगवान थे। वास्तव में श्रीकृष्ण कौन थे?

उत्तर:- श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व विवाद का शीर्षक बना हुआ है। यादव लोग उन्हें अपनी बिरादरी का मानते हैं। नृत्य-संगीत-विशारद उन्हें अपना प्रणेता कहते हैं। अंग्रेज उन्हें कुशल कूटनीतिज्ञ के रूप में देखते हैं तो भारत की अधिकांश जनता उन्हें भगवान के रूप में पूजती है। अत: आपकी जिज्ञासा स्वाभाविक है कि कृष्ण कौन थे?

वस्तुत: श्रीकृष्ण एक योगी थे। योग ही वह क्रिया है जिस पर चलकर कोई साधक परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। 'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मैव भवति', 'जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।' भगवान को जानते ही योगी भी भगवान हो जाता है। उसका सेवक एवं जीव-भाव तिरोहित हो जाता है और स्वामी ही सदा-सदा के लिए शेष बचता है। 'अयं आत्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि ऋचाओं में इसी रहस्य की अभिव्यक्ति हुई है।

१-गीता के सातवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है। वे कहते हैं कि अनेक जन्मों के पश्चात् अन्त के जन्म में तत्त्व-साक्षात्कार को प्राप्त हुआ ज्ञानी मेरा साक्षात् स्वरूप है--

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।। (७।१८)

ज्ञानी तो मेरा साक्षात् स्वरूप ही है, भगवत्मय है। क्योंकि वह मेरे में

ही अच्छी प्रकार स्थित है। ऐसे ज्ञानी भक्तों और श्रीकृष्ण की स्थिति में कोई अन्तर (श्रीकृष्ण के ही शब्दों में) नहीं है। कहना न होगा, श्रीकृष्ण एक योगी ही थे; महात्मा ही थे और तत्त्वज्ञ महात्मा ही भगवान होता है। भक्ति के द्वारा कोई भी मनुष्य भगवान हो सकता है।

२- महात्मा श्रीकृष्ण ने गीता शास्त्र में यत्र-तत्र-सर्वत्र अपना परिचय दिया है। टीकाओं में न जाकर योगेश्वर श्रीकृष्ण की मूल वाणी पर दृष्टिपात् करें तो कृष्ण के स्वरूप को लेकर भ्रान्ति नहीं होगी। गीता के तीसरे अध्याय में श्रीकृष्ण ने प्राप्तिवाले महापुरुष के लक्षण बताये और फिर ऐसे महात्माओं के समकक्ष अपने को भी घोषित किया। वे कहते हैं कि जो पुरुष मेरे द्वारा निर्धारित किये हुए कर्म को नही करता (उल्लेखनीय है कि कृष्ण केवल आराधना को ही कर्म मानते हैं- यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः) वह पापायु पुरुष व्यर्थ जीता है। किन्तु जो पुरुष आत्मा में ही रत, तृप्त तथा संतुष्ट है, उनके लिए कर्मों की अर्थात् आराधना की आवश्यकता नहीं है। उस पुरुष द्वारा इन कर्मों को किये जाने से न कोई लाभ है और न छोड़ने से हानि ही है। इस स्थिति को बिना कर्म किये कोई नहीं पाता। जनक इत्यादि भी इसी कर्म (आराधना) को करके परमसिद्धि को प्राप्त हुए। ऐसे पुरुष केवल लोकशिक्षण अथवा लोक-कल्याण के निमित्त ही स्वयं कर्म में बरतते हैं।

इतना कहने के पश्चात् श्रीकृष्ण ऐसे महात्माओं से अपनी तुलना करते हैं - कौन्तेय! मुझे भी प्राप्त होने योग्य किंचित् मात्र वस्तु अब अप्राप्य नहीं है अर्थात् मैं भी अब आत्मतृप्त हूँ। महात्माओं की ही तरह मुझे भी अब कर्म करने की आवश्यकता नहीं है फिर भी पीछे वालों के हित की इच्छा से मैं भली प्रकार कर्म में बरतता हूँ। इस प्रकार कृष्ण ने महापुरुषों से अपनी

तुलना करते हुए संकेत किया कि मैं भी एक योगी हूँ।

३--दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह आत्मा अपरिवर्तनशील, न सूखनेवाली, न जलने-गलने वाली, नित्य, व्यापक, अचल और सनातन है। इसी आत्मा को साक्षात् जानना ही सनातन धर्म है। किन्तु यदि ऐसी आत्मा सब में है तो खोजा किसे जाय? कृष्ण कहते हैं कि आत्मा को इन विभूतियों से युक्त तत्त्वदर्शियों ने देखा। साधारण लोगों को आत्मा के यह गुण दिखायी नहीं पड़ते। प्राय: शोक, सन्ताप और मृत्यु का कारण माया ही दिखायी पड़ती है। किन्तु कृष्ण आत्मा को इन विभूतियों के साथ जानते हैं अत: वे तत्त्वदर्शी महापुरुष हैं, योगी हैं।

४--अध्याय चार में कर्म एवं उसके परिणामस्वरूप ज्ञान की प्रक्रिया सीखने के लिए निर्देश दिया- 'अर्जुन! तत्त्वदर्शी महात्माओं की शरण में जाओ, उन्हें दण्ड प्रणाम करो, उनकी सेवा करो, वे तुममें ज्ञान और साधन जागृत करेंगे।' वस्तुत: अनुरागी ही अर्जुन है। श्रीकृष्ण ने भविष्य में आनेवाली पीढ़ी, योगपरम्परा एवं होनेवाले साधकों का ध्यान अपने शास्त्र में रखा। वे जानते थे कि आज तो यह अनुरागी मेरी शरण में है किन्तु हजारों वर्ष पश्चात् भविष्य में जो अनुरागी होंगे, वे किसकी शरण लेंगे? अत: अनुरागियों को उन्होंने तत्त्वदर्शी महात्माओं की शरण में जाने की सलाह दी। पहले तो अर्जुन को तत्त्वदर्शियों के पास जाने को कहा। जब स्वयं भगवान ही सामने खड़े थे तो तत्त्वदर्शियों की शरण में जाने को क्यों कहा? क्योंकि कृष्ण स्वयं एक योगी थे। अठारहवें अध्याय में सबके हृदय में ईश्वर का निवास बताते हुए उस ईश्वर की शरण में जाने को कहा और अन्त में 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु' कहकर अपने शरण में आने को कहकर स्पष्ट कर दिया कि तत्त्वदर्शी महात्मा, ईश्वर और श्रीकृष्ण--तीनों का स्तर एक ही है।

५-अध्याय चार में ही श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे दिव्य जन्म कर्म को जो

तत्त्व से जानता है वह मुझे ही प्राप्त होता है और ऐसे बहुत से पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं-'बहवो ज्ञान तपसा पूता मद्भावमागता:।' बहुत से तत्त्वदर्शी महात्मा श्रीकृष्ण के समकक्ष स्थिति के हैं। इसे और स्पष्ट कहा जाय तो कहना होगा श्रीकृष्ण भी एक तत्त्वदर्शी महात्मा ही थे।

६- चौथे अध्याय में ही श्रीकृष्ण कहते हैं-'चातुवर्ण्यं मया सृष्टं' चारों वर्णों की सृष्टि मैंने की। तो क्या मनुष्यों को चार भागों में बाँट दिया? कृष्ण कहते हैं, नहीं, 'गुण कर्म विभागश:' गुणों के माध्यम से कर्म को चार श्रेणियों में बाँटा। योगेश्वर श्रीकृष्ण आराधना को ही कर्म मानते हैं जिसके द्वारा परमतत्त्व परमात्मा तक की दूरी तय होती है। कृष्ण ने इसी चिन्तन-क्रम को गुणों के आधार पर चार सोपानों में बाँटा और कहा कि इनके कर्ता मुझ अव्यक्त स्वरूप को अकर्ता ही जान। प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि आप करते हैं फिर भी अकर्ता कैसे बने रहते हैं? कर्मों से आप लिपायमान क्यों नहीं होते? कृष्ण समाधान करते हैं कि कर्मों के फल में मेरी स्पृहा भी नहीं है। कर्मों अर्थात् आराधना का फल है शाश्वत परमात्मा में विलय! परमात्मा अलग होता तो कदाचित् स्पृहा भी होती किन्तु वह परमात्मा भी मुझसे विलग नहीं है अत: कर्मों में मेरी स्पृहा भी नहीं है। जिस भोजन को आप करते हैं उससे भी श्रेष्ठ भोजन देखकर खाने की इच्छा अवश्य होगी किन्तु परमात्मा से श्रेष्ठ, उससे आगे कोई सत्ता है ही नहीं, वह हमें प्राप्त है तो हम ढूँढ़े किसे? इसलिए मेरी स्पृहा नहीं है।

इतना ही नहीं उपर्युक्त योग्यता के साथ जो भी मुझे जानता है उसे भी कर्म नहीं बाँधते। 'एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभि:' पहले के मुमुक्षु पुरुषों ने इसी आशा से कर्म का आचरण किया। अर्जुन! तू भी इसी प्रकार कर तो कर्मों से नहीं बँधेगा। जैसे कृष्ण वैसा ही अर्जुन या कोई भी साधक बन सकता है। अत: कृष्ण भी एक योगी ही थे।

७- अध्याय नौ में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं उस परम का स्पर्श करके परमभाव में स्थित हूँ किन्तु मेरी स्थिति को न जानने वाले मूढ़ लोग मुझे तुच्छ कहते हैं, 'न कुछ' कहकर पुकारते हैं, किन्तु दैवी सम्पद् से युक्त विवेकीजन मुझे श्रद्धा से जपते हैं। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' जो कुछ भी वे अर्पित करते हैं उन्हें मैं ग्रहण करता हूँ और उनका परम कल्याण करता हूँ।

महापुरुष और क्या होते हैं? वे भी साधारण मनुष्य के स्तर से शनैः-शनैः उत्थान करते-करते परम का स्पर्श करके परमभाव में स्थित होते हैं। आसुरी सम्पद् वाले उन्हें तुच्छ कहकर सम्बोधित करते हैं किन्तु दैवी सम्पद् वाले अनन्य श्रद्धा से उन्हें अपने आप को समर्पित करते हैं।

८-तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है, जिसमें भले और बुरे संस्कारों के बीज जन्मान्तरों तक फल देनेवाले हैं। शरीर के तीन भाग हैं -स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन्हें और इनके साथ परम पुरुष को साक्षात्कार के साथ जो जान लेता है वह क्षेत्रज्ञ है, ऐसा उन मनीषियों ने कहा है जो क्षेत्र के तत्त्वज्ञ हैं। अर्जुन! तू भी मेरे को क्षेत्रज्ञ जान। यहाँ कृष्ण पहले तो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विभाजन करते हैं, फिर उनकी जानकारी वाले महात्माओं को क्षेत्रज्ञ बताकर स्वयं को भी क्षेत्रज्ञ के रूप में प्रकट करते हैं। अतः सिद्ध है कि कृष्ण भी एक योगी थे, महात्मा थे।

९- अठारहवें अध्याय में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हुए पूछा, 'महाबाहो! संन्यास और त्याग के तत्त्व को मैं पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ।' तब योगेश्वर श्रीकृष्ण बोले- अर्जुन! बहुत से पंडित काम्य कर्मों के त्याग को ही संन्यास कहते हैं (कर्म का तात्पर्य आराधना है) अर्थात् जिस आराधना के पीछे लौकिक आशाएँ छिपी हों; उन कामनाओं के त्याग को ही संन्यास कहते हैं। अनेक विचार-कुशल पुरुष कर्म-फल के त्याग को ही

त्याग कहते हैं। कई मनीषियों का विचार है कि सभी कर्म दोषयुक्त हैं, अतएव त्याज्य हैं, तथा दूसरे विद्वान ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म किसी भी काल में त्यागने योग्य नहीं हैं। हे अर्जुन! उस त्याग के विषय में तू मेरे निश्चय को भी सुन! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है। यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं। यज्ञ, दान और तप तीनों विवेकी पुरुषों को भी परम पवित्र करने वाले हैं।

यहाँ श्रीकृष्ण ने धर्म एवं साधना के नाम पर प्रचलित विचारधाराओं की समीक्षा की और अपना मत भी प्रतिपादित किया। प्रचलित सभी विचारधारायें दोषपूर्ण नहीं थीं, उनमें से एक धारा यथार्थ भी थी कि बहुत से मनीषियों का कहना है कि यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं। इन्हीं मनीषियों के निर्णय को पुष्ट करते हुए श्रीकृष्ण ने भी अपना निश्चय सुनाया कि यज्ञ,दान और तपरूपी कर्म किसी काल में त्यागने योग्य नहीं हैं। अर्थात् जैसे वे मनीषी, वैसे ही योगेश्वर श्रीकृष्ण! कृष्ण भी उन्हीं के निर्णय को स्वीकार करते हैं। अतः स्पष्ट है, श्रीकृष्ण भी उन्हीं में से एक हैं, योगी हैं।

१०-गीता के समापन पर एकाग्रचित्त संजय ने भी श्रीकृष्ण का परिचय योगेश्वर कहकर दिया -

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।

योगेश्वर उसे कहते हैं जो स्वयं योगी हो और दूसरों को भी योग प्रदान करने की क्षमता जिसमें हो, योग पर जिसका स्वामित्व हो। यही पूर्णता तथा पूर्ण योगी के लक्षण हैं। स्पष्ट है, श्रीकृष्ण भी उनमें से एक हैं, एक योगी हैं।

वस्तुतः मानव-मन की एक बड़ी कमजोरी है कि वह अच्छाइयों पर चलने से कतराता है, तरह-तरह के बहाने ढूँढ़ लेता है। कृष्ण के सद्‌गुणों को अपने

में ढालने की अपेक्षा यह कहकर सन्तोष करना चाहता है कि कृष्ण तो अपौरुषेय थे, अलौकिक थे, जिन कार्यों को उन्होंने किया मैं कैसे कर सकता हूँ? वे पुरुष नहीं भगवान थे, अवतार थे। मनुष्य भगवान को जानता नहीं, बल्कि मान लेता है, जबकि श्रीकृष्ण आपका आह्वान करते हैं, प्रोत्साहित करते हैं कि बहुत से साधक मेरे स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं, आप भी उन्हीं रास्तों का अनुसरण करें और कल्याण के भागी बनें।

प्रश्न - महाराज जी! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के प्रकरण को और अधिक स्पष्ट किया जाय।

उत्तर- देखिये अध्याय तेरह में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की व्याख्या करते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। (गीता १३।१)

अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है। इसमें बोया हुआ भला और बुरा बीज संस्कार रूप में उगता है और जन्मान्तरों तक फल देता है। इसको जो साक्षात् जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं; ऐसा उसके स्वरूप को जानने वाले महर्षियों ने कहा है। हे अर्जुन! मेरे को भी सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ ही जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विभाजन और तत्त्वतः उनकी जानकारी का नाम ही ज्ञान है।

श्रीकृष्ण यहाँ स्पष्ट करते हैं कि कुछ भी रट लेने का नाम ज्ञान नहीं है बल्कि स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरों का निरोध और निरोध के साथ ही उस परमपुरुष की प्रत्यक्ष अनुभूति का नाम ज्ञान है। पंच महाभूतों (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) से निर्मित स्थूल शरीर; मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से सृजित सूक्ष्म शरीर तथा चेतना से निर्मित कारण शरीर यह सब क्षेत्र है। ये जब तक रहेंगे तब तक शरीर किसी न किसी रूप में विद्यमान

रहेगा। इस क्षेत्र का पार पाकर उस शाश्वत पुरुष, परमतत्त्व की अनुभूति और उसमें स्थिति का नाम ज्ञान है। प्रकृति और पुरुष के विभाजन की जानकारी ही ज्ञान है।

श्रीकृष्ण के ही शब्दों में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की यह परिभाषा उन महापुरुषों ने दी है जो इसके जानकार थे। जो भी इसे जानता है, क्षेत्रज्ञ है। वे महापुरुष क्षेत्रज्ञ थे और अर्जुन! मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ। मेरे को भी क्षेत्रज्ञ जान अर्थात् श्रीकृष्ण भी एक महात्मा थे, योगी थे। जो क्षेत्र में फँसता नहीं बल्कि उसका संचालक है।

प्रश्न- महाराज! हर व्यक्ति अलग-अलग क्षेत्रज्ञ बनता है अथवा क्षेत्रज्ञ बनने पर सम्पूर्ण जीवों के शरीर को जान लेता है।

उत्तर- क्षेत्रज्ञ अलग-अलग नहीं होते। विकारों सहित प्रकृति और पुरुषत्व की साक्षात् अनुभूति जो भी कर लेता है; वह क्षेत्रज्ञ बन जाता है। ऐसा महापुरुष परमात्मा में स्थित है जो सम्पूर्ण जीवात्माओं का केन्द्र है, मूल है, उद्गम स्थल है। इसलिए कोई आत्मा कहीं से चिंतन करती है, ऊपर उठती है तो तत्क्षण वह क्षेत्रज्ञ उसको संचार प्रदान करेगा, दिशा-निर्देशन करेगा। वह एक साथ सहस्रों को जानता, उनके मनोगत भावों के अनुसार उन्हें निर्देशित करता है। एक साथ उनके भावों को तौलता है, फल के साथ उनका उत्थान करते हुए अपने क्षेत्रज्ञ रूप में स्थिति पर्यन्त उन्हें चलाता है। यही उस क्षेत्रज्ञ की सर्वज्ञता है। हजारों लोग याद करें अथवा अनन्त, क्षेत्रज्ञ एक साथ सबमें संचारित हो जायगा। उसे कुछ करना नहीं पड़ता क्योंकि वह सबके मूल केन्द्र में स्थित है। महापुरुषों की यही विशेषता है कि जिस साधक ने उन्हें हृदय से पकड़ा, तत्क्षण उसकी आत्मा से जागृत होकर, अभिन्न होकर उसका पथ-संचालन करने लगते हैं, और क्रमशः प्रकृति के द्वन्द्वों से निकालते हुए शनैः-शनैः उत्थान कराते हुए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विभाजन तथा तत्त्व की अनुभूति

साधक को भी करा देते हैं। फिर तो साधक भी क्षेत्रज्ञ हो जाता है। कृष्ण कहते हैं - मैं ही क्षेत्रज्ञ हूँ, ऐसा नहीं है; अपितु जो भी जान लेता है वह क्षेत्रज्ञ है। मैं क्षेत्रज्ञ हूँ तो आप भी बन सकते हैं। मानव अथवा जड़-चराचर ही अष्टधा मूल प्रकृति, पंच महाभूत, मन, बुद्धि, चित्त अहंकार और चेतना का विकार है। क्षेत्रज्ञ इन सभी को जानता है, उसका संचालक भी है।

प्रश्न - महाराज जी! जड़ में चेतन की अनुभूति कैसे होगी?

उत्तर- जड़ हमारी दृष्टि में जड़ है किन्तु स्वयं में चेतन है। पत्थर आपकी दृष्टि में जड़ है किन्तु स्वयं में चेतना से ओत-प्रोत है। अब तो आपका विज्ञान भी स्वीकार करता है। वस्तुतः सबके मूल ब्रह्म में स्थित महापुरुष जहाँ भी दृष्टि डालता है 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' ही दिखायी देता है। 'सरग नरक अपवर्ग समाना। जहँ तह देख धरे धनुबाना'। मानस (२।१३०।७) उसकी दृष्टि में न स्वर्ग स्वर्ग के रूप में रहता है और न नरक नरक के रूप में, जहाँ भी दृष्टि पड़ती है उसी परमतत्त्व परमात्मा का प्रसार ही दृष्टिगोचर होता है। यही क्षेत्रज्ञ की स्थिति है। गीता में भी इस स्थिति का चित्रण है -

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः।। (गीता ५।१८)

जो विप्र हैं, अर्थात् 'परब्रह्म' से आप्लावित हैं उनकी विद्याविनययुक्त ब्राह्मण और चाण्डाल, कुत्ता, हाथी और गाय सबमें समान दृष्टि रहती है। उनकी दृष्टि में न गाय धर्म है, न कुत्ता अधर्म है। न विद्या विनययुक्त ब्राह्मण कोई श्रेष्ठता रखता है, न चाण्डाल कोई हीनता रखता है। शरीर, चमड़े, रंग और मस्तिष्क पर महापुरुष दृष्टि ही नहीं डालते हैं। उनकी दृष्टि सीधे उसकी आत्मा पर पड़ती है जो उसके अन्दर भी संचारित है।

प्रश्न - किन्तु महाराज जी! कुतिया चाहे अपने बारहों स्तनों से दूध

दे और गाय चाहे दूध न भी दे फिर गाय तो गाय और कुतिया कुतिया ही रहेगी। दोनों समान कैसे हो सकते हैं?

उत्तर- देखिये, वाल्मीकि पहले चाण्डाल थे, लोग ऐसा ही उन्हें कहते हैं। किन्तु महापुरुषों ने उन्हें चाण्डाल और डाकू के रूप में नहीं देखा। उन्हें तुरन्त दिशा दी और 'वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना'- ब्रह्मर्षि के रूप में परिणित हो गये। इस प्रकार उन महापुरुषों की दृष्टि आत्मा पर ही रहती है और जब भी आत्मा उनकी ओर झुकाव लेगी वे तुरन्त उसे पकड़कर स्थूल-सूक्ष्म-कारण पर्यन्त शरीरों में निराई प्रारम्भ कर देते हैं। शनैः-शनैः उसकी आत्मा से अभिन्न होकर रथी बन जाते हैं फिर तो 'जाके रथ पर केशो। ता कहाँ कौन अँदेशो।।' उत्थान करते-करते उस शाश्वत तक की दूरी तय करा देते हैं। वह साधक भी क्षेत्रज्ञ बन जाता है। श्रीकृष्ण भी इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ थे, योगी थे।

तुम अपने अन्तराल में उस अधिकार का अर्जन करो तथा ऐसे महापुरुषों की मन, वचन, कर्म से शरण ग्रहण करो, तुम भी प्रेरणा-स्रोत उसी शाश्वत स्वरूप को क्रमशः पाओगे; और यह गदही तथा गाय तो भिन्न श्रेणी के जीव हैं। किन्तु शूद्र, जिन पर शूद्रत्व लादा गया तथा ब्राह्मण, ईसाई, यहूदी सभी एक ही मानव हैं। यह उदाहरण ही तुम लोगों ने गलत उठाया है।

ॐ

यज्ञ

प्रश्न - महाराज जी! कृष्ण ने गीता में कहा है कि "यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः" यज्ञ के सिवाय जो कुछ किया जाता है वह इसी लोक का एक बन्धन है। कृपया बतावें कि यह यज्ञ क्या है? कैसे किया जाता है? कृष्ण कहते हैं कि यज्ञ की पूर्ति में भगवान मिलते हैं, लेकिन संसार में इतना हवन यज्ञ होता है फिर भी भगवान किसी को मिलते दिखायी नहीं देते! कृपया यज्ञ के स्वरूप को स्पष्ट किया जाय।

उत्तर - आपकी शंका स्वाभाविक है। तीसरे अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ।। (गीता ३/९)

अर्जुन! यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। कर्म वह है जिससे यज्ञ पूर्ण होता है। इस यज्ञ के अतिरिक्त जो कुछ भी किया जाता है, जिसमें सारा जगत् रात-दिन व्यस्त है, वह इसी लोक का एक बन्धन है। कर्म तो 'मोक्ष्यसे अशुभात्' (४/६) अशुभ अर्थात् संसार-बन्धन से छुटकारा दिलाने वाला होता है, वह बाँधता नहीं। 'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर' इसलिए कौन्तेय! उस यज्ञ की पूर्ति के लिए, संग दोष से अलग रहकर, भली प्रकार कर्म का आचरण कर। इस प्रकार यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। वह प्रक्रिया विशेष ही कर्म है, जिससे यज्ञ पूर्ण होता है। सिद्ध है यज्ञ कोई निर्धारित दिशा है। अतः आपका प्रशन स्वाभाविक है कि वह यज्ञ है क्या?

श्रीकृष्ण ने इस प्रश्न का गीता में सविस्तार निरूपण किया है। उन्होंने

केवल इतना ही नहीं बताया कि यज्ञ क्या है बल्कि प्रकरण की महत्ता समझाते हुए यह भी बताया कि यज्ञ आया कहाँ से और हमें देता क्या है?

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। (३/१०)

प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञसहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त होओ। यहाँ बुद्धि ही ब्रह्मा है- 'अहंकार शिव बुद्धि अज मन शशि चित्त महान।।' बुद्धि तीन प्रकार की कही गयी है- ब्रह्मविद्, ब्रह्मविदुर्यान और ब्रह्मविदुरिष्ट।

'ब्रह्मविद्' वह बुद्धि है जो ब्रह्म की विद्या से ओत-प्रोत हो किन्तु यह केवल रटी-रटायी विद्या मात्र है, क्योंकि इस स्तर की बुद्धिवाला उस पर पूर्णतः चल नहीं पाता। क्रियात्मक जानकारी होने पर साधन क्रमशः इतना उन्नत हो जाय कि वह स्वयं तो ब्रह्म का ज्ञाता हो ही, दूसरों को भी उस मार्ग पर चला देने की क्षमता रखे, उस बुद्धि को ब्रह्म विदुर्यान कहते हैं। ब्रह्म विदुरिष्ट ब्रह्मज्ञाता की वह स्थिति है जिसमें इष्ट समाहित हो। ऐसी बुद्धिमात्र यंत्र होती हैं और उसके माध्यम से आराध्य ही अपनी वाणी प्रसारित किया करता है। ऐसे ही महापुरुषों की वाणी का संकलन वेद है। वेदों को अपौरुषेय इसीलिए कहा जाता है, यद्यपि वह सौ दो सौ महर्षियों की वाणी का संकलन है; बोलने वाले सौ सवा सौ महात्मा ही हैं। फिर भी उसमें महात्माओं का कुछ भी नहीं है, बल्कि वह अव्यक्त परमात्मा के श्रीमुख की वाणी है। ऐसे ही महापुरुषों ने कल्प के आदि में प्रजा को यज्ञ से संयुक्त किया।

कल्प के आदि का आशय भजन के आरम्भ से है। भवरोगों से त्रस्त मरणधर्मा जीवात्मा का कल्प भजन ही है। इसी के द्वारा वह पूर्ण नीरोग होता है, उसका कायाकल्प हो जाता है। भजन की दो अवस्थाएँ हैं- प्रारम्भ एवं

पराकाष्ठा। कल्प का आदि भजन की आरम्भिक क्रिया है; जबकि पराकाष्ठा वह स्थिति है जहाँ आत्मा शाश्वत ब्रह्म का दिग्दर्शन पाकर पूर्ण नीरोग, अचल स्थिर हो जाती है; पुनः योनियों में प्रवेश नहीं करती, जिसे कृष्ण कहते हैं- अर्जुन! तू मुझमें निवास करेगा। इस प्रकार प्रजापति ब्रह्मा ने अर्थात् जिसकी बुद्धि मात्र यन्त्र है, ऐसे स्थितप्रज्ञ महापुरुषों ने कल्प के आदि में अर्थात् भजन के प्रारम्भ में प्रजा को यज्ञ से संयुक्त किया, अर्थात् साधक के अन्तःकरण में यज्ञ का बीज वपन किया और कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त होओ।

यज्ञ से कौन-सी उन्नति होगी? दो पुत्र हैं तो क्या चार हो जायँगे? एक मकान है तो क्या दो हो जायँगे? कृष्ण कहते हैं नहीं, यह यज्ञ 'इष्ट कामधुक्' है- यह इष्ट-सम्बन्धी कामना की पूर्ति वाला होगा। इष्ट वह है जिससे कभी अनिष्ट नहीं होता। ऐसा तो एक मात्र परमात्मा है जिसकी प्राप्ति के पश्चात् कभी पतन नहीं होता। देवता तक 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति' पुण्य क्षीण हो जाने पर मृत्युलोक में उसी स्थान पर लौटकर आ जाते हैं जहाँ से चलना प्रारम्भ किया था। इससे बड़ा अनिष्ट क्या होगा? अतएव एक मात्र परमात्मा ही परम कल्याणकारी है। वही हमारा इष्ट हो सकता है। और यज्ञ इसी इष्ट सम्बन्धी कामना की पूर्ति करने वाला है।

जिज्ञासा स्वाभाविक है कि यज्ञ से किस प्रकार इष्ट की उपलब्धि होगी? क्या इष्ट अकस्मात् कल्याण कर देगा? कृष्ण कहते हैं नहीं, बल्कि-

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। (३/११)

इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो। अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं-- दैवी सम्पद् एवं आसुरी सम्पद्। आसुरी सम्पद् काम, क्रोध,

मद, लोभ, माया की चपेट में तो जीव पहले से है ही। अतः इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो; हृदय में उस दैवी सम्पद् को बलवान बनाओ। विवेक, वैराग्य, मन का शमन, इन्द्रियों का दमन इत्यादि दैवी सम्पद् है जिनका विस्तरशः उल्लेख सोलहवें अध्याय में है। यह सम्पत्ति आंशिक रूप से है तो सबमें, किन्तु दुर्बल है; उसी को बलवान भर करना है। यही आपका अपना बल है। उसी की उन्नति में आपकी उन्नति निहित है। दैवी सम्पद् ज्यों-ज्यों बलवती होगी, मन अन्तराल में सिमटता जायगा, ध्यान में बल मिलता जायेगा। इस प्रकार परस्पर उत्थान करते-करते परमश्रेय परमात्मा को प्राप्त हो जाओगे। यज्ञ कोई ऐसी वस्तु है जो दैवी सम्पद् को उत्तरोत्तर उन्नत करनेवाला है, परम कल्याण करनेवाला है।

दैवी सम्पद् को विकसित किये बिना अर्थात् साधन किये बिना यदि कोई अपने कल्याण को सिद्ध मान लेता है, कृष्ण उसकी निन्दा करते हैं-

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।। (३/१२)

यज्ञ द्वारा संबर्द्धित देवता तुम्हारे लिए इष्ट-सम्बन्धी भोग देंगे और 'तैर्दत्तान्' वे दाता हैं। जो बिना उनके दिये ही अपने को पूर्ण मान लेता है, श्रीकृष्ण के शब्दों में वह चोर है।

प्रश्न - महाराज जी! ''इष्टान्भोगान्'' का अर्थ क्या इच्छित भोग नहीं होगा?

उत्तर - नहीं, क्योंकि सांसारिक इच्छायें धन, स्त्री, पुत्रादि की हो सकती हैं किन्तु इनसे परम कल्याण सम्भव नहीं है लेकिन यज्ञ तो ऐसी वस्तु है जिससे 'श्रेयः परम् अवाप्स्यथ' परम कल्याण होता है। अतः 'इष्ट सम्बन्धी

भोग' ध्यान की मस्ती, ईश्वरीय वातावरण की उपलब्धि से ही सम्बन्धित है। इस प्रकार देवता तुम्हारे लिए इष्ट सम्बन्धी भोग देंगे, (चिन्तन-क्रम-यज्ञ-क्रिया है) और वही एकमात्र दाता है। अर्थात् बिना किये कोई नहीं पाता। इन दैवी प्रवृत्तियों का सम्बर्द्धन किये बिना ही जो उस अव्यक्त सत्ता की स्थिति का उपभोग करता है, बिना चले ही जो मंजिल पर पहुँच जाने का दम भरता है, वह निश्चय ही चोर है, मुँह छिपाने वाला है। अतः यज्ञ करना नितान्त आवश्यक है। यज्ञ से मिलेगा क्या?

यज्ञ से होने वाली उपलब्धि के बारे में श्रीकृष्ण कहते हैं-

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।। (३/१३)

यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न अर्थात् यज्ञ की पूर्तिकाल में शेष ब्रह्मानन्द को पाकर यह आत्मा सदा-सदा के लिए तृप्त हो जाती है। उस ब्रह्मानन्द का पान करने वाले सन्त सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं किन्तु जो पापी केवल शरीर-पोषण मात्र के लिए परिश्रम करते हैं वे और अधिक पाप का ही संग्रह करते हैं। वे यज्ञ तो करते हैं किन्तु बदले में शरीर और तत्सम्बन्धित सुख-सुविधाओं की आशा रखते हैं, जबकि देवताओं तक का शरीर पुनरावर्तन -शील है। अतः यज्ञ निष्काम भाव से ही करना चाहिए।

इस प्रकार ब्रह्मा ने यज्ञ से संयुक्त प्रजा को बनाया, तो अंततः वे सम्पूर्ण भूत यज्ञ से संयुक्त क्यों हो गये? कौनसा प्रलोभन उन्हें दिखायी पड़ा? कृष्ण कहते हैं--

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।। (३।१४)

भूत प्राणी अन्नाद् अर्थात् अन्न को खाने वाले होते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद

की भृगुवल्ली में अन्नाद् शब्द का प्रयोग "अन्न का उपभोग करने वाले" के लिए किया गया है। भूतों की उत्पत्ति संकल्प से होती है। इसी अन्न को उद्देश्य बनाकर अर्थात् ब्रह्म को उद्देश्य बनाकर सभी भूत (संकल्प) यज्ञ से संयुक्त हुए। अन्न ब्रह्म है (अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। तैत्ति०। भृगु०। द्वितीय अनुवाक्) वही तो आत्मिक आहार है जिसे पाकर आत्मा तृप्त हो जाती है, कभी अतृप्त नहीं होती, उसी ब्रह्म को लक्ष्य बनाकर समस्त संकल्प यज्ञ से संयुक्त हुए।

संकल्पों की उत्पत्ति तो ब्रह्म के लिए हुई; अन्न के लिए हुई, किन्तु उस अन्न की उत्पत्ति कैसे होती है? श्रीकृष्ण कहते हैं, वृष्टि से। पूर्वजन्म में कुछ करते बन गया अथवा इस जन्म में किसी महापुरुष की कृपावृष्टि हो, जबकि वह हमारा ही पूर्व का किया हुआ यज्ञ-संचार है जो अब मिलता है: तभी ब्रह्मानन्द का आस्वादन सम्भव है। यह कृपावृष्टि कैसे होगी? श्रीकृष्ण कहते हैं यज्ञ से। या तो किसी महापुरुष के कृपा प्रसाद से हो अथवा 'अनेक जन्म संसिद्ध' पूर्वजन्म से वह पार लगा हो। वृष्टि यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। ज्यों-ज्यों आप क्रिया करते जायँगे, यज्ञ उन्नत होता जायगा।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।। (३/१५)

कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान। जिन महापुरुषों को यह तत्त्व विदित है, बुद्धि मात्र यन्त्र है; उन्हीं की वाणी वेद है। ऐसे महापुरुषों की वाणी से इस कर्म की रचना हुई। तो क्या महापुरुषों ने अपनी बुद्धि से रचना की? कृष्ण कहते हैं-- नहीं, ऐसे महापुरुषों के माध्यम से स्वयं ब्रह्म ही अपनी वाणी प्रसारित करता है। इसलिए वेद को तू अक्षय ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ जान। इसीलिए वेद अपौरुषेय हैं। यद्यपि वेद सैकड़ों महापुरुषों की

वाणियों का संकलन है, जो ब्रह्म में भली प्रकार स्थित थे फिर भी वह किसी पुरुष की वाणी नहीं है बल्कि महापुरुषों के मूल में जो अव्यक्त है उसके श्रीमुख की वाणी है। श्रुति है - "ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति।", "जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।" स्वरूप में स्थित होने के पश्चात् महापुरुष के मुख से जो भी निकलता है वह सब वेद है क्योंकि उनकी बुद्धि मात्र यन्त्र है, शरीर रहने का एक मकान मात्र है। अव्यक्त ब्रह्म ही उनमें व्यक्त होता है। इसलिए वेद को तू अक्षय ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ जान। इसीलिए वह सर्वव्यापी अक्षर परमात्मा सदैव यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।। (३/१६)

श्रीकृष्ण निर्णय देते हैं कि हे पार्थ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार चलाये हुए साधन-चक्र के अनुसार नहीं बरतते, वे इन्द्रियों का आराम चाहनेवाले पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीते हैं। किस साधन-चक्र को? जिस पर कृष्ण ने अभी प्रकाश डाला कि क्रमशः देवताओं की उन्नति करो, दैवी सम्पत्ति को बलवती बनाओ। ज्यों-ज्यों दैवी सम्पद् का संग्रह होगा इष्ट की ओर चित्त केन्द्रित होता जायगा, वही तुम्हारी प्रगति है। परस्पर उन्नति करके परमकल्याण को प्राप्त कर लो। वही एक मात्र दाता है। उनके दिये बिना अपने को पूर्ण मान लेनेवाला पुरुष चोर है, मुँह छिपाने वाला है। वे अघायु इन्द्रियाराम के लिए हैं। देवता भी तो मरणधर्मा हैं। उनका शरीर भी मिल जाय तो क्या? उतने से भी परमकल्याण सम्भव नहीं है। यज्ञ से शेष बचनेवाला ब्रह्मानन्द ही इस आत्मा का अशन है। उसका पान करनेवाले सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं और जो शरीर के लिए ही पचते हैं, वे पाप ही भोगते हैं। इसी ब्रह्मानन्द रूपी अन्न को उद्देश्य बनाकर प्राणी यज्ञ से संयुक्त हुए। अन्न अर्थात् ब्रह्म की उत्पत्ति कृपावृष्टि से होती है। पूर्वजन्म के यज्ञाचरण अथवा यज्ञस्वरूप

महापुरुषों के द्वारा यह वृष्टि होती है। वेद अविनाशी से उत्पन्न होता है; इससे सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है। यदि आप को परमात्मा की चाह है तो यज्ञ का आचरण करें। इस साधन-चक्र के अनुसार क्रमशः परस्पर उत्थान करते-करते जो परम कल्याण तक नहीं पहुँच जाते, श्रीकृष्ण के शब्दों में, इन्द्रियों का आराम चाहने वाले ऐसे पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीवित रहते हैं। सिद्ध है कि इस चिन्तन-पथ में इन्द्रियों के आराम का कोई विधान नहीं है। मन और इन्द्रियों के दमन के साथ ही भोगों से विरत रहकर ही इस यज्ञ का किया जाना सम्भव है।

श्रीकृष्ण की मान्यता है कि यज्ञ को किये बिना उस परमतत्त्व को न कोई पाया है और न पा सकेगा। पूर्व में होनेवाले जनक इत्यादि महर्षिगण इसी कर्म को करके परम नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त हुए किन्तु जो महापुरुष आत्मा में ही तृप्त एवं स्थित हैं, उनके लिए कर्म करने से न कोई लाभ है और न छोड़ने से कोई हानि ही है। इसी को और स्पष्ट करते हुए अध्याय चार में श्रीकृष्ण कहते हैं--

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।। (४/२३)

आसक्ति एवं संग-दोष के प्रभाव से सर्वथा रहित तथा साक्षात्कार द्वारा प्राप्त जानकारी में स्थित चित्त, यज्ञ के लिए भली प्रकार आचरण करनेवाले मुक्त पुरुष के सम्पूर्ण कर्म नष्ट प्रायः रहते हैं। यज्ञ का आचरण ही तो कर्म है। कर्म करते हुए भी वह महापुरुष लिपायमान नहीं होता। क्यों? जब वह कर्ता है तो कर्म उसे बाँधते क्यों नहीं? कृष्ण कहते हैं-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।। (४/२४)

ऐसे महापुरुषों द्वारा जो समर्पण किया जाता है वह भी ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म ही कर्ता है और जो हवन किया जाता है वह भी ब्रह्म ही है। उसके द्वारा प्राप्त होने योग्य है, वह भी ब्रह्म है क्योंकि कर्म के द्वारा वह ब्रह्म में समाधिस्थ हो चुका है। उसके लिए तो 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है। सारांशतः ऐसा महापुरुष वस्तुतः कुछ करता नहीं बल्कि पीछे वालों के मार्गदर्शन के लिए अभिनय मात्र करता है। यज्ञ से न तो उस पर शुभ संस्कार पड़ता है और न अशुभ ही।

यह तो प्राप्ति वाले पुरुष के आचरण हैं किन्तु साधकों के लिए श्रीकृष्ण पुनः बल देते हैं कि दैवी सम्पद् की वृद्धि करो-

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।। (४/२५)

मुक्तपुरुष के लिए यज्ञ की कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु दूसरे योगी जिन्हें अभी उपलब्धि नहीं हुई है, देव यज्ञ को अच्छी प्रकार उपासते हैं; दैवी सम्पत्ति को अच्छी प्रकार बलवती बनाते हैं। वैराग्य, शम, दम इत्यादि गुण जिसमें परमदेव का देवत्व निहित है, उसको अर्जित करते हैं। परात्पर ब्रह्म अग्नि है ही, उसी में प्रवेश पाने के लिए यज्ञ के द्वारा यज्ञ को हवन करते हैं।

यज्ञ के द्वारा यज्ञ को हवन करना क्या है? अर्जुन ने जब प्रश्न किया कि भगवन्! कर्म क्या है? अध्यात्म क्या है? अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ क्या हैं और इस शरीर में वह अधियज्ञ किस प्रकार है? तब कृष्ण ने कहा - अर्जुन! मैं ही इस शरीर में अधियज्ञ हूँ, यज्ञ का अधिष्ठाता हूँ। जो महापुरुष यज्ञ को पूर्ण कर लेता है और यज्ञ से प्राप्तव्य उस ब्रह्म के अनुरूप स्थिति वाला है वह अधियज्ञ कहलाता है (अध्याय ८/१-४) 'भोक्तारं यज्ञ तपसां

सर्वलोक महेश्वरम्' अर्जुन! यज्ञ और तपों का भोक्ता भी मुझे ही जान! अतः महापुरुष ही यज्ञ के अधिष्ठाता हैं। ऐसे यज्ञस्वरूप किसी महापुरुष को उद्देश्य बनाकर जो यजन करते हैं, मानसिक प्रवृत्तियों का हवन करते हैं, वे यज्ञ के द्वारा यज्ञ का हवन करते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।। (४/२६)

अन्य योगीजन श्रोत्रादिक सम्पूर्ण इन्द्रियों (आँख, कान, नाक, रसना इत्यादि) को संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों को बाह्य विषयों से समेटकर संयमित करते हैं। अग्नि नहीं जलती बल्कि जैसे अग्नि में डालने से भली-बुरी सभी वस्तुएं भस्मसात् हो जाती हैं ठीक इसी प्रकार संयम एक ऐसी अग्नि है जिसमें इन्द्रियों का बहिर्मुखी प्रवाह सर्वथा शान्त हो जाता है। इसलिए संयम को अग्नि की संज्ञा दी गयी।

बहुत से योगी लोग शब्दादिक विषयों का इन्द्रियाग्नि में हवन करते हैं। शब्द इत्यादि का तात्पर्य है पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से। उदाहरणार्थ साधक शान्त चित्त होकर चिन्तन में अग्रसर है, मन के अन्तराल में विजातीय संकल्प नहीं है। ठीक तभी दूसरों द्वारा उच्चरित कोई शब्द बलात् सुनाई पड़ता है। साधक ऐसे शब्द किंचित् भी सुनना नहीं चाहता फिर भी दुनिया में रहकर मनन करना है तो सुनाई पड़ना स्वाभाविक है, किसी दृश्य का दिखायी पड़ना स्वाभाविक है। तब साधक उसके द्वारा आने वाले विषयों को "इन्द्रियाग्निषु जुह्वति"- इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन कर देता है अर्थात् इन्द्रियों के अन्तराल में विषयजनित आशय को बदल देता है। साधक विषय को इन्द्रियों से ग्रहण नहीं करता अन्यथा वह पतित हो जाय। वह तो संकल्प, दृष्टि पैदा होते ही विकारोत्पादक भावना को ही बदल देते हैं।

इस प्रकार की एक घटना हमारे जीवन में भी घटित हुई। अष्टग्रही-योग की चर्चा थी। हम गाजीपुर में थे। उस वर्ष विवाह की केवल तीन ही लगन थी। शहर का मामला! हजारों लाउडस्पीकर एक साथ बज उठे "समधिन चली बजार, चार यार संगे चले।" "अकेली डर लागे रात मोरी अम्मा" इत्यादि गीत वातावरण में तैरने लगे। एकाध दिन तो एक भी शब्द हमारे कान में नहीं पड़ा क्योंकि चित्त उधर था ही नहीं; किन्तु शब्दों के बार-बार टकराने से कुछ सुनाई पड़ने लगा। तीसरे दिन एक लाउडस्पीकर उस दीवाल से सटकर बजने हगा, जहाँ हम रहते थे। एक-एक शब्द विषय उद्दीप्त करने वाला था। एक-एक शब्द गोली की तरह प्रभाव डाल रहा था। हमने सोचा कि यहाँ रहेंगे तो पतित हो जायेंगे। तुरन्त वहाँ से भाग खड़े हुए और शहर से दो-एक मील बाहर निकल गये किन्तु जिससे भय लगता है, यह मन उसे ही शीघ्र पकड़ता है। क्षीण-स्वर में भी संगीत सुनाई पड़ने पर मन तुरन्त ही उस गीत को पहचान लेता था। अब तो बड़ी घबराहट हुई। चार-पाँच मील तक चारों ओर वे शब्द गूँज रहे थे।

हमने महाराज जी का स्मरण किया, प्रार्थना की और तुरन्त ही एक दिशा मिल गई कि 'कबीर' का भजन सुनाते समय महाराज जी भी तो प्रायः ऐसा ही कहते थे-- 'साई के संग सासुर आयी।'

संग न सूती स्वाद न मानी, गयो जोबन सपने की नाई।

इत्यादि कबीर के भजन भी तो ठीक इससे मिलते-जुलते हैं। क्यों न इसी दृष्टि से इन गानों का भी आशय लगाया जाय। बस, हम लौट आए। लिप्सा वाले वे गाने साधन-क्षेत्र में भी इतने उपयोगी लगे कि कई बरस तक हम उन भजनों को गाते रहे, समाज में सुनाते भी थे। जब-जब मन न लगे उन गीतों को हम गा लें तो विरह-वैराग्य एवं अश्रुपात् सब कुछ हो जाय।

जैसे "समधिन चली बाजार, चार यार संगे चले।" चिन्तन करते-करते साधना समाधि के स्तर पर पहुँच गई, केवल परमात्मा में विलय शेष है, ऐसी अवस्था में यदि हम चिन्तन छोड़कर "माया गढ़ खूब बजार।" इस मायिक बाजार की ओर दृष्टिपात् करते हैं तो "चार यार संगे लगे" - काम, क्रोध, लोभ और मोह - चारों यार अन्तःकरण में पनपने लगते हैं अर्थात् एक इंच भी इष्ट अलग है और हम उससे अलग हैं तब तक खतरा है। इस प्रकार शब्दों के माध्यम से जो विषय आये, उनके आशय को बदला। ऐसा ही अवसर अर्जुन के समक्ष देव-सभा में उस समय उपस्थित हुआ जब वे उर्वशी को टकटकी लगाकर देख रहे थे। देवताओं के पूछने पर उन्होंने बताया कि मैं देख रहा था कि माता कुंती स्वर्गलोक में कैसे आ गई? बहुत दिनों से माँ को नहीं देखा था, इसीलिए उत्कंठापूर्वक देखता ही रह गया। उर्वशी बौखलाकर अर्जुन के पीछे ही पड़ गई किन्तु अर्जुन अडिग रहे। उर्वशी ने शाप भी दिया किन्तु सत्य पर आरूढ़ रहनेवाले का अहित कैसे होता, अज्ञातवास में वह शाप भी आशीर्वाद के रूप में बदल गया, सहायक सिद्ध हुआ। इस प्रकार रूप दिखाई तो पड़ा किन्तु कृष्ण के शिष्य अर्जुन ने उसका आशय बदल लिया, मातृ रूप देखा। इस प्रकार बहुत से योगी शब्द, रूप, स्पर्श इत्यादि के माध्यम से आनेवाले विषयों को "इन्द्रियाग्निषु जुह्वति"- इन्द्रियाग्नि में हवन कर देते हैं, उसके आशय को बदल देते हैं, जो वैराग्य एवं परम कल्याण में सहायक होता है। यह इन्द्रियाग्नि वासना का निरोध करती है।

सर्वाणीन्द्रिय कर्माणि प्राण कर्माणि चापरे।
आत्मसंयम योगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।। (४।२७)

दूसरे योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों की चेष्टाओं को और प्राण के व्यापार को अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के कार्य-कलापों को भली-भाँति

निरोध करके साक्षात् अनुभूति द्वारा प्रकाशित आत्म-संयम रूपी योगाग्नि में हवन कर देते हैं, परमात्मा में स्थिति रूपी योगाग्नि में हवन करते हैं। यह पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए योगी का 'यज्ञ' है।

प्रश्न- महाराज जी! उपर्युक्त श्लोकों में 'अपरे', 'अन्ये' शब्द आया है। ऐसा तो नहीं कि ये कई प्रकार के योगी हों या यज्ञ हों। देव-यज्ञ करने वाले एक प्रकार के, इन्द्रिय-संयम करने वाले दूसरे और विषयों के आशय बदलने वाले तीसरे योगी हों?

उत्तर- नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। 'अन्ये' या 'अपरे' शब्द महापुरुषों से साधकों की पृथकता का बोधक है। सभी एक ही साधक की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं। पहले प्रारम्भ की अवस्था है, तत्पश्चात् मध्य की अवस्था और अन्त में पराकाष्ठा की अवस्था का चित्रण उक्त 'सत्ताईसवें श्लोक' में किया गया है। प्रारम्भिक स्तर से पुनः प्रारंभ हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्याय ज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रता।। (४।२८)

बहुत से योगी 'द्रव्य यज्ञा' ईश्वरार्पण बुद्धि से द्रव्य लगाने वाले होते हैं। सत्पुरुष, सद्गुरुओं की सेवा, तीर्थों में धन लगाना तथा भौतिक वस्तुओं से हवन इत्यादि इसी में आ जाते हैं। "पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति" वे द्रव्य ही तो लगा रहे हैं, महापुरुष की सेवा ही तो कर रहे हैं। यह भी एक यज्ञ है किन्तु आगे कहते हैं- यह यज्ञ सबसे अल्प है, चाहे करोड़ का ही क्यों न हो। बहुत से योगी तप-यज्ञ करते हैं। जिस इष्ट का चिन्तन करते हैं उसीके लिए इन्द्रियों को नियुक्त करने का नाम 'तप' है। इन्द्रियाँ सदैव आराम चाहती हैं, उन्हें वासनाओं से समेट कर चिन्तन-पथ पर तपाना ही 'तप-यज्ञ' है। इन्द्रियों का निरोध ही तप यज्ञ है। इसमें शीत-

वात सहन करना तथा शारीरिक चेष्टाओं का शमन करना होता है।

दूसरे साधक 'योग-यज्ञ' का भली-भाँति पालन करते हैं। 'योग' मेल को कहते हैं। दो वस्तुओं के मिलन का नाम योग है। लोटा-थाली से मिल गया, हाथ दीवाल को छू गया तो क्या हो गया योग? नहीं, यह तो सभी 'मैटर' क्षेत्र की वस्तुएँ हैं, पदार्थ मात्र हैं, दो कहाँ हैं? प्रकृति में स्थित जीवात्मा, प्रकृति से परे परमात्मा से मेल करे, उसी दिग्दर्शन और प्रवेश का नाम 'योग' है।'' योग के साथ ही जीवात्मा एवं अंश की संज्ञा मिट जाती है, शाश्वत पुरुष 'अव्यक्त' मात्र शेष रहता है, प्रकृति परमपुरुष के अंक में विलीन हो जाती है, 'पुरुष' ही शेष बचता है। अनेक साधक इस मिलन के लिए परिश्रम करते हैं जिसमें योग के सभी अंग आ जाते हैं। गीता के प्रत्येक अध्याय में श्रीकृष्ण ने इसके साधन पर प्रकाश डाला-जैसे एकान्त देश का सेवन, स्थिर आसन, संग-दोष से अलगाव, इन्द्रियों का दमन तथा ब्रह्मचर्य व्रत में स्थिति छिट-पुट दिया गया है। महर्षि पतंजलि ने स्वतंत्र रूप से भी "अष्टाङ्ग योग" पर प्रकाश डाला है। वस्तुतः योग के उक्त नियम साधना की आधारशिला हैं जिनके ऊपर चिन्तन एवं नाम-जप रूपी मुख्य भवन का निर्माण होता है।

दूसरे अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष 'स्वाध्याय' अर्थात् स्वयं के अध्ययन के लिए ज्ञान रूपी यज्ञ करनेवाले होते हैं। ये ज्ञानयोगी स्वयं पर निर्भर होकर कर्म करते हैं। ज्ञानयोगी क्या है? ज्ञानयोगी भी वही कर्म करते हैं जिससे इस यज्ञ की पूर्ति होती है, पराकाष्ठा मिलती है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायाम परायणाः।। (४।२९)

बहुत से लोग अपान वायु में प्राण वायु का हवन करते हैं और अन्य प्राण-वायु में अपान वायु का हवन करते हैं। 'प्राण' वह है जिसे हम ग्रहण

करते हैं, 'अपान' त्याज्य है। श्रीकृष्ण ने यहाँ प्राण के माध्यम से चिन्तन के विधान पर प्रकाश डाला है। कुछ योगी साँस लेते समय 'ॐ, ॐ' जपते हैं, श्वास लेते समय अन्य कोई संकल्प नहीं उठने देते तो दूसरी ओर अनेक योगी श्वास को बाहर त्यागते समय ओम् का जप करते हैं। और साधना इतनी सूक्ष्म हो जाय कि न बाहर से किसी संकल्प को ग्रहण करें और न भीतर से संकल्प उठने दें तहाँ "प्राणापान गती रुद्ध्वा प्राणायाम परायण:"- प्राण और अपान की गति रोक कर प्राणायाम परायण हो जाते हैं। प्राणों का याम अर्थात् सर्वथा रुक जाना संभव हो जाता है। यही मन की निरोधावस्था है। यही यज्ञ का परिणाम और उसकी पूर्णता का स्थल है; अब पाना ही शेष है।

महर्षि पतंजलि ने इसीलिए "योगश्चित्तवृत्ति निरोध:"-- चित्तवृत्ति निरोध को योग माना है। जिन महापुरुषों ने संकल्पों का निरोध कर लिया, उन्होंने ईश्वर का स्पर्श पा लिया-- तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम्। वृत्तियों के निरोध होने पर द्रष्टा जीवात्मा अपने ही स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही तो श्रीकृष्ण की भी मान्यता है--

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।। (५।१९)

जिनका मन समत्व में स्थित है, उन महापुरुषों द्वारा जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया। क्यों! मन के समत्व से संसार जीतने का क्या सम्बन्ध? कृष्ण कहते हैं "निर्दोषं हि समं ब्रह्म'- वह ब्रह्म निर्दोष और सम है और इधर मन भी निर्दोष और समत्व की स्थिति वाला हो गया, "तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिता:" इसीलिए वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। अर्थात् मन का प्रसार ही जगत् है "तुलसीदास कह चिद्विलास जग बूझत-बूझत

बूझै।" तुलसीदास जी कहते हैं कि चित्त का विलास ही जगत् है। समझ में आते-आते ही किसी विरले की समझ में आता है। इसी मन का प्रसार जिसने रोक लिया, उसने ब्रह्म में प्रवेश और स्थिति पा ली। "मनः एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो:"-- मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। प्राणायाम परायण योगी का चित्त भी सर्वथा निरुद्ध है, मन में प्रसारित चराचर जगत् हवनसामग्री के रूप में है। इस पराकाष्ठा में जगत् के सम्बन्ध एवं सअस्तित्व संस्कारों का विलय हो जाता है।

किन्तु इससे निचले स्तर के योगी आहार-विहार पर नियंत्रण रखते हुए प्राणों का प्राणों में ही हवन करते हैं, अर्थात् संकल्पों को संकल्पों में ही विलीन करते हैं। भीतर एवं बाहर से उठनेवाले संकल्पों का स्मरण न करके उन्हें उपेक्षित करके शान्त बैठ जाते हैं। इस दिशा में भी नाम जप स्वरूप का चिन्तन रहेगा ही- " ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।८।१३।" :- 'ओम' अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, इस शब्द का उच्चारण और मेरा स्मरण चिन्तन कर। "यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि" आरम्भ से अन्त तक जप का विधान है। उस जप का उतार-चढ़ाव इस प्राण और अपान पर निर्भर है। इसलिए श्वास-प्रश्वास का चिन्तन तो करना ही होगा। किन्तु कभी-कभी साधक देखता है कि मन बहुत चलायमान है, नाम तथा सुरत की डोरी नहीं लग रही है, ऐसी परिस्थिति में वे प्राणों का प्राण में हवन कर संकल्पों को शान्त कर लेते हैं। इस प्रकार यज्ञ द्वारा निष्पाप हुए उक्त सभी श्रेणी के साधक यज्ञ के जानकार हैं। कोई निचली भूमि का है तो कोई उच्चस्तर का साधक है। किन्तु सभी यज्ञ को जानने वाले हैं। आज नहीं तो कल वे उच्च स्तर तक पहुँच ही जायेंगे।

प्रश्न खड़ा होता है कि साधक यज्ञ करते ही रहेंगे? या कभी उनका यज्ञ पूर्ण भी होगा? यज्ञ की पूर्ति में मिलेगा क्या? कृष्ण बताते हैं कि जब

प्राण और अपान की गति रुक जाय; प्राणों का याम हो जाय, न बाह्य वायुमण्डल के संकल्प भीतर प्रवेश करें और न साधक के भीतर ही संकल्प उठे, चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाय--यही यज्ञ का पूर्तिकाल है। मन के निरोध के साथ ही जगत् का प्रसार, प्रकृति का आदान-प्रदान, उसका प्रवाह शान्त हो जाता है। फिर तो यज्ञ का परिणाम निकल आता है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्य यज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।(४।३१)

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ के परिणामस्वरूप ज्ञानामृत को भोगने वाला योगी " यान्ति ब्रह्म सनातनम्"-सनातन शाश्वत परमात्मा में प्रवेश करता है। यही शाश्वत ब्रह्म यज्ञ का परिणाम है, जहाँ जाकर यज्ञ भी शान्त हो जाता है। आगे कोई सत्ता ही नहीं है तो किसे ढूँढ़ा जाय? आत्मा, जो अजर-अमर तथा अमृतस्वरूप है, विदित हो जाता है। उस प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है। जब इष्ट का साक्षात्कार ही हो गया तो साक्षात्कार के साथ ही उस अमृतत्व का पान करने वाला योगी सनातन शाश्वत परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

किन्तु मान लीजिए, हम यज्ञ ही न करें, कौन इतना बड़ा झंझट पाले? पार न लगे तब? कृष्ण कहते हैं कि यज्ञरहित पुरुष के लिए यह मनुष्य-लोक भी नहीं है। फिर परलोक कैसे होगा? उसे मानव योनि भी नहीं मिलेगी, परलोक प्राप्ति का तो प्रश्न ही नहीं खड़ा होता।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्म जान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।। (४।३२)

छोटी-मोटी विधियों में विभक्त ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ "वितता ब्रह्मणो

मुखे''-वेदज्ञ पुरुषों की वाणी में कहे गये हैं, इन सभी यज्ञों को तू 'कर्मजान्विद्धि' कर्म से उत्पन्न हुआ जान; मन तथा इन्द्रियों की क्रिया से उत्पन्न हुआ जान; इसमें कोई भौतिक वस्तु नहीं लगती। अब यदि इन्द्रियों का संयम, प्राण में अपान का और अपान में प्राण का हवन या प्राणायाम परायण होना फरसा चलाने से होता हो, कपड़ा बेचने से होता हो, तेल बेचने से होता हो तो करियें! नेतागिरी से होता हो तो करिये! लेकिन नहीं, कृष्ण कहते हैं-कर्म को मनसहित इन्द्रियों की क्रिया से उत्पन्न हुआ जान। इसमें भौतिक द्रव्यों का कोई उपयोग नहीं है। अर्जुन! तू इसे साक्षात्कार के साथ जानकर संसार-बन्धन से मुक्त हो जायेगा।

तो क्या भौतिक द्रव्य से होनेवाले यज्ञ व्यर्थ हैं? कहीं लाख-दस लाख रुपये लगाकर हवन हो रहा है, क्या यज्ञ नहीं है? श्रीकृष्ण कहते हैं, वह भी यज्ञ है, किन्तु--

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञान यज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।। (४।३३)

अर्जुन! सांसारिक द्रव्यों से सिद्ध होनेवाले यज्ञों की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ श्रेयस्कर है। ज्ञान-यज्ञ अधिक कल्याणप्रद है; क्योंकि उसका परिणाम ज्ञान है, प्रत्यक्ष दर्शन है। यज्ञ की पूर्तिकाल में जो अमृत तत्त्व शेष बचता है, उसी का दिग्दर्शन और उसमें प्रवेश का नाम ही ज्ञान है। इसी अमृत तत्त्व की उपलब्धि का नाम ज्ञान है। हे पार्थ! यावन्मात्र कर्म ज्ञान में ही शेष होते हैं अर्थात् ज्ञान उनकी पराकाष्ठा है। इस ज्ञान के पश्चात् कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

प्रश्न-सरकार! श्रीकृष्ण ने यह नहीं बताया कि यज्ञ क्या है?

उत्तर- बताया तो! चराचर जगत् ही हवन-सामग्री है। श्वास का प्रश्वास

में हवन करना यज्ञ है। यज्ञस्वरूप किसी महापुरुष का ध्यान करना यज्ञ है। इन्द्रियों का दमन यज्ञ है। मन का शमन यज्ञ है। एकाग्रता यज्ञ है। दैवी सम्पद् बलवती बनाना यज्ञ है। शब्द रूप इत्यादि विषयों के आशय को बदल कर साधन पर निरन्तर दृष्टि रखना यज्ञ है। चित्त की प्रवृत्ति को चलायमान न होने देना यज्ञ है। इस यज्ञ में आग नहीं जलती किन्तु जिस प्रकार अग्नि में डाली हुई वस्तु भस्मसात् हो जाती है, ठीक उसी प्रकार संयम, प्राण-अपान का निरोध ऐसा यज्ञ है कि प्रवृत्तियों सहित मन उसमें विलय होकर उपराम हो जाता है और मन में स्थित चराचर जगत् की हवन-सामग्री दग्ध हो जाती है। अमृत तत्त्व प्रगट हो जाता है जिसका आस्वादन करने वाला योगी अमृतस्वरूप सनातन ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है- "यान्तो ब्रह्म सनातनम्"। सभी यज्ञ कर्म से, मन इन्द्रिय की क्रिया से सिद्ध होने वाले हैं। जगत् में भौतिक द्रव्यों से होनेवाले यज्ञ अल्प फलवाले हैं; किन्तु हैं आवश्यक; क्योंकि पुण्य और पुरुषार्थ का आरम्भ उन्हीं से होता है।

किसी तत्त्वज्ञ महापुरुष की शरण में जाने से, उनकी टूटी-फूटी सेवा करने से, उनकी बतायी हुई क्रिया को कार्य रूप देने से चार-छः महीने में ही यज्ञ की प्रक्रिया, साधना का क्रम हृदय में जागृत हो जाता है। इसीलिए यज्ञ-प्रकरण के समापन पर श्रीकृष्ण किसी तत्त्वस्थित महापुरुष की शरण में जाने का निर्देश देते हैं--

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। ४।३४

अर्जुन ! उस यज्ञ को जानने के लिए किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के पास जाओ। उन्हें भली प्रकार दण्ड-प्रणाम करो। उनकी सेवा करो और निष्कपट भाव से उनसे प्रश्न करके उस ज्ञान को जानो। वे तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुझे

उस ज्ञान का उपदेश करेंगे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता नहीं है। यह क्रियात्मक पथ है। केवल किताब पढ़कर नहीं, बल्कि करने से ही आता है। तत्त्वस्थित महापुरुषों के माध्यम से ही आत्मा जागृत हो जाती है। वही आत्मा से रथी होकर उसको संचालित करते हुए इन यज्ञों से अवगत कराता है।

प्रश्न-महाराज जी ! मुक्त पुरुषों के लिए यज्ञ की आवश्यकता नहीं रह जाती तब वे किसी को यज्ञ का उपदेश क्यों करेंगे?

उत्तर- नहीं, वे करेंगे! लोक-शिक्षण उनका कर्त्तव्य है। यदि वे मार्ग-दर्शन न करें तो लोक ही भ्रष्ट हो जाय और वे वर्णसंकर के कर्त्ता होंगे। इसके अतिरिक्त अठारहवें अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण प्रचलित विचारधाराओं की समीक्षा करते हुए अपने निश्चय को व्यक्त करते हैं कि यज्ञ, दान और तप रूप कर्म कदापि त्यागने योग्य नहीं हैं। यह विवेकी पुरुषों को भी परम पवित्र करनेवाला है; महापुरुषों के लिए भी उपादेय है-- परहित के लिए।

अतः यज्ञ की क्रियात्मक जानकारी के लिए तत्त्वज्ञ महापुरुषों की शरण, उनकी सेवा, उनका सान्निध्य, सत्संग, दर्शन, स्पर्श नितान्त आवश्यक है।

प्रश्न-महाराज जी! वेदियों द्वारा जो यज्ञ किये जाते हैं क्या वे निरर्थक हैं?

उत्तर- नहीं, वे निरर्थक नहीं हैं। वेदियों से जो हवन-पूजन किये जाते हैं वे भी सही हैं। वे भी पुण्य-लोकों की प्राप्ति के माध्यम हैं। श्वास के अतिरिक्त अन्य स्तर का जप-चिन्तन, दान-दक्षिणा, घी-तिल इत्यादि से हवन की प्रचलित विधि भी यज्ञ का स्थूल रूप है जिससे पुण्य-पुरुषार्थ बढ़ता है किन्तु पूर्ण निवृत्ति एवं शाश्वत मुक्ति का माध्यम श्वास-प्रश्वास का सूक्ष्म यज्ञ है। संस्कारों सहित इस अयुक्त चित्त का निरोध और निरुद्ध चित्त के भी विलय की स्थिति इस श्वास-प्रश्वास के यज्ञ में है। यह मन ही मनुष्य के बंधन और निवृत्तिपर्यन्त

कारण होता है। जब कारण ही मिट गया तब बन्धन किसका? मुक्ति किसकी? श्वास-प्रश्वास के यज्ञ का कर्त्ता परम चेतन का प्रतिविम्ब प्राप्त कर उसी में स्थित हो जाता है। इस यज्ञ को पढ़कर नहीं पाया जा सकता। तत्त्वस्थित महापुरुषों से यह क्रिया जागृत हो जाया करती है। अत: उनकी संगति अपेक्षित है--

द्वार धनी के पड़ि रहे, धक्का धनी का खाय।
कबहुंक धनी निवाजिहै, जो दर छोड़ि न जाय।।

ॐ

कर्म

प्रश्न- महाराज जी! श्रीकृष्ण ने गीता में स्थान-स्थान पर कर्म करने पर बहुत बल दिया है। वह कर्म क्या है?

उत्तर- देखिए, प्रत्येक महापुरुष की दृष्टि में कर्म का शुद्ध अर्थ आराधना ही है--

करम एक आराधना, जेहि विधि रीझै राम।
सो करता करनी करै, पल पल पलटत नाम।।

एकमात्र अराधना ही कर्म है। वह प्रक्रिया ही कर्म है जिससे राम रीझ जायँ, अनुकूल हो जायँ। वहीं उस कर्म विशेष का कर्त्ता है जो क्षण-क्षण पर नाम को पलटता तथा उसका स्मरण करता रहता है। आदि शंकराचार्य की मान्यता है- "क्वा कर्म यत्प्रीति करं मुरारे" कर्म क्या है? जिससे भगवान के चरण कमलों में अटूट प्रीति का संचार हो जाय। गोस्वामी तुलसीदासजी के अनुसार--

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ।।
(मानस २।२९०।१)

उस सुख, कर्म, धर्म में आग लग जाय जहाँ भगवान राम के चरण कमलों में स्नेह न हो। तात्पर्य यह है कि एकमात्र भगवान के चरण कमलों में स्नेह, उनकी प्राप्ति करानेवाली प्रक्रिया ही कर्म है। ठीक इसी प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में कर्म का शुद्ध अर्थ है-- आराधना।

युद्धस्थल में अपने ही स्वजन समुदाय को देखकर अर्जुन अधीर हो उठा। अठारह अक्षौहिणी जनसमूह में अर्जुन को केवल अपना परिवार, मामा

का परिवार और ससुराल का परिवार ही दिखाई पड़ा। क्या सब अर्जुन के रिश्तेदार ही थे। वास्तव में अनुरागी ही अर्जुन है। प्रत्येक अनुरागी के समक्ष यही समस्या होती है। चिन्तन-पथ में प्रवृत्त होते समय पहले तो बड़ा भाव रहता है किन्तु जब लौकिक सम्बंधों को त्यागने का स्तर आता है, तहाँ वह अधीर हो उठता है; उस समय परिवार का मोह, ननिहाल का मोह, साथियों का मोह, ससुराल का मोह और गुरुजनों का मोह उसे घेर लेता है। जब अनुरागी घर से अलग हो ही गया तो उसके लिए घर वाले मर गये और घरवालों के लिए साधक। उस समय प्रबल मोह से साधक विचलित होने लगता है। अर्जुन ने भी अपने परिवार को मौत के मुहाने पर देखा तो बोला- - मैं युद्ध नहीं करूंगा। अपने ही परिवार को मारकर मैं सुखी कैसे होऊंगा। इस प्रकार तो कुल-धर्म नष्ट हो जायगा। कुल-धर्म शाश्वत धर्म है, सनातन है, पुरातन है। इस प्रकार के युद्ध से पिण्ड-परम्परा लुप्त हो जाएगी, कुल की स्त्रियाँ दूषित होंगी; वर्णसंकर पैदा होंगे। वह वर्णसंकर कुल एवं कुल घातियों को नरक में ले जाने के लिए उद्यत हुए हैं। इस प्रकार अपने को ही नहीं अपितु कृष्ण को भी लांक्षित किया कि आप भी पाप करने जा रहे हैं। अन्त में ऐसा स्पष्ट कहकर कि "गोविन्द! मैं कदापि युद्ध नहीं करूँगा," रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

अर्जुन यदि न लड़े तो युद्ध का प्रश्न ही खड़ा न हो, क्योंकि उसके ऊपर ही सारा महाभारत आधारित है। पाण्डव-पक्ष में अर्जुन के अतिरिक्त कोई दुर्धर्ष योद्धा नहीं जिस पर युधिष्ठिर निर्भर हो सके-"पल लागत अर्जुन हतैं छुए न दूजो बान।।" वही तो एक विशिष्ट योद्धा था- उस अधीर अर्जुन को एकमात्र कर्म की शिक्षा देकर कृष्ण ने उस कर्म को दृढ़ाया ही नहीं बल्कि उस पर अर्जुन को चला भी दिया। अतः विचारणीय है कि वह कर्म है क्या?

अर्जुन ने पहले ही कह दिया था कि पृथ्वी एवं स्वर्ग के धन-धान्य-सम्पन्न साम्राज्य का अकण्टक स्वामी बनने पर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखा देनेवाले शोक को मिटा सके। अतः यदि इतना ही मिलने वाला है तो मैं युद्ध नहीं करूँगा। हाँ, यदि इससे भी आगे कोई सत्य हो तो उसे आप मेरे प्रति कहिए। तब भगवान कृष्ण ने उस सत्य पर प्रकाश डाला कि आत्मा ही सत्य है, आत्मा परम सत्य है। वही शाश्वत एवं सनातन है। वही अजर-अमर एवं सर्वव्याप्त है, किन्तु अजर-अमर तो कोई सत्ता दिखायी नहीं देती। आये दिन शोक, मोह, सन्ताप ही दिखाई देता है। फिर जो आत्मा सबमें व्याप्त है तो ढूंढा किसे जाय? श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! आत्मा को इस रूप में केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा, सबने नहीं। यह आत्मा अचिन्त्य है-- जब तक चित्त और चित्त की लहर है, यह विदित नहीं होता। कोई विरला महापुरुष ही इसे जानता है। विरला ही इसे आश्चर्य की तरह सुनता है। सब न सुनते हैं, न जानते हैं क्योंकि क्रिया ही नहीं जानते। इसलिए अर्जुन! तू इसकी प्राप्ति के लिए युद्ध कर। क्षत्रिय के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरा कर्तव्य नहीं है।

प्रश्न-महाराज जी ! अर्जुन यदि क्षत्रिय श्रेणी का साधक था तो उसे परिवार का मोह नहीं होना चाहिए था?

उत्तर- देखिए, शास्त्र की रचना पीछे वालों के मार्ग-दर्शन के लिए ही होती है। जो सामने है, वह तो पार हो ही जाता है। लिखने की क्या आवश्यकता थी। गीता के समापन पर कृष्ण इसके प्रचार-प्रसार का निर्देश भी देते हैं। वस्तुतः अर्जुन को निमित्त बनाकर वे सभी साधकों की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं। अर्जुन आज क्षत्रिय बना, कभी तो उसकी साधना का भी आरम्भ था। आरंभिक अवस्था में अनुरागी के समक्ष परिवार की

समस्या आती है। स्वजनों का त्याग महान कष्टदायी होता है। अत: वहीं से गीता का प्रारम्भ श्रीकृष्ण करते हैं।

श्रीकृष्ण ने समझाया कि पार्थ! यह युद्ध क्षत्रिय के लिए खुला हुआ स्वर्ग द्वार है। इससे बढ़कर क्षत्रिय के लिए अन्य कोई धर्म नहीं है। यदि तू युद्ध नहीं करेगा तो वैरी तुझे भय के कारण रण से उपराम हुआ समझेंगे। जिनसे तूने सम्मान पाया है उनकी दृष्टि से भी गिर जायगा। हारेगा तो स्वर्ग पायेगा और जितेगा तो 'भोक्ष्यसे महीम्' महामहीम् स्थिति को प्राप्त होगा।

प्रश्न -किन्तु महाराज जी! 'महीम्' का अर्थ तो पृथ्वी होता है?

उत्तर- ठीक है, पृथ्वी को भी मही कहते हैं। वह सबका उदर-पोषण करती है, उसकी बड़ी महिमा है, इसलिए उसका एक नाम मही भी है; किन्तु सबसे महान महिमा तो उस महान महिमामय की है जहाँ से महिमा का प्रसार होता है- 'महिम्न: पारन्ते' जिसकी महिमा अपार है कृष्ण उसी महीम् स्थिति का प्रलोभन देते हैं। अर्जुन पहले ही त्रैलोक्य का राज्य ठुकरा चुका है। वह उससे भी आगे कोई सत्य पाना चाहता है अत: केवल पृथ्वी के भोगों का प्रलोभन श्रीकृष्ण क्यों देते और अर्जुन क्यों इतने के ही लिए तैयार हो जाता? सिद्ध है कि यह कोई ऐसा युद्ध है जो महामहीम् स्थिति को दिलाता है।

अत: जीतोगे तो सर्वस्व मिलेगा और हारोगे तो देवत्व को प्राप्त करोगे। जीवन भर दैवी सम्पत्ति का ही तो अर्जन किया है, उसी देवत्व को प्राप्त होगे। इस दृष्टि से हानि और लाभ, सिद्धि और असिद्धि दोनों को समान समझकर युद्ध कर।

अर्जुन! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी । कौनसी बुद्धि? यही कि 'युद्ध कर'। अपना हानि-लाभ देखते हुए युद्ध करना ही 'ज्ञानयोग' है।

प्रश्न-किन्तु महाराज जी! कई टीकाकारों ने लिखा है कि " मैं ज्ञानी हूँ? मैं पूर्ण हूँ, आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है, इन्द्रियाँ अपने विषयों में बरतती हैं।" ऐसा चिन्तन करना ज्ञानयोग है।

उत्तर- ऐसा कैसे होगा? कल घर छोड़ा और आज पूर्ण हो गये? हृदय में तो काम छाया है, क्रोध छाया है; देखने से सच्चिदानन्दघन दिखाई देगा? टीकाकार कुछ भी लिखें, कृष्ण ऐसा नहीं कहते। कृष्ण ने जहाँ आत्मा को अजर,अमर, अविकारी, अचल एवं सनातन बताया वहाँ यह नहीं कहा कि यह ज्ञानयोग है। वहाँ तो कृष्ण कहते हैं कि आत्मा को इन विभूतियों से युक्त केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा। अन्यत्र वे कहते हैं कि "अर्जुन! जिसके द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीती गयी हैं उसके लिए उसी की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है और जिस पुरुष के द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गयीं उसके लिए उसी की आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतती है; अधोगति और नीचयोनियों में फेंकने वाली होती है। अर्जुन! मनुष्य को चाहिए कि अपनी आत्मा का उद्धार करे, उसे अधोगति में न पहुँचावे। कौन कहता है कि आत्मा अजर-अमर और शाश्वत है? यहाँ कृष्ण कहते हैं कि आत्मा अधोगति में जाती है। आत्मा का उद्धार होता है। ज्ञानयोगियों ने यह तो रट लिया कि 'मैं पूर्ण हूँ' यह क्यों नहीं याद किया कि आत्मा अधोगति में जाती है। वस्तुतः मनसहित इन्द्रियों के जीतने पर ही आत्मा का दिग्दर्शन सम्भव है। उसके लिए कर्म तो करना ही पड़ेगा। हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहना ज्ञानयोग नहीं है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।। २।३९।।

अर्जुन! अब तक यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी, इसी को अब तू निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन, जिस बुद्धि से युक्त

हुआ तू कर्म-बन्धन से भली प्रकार छूट जायगा। दोनों में क्रिया एक ही है, केवल कार्य-प्रणाली का अन्तर है, बुद्धि का अन्तर है। ज्ञानयोग में अपना हानि-लाभ स्वयं देखते हुए युद्ध किया जाता है जबकि निष्काम कर्मयोग में साधक इष्ट पर निर्भर होकर युद्ध करता है। उसके हानि-लाभ का विचार इष्ट करते हैं। अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ अर्थात् बीज का नाश नहीं होता। इसका थोड़ा-सा भी साधन करते बन गया, यह क्रिया आरम्भ भर हो जाय फिर माया के पास ऐसा कोई यन्त्र नहीं है जो उसे नष्ट कर दे। माया केवल आवरण डाल सकती है, देर कर सकती है, इससे अधिक कुछ भी नहीं। कागभुशुण्डि को दस हजार जन्म लगे। कृष्ण छः जन्म से योगी थे। महाराज जी को अनुभव में दिखाई पड़ा कि सात जन्म से साधू थे। अतः इस निष्काम कर्मयोग का रंचमात्र आचरण भी जन्म-मरण के महान भय से उद्धार करके ही छोड़ता है। "अनेक जन्म संसिद्धस्ततो यान्ति परां गतिम्।" शिथिल प्रयत्नवाला साधक भी अनेक जन्मों के हेर-फेर से उसी स्थान पर पहुँच जाता है, जिसका नाम परमगति या परमधाम है। यह साधन सद्गृहस्थ आश्रम में रहते हुए भी किया जा सकता है, फिर आगे वाली सीढ़ी तो भगवान स्वतः पकड़ाएँगे कि अब त्याग करो। उस समय त्याग करने की क्षमता भी रहेगी। आज हम जिसे छोड़ना नहीं चाहते, उस समय इसी को छूना भी नहीं चाहेंगे। इस निष्काम कर्मयोग में सीमित फलरूपी दोष भी नहीं है कि ऋद्धियों-सिद्धियों या स्वर्ग तक ही पहुँचा कर छोड़ दे। इसका स्वल्प आचरण भी जन्म-मरण के भय से छुटकारा दिलाकर ही शान्त होता है।

कुरुनन्दन! इस निष्काम कर्मयोग में निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है। क्रिया एक है, दिशा एक है। तब जो लोग बहुत सी क्रियायें बताते हैं क्या वे भजन नहीं करते? कृष्ण कहते हैं-- वे भजन नहीं करते। अज्ञानियों की बुद्धि अनन्तशाखाओं वाली होती है, इसलिए भजन की ओट में वे बहुत सी क्रियाओं

का विस्तार कर लेते हैं। ऐसे लोगों की छाप जिनके चित्त पर पड़ती है उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है। ऐसे लोग स्वर्ग को ही परमश्रेष्ठ मानने वाले होते हैं, और दिखावटी शोभायुक्त वाणी में वेद की उन्हीं बातों में अनुरक्त रहते हैं जिससे भोगैश्वर्य वृद्धि हो। सिद्ध है कि कर्म के नाम पर प्रचलित कर्मकाण्ड कर्म नहीं है। फलासक्ति से किया जानेवाला कर्म, कर्म नहीं है।

अर्जुन! तू फल की वासना वाला मत हो। तेरा कर्म करने में ही अधिकार है फल में कभी नहीं। इसके साथ ही कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो। निरन्तर करने के लिए तत्पर हो जा। इसमें बुद्धि को इष्ट के अंधीन रखना होता है, इसलिए निष्काम कर्मयोग को बुद्धियोग भी कहते हैं। इसमें कामनाओं का सर्वथा अभाव है, इसीलिए यह निष्काम कर्मयोग कहलाता है। क्रमशः उत्थान करते-करते यह इष्ट के साथ समत्व की स्थिति दिला देता है, इसीलिए यह समत्व योग कहलाता है। अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में इन्द्रियसहित मन के निरोध का बड़ा महत्त्व है। क्योंकि विषयों में विचरती हुई जिस भी इन्द्रिय के साथ मन रहता है वह अकेली इन्द्रिय ही इस अयुक्त मन का अपहरण कर कहीं ले जाकर उसी प्रकार पटक देती है जैसे वायु नाव का हरण कर लेती है। इसीलिए महाबाहो! इन्द्रियों को विषयों से सब प्रकार से समेटकर कर्म का आचरण कर।

अर्जुन को कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग में सरलता दिखायी पड़ी। ज्ञानमार्ग में अनुरागी हानि-लाभ का स्वयं विचार कर निर्णय लेता है। साधना पूरी हो जाय तो महामहिम स्थिति मिलती है और इसके पूर्व ही शरीर का समय समाप्त होने पर देवत्व मिलता है जबकि निष्काम कर्म में कर्म करने का ही अधिकार है, फल में कभी नहीं। यह तो निश्चित है कि कभी न कभी हम बन्धन से छूट जायेंगे। किन्तु कब-कितना छूटेंगे, अभी से कोई निर्णय नहीं। केवल कर्म कर, ऐसा समझ कि फल हैं ही नहीं। मिलना-

जुलना कुछ नहीं और करने में अश्रद्धा भी न हो! कौन अकारण खाक छानता फिरे? हाँ, अंत में कभी कल्याण हो जायगा। इससे अच्छा तो ज्ञानयोग है जिसमें साधक अपनी गति-प्रगति को देखते हुए चलता है। इसीलिए तीसरे अध्याय में अर्जुन ने प्रश्न किया--

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।। ३।१।।

भगवन्! यदि निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञान-मार्ग आपको श्रेष्ठ मान्य है फिर मुझे भयंकर कर्मों में क्यों लगाते हैं? कर्मों में अर्जुन को भयंकरता दिखायी देती है। मिले हुए से वाक्यों से आप मेरी बुद्धि को मोहित क्यों करते हैं? कृपया निश्चित करके उस एक मार्ग को कहिए, जिससे मैं परम कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ"। अर्जुन परम कल्याण का इच्छुक था।

भगवान कहते हैं, अर्जुन! दो प्रकार की निष्ठा पहले मेरे द्वारा कही गयी है। पहले का तात्पर्य सत्युग या त्रेता नहीं बल्कि अभी-अभी अध्याय दो में कह आये हैं। इसी को सुनकर तो अर्जुन का प्रश्न खड़ा हुआ। अर्जुन! दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा कही गयी-- ज्ञानियों को ज्ञानयोग से और योगियों को निष्काम कर्म योग से, किंतु किसी भी मार्ग में कर्मों को छोड़ने का विधान नहीं है। कर्म तो हर दशा में करना ही होगा। ऐसा नहीं है कि कर्मों को न करके कोई नैष्कर्म्य की परमसिद्धि को प्राप्त कर ले। निष्कर्म का आशय अकर्मण्य नहीं होता। हम कुछ न करें तो हो गये निष्कर्मी? कोई ऐसा बचाव न ढूँढ़ लें इसीलिए श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कर दिया कि अर्जुन ! कर्मों को न करने से न तो कोई निष्कर्मता को प्राप्त होता है और आरम्भ की हुई क्रिया को त्याग देने से न तो कोई संन्यास की परमसिद्धि ही पाता है। बहुत से लोग कहते हैं- हम तो ज्ञानी हैं, अग्नि नहीं छूते, हमारे लिए भजन का कोई

विधान नहीं है, आगे कोई परमात्मा ही नहीं है तो किसको भजे, 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि। प्राप्ति के पश्चात् ठीक ऐसा ही है लेकिन किये बिना कोई पाता नहीं। कृष्ण इस पर बल देते हैं कि क्रिया का त्याग करके न तो कोई निष्कर्मी बनता है, न संन्यास की परमसिद्धि को ही पाता है। अब आप को ज्ञानयोग अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग, कर्म तो हर दशा में करना ही होगा क्योंकि कोई भी पुरुष क्षण-मात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता।

प्रश्न-महाराज जी! अध्याय चार में श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञ की पूर्ति में ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाता है। सम्पूर्ण कर्मों की ज्ञान पराकाष्ठा है। ज्ञान में सम्पूर्ण कर्म विलय हो जाते हैं। ऐसे पुरुष द्वारा कर्म होते ही नहीं और यहाँ कृष्ण कहते हैं ज्ञानयोग अच्छा लगे या निष्काम कर्म योग; कर्म तो करना ही होगा। ऐसा विरोधाभास क्यों?

उत्तर- श्रीकृष्ण कहते हैं "कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः!" (३।५)।। प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा परवश जीव हर हालत में क्रिया में बरतता है। जब तक प्रकृति है, प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों का मस्तिष्क पर दबाव है, तब तक किसी न किसी रूप में कर्म तो करना ही होगा। प्रकृति के आश्रित हुआ पुरुष कर्म किये बिना नहीं रह सकता किन्तु जिस समय "ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माणं"- ज्ञान में कर्म विलय हो जाता है उस समय प्रकृति का विलय हो जाता है; इसीलिए उस पुरुष द्वारा कर्म नहीं होता।

अतः जब तक पुरुष प्रकृति से पार नहीं हो जाता, कर्म करना ही पड़ता है। फिर भी जो पुरुष हठ से इन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का चिन्तन करते हैं और कहते हैं मैं ज्ञानी हूँ, मैं पूर्ण हूँ, मैं परमतत्त्व में स्थित हूँ, कृष्ण कहते हैं, वे दम्भाचारी हैं, पाखण्डी हैं। अर्जुन तू नियत कर्म को कर-

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।। ३।८।।

सिद्ध है कि कर्म बहुत से हैं, उनमें से कोई कर्म निर्धारित किया गया। सोलहवें अध्याय के अंत में कहते हैं-- जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्याग कर अपनी इच्छा से बरतता है वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है और न परमगति तथा सुख को ही प्राप्त होता है। इसलिए कार्य और अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण हैं। अतः शास्त्र द्वारा नियत कर्म को कर। किस शास्त्र द्वारा नियत? अन्य शास्त्रों से यहाँ तात्पर्य नहीं; गीता शास्त्र द्वारा निर्धारित कर्म कर! "गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः।।" कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेयतर है क्योंकि करने से कुछ दूरी तय तो होगी। कर्म न करने से शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी।

प्रश्न- महाराज जी! शरीर-यात्रा का क्या अर्थ है? क्या शरीर-निर्वाह नहीं होगा?

उत्तर- नहीं, आप शरीर तो हैं नहीं! यह जीवात्मा युग-युगान्तरों से शरीरों की यात्रा करता आया है। कीट-पतंग, देव-दानव-मानव इत्यादि योनियों को यह जीवात्मा वस्त्र की तरह बदलता रहता है। यह यात्रा तभी पूरी होती है जब यह शाश्वत ब्रह्म में समाहित हो जाय। यदि एक भी जन्म लेना पड़ा तो यात्रा अभी जारी है।

सिद्ध है कि कर्म ऐसी वस्तु है जो आत्मा की शरीर-यात्रा पूर्ण कराती है। यह आत्मा को वह अचल स्थिति दिलाती है, जिसके पश्चात् शरीरों की यात्रा नहीं करनी पड़ती।

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नियत कर्म है क्या? श्रीकृष्ण उस नियत कर्म पर प्रकाश डालते हैं--

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ।। ३।९।।

यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। वह हरकत कर्म है, जिससे यज्ञ पूरा होता है। "अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।" --इस यज्ञ की प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्यत्र जो कुछ भी किया जाता है, वह इसी लोक का बन्धन है। कर्म तो "मोक्ष्यसेऽशुभात्" संसार-बन्धन से छुटकारा दिलाने वाला है। कर्म तो शरीर-यात्रा पूर्ण कराने वाला है। इसलिए अर्जुन ! उसी यज्ञ की पूर्ति के लिए संग दोष से अलग रहकर कर्म का आचरण कर। कर्म एक ऐसी विधा है जिसका आचरण संग-दोष के रहते असम्भव है। इसलिए संग-दोष से अलग रहकर यज्ञ की पूर्ति के लिए भली प्रकार आचरण कर।

अब एक नवीन प्रश्न उपस्थित होता है कि वह यज्ञ क्या है जिसकी प्रक्रिया ही कर्म है? कर्म वही है जिससे यज्ञ सम्पन्न होता है तो वह यज्ञ कौन-सा है; क्या है? उस यज्ञ में क्या करना पड़ेगा? यज्ञ की उत्पत्ति एवं विशेषताओं का सविस्तार निरूपण करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-- इस यज्ञ से देवत्व की वृद्धि करो, दैवी सम्पद् ज्यों-ज्यों बलवती होगी त्यों-त्यों तुम्हारी प्रगति होगी। इस प्रकार परस्पर क्रमशः उत्थान करते-करते परमकल्याण को प्राप्त हो जाओ। यह यज्ञ ऐसा है जो कि परमकल्याण के नीचे की बात नहीं करता। अध्याय चार में कृष्ण बताते हैं कि बहुत से लोग देवयज्ञ करते हैं, दैवी सम्पत्ति को बलवती बनाते हैं। विवेक,वैराग्य, शम, दम, एकाग्रता, ध्यान, समाधि, चिन्तन की प्रवृत्ति--यही सब दैवी सम्पत्ति है। (सोलहवें अध्याय में जिसका विशद विवेचन है)। इसी को भली प्रकार स्थायित्व देने के लिए साधन करते हैं। दूसरे योगी इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं। बहुत से साधक शब्दादि विषयों को इन्द्रियों में हवन कर देते हैं अर्थात् विषयों के प्रति अपना भाव बदल लेते हैं। बहुत से योगी

योग-यज्ञ अर्थात् निष्काम कर्मयोग द्वारा इसी यज्ञ को करते हैं तो अनेक स्वाध्याय ज्ञान-यज्ञ द्वारा स्वयं को सामने रखकर अपनी भलाई-बुराई, हानि-लाभ का स्वयं निर्णय करके इस यज्ञ का आचरण करते हैं। ज्ञानयोगी स्वयं पर आश्रित रहता है। जबकि निष्काम कर्म योगी इष्ट पर निर्भर होकर उसी क्रिया को करता है। यज्ञ एक ही है; कर्त्ता दो शैलियों के हैं। बहुत से योगी प्राण को अपान में और अनेक अपान में प्राण को हवन करते हैं अर्थात् श्वास-प्रश्वास का चिन्तन करते हैं। बहुत से योगी प्राण-अपान की गति रोककर प्राणायाम-परायण हो जाते हैं। प्राणों की गति का याम हो जाता है, सर्वथा निरोध की अवस्था आ जाती है, न भीतर से संकल्प उठते हैं न वाह्य वायुमंडल के संकल्प भीतर प्रवेश कर पाते हैं। इस यज्ञ की प्रक्रिया में चराचर जगत् ही हवन-सामग्री है। जगत् है तो लम्बा-चौड़ा किन्तु मनुष्य के लिए उतना ही है जितना मन पर अंकित है। मन के निरोध के साथ ही जगत् पर विजय है। कृष्ण कहते हैं- "इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।" - उन पुरुषों द्वारा जीवित अवस्था में ही संसार जीत लिया गया जिनका मन समत्व में स्थित है। क्यों? मन की स्थिति और संसार जीतने से क्या सम्बन्ध? तो "निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।५।१९।। ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर मन भी समत्व की स्थिति वाला हो गया इसलिए वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। उस रहनी में संसार होता ही नहीं। इस प्रकार जब प्राण-अपान की गति का निरोध हो गया, संकल्प शान्त हो गये; सिद्ध है, वह मन की निरोधावस्था है। इस निरोध के साथ ही यज्ञ का परिणाम निकल आता है- "यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।। (४।३१)। यज्ञ के परिणामस्वरूप उत्पन्न ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी सनातन ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। इस यज्ञ के पूर्तिकाल में मन का सर्वथा निरोध और निरोध के साथ ही वह परमात्मा जो है, जिन विभूतियों और जिन गुणधर्मों

वाला है; विदित हो जाता है। साक्षात्कार का ही नाम ज्ञान है। उस ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी सनातन, शाश्वत ब्रह्म में प्रविष्ट एवं स्थित हो जाता है। अर्जुन! यह सम्पूर्ण यज्ञ मन और इन्द्रिय की क्रिया द्वारा सिद्ध होनेवाले हैं। तो क्या उनमें चावल, तिल, घी नहीं लगता? कृष्ण कहते हैं नहीं, भौतिक वस्तुओं से सिद्ध होनेवाला यज्ञ अत्यन्त अल्प है। है वह भी यज्ञ, उपादेय भी है क्योंकि प्रारम्भ वहीं से होता है किन्तु इन यज्ञों की तुलना में अत्यन्त अल्प है। जिन यज्ञों पर कृष्ण ने बल दिया वे सभी, उन्हीं के शब्दों में मन और इन्द्रियों की क्रिया से सम्पन्न होनेवाले हैं। ।।४।३२।।

यह श्वास-प्रश्वास का हवन यदि फरसा चलाने से होता हो तो कीजिए। प्राण-अपान की गति का निरोध कपड़ा बेचने से होता हो तो कीजिए। नौकरी या नेतागिरी से होता हो तो कीजिए। सिद्ध है कि दुनिया में जो कुछ किया कराया जाता है, जिसमें लोग दिन-रात व्यस्त हैं; कर्म नहीं है। वह तो इसी लोक का एक बन्धन है। यज्ञ की क्रिया ही कर्म है अर्थात् कर्म का तात्पर्य है आराधना। इस आराधना में बहुत से योगी देवयज्ञ करते हैं। अनेक ज्ञान-यज्ञ, योग-यज्ञ करते हैं तो कोई प्राण का अपान और अपान का प्राण में हवन करते हैं। लगता है ये अनेक प्रकार के योगी हों; किन्तु नहीं, यह सभी एक ही साधना की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं। प्रत्येक साधक को इन सभी भूमिकाओं से गुजरना होता है। प्रारम्भ में प्रत्येक साधक दैवी सम्पद् को बलवती बनाता है। शनैः-शनैः वह संयमाग्नि पर पहुँचता है, तत्पश्चात् शब्दादि संग-दोषों से बचने की युक्ति में प्रवेश पाता है। क्रमशः श्वास-प्रश्वास में प्रवेश हो जाता है और श्वास-प्रश्वास का निरोध होते ही मन के लय की स्थिति में यज्ञ के परिणाम पर पहुँचता है। यह सभी एक ही साधक की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार जो भी जानते हैं, यज्ञ के भेद के जानकार हैं। ये सभी यज्ञ मन और इन्द्रियों की अन्तःक्रिया से सिद्ध होनेवाले हैं, भौतिक

द्रव्यों का इसमें कोई उपयोग नहीं है। इस प्रकार कृष्ण आराधना को ही कर्म मानते हैं।

कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! कर्म क्या है, अकर्म क्या है, विकर्म क्या है? इसमें बड़े-बड़े बुद्धिमान भी भ्रमित रहते हैं, इसलिए कर्म के उस तत्त्व को मैं तेरे लिए कहूँगा, जिसे जानकर तू संसार-बन्धन से सर्वथा छूट जायगा- (गीता ४।१६)। कर्म ऐसी प्रक्रिया है जो संसार-बन्धन से छुड़ाती है। कर्म, अकर्म और विकर्म तीनों के स्वरूप को जानना चाहिए। कर्म की गति गहन है। कर्म में अकर्म देखना चाहिए अर्थात् आराधना तो करे किन्तु यह न सोचे कि मैं आराधना करता हूँ। कराने वाली सत्ता तो कोई और है। बैल हल नहीं जोतते यद्यपि सम्पूर्ण हल का भार बैलों के कन्धे पर ही रहता है। हल तो वह हलवाहा जोतता है जो बैल के पीछे रहकर दिशा-निर्देशन करता रहता है, अन्यथा बैल क्या जाने कि किधर जोतना है। उसी प्रकार सम्पूर्ण साधना साधक को ही करनी पड़ती है लेकिन उसके द्वारा जो पार लग जाता है, वह उसी प्रेरक की देन है; संचालक की देन है। भजन तो स्वयं हरि करते हैं। साधक तो मात्र यन्त्र है। वह जिधर संकेत करें, उधर लुढ़कता भर रहे; यही भजन है। इस प्रकार कर्म में अकर्म देखने की क्षमता आ गयी उसी को तू कर्म जान। कर्म में अकर्म देखे और अकर्म को (इष्ट के आदेशों को ही) कर्म जानें। इस प्रकार जो करता है वही मनुष्यों में बुद्धिमान है और वही सम्पूर्ण कर्मों का करनेवाला है। केवल इष्ट के आदेशों पर चलने वाला व्यक्ति ही सम्पूर्ण कर्म करता है, जिससे किंचित् मात्र भी भूल होने की सम्भावना नहीं रहती। कर्म एवं अकर्म के ऊपर विकर्म की स्थिति है। विकर्म अर्थात् विशेष कर्म, जो प्राप्तिवाले महापुरुषों द्वारा लोकहितार्थ होता है। 'वि' उपसर्ग यहाँ पर विशिष्टता का द्योतक है, जैसे- जितेन्द्रिय में 'वि' उपसर्ग लगाने से विजितेन्द्रिय शब्द सृजित होता है, जिसका अर्थ है विशेष रूप से जीती

हुई इन्द्रियाँ। इसी प्रकार विकर्म अर्थात् विशेष कर्म। प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों द्वारा किया गयां विशिष्ट कर्म ही विकर्म है।

प्रश्न उठता है कि साधक सदैव कर्म करता ही रहेगा या कभी उससे छुटकारा भी मिलेगा? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। ।।४।१९।।

सम्पूर्णता से आरम्भ की हुई क्रिया, जिसमें लेशमात्र भी त्रुटि न हो, क्रमशः उत्थान होते-होते इतनी सूक्ष्म हो गयी, जहाँ काम और संकल्प नहीं हैं (काम और संकल्पों का निरोध होना मन की विजेतावस्था है) मन का प्रसार ही तो जगत् था। जब मन का निरोध हो गया तो वह अव्यक्त, शाश्वत, परमतत्त्व प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ज्ञान है। "ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माणं" - उस जानकारी के साथ ही कर्म सदा के लिए जल जाते हैं। ऐसी स्थिति वालों को बोधस्वरूप महापुरुषों ने पण्डित एवं ज्ञाता कहकर सम्बोधित किया है। सिद्ध है कि कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो मन को कामनाओं और संकल्पों से ऊपर उठा देती है। सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति में कामनाएँ बढ़ती जाती हैं। अतः वास्तविक कर्म आराधना ही है जिसमें साक्षात् जानकारी के पश्चात् कुछ पाना शेष नहीं रहता। इसलिए कामनाएँ भी नहीं रह जातीं।

अध्याय सोलह में श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! संसार में मनुष्य दो प्रकार का होता है। एक देवताओं- जैसा; दूसरा असुरों - जैसा? किस प्रकार? श्रीकृष्ण कहते हैं, अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं - दैवी सम्पद् एवं आसुरी सम्पद्। आसुरी सम्पद् अधोगति एवं नीच योनियों में फेंकने के लिए है, जबकि दैवी सम्पद् परम कल्याण के लिए है। इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, एकाग्रता, सरलता, सही जानकारी, धारावाही चिन्तन, ध्यान,

समाधि इस प्रकार दैवी सम्पद् के चौबीस लक्षण गिनाये जो सबके सब तो प्राप्ति के लिए समीप वाले महापुरुषों में सम्भव है; आंशिक रूप से हममें आप में भी हो सकते हैं। अर्जुन तू दैवी सम्पद् को प्राप्त हुआ है। शोक मत कर! तू मुझमें निवास करेगा। तदनन्तर, श्रीकृष्ण आसुरी सम्पद् का सविस्तार वर्णन करते हैं। काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर इत्यादि आसुरी सम्पद् हैं। आसुरी सम्पद् को प्राप्त पुरुष सोचता है कि मेरे पास इतनी सम्पत्ति है, भविष्य में इतनी और होगी। मैं ही ईश्वर एवं ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ। ईश्वर नाम की और कोई सत्ता नहीं है। स्त्री-पुरुष के संयोग से जो कुछ उत्पन्न है, यही सत्य है। मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान करूँगा। मेरे द्वारा वह शत्रु मारा गया, भविष्य में मैं उसे मारूँगा। अर्जुन! ऐसा सोचने वाला दूसरों के भी शरीर में स्थित मुझ परमात्मा को ही कृश करने वाला है। वे शत्रुओं को नहीं मारते बल्कि मुझ परमात्मा से द्वेष करते हैं। अर्जुन! ऐसे मनुष्यों को मैं नीच योनियों में ही बार-बार गिराता हूँ। वे मेरे को प्राप्त न होकर जो उन्हें प्राप्त है, उससे भी नीच योनि को प्राप्त होते हैं। तो क्या अर्जुन ने युद्ध किया? यदि वह प्रण करके किसी को मारता, सांसारिक कार्यों में अनुरक्त रहता तो कृष्ण में निवास कभी नहीं करता। कर्म तो संसार-बन्धन से छुड़ाता है। नीच योनियों में नहीं गिराता।

दैवी सम्पद् तो परमदेव परमात्मा को लक्ष्य बनाकर गठित होती है किन्तु आसुरी सम्पत्ति का आधार क्या है? कृष्ण कहते हैं- "अर्जुन! काम, क्रोध तथा लोभ ही नरक के तीन द्वार हैं। इन्हीं पर आसुरी सम्पत्ति टिकी है। इन तीनों के त्याग देने पर ही कर्म का आरम्भ होता है जिससे परम गति, परम कल्याण की प्राप्ति होती है (गीता १६।२२)। कर्म वह प्रक्रिया है; काम- क्रोध-लोभ त्यागने पर ही जिसमें प्रवेश मिलता है।

प्रश्न- महाराज जी ! जब काम, क्रोध, लोभ को त्यागने पर ही कर्म का आरम्भ होता है तब तो साधारण मनुष्यों के लिए कर्म का विधान नहीं होना चाहिए। क्योंकि आरम्भमें वे हमसे छूटते नहीं। केवल मान लेने से त्याग तो नहीं हो जाता?

उत्तर- हाँ! प्रारम्भ में छूटते तो नहीं किन्तु यही तो युद्ध है। इसी के लिए तो साधन किया जाता है। संसार इसी में अनुरक्त है और आप उसी को छोड़ना चाहते हैं, यही क्या कम है? ज्यों-ज्यों ये विकार अन्दर से घटते जाएंगे, त्यों-ही-त्यों कर्म में प्रवेश मिलता जायेगा। विचारणीय तो यह है कि दुनिया में जो कुछ किया जाता है, जगत् जिसमें मोहित है, रात-दिन व्यस्त है, क्या कर्म है? उसमें जो जितनी सफलता पाता है, काम-क्रोध और लोभ उसके भीतर उतने ही सजे सजाये मिलते हैं, अधिक मात्रा में मिलते हैं। यहाँ कृष्ण कहते हैं कि इन तीनों के त्याग देने पर ही उस कर्म का आरम्भ होता है। स्पष्ट है कि सांसारिक क्रिया-कलाप कर्म नहीं हैं। कृष्ण जिसे कर्म मानते हैं एकमात्र आराधना ही है। त्याग के बिना उसका आरम्भ ही नहीं होता।

प्रश्न- महाराज जी! घर त्याग देने से क्या कर्म आरम्भ हो जाता है? क्या काम, क्रोध, लोभ छूट जाता है?

उत्तर- छूटते तो नहीं; किन्तु प्रबल विरह-वैराग्य होने पर भगवान के लिए गृह त्याग से इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण करने वाली प्रवृत्ति तो शान्त होती ही है। प्रत्येक विषय की दो सीमायें होती हैं। एक तो निम्नतम सीमा; जहाँ से आप उसमें प्रवेश करते हैं और दूसरी अधिकतम सीमा होती है, जिसे पराकाष्ठा कहते हैं। उदाहरण के लिए भक्ति की निम्नतम सीमा वह है, जहाँ से समर्पण के साथ आप भजन आरम्भ करते हैं, किन्तु अधिकतम

सीमा तो वह है जहाँ "भग इति स: भक्ति" जहाँ प्रकृति की इति है। प्रकृति से परे पुरुषत्व में स्थिति दिला देने वाली अवस्था भक्ति की चरम सीमा है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु की दो सीमायें होती हैं। इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करना बन्द करके कर्म अर्थात् आराधना में प्रवृत्त होना, काम-क्रोध-लोभ के त्याग की प्रवेशिका है और ज्यों-ज्यों मन निरुद्ध होता जायगा त्यों-त्यो विकारों का भी निरोध होता जायगा और अन्तत: वे सर्वथा मिट जायँगे। कर्म में आपको प्रवेश मिल जायगा। अत: कर्म कोई ऐसी वस्तु है जिसमें काम, क्रोध और लोभ त्यागने पर ही प्रवेश मिलता है।

सातवें अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! जो मेरी शरण होकर जन्म और मरण से छूटने के लिए प्रयत्न करते हैं वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को तथा सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं। तब अर्जुन ने प्रश्न किया- "भगवन्! वह ब्रह्म क्या है? सम्पूर्ण अध्यात्म क्या है? कर्म कब संपूर्ण होता है?" इत्यादि सात प्रश्न अर्जुन ने किया। भगवान् श्रीकृष्ण ने एक ही उत्तर दिया--

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।।

अक्षर-- जिसका कभी नाश नहीं होता, वही परब्रह्म है जिसे प्राप्त कर लेने पर भक्त का कभी क्षय नहीं होता। लोभ के भाव,पुत्र के भाव इत्यादि संसार के भाव सिमटकर 'स्व' में स्थिर हों, यही अध्यात्म की पराकाष्ठा है। 'अधि आत्म' अर्थात् आत्मा का आधिपत्य। जीवों पर माया का आधिपत्य है; उससे छूटकर आत्मा का आधिपत्य, आत्मा की स्थिति आ जाय इसी का नाम अध्यात्म है। "स्वभावो अध्यात्मम् उच्यते" स्वरूप में स्थिर भाव ही अध्यात्म है। "भूत भावोद्भवकरो विसर्ग: कर्मसंज्ञित:" भूतों के वे भाव

जिनसे कुछ न कुछ संरचना होती है, उन पर विसर्ग लग जाना, सर्वथा निरोध हो जाना ही कर्म की पराकाष्ठा है। भूत प्राणियों को कहते हैं। इन प्राणियों की उत्पत्ति संकल्प पर आधारित है- "मन में यथा लीन नाना तन प्रकट सो अवसर पाये।" अत: भूत का तात्पर्य संकल्प है। संकल्पों में उत्पन्न वे भाव, जिनके द्वारा शुभ अथवा अशुभ कुछ न कुछ संरचना होती रहती है, जो संसार है, उनका विसर्ग-सर्वथा निरोध हो ज़ाना, विराम- रोक लग जाना ही कर्म की संज्ञा है, पूर्णता है। इसके उपरान्त कर्म करने की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती। कर्म वह वस्तु है जो संकल्पों पर विसर्ग लगा देता है। दूसरे शब्दों में, कर्म का तात्पर्य आराधना ही है।

इस प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में सम्पूर्ण गीता में कर्म पर भरपूर प्रकाश डाला गया है और सब मिलाकर उसका शुद्ध अर्थ है- 'आराधना' जो शाश्वत तत्त्व परमात्मा की उपलब्धि कराती है। यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। निर्धारित कर्म को ही कर, नहीं तो शरीर-यात्रा सिद्ध नहीं होगी। कर्म करके तू संसार-बन्धन से छूट जायेगा। यज्ञ की प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्यत्र जो कुछ किया जाता है , इसी लोक का एक बन्धन है। यह श्वास-प्रश्वास का चिन्तन है। इन्द्रियों का संयम यज्ञ है। कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो काम और संकल्पों से ऊपर उठा देता है। काम-क्रोध-लोभ त्यागने पर ही कर्म का आरम्भ होता है। भूतों के वे भाव जिनसे कुछ न कुछ संरचना होती है उनका निरोध हो जाना ही कर्म की पराकाष्ठा है। अत: योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में कर्म का शुद्ध अर्थ आराधना ही है; इसमें दो राय नहीं है। जिससे वे आराध्य देव संतुष्ट होते हैं, उस प्रक्रिया विशेष का नाम कर्म है।

गीता पर सैकड़ों टीकाएँ मिलती हैं, पचासों टीकाएँ तो अकेले संस्कृत में ही हैं। पचीसों मत, जिनकी आधारशीला गीता है, एक दूसरे के कट्टर विरोधी हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने तो कोई एक बात ही कही होगी, फिर इतनी

वैभिन्नता क्यों? राजनीतिज्ञ व्यक्ति के हाथ में गीता पड़ी तो बोले-- देशभक्ति ही कर्म है। व्यवसायी कहते हैं-- गीता में लिखा है 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' व्यवसाय ही कर्म है। कपड़ा बेचो, कुछ धरम-करम कर लो, सबेरे शंकरजी पर जल चढ़ा दो,हो गया कर्म। नौकरी वाले कहते हैं-- हम तो अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, पूरी ड्यूटी देते हैं, यही निष्काम कर्म है। एक नायब तहसीलदार साहब कहते थे-- बड़े साहब जो भी कहते हैं, उसी के अनुसार मैं कर्म करता हूँ। गीता मैंने अपने जीवन में ढाल ली। हमारी कोई कामना नहीं है। हम निष्काम कर्म योगी हैं। वाह रे योगी! अतः अब आप किसी भी टीका पर न जायँ। योगेश्वर की मूल वाणी ग्रहण करें तो कोई सन्देह नहीं होगा।

प्रत्यक्ष दर्शन वाले अनेक महापुरुष पढ़े-लिखे नहीं थे। रामकृष्ण परमहंस पढ़े-लिखे नहीं थे। हमारे महाराज भी एकदम नहीं पढ़े थे। राम लिखना भी उन्हें ठीक से नहीं आता था। देख-रेख करके येन-केन प्रकारेण राम की लकीर खींच लेते थे। जड़ भरत पढ़े-लिखे नहीं थे। कागभुशुण्डि पढ़े-लिखे नहीं थे- 'हारेउ पिता पढ़ाई पढ़ाई।' पिता हताश हो गये परन्तु वे नहीं पढ़े। ठीक इसी प्रकार बहुत से महापुरुष ऐसे मिलेंगे जो पार्थिव शिक्षा-दीक्षा में शून्य थे लेकिन अपने युग के सर्वश्रेष्ठ विद्वान थे। कागभुशुण्डि आश्रम में भगवान शंकर भी जाया करते थे। अतः यदि आप पढ़े-लिखे हैं तो ठीक है अन्यथा कोई क्षति भी नहीं है। क्योंकि इष्ट से समत्व दिलानेवाली क्रिया जिसका नाम कर्म अथवा आराधना है, विरह-वैराग्य से सीखने में आती है। लौकिक शिक्षा बुद्धि का प्रसार करती है। जबकि इष्ट-सम्बन्धी कर्म के लिए बुद्धि-मन का निरोध होना आवश्यक है। अतः किसी अनुभवी पुरुष की शरण में रहकर साधना करनी चाहिए। कहने में कुछ और आता है, लिखने में कुछ और आता है किन्तु क्रियात्मक आचरण से उन महापुरुषों

द्वारा, आत्मा की अन्तस्प्रेरणा से; साधन क्रम जागृत हो जाता है, वह और विलक्षण है। आरम्भ हो जाने के पश्चात् फिर वह कभी भी पिण्ड नहीं छोड़ता, कभी नष्ट नहीं होता। ध्रुव-कल्याण करता है। योग में आरम्भ का भी नाश नहीं है। थोड़ा भी साधना करें, आरम्भ तो करें।

ॐ

गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था

प्रश्न-महाराज जी ! गीता में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप क्या है?

उत्तर- गीता में जैसी वर्ण-व्यवस्था पायी गई है उसे समझने के लिए गीतोक्त कर्म को समझ लेना आवश्यक है। गीता के अनुसार आराधना ही कर्म है। यज्ञ और कर्म एक दूसरे के पूरक हैं। आराध्य को प्राप्त करा देनेवाला रास्ता ही यज्ञ है जिसमें चिद्विलास जगत् ही हवन सामग्री है। इस यज्ञ की अन्तिम आहुति में संचित और प्रारब्ध को, वृत्तियों सहित चित्त के अस्तित्व को प्रकृति के प्रवाह रूप तीन गुणों को समाहित कर बुद्धि भी यज्ञ रूप हो जाती है। तत्क्षण यज्ञ के परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाला परमात्मा असंभव से संभव हो जाता है।

यज्ञ को क्रिया रूप में लाना कर्म कहलाता है। दूसरे शब्दों में, यज्ञ के आचरण को कर्म कहते हैं--

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।।

वस्तुतः यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। इसके अतिरिक्त जो किया जाता है, जिसमें सारा संसार मरता-जीता और मोहित रहता है, कर्म नहीं है। वह तो इसी लोक का बन्धन है, जीवों के बन्धन का कारण है। गीता जिसे कर्म कहती है वह तो अमरत्व की उपलब्धि कराने वाला है। गीता में यत्र-तत्र सर्वत्र कर्म के इसी पक्ष पर बल दिया गया है। क्योंकि यही कर्म पूर्ण कल्याण करनेवाला है। परमपद और परमधाम इसी कर्म के पूर्ति में है। गीतोक्त कर्म आराधना अथवा भजन का पर्याय मात्र है। सुगमता की दृष्टि से इसी कर्म को चार क्रमिक सोपानों में विभाजित किया गया जिसे श्रीकृष्ण ने वर्ण के

नाम से पुकारा। 'वर्ण' नामकरण में भी बहुत बड़ा रहस्य छिपा है। वर्ण का शाब्दिक अर्थ रूप,रंग, आकृति होता है। अध्ययनकर्त्ता जिस श्रेणी का होता है उसका हाव-भाव, उसकी आकृति उसी स्तर के अनुरूप होती है। उदाहरणार्थ, प्राथमिक कक्षा का छात्र सैकड़ों उलझनों की अनुभूति में डूबता उतराता रहता है। यह मानसिक उथल-पुथल उसे एक प्रकार की आकृति प्रदान करती है। इसके विपरीत 'डाक्ट्रेट' इत्यादि उपाधियों से अलंकृत, पारंगत विद्वान अपने को पूर्ण अधिकार में देखेगा। उसके विचारों का वेग कुछ और ही होगा। अपने विषय पर उसका स्वामीभाव रहेगा। प्राथमिक छात्र की अपेक्षा उसकी उमंग कुछ और होगी, वर्ण या चेहरे की रंगत में आकाश-पाताल का अन्तर होगा। उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट योनियों की प्रगति भी मानसिक स्तर से निर्धारित होती है। मृत्यु के समय मन उच्च विचारों से ओत-प्रोत रहने से उच्च योनियाँ प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार संकीर्ण विचारों से क्षुद्र योनियों में जन्म लेना पड़ता है। अतः मनःस्थिति ही आकृति का निर्धारक है। और स्पष्ट कहा जाय तो मन की स्थिति ही आकृति है।

श्रीकृष्ण ने गुणों के भेद से कर्मों को चार वर्णों में विभक्त किया। दैनिक जीवन में देखा जाता है कि मनुष्य भजन करने बैठते हैं लेकिन मन नहीं लगता। विचारों का ज्वार आ जाता है। जो बात याद नहीं थी, भजन के ही समय याद आती है। भजन में बाधक कौन बनता है? इसमें मौलिक अवरोध कहाँ से है? चिंतन से ज्ञात होता है कि तीनों गुण ही इस कर्म (भजन) में रुकावट हैं। इस तीनों गुणों के माध्यम से ही कर्म (आराधना) का उत्थान और पतन होता है। गुणों से कर्म को देखा और मापा जाता है। गुण ही वर्ण परिवर्तन की जाँच का पैमाना है। मन की केन्द्रित अथवा विछिन्न अवस्था गुणों के कारण ही होती है। परंतु कर्म (भजन) एक ऐसा यंत्र है जो गुणों के संपूर्ण कार्य को उठाता-गिराता है और गुण को जड़ से उखाड़ भी देता

है। कर्म के प्रभाव से गुण प्रभावित होते हैं।

श्रीकृष्ण का कथन है कि "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं"- चार वर्णों की रचना मैंने की है। मनुष्य को नहीं, बल्कि कर्म को चार भागों में बाँटा है। किस आधार पर? कृष्ण कहते हैं "गुण कर्म विभागशः"- गुणों के उतार-चढ़ाव से कर्म को वर्णों में (श्रेणियों) में बाँटा गया है। अतः मनुष्य ब्राह्मण-क्षत्रिय नहीं है बल्कि भजन ही ब्राह्मण है, भजन ही क्षत्रिय है, भजन ही वैश्य है, और शूद्र भी है। यह विभाजन गुणों पर आधारित है। तीनों गुण अलग-अलग प्रभाव वाले हैं। मन इनके रहने का स्थान है। गुण तीन हैं, किन्तु वर्ण चार हैं क्योंकि एक गुण जितनी मात्रा में हटता है दूसरा गुण उतना ही मात्रा में उसका स्थान ग्रहण करता है। तीनों गुणों में से प्रत्येक का स्वभाव है कि बढ़ने पर वह शेष दो गुणों को दबा देता है। अतः समान अनुपात में दो गुणों के मिश्रण से एक अधिक वर्ण का सृजन स्वाभाविक है। व्यवहार में, जिस व्यक्ति में केवल सात्त्विक गुण है उसे ब्राह्मण, आधा सात्त्विक और आधा राजसी गुण वाले को क्षत्रिय, आधे राजसी और आधे तामसी को वैश्य तथा मात्र तामसी गुण वाले को शूद्र कहा जाता है।

ब्राह्मण- जिस पर सात्त्विक गुण का प्रभाव है, जो ब्राह्मण है उसका मन स्वभावतः शान्त होगा। अन्तःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाह्यांतर की शुद्धता, क्षमा, तप, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, ईश्वरीय जानकारी की मस्ती इत्यादि उसमें स्वभाव से ही रहेगा। जिसके अंतःकरण में सात्त्विक गुण मात्र है, जिनमें राजसी एवं तामसी गुण कार्यरत नहीं है उस पुरुष में सात्त्विक गुणों के कार्य--ज्ञान, विज्ञान, ध्यान इत्यादि ब्रह्म-लक्षण स्वाभाविक रहेंगे। ब्राह्मण अथवा उच्चकोटि के साधक के लिए भी यही करना विधेय है। ऐसा करने में ही उसका कल्याण है।

क्षत्रिय- जिसके अंतःकरण में तामसी गुणों का पूर्णतः अभाव है, राजसी गुण भी आधा शान्त हो चुका है परन्तु सात्त्विक गुण पूरा नहीं मिला ऐसा; अति उत्तम तो नहीं; उत्तम साधक क्षत्रिय वर्ण का है। ऐसा साधक शूरवीर होता है, माया की चपत से कायर नहीं होता है। आसुरी वृत्तियों से युद्ध करने में कभी पलायन नहीं करता। उसमें ईश्वर भाव अर्थात् स्वामी भाव बना रहता है क्योंकि भजन की बाधाओं पर विजय प्राप्त करने में उसे दृढ़ विश्वास रहता है। आत्म-प्रकाश का तेज, धैर्य, दक्षता, दान इत्यादि क्षत्रित्व के लक्षण हैं। राजसी और सात्त्विक गुण का आधा-आधा मिश्रण जब कार्यरत होता है तब यह लक्षण स्वतः बन जाता है। इन गुणों के सम्मिश्रण के बिना बलात् कोई क्षत्रिय नहीं बन सकता क्योंकि इन लक्षणों की जड़ तो स्वभाव है, जो गुणों से निर्धारित होता है। इसीलिए कृष्ण "क्षात्रं कर्म स्वभावजम्" कहते हैं, अर्थात् उपर्युक्त लक्षण स्वभावस्थ हैं, आदत का अंग बन चुके हैं। इसलिए क्षत्रिय के कर्म को भी स्वभाव ने जन्म दिया।

वैश्य- जिसके अन्तःकरण में आधा तामसी और आधा राजसी गुण होता है वह वैश्य है। ऐसे व्यक्ति के भजन पथ से आधा तमस् हट चुका है, अर्धरजस् से पथ आलोकित है। अतः कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ऐसे साधक के लिए स्वाभाविक कर्म हैं, "राम नाम धन खेती" आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर संपत्ति है। इसी का उपार्जन करना ही खेती है। 'गो' इन्द्रियों को कहते हैं। अतः गोरक्षा का तात्पर्य इन्द्रियों की रक्षा है। काम-क्रोध-लोभ - मोह आदि विषयों में इन्द्रियों का विचरना ही उनका नष्ट होना है। ज्ञान-विज्ञान, विवेक-वैराग्य से उनकी रक्षा होती है। आत्मिक शक्ति का अपव्यय नहीं होने पाता। आत्मिक संपत्ति को विषयों में न खोकर उनका संग्रह करना ही धन कमाना है। माया इस संग्रह में बाधक है। वह इस आत्मिक संपत्ति को क्षीण करती रहती है। घाटा दिलाती रहती है। इसलिये भजन भी एक

प्रकार का व्यवसाय है जिससे आत्मिक संपत्ति का संवर्द्धन करना वैश्य का स्वभाव माना गया है। आत्मिक संपत्ति को अपने में ढालना ही पूँजी का संग्रह है। यही सत्य व्यापार है जो निज धन की प्राप्ति कराने वाला है। ऐसे पुरुष का मन साधना में लगने लगता है।

शूद्र- भजन की सबसे क्षुद्र सोपान शूद्र है जो उन व्यक्तियों में पाया जाता है जिनके अन्तःकरण में तामसी गुण कार्यरत रहते हैं, राजसी गुण की क्षीण रेखा ही रहती है। व्यक्ति के मन में प्रमाद और आलस्य विशेष होगा। प्रयत्न करने पर भी उसका मन स्थिर नहीं रह सकेगा। सत्य वस्तु को समझने की क्षमता भी उसमें नहीं होगी। उसका मन तमस् से पूर्णतः आच्छादित होने के कारण अपने लक्ष्य को नहीं देख पाता। आराधना में मन लगता ही नहीं। कर्म के क्षेत्र में उसका स्थान तुच्छ होता है। अतः शूद्र स्वभाव वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने निजी उत्थान के लिए महापुरुषों की सेवा करे--

"परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।"

जो महापुरुष अपने से बहुत ऊपर उठ चुके हैं, उनको पकड़ें। उनके शरण होकर तन-मन-वचन से सेवा करने का विधान है। सेवा-धर्म परम गहन है। सेवक किसी भी सेवा को तुच्छ नहीं समझता। वह कभी यह तर्क नहीं करता कि विस्तर-झाड़ू क्यों लगाऊँ? या टट्टी क्यों साफ करूँ? वस्तुतः जो महापुरुष पवित्र हो चुके हैं उनके सान्निध्य से ही शूद्र स्तर के साधक का मल दूर हो सकेगा। इसी सेवा में ही उसे आगेवाली श्रेणी प्राप्त हो सकेगी, वह वैश्य-गुणधर्म को पकड़ सकेगा। उसमें जो योग्यता नहीं थी वह भी आ जायेगी।

इस प्रकार गुणों के उतार-चढ़ाव से कर्म के चार विभाजन किये गये।

जिसे ब्रह्म का निकटवर्ती अनुभव है, प्रवेश करना ही शेष है, जिसके पश्चात् कर्म की आवश्यकता ही नहीं रहती, ऐसे सत्त्वगुण से संचालित, ज्ञान, विज्ञान, ध्यान और समाधि की अवस्था जिसमें स्वभाव से है वह ब्राह्मण है। 'त्री' तीन को तथा 'क्ष' काटने को कहते हैं। तीनों गुणों को काटने की जिसमें क्षमता है वह क्षत्रिय है। भजन के विघ्नों का सामना करने में शूरवीरता, आत्मतेज, स्वामीभाव इत्यादि कर्म उसमें स्वभाव से ही होते हैं, जो ब्राह्मणत्व प्राप्ति के कारण हैं। भजन में मन का कुछ-कुछ लगना, सद्गुणों का एक-एक करके हृदय में लाना, इन्द्रियों की विषयोन्मुखी प्रवाह को रोकना वैश्य का सहज कर्म है जो क्षत्रियत्व की ओर ले जाने वाला है। इस प्रकार जिस साधक से कुछ भी पार न लगता हो, निद्रा-प्रमाद और आलस्य की अधिकता से भजन न बन पड़ता हो ऐसे शूद्र के लिए कर्म (भजन) का प्रथम चरण सेवा है। उस सेवा के प्रभाव से वह वैश्यत्व की ओर अग्रसर हो सकेगा।

चराचर जगत् ही तीनों गुणों का विकार है। देवता, मनुष्य, राक्षस सभी लोग इन तीन गुणों के अन्तर्गत ही आते हैं। (गीता-१८।४०)। इससे सिद्ध है कि देश-विदेश के सभी लोग इन वर्णों के अन्तर्गत हैं। वे लोग भ्रम में हैं जो कहते हैं कि वर्ण केवल हिन्दुस्तान में है। वस्तुतः हिन्दू, मुसलिम, सिख, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन, यहूदी अथवा विश्व का कोई भी प्राणी जब परमात्म स्वरूप की ओर बढ़ेगा तब गीता के अनुसार चार वर्णों में से उसे गुणों के अनुरूप किसी न किसी वर्ण में आना ही पड़ेगा। चाहे आप हिन्दू ही क्यों न हों, भजन में प्रवेश शूद्र स्तर से ही होगा।

भगवत् पथ (कर्म) में वेषधारी ठग बहुत से हैं। योग्यता में तो वे शूद्र हैं। तमोगुण के बाहुल्य से उनका मन तो हवा से बातें करता है किन्तु स्वांग ऐसा भरते हैं जैसे तपोधन हों। ऐसे वंचक कर्म के क्षेत्र में कुछ भी नहीं कर पाते। कृष्ण कहते हैं कि स्वभाव से प्राप्त स्थिति को छोड़कर जो

ऊँची श्रेणी की नकल करता है वह वस्तुतः अपनी हानि ही करता है--

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।"

क्रमशः चलकर तो बड़ी से बड़ी योग्यता प्राप्त की जा सकती है किंतु प्राथमिक कक्षा का छात्र यदि उच्च कक्षा में बैठ जाय तो उच्च कक्षा का ज्ञान तो दूर रहा, प्राथमिक कक्षा की योग्यता से भी वह वंचित रह जाता है। लौकिक दृष्टान्त से इस प्रकार भी समझा जा सकता है। शूद्र जिसे अभी 'प्राइमरी' में भी पढ़ना शेष है यदि मैट्रिक या इंटर की कक्षाओं में बैठने लगे तो उसे प्राइमरी का भी ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार वैश्य जिसे मिडिल या मैट्रिक तक पढ़ने का अधिकार है, बी.ए. की कक्षाओं में बैठे तो उसे मैट्रिक की योग्यता भी नहीं मिलती। इसी प्रकार बी.ए. की कक्षाओं में पढ़ने का अधिकारी क्षत्रिय, एम.ए. अथवा शोध की कक्षाओं में बैठे तो वह बी.ए. की भी योग्यता से शून्य हो चलेगा। यह तो एक दृष्टान्त मात्र है। वस्तुतः एक के पश्चात् एक कक्षा को पार करने पर ही जिस प्रकार पारंगत विद्वान बना जाता है उसी प्रकार एक के पश्चात् दूसरे वर्ण को पार करने पर ही निज लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है।

गीता का अकाट्य निर्णय है कि स्वभाव से प्राप्त अपने कर्म (भजन) द्वारा परमेश्वर की अर्चना करके मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। अपने धर्म का आचरण करते हुए अर्थात् गुण के अनुरूप कर्म करते हुए मरना भी कल्याणकर है जबकि दूसरों का धर्म भयावह है। दूसरों की नकल करनेवाला समूल विनष्ट हो जाता है। नकल करने के प्रयास में उसकी अर्जित क्षमता भी समाप्त हो जाती है। अतः गीता के अनुसार "कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।। (१८।४१)।। स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के अनुसार कर्म विभक्त किया गया है। स्पष्ट है कि विभाजन कर्मों का हुआ है, मनुष्य

का नहीं। अत: जिन लोगों का विचार है कि मनुष्यों का वर्ण जन्म से निर्धारित हो जाता है अथवा जिस वर्ण का बनना था बन गये, अब तो जीवन भर उसी वर्ण में रहकर भगवान की वाणी का पालन करना है, ऐसा सोचने वाले भ्रान्ति में हैं। ऐसा प्रचार करनेवाले श्रीकृष्ण के उपदेशों से वस्तुत: दूर खड़े हुए हैं। कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि "कर्माणि प्रविभक्तानि" - कर्म को बाँटा गया है। भगवान कृष्ण ने तो कृपा करके आराधना पथ को चार सोपानों में विभक्त किया जिससे कमजोर से कमजोर मनवाला मानव भी क्रमश: चलकर भगवान तक पहुँच सकता है। वहाँ तक पहुँचाने वाली क्रिया के विभिन्न सोपानों को पार करके आत्मा राक्षस से देवता और देवता से भी आगे प्रभु से मिलकर स्वयं प्रभु बन जाती है। कृष्ण कहते हैं कि अनेक जन्मों से चलकर साधक मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यह कर्म (आराधना) उच्च से उच्च योनियों में जन्म देता है, स्वरूप बनाता है। इसलिए इसका वर्ण नामकरण यथार्थ एवं सार्थक है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने अतिशय प्रिय भक्त अर्जुन को आराधना पथ के विभिन्न वर्णों को पार करने का परम गुह्यतम किन्तु सबसे सुगम उपाय गीता के उपसंहार के समय बताया है। उन्होंने कहा कि कर्म करने वाला स्वयं इस चक्कर में न पड़े कि मैं किस वर्ण में हूँ। वह अपनी परीक्षा में समय को व्यर्थ न गँवाये। इसलिए अर्जुन! तू किसी वर्ण-धर्म का विचार न करके मेरी शरण में हो जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। यह उल्लेखनीय है कि योगेश्वर, परमात्मा परमतत्त्व,परमपुरुष, सद्गुरु साधन-काल में एक दूसरे के पर्याय के रूप मे कार्य करते हैं। साधक को अपने वर्ण की चिंता छोड़कर उनकी शरण में ही जाना चाहिए। कृष्ण कहते हैः- "चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।। (१८।५७)।।" चित्त से सभी कर्मों को मुझ पर छोड़कर मेरे परायण हो जा। ऐसा करने से वर्ण मिटेंगे

नहीं बल्कि शरण में होने पर वर्णों से पार करने की जिम्मेदारी भगवान पर हो जाती है। वर्णों को तो पार करना ही होगा किन्तु स्वामी पर जिम्मेदारी सौंपकर सेवक निश्चिन्त हो जाता है। जब वर्ण भगवान द्वारा सृजित हैं तो उनके अनुरूप साधक में गुणों का समावेश कराना भगवान या सद्गुरु के लिए नितान्त सरल है। इसीलिये कृष्ण स्पष्ट कह देते हैं-

तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।(१८।६२)

अर्जुन! तू सब प्रकार से उन्हीं परमेश्वर की शरण में जा। उन्हीं की कृपा से ही तू परमशान्ति एवं शाश्वत स्थान को प्राप्त कर सकेगा। किसी महापुरुष की शरण में रहकर वर्णों को पार करना सुगम है।

गीतोक्त वर्ण व्यवस्था के इस विवेचन से कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं-

१-भगवत्प्राप्ति के उपायों का नाम यज्ञ है और उस यथार्थ क्रिया का नाम कर्म है। यज्ञ जिस प्रकार किया जाता है वह कर्म है।

"कर्माणि प्रविभक्तानि" कर्म को चार वर्णों में बांटा गया है, न कि मनुष्यों को। गीतोक्त कर्म का अर्थ आराधना है। इसी आराधना के चार सोपान हैं। एक बार जागृत हो जाने पर यह कर्म तभी पीछा छोड़ता है जब इन चारों वर्णों से गुजर जायँ।

२-जो भगवत्पथ पर नहीं चलता वह किसी भी वर्ण का नहीं है। न तो वह ब्राह्मण है, न क्षत्रिय; न तो वैश्य है, न शूद्र। वर्ण उसके लिए है जो कर्म करता है, आराधना करता है। परमात्मा की प्राप्ति के अतिरिक्त सांसारिक कार्यों में संलग्न लोग न तो किसी वर्ण की क्रिया करते हैं और न तो गीतोक्त किसी वर्ण के अन्तर्गत आते हैं। यदि आस्तिक हैं तो प्रत्याशी अवश्य हैं। जो इच्छा करता है वही तो पाता है, जो नहीं करता वह कभी नहीं पाता, मात्र हताशा हाथ लगती है।

३-गीतोक्त वर्ण व्यवस्था मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है। जबकि हिन्दुओं में प्रचलित वर्ण व्यवस्था भौतिक शरीर का सामाजिक विभाजन मात्र है। समाज में प्रचलित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण शरीर के हैं। इनकी इतनी ही सीमा है। इन वर्णों से शरीर का निर्वाह होता है और जीवन यापन की दृष्टि से यह विभाजन अपने स्थान पर उचित भी है। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारकों में से परिवर्तन होने से वर्ण-व्यवस्था में उलट-फेर होता रहा। प्रारंभ में जातियों एवं वर्णों की कोई रूपरेखा नहीं थी। कालान्तर में समाज सुर और असुर इन दो वर्णों में बँट गया। फिर तो गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, बानर इत्यादि वर्ग बने और मिटे। जीविका के साधनों की उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता के आधार पर समाज अनन्त चक्रों में विभाजित होता गया और भविष्य में भी होता रहेगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा जो भी नाम दिया जाय, उदरपोषण को लेकर समाज में वर्ग बनते ही रहेंगे किन्तु वास्तविक कल्याण के लिए गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था ही यथार्थ है। मोह से पराधीन होकर मनुष्य स्वयं अपने को नष्ट करता है। वस्तुतः न तो कोई मुसलमान घातक है, न कोई अन्य धर्मावलम्बी आध्यात्मिक प्रगति में बाधक हो सकता है। कर्म ही व्यक्ति का उन्नायक है और उससे रहित होकर मनुष्य स्वयं ही अपने को नष्ट करता है, गीता का यह दृढ़ निश्चय है।

४-तीनों गुणों के द्वारा कर्म (भजन) को चार वर्णों में बाँटा गया और तीन के अन्तर्गत ही संपूर्ण संसार है। इससे भगवान ने स्पष्ट कर दिया कि सारा संसार चार वर्णों के अन्तर्गत है। यह उल्लेखनीय है कि योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अठारहवें अध्याय में वर्ण विभाग का वर्णन यही से प्रारंभ किया कि देवलोक, मृत्यु लोक, यावन्मात्र सर्व जगत् तीनों गुणों से ही उत्पन्न होकर उन्हीं से कार्य करते हैं। गुण ही ऊँचे-नीचे स्वभाव का कारण है और उसी स्वभाव से वर्ण बनते हैं। इस प्रकार संपूर्ण संसार वर्ण-धर्म से बाहर नहीं है। इस

बात पर पुनः बल देना समीचीन होगा कि संसार का अर्थ केवल भारत ही नहीं होता।

५- तीनों गुणों से स्वभाव बनता है, स्वभाव से ही वर्ण की योग्यता निर्धारित होती है। छोटे गुण से क्षुद्र स्वभाव बनता है जबकि बड़े गुण से ब्राह्मणत्व जैसा बड़ा स्वभाव बन जाता है। गीता के ही अनुसार किसी भी गुण को बढ़ाया जा सकता है। अध्याय चौदह के दसवें श्लोक के अनुसार कोई भी गुण शेष दो गुणों को दबाकर बढ़ाया जा सकता है, बढ़ता-घटता है। इस प्रकार यदि गुणों में परिवर्तन संभव है तो शूद्र से वैश्य, वैश्य से क्षत्रिय, क्षत्रिय से ब्राह्मण होना नितान्त सम्भव है। इसी का अनुसरण करके आज भी आप जगत् गुरु हैं।

६-अत्यंत चंचल मन वाले व्यक्ति भी साधना के सही दौर में पड़ने पर संकल्प-रहित समाधि की क्षमता वाले देखे गये। वाल्मीकि, सूरदास, तुलसीदास इत्यादि महापुरुषों के प्रारंभिक जीवन पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य उद्भासित होता है कि स्वभाव में परिवर्तन संभव है। उनके जीवन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के स्वभाव में पूरब और पश्चिम का अंतर पाया जाता है। काम-क्रोध, लोभ से चंचल उनका मन समाधि की क्षमता वाला तथा सरलता से युक्त पाया गया, जो ब्राह्मण के लक्षण हैं। इस प्रकार यदि स्वभाव में परिवर्तन संभव है तो वर्णों के परिवर्तन में भी सन्देह नहीं है।

७-श्रीकृष्ण ने अर्जुन को वर्ण-परिवर्तन के लिये प्रोत्साहित किया। उन्होंने कहा कि अर्जुन! वेद तीन गुणों तक ही प्रकाश करते हैं अथवा तीनों गुणों तक ही सीमित हैं। इसलिये तू वेदों के बन्धन से ऊपर उठ। साथ ही कृष्ण ने ऊपर उठने का तरीका भी बताया कि निर्द्वन्द्व, एकरस, सत्त्व में स्थित हो और योग-क्षेम की चिंता न कर, आत्म परायण बन! श्रीकृष्ण के शब्दों में-

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्य सत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। (२।४५)

यहाँ प्रश्न खड़ा होता है कि क्या कोई वेदों से ऊपर उठा? (वेदों से, गुणों से ऊपर उठना एक ही वस्तु है) और यदि कोई कभी उठा तो उसकी क्या गति हुई? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस प्रकार बड़े जलाशय के प्राप्त होने पर मनुष्य का छोटे जलाशय से जितना प्रयोजन रह जाता है, ठीक उतना ही प्रयोजन ब्रह्म को जानने वाले ब्राह्मण का वेदों से रहता है। इसका आशय यह नहीं कि वेद व्यंर्थ हैं, केवल उस महापुरुष के लिये उनका उपयोग नहीं। शेष के लिये वेद का महत्व ज्यों का त्यों है। सारांशतः वेद तीन गुणों तक ही प्रकाश करते हैं, इसलिये वेदों से ऊपर उठ। ऊपर उठने पर जो स्थिति आती है उसका नाम ब्राह्मण है। यहाँ ब्रह्म प्रत्यक्ष है। अर्थात् तू ऊपर उठ और ब्राह्मण बन--

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। (२।४६)

कर्म की गति वस्तुतः गूढ़ है। क्या कर्म है? क्या अकर्म है? बड़े-बड़े विद्वान भी इसी स्थल पर संशय युक्त हैं। वस्तुतः कर्म का तात्पर्य आराधना है और अकर्म का आशय मात्र इतनी मान्यता है कि कराने वाला कोई और है, मैं तो निमित्त मात्र हूँ। ऐसा समझकर कर्म में तल्लीन हो जाना ही मोक्षप्रद है। इसी का नाम निष्काम कर्म है। कर्म की अंतिम स्थिति ब्राह्मण श्रेणी की कही जाती है।

८-कोई ब्राह्मण कब बनता है? इस प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए कृष्ण कहते हैं-

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। (४।१९)

जब संपूर्णता से प्रारम्भ किया हुआ कर्म (जिसमें कहीं कमी न हो) क्रमशः उस श्रेणी पर पहुँच जाय जहाँ काम और संकल्प का सर्वथा अभाव है, (सिद्ध है कि कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो मन की संकल्पों से उपराम करता है) तहाँ ज्ञान अग्नि में कर्म जल जाते हैं और कर्म के जलते ही वह प्राणी महर्षियों द्वारा बोध स्वरूप ब्राह्मण कहा जाता है। इससे सिद्ध है कि कोई भी पुरुष ब्राह्मण अथवा पंडित बन सकता है। कोरी,चमार, वैश्य, शूद्र, ईसाई, मुसलमान, यहूदी सभी कर्म कों समझ, उस पर चल कर ब्राह्मण बन सकते हैं।

९-यथार्थ तो यह है कि ब्राह्मण बनना ही हमारा लक्ष्य नहीं है। यह वर्ण भी दोषों का घर है। अन्य वर्णों की अपेक्षा यह वर्ण सुलझा हुआ अवश्य है किन्तु सुलझे कर्म का कर्ता भी मुक्त नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मण वर्ण प्राप्त कर लेने पर भी हार्दिक प्रसन्नता कैसे होगी जबकि संसार पीछे लगा है। जहाँ तक वर्ण और कर्म है, संसार का अस्तित्व भी साथ ही है। इसलिये वर्णों से कोई आशा नहीं करनी चाहिये। वर्ण छोटा मिला हो अथवा बड़ा, वह हमारा लक्ष्य नहीं है। हाँ, लक्ष्य तक पहुँचने में वह सहयोग अवश्य देता है। इन्हें पार किये बिना लक्ष्य तक पहुँचा भी तो नहीं जा सकता। इसलिये इन वर्ण धर्मों का पालन आवश्यक है। प्रत्येक वर्ण के निर्धारित लक्षणों को जो अपने में अच्छी तरह ढाल लेता है वह आगे के वर्ण में प्रवेश का अधिकारी बन जाता है। क्रमशः चौथे वर्ण के धर्म की जिस क्षण पूर्ति होती है उसी क्षण परम प्रभु अपने दीन सेवक को अपना लेते हैं। अपने में स्थिति प्रदान कर देते हैं।

१०-परम प्रभु परमात्मा में स्थिति प्राप्त करना ही जीव का चरम लक्ष्य है। यह वह स्थल है जहाँ वर्ण नहीं रह जाता, कर्म नहीं रह जाता, धर्म-अधर्म कुछ भी तो नहीं शेष बचता। श्री शंकराचार्य जी इसी स्तर से बोल उठते हैं:- "न ब्राह्मण न क्षत्री न वैश्यं न शूद्रं चिदानन्द रूपं शिवोकेवलोऽहम्।" जीवात्मा एवं परमात्मा का द्वैत इसी विन्दु पर सदा-सदा के लिये तिरोहित हो जाता है। इसी अद्वैत स्थिति का संकेत गोस्वामी जी भी "जानत तुम्हहि तुम्हहि होई जाई" कहकर करते हैं। यही नानक का 'वाह गुरु' और कबीर का 'प्रत्यक्ष स्वरूप' है जिसके अखण्ड-अभेद-स्वरूप में वर्ण -भेद का कोई स्थान नहीं है।

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं-- अर्जुन तू मुझ में निवास करेगा। अनेक जन्मों के अंत में पूर्णत्व पाने वाला ज्ञानी मेरा ही स्वरूप है, मुझ में और उस ज्ञानी में किंचित् अंतर नहीं है। (गीता ७।१९)।। अब उस भजन का स्वरूप क्या है? कृष्ण कहते हैं हमारे पास आओ। अर्थात् किसी तत्त्वस्थित महापुरुष के पास जाकर निष्कपट भाव से सेवा और प्रश्न करते हुए उस ज्ञान को प्राप्त करो। "सद्गुरु मारे उलट निहारे, सोवत में उठ जागे।"

प्रश्न-सरकार ! वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में ऋग्वेद के अनुसार ब्राह्मण विराट पुरुष के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य पेट से तथा शूद्र पैर से पैदा हुए, जिससे लगता है कि वर्ण व्यवस्था जन्म से निर्धारित होती है?

उत्तर-देखिए, सब कुछ गीता में है क्योंकि वेदों का प्राण उपनिषद हैं और "श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्र" के अनुसार उपनिषदों का भी सार गीता है जो वेद सम्मत ही है। महाभारत में महर्षि व्यास का वचन है-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

अतः गीता स्वयं में पूर्ण है किन्तु आपने जब वेद की किंचित् चर्चा की है तो उस ओर से भी देख लेते हैं; वैसे गीता इससे भिन्न नहीं है, कृष्ण की वाणी है।

प्रश्न है कि ब्रह्म कब पैदा होता है? जब ब्रह्म कण-कण में व्याप्त है तो उसके पाँव कहाँ होंगे और शीर्ष स्थान कहाँ जायेगा?

वस्तुतः वेद, उपनिषद् इत्यादि योग-दर्शन हैं, जैसा गीता में भी पाया जाता है। यह परमतत्त्व परमात्मा में विलय करने वाला दर्शन है। उस व्यापक चेतन का प्रकटीकरण समाज में विवाद का एक विषय है किन्तु योगियों के बीच वही सर्वसम्मत तथ्य है।

कठोपनिषद का वचन है-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।।२।२३।।

यह आत्मा न तो प्रवचन से प्राप्त होती है, न विशिष्ट बुद्धि से प्राप्त होती है और न बहुत सुनने-सुनाने से प्राप्त होती है। बल्कि हजारों में से वह परमात्मा जिस किसी का चयन कर लेता है वही उसको पाता है। हजारों पथिकों में से जिसका वह वरण कर लेता है वही उस आत्मतत्त्व को पाता है। जिस साधक की मन-क्रम-वचन से की गयी सेवा-प्रार्थना को वह स्वीकार कर लेता है, उसके हृदय से वह परमात्मा रथी बनकर आरूढ़ हो जाता है और क्रमशः बुद्धिरूपी लगाम को पकड़कर सही मार्ग दर्शन करते हुए उस परमतत्त्व परमात्मा एवं स्वयं में स्थिति दिलाता है।

बस यहीं, साधक के हृदय में प्रसारण के साथ ही साधना के प्रथम चरण में वह परमात्मा साधक को शूद्र श्रेणी में प्रवृत्ति प्रदान करता है, उसका वैसा ही स्वभाव बनता है। दूसरे सोपान में वह भरण-पोषण और आत्मतृप्ति वाली वस्तुओं का संग्रह कराता है। तीसरी अवस्था में वह विराट प्रकृति से संघर्ष झेलने की क्षमता देता है। शीर्ष स्थान अर्थात् चौथे स्थान पर ब्रह्म अपनी ब्रह्ममयी आत्मा से आर्जव, मन का शमन, सरलता, धारावाहिक चिन्तन इत्यादि गुणों को प्रस्फुटित कर स्वयं रथी के रूप में आरूढ़ रहते हुए पूर्ण तत्त्व की दिशा में ब्राह्मण की श्रेणी से विभूषित करता है और इस स्थिति से चलाता हुआ क्रमशः अपरिवर्तनशील स्थिति से गुज़ारते हुए अपने में समाहित कर लेता है। इस प्रकार वैदिक वर्ण-व्यवस्था भी जीव के परम कल्याण के सोपानों का निर्देशन मात्र है; न कि वहाँ कोई ऐसा पुरुष खड़ा है जिसका सिर आकाश में और पाँव रसातल में चला गया हो। अतः यह क्रियात्मक पथ और उसकी जागृति आज भी पूर्णत्व से आप्लावित महापुरुषों में है, और उन महापुरुषों में वह अनुभव गम्य है जैसा कि विराट स्वरूपों का विस्तार पाया जाता है। उनकी संगति करें और वे भी कृपा से मिलते हैं--

संत विशुद्ध मिलहिं परि तेहीं ।
चितवहिं राम कृपा करि जेहीं।।

'मानस' का यही निर्णय है क्योंकि'मानस' भी तो "नाना पुरान निगमागम" का निचोड़ मात्र है।

वस्तुतः इन प्रसंगों में गीता से बाहर ढूंढ़ने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता क्योंकि योगेश्वर श्रीकृष्ण की वाणी सभी अंगों से पूर्ण है और उपनिषदों का ही सारांश है। आइये, महाभारत का एक ज्वलंत उदाहरण लें जिसमें वर्ण व्यवस्था के स्वरूप को जानकर शापवश अजगर के रूप में निवास करने वाले महाराज नहुष अपने परम धाम को प्राप्त हुए।

पत्नी एवं भाइयों सहित महाराज युधिष्ठिर वनवास कर रहे थे। भीम को शिकार का विशेष शौक था। एक दिन भीम शिकार से नहीं लौटे। धर्मराज युधिष्ठिर को भयंकर अपशकुन होने लगे। वामांग फड़कने लगा। उन नरेश ने महर्षि धौम्य से कहा- "ऋषि प्रवर! लगता है कि भीम किसी भारी संकट में पड़ गया है। मुझे अपशकुन हो रहा है। चलें, उसका पता लगायें।" महर्षि को साथ लेकर महाराज युधिष्ठिर भीम की शोध में निकल पड़े। भीम द्वारा मारे गये सैकड़ों शेर, हाथी, जंगली भैंसे पड़े थे; पेड़ उखड़े मिल रहे थे। इन्हीं चिन्हों का अनुसरण करते हुए युधिष्ठिर आगे बढ़े और वहाँ पहुँच गये जहाँ भीम अजगर से लिपटा हुआ निश्चेष्ट पड़ा था। युधिष्ठिर ने कहा, "भीम! तुम महान् बलवान हो। सृष्टि में जन्म लेने वाला कोई भी जीवधारी ऐसा नहीं है जो तुम्हें नियंत्रित कर सके; फिर तुम एक अजगर की लपेट में कैसे आ गये? यह महाभाग अजगर कौन हैं?

भीम ने कहा--"यह हमारे पूर्वज, महान धर्मात्मा, महाराज नहुष हैं। ब्राह्मणों के शाप से यहाँ पड़े हैं। दिन के तीसरे प्रहर में जो भी इनकी अधिकृत भूमि में आ जाता है, वह कितना शक्तिशाली क्यों न हो, सहज ही इनके वश में हो जाता है। इनकी खुराक बन जाता है। यह भी ब्राह्मणों के आशीर्वाद का बल है।" तब तो युधिष्ठिर ने नहुष से कहा, "राजन्! आप तो महान धर्मज्ञ थे। आपने बड़े-बड़े अश्वमेध यज्ञ किये। जिसके प्रभाव से इन्द्र पद पर अभिषिक्त हुए। फिर आपने ब्राह्मणों का अपमान किया। आप से ऐसी भूल कैसे हो गयी? क्या आप विप्रों का महत्त्व नहीं जानते थे?" नहुष ने पूछ लिया कि आप ही बताइये कि विप्र का क्या महत्त्व होता है? तब धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा कि इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, एकान्त सेवन, निरन्तर चिन्तन्, अनुभवी उपलब्धियाँ, आर्जव, क्षमा, तपस्या इत्यादि लक्षण जिसमें स्वभाव से हों, वह विप्र है। तब अजगर वेषधारी नहुष बोले कि ये लक्षण

तो शूद्र में भी पाये जा सकते हैं? युधिष्ठिर ने कहा- तब वह शूद्र भी विप्र है। अजगर पुनः बोला, "इन लक्षणों से हीन विप्र भी तो पाये जाते हैं।?" (यही तो नहुष की भ्रान्ति का कारण बना था। तभी उन्होंने महर्षियों से पालकी उठवाया और जन्मना उन्हें कुलीन न जानकर पैर से मारा था) युधिष्ठिर ने निर्णय दिया कि "यदि कोई इन लक्षणों से हीन है तो वह स्वभावतः शूद्र हैं, विप्र नहीं।" इतना सुनते ही महाराज नहुष तत्क्षण अपने स्वरूप में आ गये, भीम को मुक्त किया और युधिष्ठिर को विजय का आशीर्वाद देते हुए स्वर्ग चले गये।

इन्द्र का पद और विलासिता की सामग्री पाकर नहुष मदान्ध होकर शची तक चला। अत्रि, अगस्त्य, पुलह, वशिष्ठ इत्यादि विप्रों से पालकी ढुलवायी क्योंकि वे जन्मना कुलीन नहीं समझे जाते थे। देर असह्य होने पर शीघ्र चलने के लिये महर्षियों को सर्प-सर्प कहकर प्रेरित किया। दयालु विप्र पहले तो सहते गये किन्तु नहुष ने अगस्त्य को लात मारी, उसी का दुष्परिणाम था कि महर्षि ने कहा कि- "जा, सर्प हो जा ।"

नहुष ने जब अपने को पालकी से पतित होकर अधम योनि के लिये पृथ्वी पर आते देखा तो गिड़गिड़ाये। बोले- "हमारा उद्धार कैसे होगा?" महर्षियों ने आशीर्वाद देते हुए कहा-"भविष्य में परम धर्मज्ञ महाराज युधिष्ठिर तुम्हारे कुल में होंगे जिनसे विप्र की यथार्थ महिमा सुनने पर तुम्हें इस अधोगति से छुटकारा मिलेगा।" महिमा सुनते ही नहुष अपने परम धाम को चले गये। अतः विप्र के स्वरूप के सम्बन्ध में युधिष्ठिर का यह निर्णय निर्विवाद है, जिसकी यथार्थता के प्रत्यक्ष प्रभाव से नहुष की सद्‌गति तत्क्षण हो गई। वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में इससे सच्ची आख्या क्या होगी; जिसके प्रभाव से नहुष को अधोगति से छुटकारा मिल गया।

इस आख्यान से स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ प्रत्येक युग में थीं। सत्ययुग में उत्पन्न नहुष की भ्रान्ति का निराकरण कहीं जाकर द्वापर में हो सका। बीच में धर्म का तत्त्वज्ञ कोई हुआ ही नहीं जो नहुष की भ्रान्ति का निराकरण करता और वह भी विप्रों के आशीर्वाद का फल था। नहीं तो युधिष्ठिर को वह बुद्धि कहाँ से आती? अतः सज्जनों! विप्र को चाहिये कि वे अपने स्वरूप की रक्षा उक्त सद्गुणों के सृजन से करे। अन्य वर्णों, वर्गों, सम्प्रदायों के जो प्रत्याशी देर-सबेर इस अवस्था को पार करते हैं, महान हैं। इस क्रिया, विधा की उपलब्धि का एक ही माध्यम, चिरन्तन सत्य है और रहेगा कि अनुभवी, विज्ञानी-तत्वज्ञ महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त करें। उन्हीं हरकतों से पेश आवें जिनसे वे प्रसन्न रहें, जिनकी कृपा से आप सत्य की प्राप्ति कर सकें। कृष्ण गीता में इंगित करते हैं:-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।। (४।३४)

"अर्जुन तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जा, दण्ड-प्रणाम करके उनकी सेवा कर और निष्कपट भाव से प्रश्न करके उस ज्ञान को जान!" हृदय में ईश्वर की जागृति तथा अपने मन से बौद्धिक स्तर का कार्य करना दोनों में पूरब और पश्चिम का अंतर है। बौद्धिक निर्णय नास्तिकता और पतन की ओर अग्रसर कर सकता है। अतः किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की सेवा अनिवार्य है। तत्त्वदर्शी महापुरुष ही माध्यम हैं। "जिन खोजा तिन पाइयाँ।" ऐसे महापुरुष भी पुण्य-पुरुषार्थ से ही मिलते हैं।

प्रश्न- महाराज जी! महापुरुष की प्राप्ति कहीं तो आप कृपा की देन मानते हैं और कहीं पुरुषार्थ की देन मानते हैं, ऐसा क्यों?

उत्तर- देखिये, साधक का भाव ही उधर से कृपा बनकर लौटता है। भाव ही पुण्य कराता है और "भाववस्य भगवान"। "भावे विद्यते देवा।"

ॐ

वर्ण-संकर

प्रश्न-महाराज जी! अर्जुन को शंका थी कि युद्ध करेंगे तो इतने लोग मरेंगे कि स्त्रियाँ दूषित हो जायँगी। लोग वर्ण-संकर हो जायेंगे जिससे सनातन-धर्म नष्ट हो जाएगा। किन्तु श्रीकृष्ण ने गीता में कहीं भी इस आशंका का समाधान नहीं किया कि वर्ण-संकर क्या है? कैसे होता है?

उत्तर-श्रीकृष्ण ने अर्जुन की प्रत्येक शंका का समाधान कर दिया था। शस्त्र संचालन की तैयारी के समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दीजिए, जिससे इन युद्ध की इच्छा वालों को भली प्रकार देख लूँ कि मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना उचित है। कृष्ण ने रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा किया तो अर्जुन ने उस अठारह अक्षौहिणी जन-समुदाय में अपने ही परिवार को खड़ा पाया। वहाँ अर्जुन ने अपने पिता के भाइयों को, पितामहों को, आचार्यों को, मामाओं को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को, मित्रों को, श्वसुर तथा सुहृदों को देखा। इस गणना में कुल दस शब्द आये हैं जिसमें अपना परिवार, ननिहाल का परिवार, ससुराल का परिवार, सुहृद और गुरुजन ही थे। अठारह अक्षौहिणी लगभग साढ़े छः अरब के करीब होता है। (महाभारत की गणना के अनुसार चालीस लाख के समकक्ष होता है।) इतने जन-समूह में अर्जुन को केवल अपना सुहृद, सम्बन्धी, रिश्तेदार और परिवार दिखायी पड़ा; अन्य कोई नहीं? कहीं इतने रिश्तेदार भी होते है? नहीं होते! वस्तुतः महाभारत अन्तःकरण की लड़ाई है।

अर्जुन ने सुहृदों को देखा, देखते ही काँपने लगा; रोमांच हो आया। बोला-भगवन्! मैं अपने ही परिवार को मारकर क्या सुखी होऊँगा? कुल

धर्म सनातन है। ऐसा युद्ध करने से सनातन धर्म लुप्त हो जायगा। कुल धर्म शाश्वत है। युद्ध करने से शाश्वत धर्म नष्ट हो जायगा। पुरुषों के संहार से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी, पिण्ड-परम्परा समाप्त हो जायेगी। कुल की स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर पैदा होंगे और वह वर्णसंकर कुल और कुलघातियों को नरक में ले जाने के लिये ही होता है। हमलोग समझदार होकर भी महान् पाप करने को उद्यत हुए हैं। अर्जुन ने यह नहीं कहा कि केवल हम ही भूल करते हैं, बल्कि उसने कृष्ण पर भी आरोप लगाया कि आप भी भूल करते हैं। अर्जुन ने कहा कि जिनके लिये हमें भोग इच्छित हैं ये सभी तो जीवन की आशा त्यागकर मौत के मुहाने पर खड़े हैं, फिर मैं अकेला यह साम्राज्य लेकर क्या करूँगा? अतः मैं युद्ध नहीं करूँगा।

यहाँ पर अर्जुन दो प्रश्न मुख्य रूप से रखता है। पहला तो यह कि सनातन धर्म लुप्त हो जायगा। सनातन धर्म के लिये वह आहें भरता है। दूसरा प्रश्न था कि वर्णसंकर हो जायगा। कृष्ण ने इसका एक ही उत्तर दिया कि अर्जुन! इस विषम स्थल में, जिसकी समता का कोई स्थल विश्व में नहीं है; तुझे अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हुआ? जिस क्षमता का युद्ध मैं बताता हूँ, उस क्षमता का संघर्ष निःसन्देह कुछ भी नहीं है।

तो क्या शाश्वत धर्म की सुरक्षा के लिये व्यग्र होना अज्ञान है? वर्णसंकरता के जघन्य दोष से बचा लेने का प्रयास भी क्या अज्ञान है? कृष्ण कहते हैं-- हाँ! अर्जुन, जिसे तू सनातन धर्म कहता है; न तो श्रेष्ठ पुरुषों ने कभी इसका आचरण किया है न यह परम कल्याण करनेवाला है और न यह कीर्ति को ही बढ़ाने वाला है। सिद्ध है अर्जुन जिसे सनातन धर्म समझता था, न तो वह सनातन धर्म था और न उसे वर्ण की सही जानकारी ही थी। वह अर्जुन का भ्रममात्र था। तभी तो उसने कहा--

कार्पण्य दोषोपहत स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ चेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहितन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।
।।२।७।।

"धर्म के विषय में मोहित चित्त मैं आप से पूछता हूँ, आप का शिष्य हूँ, आपकी शरण हूँ। मुझे वही उपदेश कीजिए जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ।" अर्जुन परम कल्याण से वंचित नहीं रहना चाहता। श्रीकृष्ण ने पहले तो सनातन धर्म की व्याख्या की, तदनन्तर वर्णसंकर पर प्रकाश डाला। अब आइये वर्णसंकर पर विचार किया जाय। तीसरे अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन इस कर्म को किये बिना न तो कोई उस परम नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त कर सका है और न भविष्य में कोई प्राप्त कर सकेगा। कर्म ही इस मानव जीवन की सफलता है किन्तु जो पुरुष आत्मा में ही रत, आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट है उसके लिये कर्म करने से न तो कोई लाभ है और न छोड़ देने से कोई हानि ही है। सिद्ध है कि कर्म उस आत्मा तक पहुँचाता है; जिसके पश्चात् फिर कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती। पहले भी इस कर्म को किये बिना न तो कोई पाया है और न भविष्य में कोई पा सकेगा। कर्म ही उसकी प्राप्ति का एकमात्र माध्यम है। यही मानव तन की सार्थकता है।

"पार्थ ! मुझे भी तीनों लोकों में कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है तथा प्राप्त होने योग्य किंचित् वस्तु भी अप्राप्त नहीं है फिर भी मैं कर्म में ही बर्तता हूँ। यदि मैं सावधान होकर कर्म में न बरतूँ तो यह सब लोकभ्रष्ट हो जाय और मैं वर्णसंकर का कर्त्ता कहा जाऊँ।"

गीता की दृष्टि से कर्म का तात्पर्य आराधना ही है, जिससे आराध्य प्रसन्न होते हैं, जिससे आत्मा का साक्षात्कार होता है; जो संसार-बन्धन से सदा-सदा के लिए मुक्ति दिलाता है।

स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर होना तो सुना गया किन्तु यहाँ कृष्ण एक नयी बात कहते हैं कि स्वरूप में स्थित महापुरुष यदि चिंतनक्रम को नहीं करता तो सब लोग वर्णसंकर हो जायेंगे। वस्तुतः इस जीवात्मा का शुद्ध वर्ण परमात्मा है--

हंसा तूँ सुबरन बरन, हलकी तेरी चाल।
एक तला के बीछुरे, विकल फिरे बेहाल।।

यह हंस (जीवात्मा) वस्तुतः "सुबरन" शुद्ध वर्ण का है। केवल स्वरूप विस्मृत हो जाने से विकल होकर दर-दर भटक रहा है। इस आत्मा को परमात्मा तक की दूरी तय करा देनेवाली प्रक्रिया-विशेष का नाम कर्म है। इसी कर्म को करके पूर्वकाल में जनक इत्यादि महर्षियों ने उस नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त किया था जिसके पश्चात् कर्म किये जाने से न तो कोई लाभ है और न छोड़ देने से कोई हानि ही है। फिर भी ऐसे महापुरुष कर्म में ही बरतते हैं क्योंकि यदि ऐसे महापुरुष सावधान होकर कर्म में न बरतें तो लोग प्रायः उनकी नकल करेंगे कि महाराज जी तो प्रायः बैठे रहते हैं, भजन तो करते ही नहीं। ऐसे अन्धानुकरण से वे श्रेयपथ से च्युत हो जाते हैं। कोई भी व्यक्ति जब चिन्तन पथ में है वह अपने वर्ण की ओर, शुद्ध स्वरूप परमात्मा की ओर अग्रसर होने का प्रयास करता है, किन्तु जब वह आराधना से हट जाता है तो सिद्ध है कि वह प्रकृति की भँवर में फँसाव ले रहा है। यही वर्णसंकर का होना है। परमात्मा ही हमारा शुद्ध वर्ण है, उनकी ओर अग्रसर न होकर जड़ प्रकृति में भटकना ही वर्णसंकर होना है।

सारांशतः कृष्ण का आशय है कि इस कर्म को किये बिना उस परम नैष्कर्म्य स्थिति को न किसी ने पाया है, न भविष्य में प्राप्त कर सकेगा। कर्म अर्थात् आराधना अनिवार्य है। किन्तु जो कर्म करके आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्म सन्तुष्ट हो गया उसके द्वारा कर्म किये जाने से न कोई लाभ

है, न छोड़ने से कोई हानि ही है फिर भी वह महापुरुष पीछे वालों के मार्ग-दर्शन के लिये कर्म में ही बरतता है। कदाचित् वे कर्म में न बरतें तो उन महापुरुष की तो कोई क्षति नहीं लेकिन उनका अनुकरण करनेवाला समाज वर्णसंकर हो जायगा। समाज महापुरुषों का अनुकरण करता ही है क्योंकि वे सभी जीवात्माओं के मूल केन्द्र में स्थित हैं। जिस प्रकार समुद्र की ओर सभी नदियाँ स्वभावतः झुकती हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवात्माओं का केंद्र परमात्मा है। परमात्मा से ही सभी संचालित होते हैं। उसी कक्षा में महापुरुष भी स्थित होता है। इसीलिए सभी जीवात्माएँ महापुरुषों का अनुसरण करती ही हैं। केवल कोरे उपदेश से साधन-क्रम पकड़ में आता भी नहीं। महापुरुष क्रियात्मक ढंग से उन उपदेशों को अपने आचरण में ढालकर लोक-शिक्षण का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। किन्तु यदि महापुरुष क्रिया में नहीं बरतता तो कतिपय साधक साधना स्थगित करके महापुरुष की नकल करके अपना पूर्णत्व जताने लगते हैं। इससे वे पूर्ण नहीं हो जाते बल्कि वर्णसंकर हो जाते हैं।

तीसरे अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा कि ज्ञानी को चाहिए कि कर्म में लगे हुए अज्ञानियों को चलायमान न करे बल्कि स्वयं कर्मों का भली प्रकार आचरण करता हुआ उनसे भी करावें। यदि महापुरुष ऐसा नहीं करता तो वह वर्णसंकर का कर्त्ता होगा क्योंकि साधक उनका अनुकरण करके साधना से विरत हो जायेंगे, आत्मिक पथ से च्युत हो जायेंगे; दूसरे शब्दों में वर्ण-संकर हो जायेंगे। ठीक इसी प्रकार, योगेश्वर श्रीकृष्ण ने उन मनीषियों से तुलना करते हुए कहा कि यदि वे महापुरुष सावधान होकर क्रिया में न बरतें अथवा मैं न बरतूँ तो वर्णसंकर का कर्त्ता होऊँ।

जहाँ तक स्त्रियों के दूषित होने से उत्पन्न वर्णसंकरता का प्रश्न है, महापुरुषों की दृष्टि में वह कोई दोष नहीं है। किन्तु सामाजिक संगठन के लिए रक्त की शुद्धता अपरिहार्य है। वह जीवन की मर्यादा है, कल्याण पथ-

अन्वेषण की पहली सीढ़ी है। दाम्पत्य सत्य के लिये समाज मे नितांत आवश्यक है। उसमे अमेरिका की तरह नष्ट नहीं होते बल्कि बाल-माधुर्य बचा रहता है। प्रश्नकर्ता अर्जुन, सभी पाण्डव, स्वयं पाण्डु, व्यास सबके सब वर्ण-संकर थे। इतना ही नहीं अधिकांश महापुरुष लौकिक दृष्टि से वर्णसंकर ही थे। उनकी तो मुक्ति नहीं होनी चाहिए थी। "नरकेऽनियतं वास' का विधान होना चाहिये था। किन्तु वर्णसंकरता उनके रास्ते में व्यवधान नहीं डाल सकी। महापुरुषों के इतिवृत्त से प्रमाणित है कि माता-पिता की त्रुटियों का कर्त्तव्य-परायण पथिक पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

ईसा मसीह वर्णसंकर थे। उनकी माँ का विवाह हुआ तो सात महीने का लड़का पेट में था। लोगों ने 'मरियम' को कुलक्षणा कहकर उन्हें समाज एवं नगर से निकालने का विचार किया (लगता है पातिव्रत धर्म उस समय जेरूसलम में प्रचलित था। आज तो कोई नहीं निकलता) फिर, स्वप्न दिखायी पड़ा कि इसके पेट में जो बालक है वह पवित्रात्मा है। बाद में लोगों ने जोड़ दिया कि वह पवित्रात्मा से गर्भवती हुई। वस्तुतः कोई पुण्यात्मा ही पेट में था न कि परमात्मा मरियम से गन्धर्व विवाह करने आया। अस्तु, ईसा बड़े अच्छे महापुरुष हुए। विश्व का काफी बड़ा भाग उनका अनुसरण करता है। भारतीय विचारधारा भारतीय दर्शन ही उनके उपदेशों में भी है। प्राप्ति वाले सभी महापुरुषों का उपदेश एक जैसा है क्योंकि एक ही सत्ता को सभी ने देखा तो दूसरा कोई कहेगा क्या? प्राप्ति वाले महापुरुष समाज के बीच कभी दरार डाल ही नहीं सकते। वे कभी नहीं कहते कि आप हिन्दू हो, वह ईसाई है, तुम बौद्ध, जैन, पारसी या सिक्ख हो। महापुरुषों के नाम पर उनके अनुयायी पीछे दरार डालते रहते हैं। स्वार्थ सिद्धि के लिये महापुरुष के नाम से वे अनेक भ्रान्तियों, रूढ़ियों, सम्प्रदायों का प्रचलन करते रहते हैं। प्रायः प्रत्येक महापुरुष के साथ ऐसा होता आया है। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, कबीर सबके

उपदेशों पर कुरीतियाँ पनप गयी हैं। यदि किसी ने उस सत्ता का स्पर्श पा लिया जो सबकी आत्मा में संचारित है फिर वह मानव-मानव में दरार कैसे डालेगा? यदि दरार डालता है तो सिद्ध है कि वह लक्ष्य से अभी दूर है।

कबीर 'लहरतारा' पर पड़े मिले। अनुयायियों ने गढ़ना प्रारम्भ किया कि प्रकाश-पुंज आकाश से उतरा, बहुत देर मँडराता रहा, एक कमल पर केन्द्रित होकर गिरा, बालक बन गया। जुलाहे की स्त्री गयी और ले आयी। इस प्रकार स्वयं परम चेतन परमात्मा ही कबीर के रूप में प्रकट हुआ। माता-पिता के संयोग से उनकी उत्पत्ति नहीं हुई। लेकिन कबीर ने अपना परिचय दिया कि मैं ही कबीर हूँ, ऐसी बात नहीं: आप भी कबीर हो सकते हैं-

कबिरा-कबिरा क्या करै, शोधो सकल शरीर।
आशा तृष्णा बश करे, सोई दास कबीर।।

'कबीर अच्छे हैं' 'कबीर महात्मा हैं', क्या कबीर-कबीर रट लगा रखा है? 'शोधो सकल शरीर' स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों की शोध कर लो। किन्तु आशा और तृष्णा के रहते वह शोध सम्भव नहीं है। अतः "आशा तृष्णा बस करे" जिसने भी वश में किया "सोई दास कबीर।" जितना हमने किया, आप भी कर लें तो आप भी कबीर बन जायँ। "काया का बीर सोई कबीर।"

ठीक उसी प्रकार वशिष्ठ उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। वाल्मीकि कोल थे। कोलों में उठना-बैठना, खाना-पीना, शादी-विवाह सब था किन्तु ब्रह्मर्षि हुए। क्षत्रिय विश्वामित्र अंततः ब्रह्मर्षि बने। मछोदरी के लड़के व्यास वर्णसंकर थे किन्तु सर्वोपरि ब्रह्मर्षि कहलाये। वस्तुतः माता-पिता की भूलों का उत्पन्न होने वाले बालक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। "अपनी करनी, पार उतरनी।" सभी अपनी करनी लेकर आते हैं। माता-पिता, स्त्री-पुरुष,

बच्चे सभी जन्म-जन्मान्तरों के बदले हैं; जिसे कोई पिता बनकर, कोई पुत्र बनकर चुकाता रहता है। 'बदला' वर्णसंकर नहीं होता। वस्तुतः वर्णसंकर का अर्थ यह है कि यदि आत्मज्ञ महापुरुष क्रिया में नहीं बरतता तो उसी की नकल करके जो लोग क्रिया में नहीं बरतते, वे वर्णसंकर हो जाते हैं।

ॐ

ज्ञानयोग एवं कर्मयोग

प्रश्न- महाराज जी, ज्ञानयोग और कर्मयोग में क्या अन्तर होता है? दोनों में श्रेष्ठ कौन है?

उत्तर- रणक्षेत्र में अपने ही परिवार को खड़ा पाकर अर्जुन युद्ध से कतराने लगा। उसने कहा कि अपने स्वजनों को मारकर मैं सुखी कैसे हो सकूँगा? तीनों लोक के राज्य में तथा पृथ्वी के धन-धान्य-सम्पन्न अकंटक साम्राज्य में भी मैं उस उपाय को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को दूर कर सके। अत: इतने के ही लिए मैं युद्ध नहीं करूँगा। इससे तो भिक्षा माँगकर खाना ही श्रेयस्कर है। हाँ, इसके आगे भी कोई सत्य हो तो मेरे प्रति कहिये जिससे मैं परम कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। श्रीकृष्ण उसे समझाते हैं, अर्जुन! इस युद्ध में हारोगे तो भी देवत्व मिलेगा और जीतोगे तो महिम स्थिति ही प्राप्त हो जायगी। इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संघर्ष में दैवी सम्पत्ति अर्जित करते-करते यदि शरीर का समय समाप्त हो गया तो देवत्व तो मिलेगा ही, पार पा जाने पर उस महामहिम परमात्मा में स्थिति मिल जायेगी जहाँ से महिमा प्रसारित होती है। अत: जय-पराजय, हानि-लाभ,. सिद्धि-असिद्धि को समान समझते हुए युद्ध कर।

अर्जुन! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गई। कौन सी बुद्धि? यही कि अपने हानि-लाभ पर स्वयं विचार करते हुए युद्ध कर। युद्ध तो करना ही पड़ेगा। हानि-लाभ का स्वयं विचार करके साधन तो पूरा करना ही पड़ेगा। हाथ पर हाथ रखकर बैठने का नाम ज्ञानयोग नहीं है। बहुत से लोग साधन किये ही बिना कहते हैं, "मैं आत्मा हूँ, पूर्ण हूँ, आत्मा ही अजर-अमर और शाश्वत है"-ऐसा चिन्तन करना ज्ञानयोग है, किन्तु कृष्ण ने जहाँ आत्मा को अजर, अमर, अपरिवर्तनशील इत्यादि बताया; वहाँ यह नहीं कहा कि यह

ज्ञानयोग है। वहाँ तो कृष्ण यह कहते हैं कि आत्मा को इन विभूतियों से युक्त केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा। वह तो महापुरुष की स्थिति है, साधन नहीं। वह तत्त्वदर्शन है, ज्ञानयोग नहीं। वस्तुतः स्वयं पर निर्भर होकर कर्म करने का नाम ज्ञानयोग है। "मैं इस भूमिका में हूँ, भविष्य में उस सोपान से गुजरूँगा; यदि पार पाता हूँ तो महामहिम स्थिति अन्यथा देवत्व तो निश्चित ही है"- इस प्रकार अपने भविष्य को दृष्टिगत रखते हुए स्वयं निर्णय लेकर कर्म में प्रवृत्त होने का नाम ही ज्ञानयोग है।

अर्जुन! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गई। इसी को अब तू निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन। ज्ञानयोग से तू जिस स्थिति को प्राप्त होगा, इसी को कर्मयोग के आचरण से भी प्राप्त कर सकेगा। दोनों का लक्ष्य एक है, क्रिया एक है। हाँ! करने का तरीका दो है। तो भला उस कर्मयोग में करना क्या होगा? अर्जुन! कर्म करने में ही तेरा अधिकार है, फल में कभी नहीं। ऐसा समझ कि फल हैं ही नहीं, कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो। यही है कर्मयोग। इसमें साधक की अपनी कोई कामना नहीं रहती, वह इष्ट पर निर्भर होकर चलता है। इसलिए इसे निष्काम कर्मयोग भी कहते हैं। इसमें अनुरागी अपने आराध्य के आश्रित होकर उनके हाथ में मात्र यन्त्र बनकर चलता है। अनुरागी यह तो जानता है कि कभी न कभी पार अवश्य लगेंगे किन्तु कब और कितना लगे? इसे वह नहीं जानता। उसके द्वारा जो भी पार लगता है वह कर्ता की उपलब्धि नहीं, आराध्य की देन है।

अध्याय तीन में अर्जुन प्रश्न करता है कि भगवन्! निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा आप ज्ञानयोग को श्रेष्ठ बताते हैं फिर आप मुझे भयंकर कर्मों में क्यों लगाते हैं? अर्जुन को कर्मयोग में भयंकरता दिखाई पड़ी; ज्ञानयोग उसे सरल लगा क्योंकि ज्ञानयोग में हारने पर देवत्व है, शरीर का अन्त हो जाने पर सफलता नहीं मिली तो देवत्व है, लाभ ही है और यदि जीत जाते हैं, शरीर के रहते

मन के पूर्ण निरोध तक पहुँच जाते हैं तो सर्वस्व मिलता है। महामहिम स्थिति मिलती है। दोनों प्रकार से मिलना ही है। स्वतन्त्र रहकर अपना हानि-लाभ समझते हुए चलना है, अतः अर्जुन को सरल लगा। निष्काम कर्मयोग में कर्म करते रहने का अधिकार है, फल की वासना न हो। ऐसा समझ कि फल हैं ही नहीं। कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो। निरन्तर कर्म करने के लिए तत्पर हो जाओ।

हाँ, एक झीना सा प्रलोभन अवश्य है कि कभी न कभी कर्म-बन्धनों से मुक्त अवश्य हो जाओगे लेकिन जो कुछ समझाया गया उससे वर्तमान में तो कुछ मिलने वाला नहीं है, फिर ऐसा कौन होगा जो अकारण खाक छानता फिरे। यद्यपि आगे यह निष्काम कर्मयोग महान विभूतियों का आलोक दरसाने वाला होता है किन्तु क्षण-प्रतिक्षण की उपलब्धि से बेखबर साधक को प्रारम्भ में यह नीरस प्रतीत होता है। इसलिए अर्जुन ने कहा कि आप मुझे निष्काम कर्मयोग की भयंकरता में क्यों फँसाते हैं? निष्काम कर्मयोग अर्जुन को भयंकर लगा।

तब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा- अर्जुन दो प्रकार की निष्ठायें मेरे द्वारा पहले कही गई हैं। 'पहले' का आशय सत्ययुग या त्रेता नहीं बल्कि अभी-अभी जो अध्याय दो में कह आये हैं। -ज्ञानियों की ज्ञानयोग से और कर्मयोगियों की निष्काम कर्मयोग से; किन्तु किसी भी मार्ग के अनुसार कर्म को त्याग देने का कोई विधान नहीं है।

न तो ऐसा ही है कि कर्मों को आरम्भ न करके कोई निष्कर्मता की परम सिद्धि को प्राप्त कर ले और आरम्भ की हुई क्रिया को त्याग देने से भी कोई ज्ञानी नहीं होता। इसलिये ज्ञानयोग अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग; कर्म तो करना ही होगा। छठें अध्याय में श्रीकृष्ण ने पुनः इस पर बल दिया कि कर्म और अग्नि को छोड़ने वाला ज्ञानी नहीं हो सकता। यहाँ उन्होंने केवल क्रिया को ही लिया है। कर्म किया ही नहीं तो कैसा निष्कर्मी?

कृष्ण काल में भी ऐसी भ्रान्ति प्रचलित थी इसीलिए उन्होंने निराकरण किया कि अकर्मण्यता कदापि निष्कर्मता नहीं है। क्योंकि कोई भी पुरुष क्षणमात्र भी कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता। प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा परवश होकर वह कर्म करता है। जब तक प्रकृति है, प्रकृति से उत्पन्न सत्, रज, तम तीनों गुणों का उतार-चढ़ाव है, तब तक उसी के अनुरूप कार्य होते ही रहेंगे। हाँ, जब यज्ञ की पूर्ति काल में ज्ञानामृत का पान करने वाला पुरुष शाश्वत सनातन ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है, वहाँ पर प्रकृति ही विलय हो जाती है, इसलिये उन्हें कर्म नहीं बाँधते। उस ज्ञानाग्नि में कर्म दग्ध हो जाता है। किन्तु जब तक प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक कर्म नितान्त आवश्यक हैं। इतने पर भी बहुत से लोग हठ से इन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का चिन्तन करते हैं, कृष्ण कहते हैं- वे दम्भाचारी हैं, पाखण्डी हैं, धूर्त हैं। अत: ज्ञानयोग अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग; कर्म तो हर दशा में करना ही होगा। दोनों के बीच क्रिया एक ही है, कोर्स एक ही है, डिग्री एक जैसी है। अन्तर इतना ही है कि योगी इष्ट पर निर्भर होकर अपने को निछावर करके कर्म करता है और ज्ञानयोगी अपनी सादृश्यता से अपना बलाबल समझते हुए पूर्तिपर्यन्त उसी कर्म में प्रवृत्त रहता है। जब तक उस शाश्वत को न पा लें, कर्म में प्रवृत्ति अभीष्ट है।

जब कर्म करना ही होगा तो 'नियतं कुरु कर्म त्वं' अर्जुन! तू निर्धारित किये कर्म को कर। वह निर्धारित कर्म है क्या? 'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:'। यज्ञ की प्रक्रिया ही एकमात्र कर्म है। इसके अतिरिक्त दुनिया में जो कुछ किया जाता है क्या वह कर्म नहीं है? कृष्ण कहते हैं- नहीं, वह तो इसी लोक का एक बन्धन है। इसी यज्ञ की प्रक्रिया को ज्ञानयोग में करना है और यही प्रक्रिया निष्काम कर्मयोग में भी करनी होती है। दोनों में यही यज्ञ ही किया जाता है। यज्ञ के अतिरिक्त दुनिया में जो कुछ भी किया जाता है वह इसी लोक का बन्धन है; कर्म नहीं, क्योंकि कर्म तो 'मोक्ष्यसेऽशुभात्' अशुभ

अर्थात् संसार बन्धन से छुटकारा दिलाता है, बाँधता नहीं।

अब अर्जुन ने भली-भाँति समझ लिया कि ज्ञानमार्ग हो अथवा कर्ममार्ग हो, दोनों ही प्रणालियों में कर्म तो करना ही होगा। क्रिया दोनों में एक ही है। तब उसने जानना चाहा कि दोनों में अच्छा कौन पड़ेगा? कौन सा मार्ग सुविधा-जनक रहेगा। उसने प्रश्न किया-

संन्यासं कर्मणा कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।

यच्छ्रेय य एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।५।१।।

भगवन्! कभी तो आप निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं तो कभी ज्ञान दृष्टि से कार्यों की प्रशंसा करते हैं। इन दोनों में से किसी को निश्चय करके कहिए, जिससे मैं परम कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा, अर्जुन! परम कल्याण तो दोनों ही करने वाले हैं। संन्यास अर्थात् ज्ञान दृष्टि से कर्म और निष्काम कर्मयोग दोनों में से प्रत्येक परम कल्याण करने वाला है किन्तु ज्ञानयोग की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है। अर्जुन ! जो न किसी से द्वेष करता है, न किसी से आकांक्षा रखता है, ऐसा निष्काम कर्मयोगी सदैव संन्यासी समझने योग्य है। संन्यास, सांख्य अथवा ज्ञानयोग के द्वारा जिस परम तत्त्व को प्राप्त किया जाता है, निष्काम कर्मयोग के द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। दोनों एक ही स्थान पर पहुँचाते हैं। मूढ़ लोग ही दोनों को अलग-अलग कहते हैं, न कि विवेकी-जन। फल रूप में दोनों को जो एक देखते हैं उन्हीं की दृष्टि यथार्थ है। किन्तु अर्जुन! निष्काम कर्मयोग का आचरण किये बिना संन्यास का प्राप्त होना दुर्लभ है। ज्ञान योग में भी क्रिया वही है जो निष्काम कर्मयोग की है। निष्काम कर्मयोग का आचरण किये बिना कोई ज्ञानी नहीं होता। कर्म तो वही करना ही होगा। भगवत् स्वरूप का मनन करने वाला योग युक्त पुरुष तत्क्षण ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। वह योगयुक्त अर्थात् ब्रह्म से संयुक्त पुरुष जिसने इन्द्रियाँ और अन्तःकरण विशेष रूप से जीत लिया है कर्म करते

हुए भी लिपायमान नहीं होता।

युक्त पुरुष करते हुए भी लिपायमान क्यों नहीं होता? श्रीकृष्ण कहते हैं- "युक्तो मन्येत तत्ववित्" वह तो तत्व से संयुक्त है न! इसलिए देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, भोजन करते, सोते, साँस लेते, त्याग इत्यादि से सारे कार्य करते ऐसी धारणा उसे उपलब्ध हो जाती है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में ही प्रसारित हो रही हैं। यह युक्त पुरुष के लक्षण हैं, प्राप्ति के पश्चात् युक्त पुरुष की रहनी का चित्रण है। जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रहते हुए भी उससे अलग रहता है ठीक उसी प्रकार युक्त पुरुष संसार में रहते हुए भी उससे अलग रहता है। यह योग युक्त पुरुष के लक्षण हैं, न कि ज्ञानमार्ग की साधना का चित्रण है। आजकल प्रायः लोग कहा करते हैं कि हम तो ज्ञानी हैं; हमारी इन्द्रियाँ अपने अर्थों में बरत रही हैं, हमारे लिए कोई कर्म नहीं है, इत्यादि। ऐसी ही भ्रान्तियाँ कृष्ण काल में भी थीं। उन्हीं पर कटाक्ष करते हुए श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि यह योगयुक्त पुरुष के लक्षण हैं और युक्त एक स्थिति विशेष है। युक्तपुरुष के लक्षण का दिग्दर्शन कराते हुए कृष्ण कहते हैं -

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।६।१८।।

विशेष रूप से वश में किया चित्त जिस समय परमात्मा में भली प्रकार स्थित हो जाता है उस समय सम्पूर्ण कामनाओं से निस्पृह पुरुष योग-युक्त कहा जाता है। ऐसा पुरुष कर्मों में लिपायमान नहीं होता। जब तक यह स्थिति नहीं मिल जाती, कर्म तो करना ही होगा।

श्रीकृष्ण इस बिन्दु पर बार-बार बल देते हैं कि ज्ञान मार्ग में भी कर्म छोड़ने का विधान नहीं है--

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।६।१।।

फल के आश्रय से रहित होकर जो 'कार्यम् कर्म' करने योग्य प्रक्रिया विशेष को करता है वही संन्यासी है, वही योगी है। केवल अग्नि और क्रियाओं को त्यागने वाला, कर्म को त्यागनेवाला न तो संन्यासी हो पाता है और न योगी ही हो पाता है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।।६।२।।

अर्जुन! जिसे संन्यास कहते हैं उसी को तू योग जान, किन्तु कोई भी पुरुष संकल्पों का त्याग किये बिना संन्यासी अथवा योगी नहीं हो पाता। संकल्पों का उतार-चढ़ाव मन पर होता है। मन के निरोध होने पर ही संकल्पों का शमन संभव है। अब संकल्पों का निरोध कैसे हो? कहने मात्र से तो संकल्प छूट नहीं जाते। इसलिए श्रीकृष्ण उपाय बताते हैं-

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।६।३।।

योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले पुरुष को चाहिये कि कर्म करे। कौन सा कर्म? "कार्यम् कर्म" 'नियत कर्म' जो यज्ञ की प्रक्रिया है। काम, क्रोध, लोभ त्यागने पर ही जिसमें प्रवेश मिलता है। कर्म करते-करते योग की पराकाष्ठा पा लेने पर 'शमः कारणमुच्यते' सर्व संकल्पों का अभाव है। जिस समय इन्द्रियों के भोगों में पुरुष आसक्त नहीं होता और कर्म करने की आवश्यकता भी समाप्त हो जाती है, उस समय, 'सर्वसंकल्प-संन्यासी' सभी संकल्पों का अभाव होता है। वहीं संन्यास है, वहीं योग है। बीच में न कहीं संन्यास, न योग ही है। अतः पुरुष को चाहिये कि अपनी आत्मा का उद्धार करे: उसे अधोगति में

न पहुँचावे। सिद्ध है कि आत्मा का उद्धार होता है और पतन भी होता है। कर्म के द्वारा मन सहित इन्द्रियों का जिसने भली प्रकार निरोध कर लिया है उसके लिए उसी की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है, परम कल्याण करने वाली होती है और जिसके द्वारा मन सहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गई हैं, उसके लिए उसी की आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतती है, अधोगति और नीच योनियों में फेंकने वाली होती है। अतः संन्यास अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्म योग, 'कार्यम्कर्म' करने योग्य प्रक्रिया विशेष तो करना ही होगा। इस प्रकार स्थान-स्थान पर श्रीकृष्ण ने दोनों मार्गों में कर्म की अनिवार्यता पर बार-बार बल दिया।

अध्याय ग्यारह के अन्त में श्रीकृष्ण ने अपनी भक्ति पर बल देते हुए कहा-- अर्जुन ! 'मत्कर्मकृत्' मेरे द्वारा निर्दिष्ट किया हुआ कर्म मेरे लिए ही कर। 'मत्परम' मेरे परायण होकर कर। 'मद्भक्त' मेरा अनन्य भक्त हो। किन्तु संगवर्जितः- 'संगदोष' में रहते हुए इस कर्म का होना असम्भव है। असंग रहकर सम्पूर्ण भूत प्राणियों में जो बैर भाव से रहित है वह मुझे प्राप्त करता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निष्काम कर्मयोग अपनाने का परामर्श दिया। तब अर्जुन ने बारहवें अध्याय में प्रश्न किया कि भगवन् ! इस प्रकार जो भक्त निरन्तर आपकी उपासना करते हैं, और दूसरे जो अव्यक्त अक्षर ब्रह्म की उपासना करते हैं, इन दोनों में उत्तम योगवेत्ता कौन है? अर्जुन अब भी यही सोच रहा है कि जो श्रेष्ठ है उसी को पकड़ूँ। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि मेरे में मन को एकाग्र करके भजन ध्यान में 'नित्ययुक्त' निरन्तर लगे हुए परम श्रद्धा के साथ जो मुझ (सगुण, सदेह परमेश्वर को जो समक्ष वर्तमान हैं) को भजते हैं, वे मेरे को योगियों में भी अति उत्तम योगी मान्य हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण एक योगी थे। साधकों को उन्होंने इंगित किया है कि परमात्मा के चिन्तन की अपेक्षा परमात्मा में स्थित ऐसे महापुरुष का भजन श्रेयस्कर है, जो साधक के समय में वर्तमान हों। ऐसे महापुरुष श्रीकृष्ण की तरह शरीर के आधारवाले होते हुए भी शाश्वत

स्वरूप की उपलब्धि वाले होते हैं। उनके लिए शरीर तो रहने के लिए एक मकान मात्र होता है। ऐसे महापुरुषों के निर्देशन पर भजन में अग्रसर होना ही निष्काम कर्मयोग है। इसी को श्रीकृष्ण भी अति श्रेष्ठ मानते हैं।

दूसरी ओर ज्ञान मार्गी जो इन्द्रियों को अच्छी प्रकार वश में करके मन बुद्धि से परे सर्वव्यापी, अकथनीय, एकरस नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी परमात्मा को लक्ष्य बनाकर उसी कर्म में प्रवृत्त होते हैं; 'सर्वभूतहितेरता' ऐसे महापुरुष मेरे को ही प्राप्त होते हैं, किन्तु "क्लेशोऽधिकतरः तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम्" उन पुरुषों के रास्ते में क्लेश अधिक है। कौन सा क्लेश अधिक है? कृष्ण कहते हैं- 'देहवद्भिः' देहाभिमानियों को वह अव्यक्त गति प्राप्त होना दुःखपूर्ण है। ज्ञानमार्गी सोचता है आज साधना में मैं यहाँ पर हूँ, मैं इतनी मंजिल तय करूँगा, मैं स्वयं को प्राप्त करूँगा। इस प्रकार 'मैं मैं' कहते वह लक्ष्य से बहुत दूर रह जाता है। और उसके चारों ओर 'मैं' का आवरण तन जाता है। ज्ञान मार्गी अपने ही बल पर साधन में प्रवृत्त होता है और प्रायः वह देहाभिमान में परिणित हो जाता है। ज्ञानमार्ग में यही विघ्न विशेष है।

किन्तु निष्काम कर्मयोग में जो मेरे आश्रित होकर सम्पूर्ण कर्मों को मेरे में समर्पण करके अनन्य भाव से निरन्तर 'ध्यायन्तः' ध्यान करते हैं 'उपासते' मेरी उपासना करते हैं, 'तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्यु संसार सागरात्' उन्हें मैं संसार रूपी समुद्र से उद्धार कर देता हूँ। ऐसे लोगों का 'योगक्षेम वहाम्यहम्' उनके योग की रक्षा मैं स्वयं कर लेता हूँ। इस प्रकार निष्काम कर्मयोग में सुविधा विशेष है क्योंकि अनुरागी की हार-जीत का दायित्व आराध्य पर होता है। अनुरागी मन, क्रम, वचन से निर्भर भर हो जाय फिर तो सारी जिम्मेदारी आराध्यदेव की, उन महापुरुष की हो जाती है।

करउँ सदा तिनकी रखवारी।
जिमि बालक राखइ महतारी।।

अतः बन्धुओ ! चिन्तन-क्रम में प्रवृत्त होने पर निष्काम कर्मयोग और ज्ञान पथ--दोनों आपकी मुट्ठी में हैं, आपके लिए हैं। किसी महापुरुष के संरक्षण में, श्रद्धा आप्लावित नेत्रों से चिन्तन में लगे रहने पर आप निष्काम कर्मयोगी की संज्ञा पा जायँगे। अथवा प्रण प्रधान बुद्धि से हार्दिक साहस बटोर कर स्वयं निर्णय लेकर कर्म में प्रवृत्त रहने पर ज्ञानमार्गी कहलायेंगे। कर्म तो हर हालत में करना ही होगा। यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। उस कर्म के पालन करने की दो दृष्टियों (ज्ञानयोग तथा निष्काम कर्मयोग) का श्रीकृष्ण ने सविस्तार वर्णन मात्र किया है। जागृति के लिए तो अनुभवी महापुरुष के प्रति अनन्य श्रद्धा तथा उस क्रिया को आचरण में ढालने का चिरन्तन विधान है।

ॐ

....

गीतोक्त युद्धस्थल

प्रश्न- महाराज जी! कुरुक्षेत्र की स्थिति को लेकर आजकल मत-मतान्तर समाचार पत्रों में देखने को मिलते हैं। गीतोक्त कुरुक्षेत्र कहाँ है?

उत्तर- देखिए, गीता एक यौगिक शास्त्र है। गीता पढ़ते सभी हैं, पढ़ना भी चाहिए। यह बात अलग है कि प्रारम्भ में अधूरी जानकारी मिलती है किन्तु अधूरी जानकारी ही पूरी जानकारी के लिए प्रेरणा देती है, इसलिए पढ़ना आवश्यक है। गीता कोई विरला महापुरुष जानता है और उनके संरक्षण में कोई विरला अधिकारी साधक ही पढ़ता है। सब न पढ़ते हैं, न जानते हैं। आज गीता पर सैकड़ों टीकाएँ मिलती हैं, पचीसों मत हैं जिनकी आधारशिला गीता है, किन्तु उनमें में अनेक एक दूसरे के कट्टर विरोधी हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने तो कोई एक ही बात कही होगी। फिर एक ही शास्त्र को लेकर इतना विचार वैभिन्न क्यों? वस्तुतः मनुष्य जिस वातावरण में पलता है उसका प्रभाव बुद्धि पर पड़ता ही है। अपनी बुद्धि के अनुसार ही लोग शास्त्र का आशय लगाते हैं। राजनीतिज्ञ के हाथ में गीता पड़ी तो कहा, 'स्वदेशी कपड़ा बेचो। यही निष्काम देश सेवा है। विदेशी कपड़ा बेचना सकाम कर्म है।' रूढ़िवादियों के अनुसार 'जिसका जो पैतृक पेशा है वही उसका कर्म है' गीता यही कहती है। नेतागण कहते हैं- जो कुछ हमारे सामने है उसे हम करें। यदि हम उसमें घूस लेते हैं तो सकाम कर्मयोगी हैं, नहीं लेते तो निष्काम कर्मयोगी हैं।' सेठ साहूकार कहते हैं कि "गीता में व्यवसाय को कर्म माना गया है।" यही कारण है कि शास्त्र तो एक ही उपदेश करता है परंतु मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार उसे अपने परिवेश में ढाल लेता है। श्रीकृष्ण ने जिस क्षेत्र में युद्ध का चित्रण किया है, यह केवल वही जान सकता है जो श्रीकृष्ण की स्थिति के समीप अथवा उन्हीं की स्थिति वाला हो। साधन के क्रमिक उत्कर्ष द्वारा श्रीकृष्ण के स्तर तक पहुँचा

हुआ पुरुष ही अक्षरशः बता सकेगा कि जब गीता कही गयी थी, उस समय श्रीकृष्ण के मनोगत भाव क्या थे? घर बैठे लेख पढ़कर हिमालय के दृश्यों की केवल कल्पना की जा सकती है। वास्तविक आनन्द के लिए तो हिमालय पर चढ़ना होगा। वहाँ पहुँचने पर आपके समक्ष भी वही दृश्य होगा जैसा आपने पढ़ा था। इसी तरह गीता योग दर्शन है, क्रियात्मक पथ है। केवल अध्ययन करके किंवा उसे कंठस्थ करके भी कोई गीता के रहस्यों को जान लेने का दावा नहीं कर सकता।

आपका प्रश्न है कि जिस कुरुक्षेत्र में लड़ाई हुई थी वह कहाँ है? कुछ लोग कहते हैं कि काशी और प्रयाग के बीच कुरुक्षेत्र है तो कुछ लोग उसे हरियाना में बताते हैं। किन्तु गीता में ऐसा कुछ भी नहीं है। प्रथम श्लोक में धृतराष्ट्र ने पूछा--

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाःपाण्डवाश्चैव किम कुर्वत संजय ।। (गीता१।१)

टीकाकारों ने इसका अर्थ बताया है कि संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्र मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया? टीकाकार ने क्षेत्र का अर्थ भूमि कहा है जबकि शास्त्रकार का यह आशय नहीं था। जिन योगेश्वर कृष्ण ने क्षेत्र का वर्णन किया, उन्होंने यह भी बताया कि वह क्षेत्र है कहाँ? "इदम् शरीरम् कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।" अर्जुन ! यह शरीर ही क्षेत्र है ऐसा कहा जाता है। जो इसे जानता है वह क्षेत्रज्ञ है, इसका संचालक है।

इस प्रकार शरीर ही वह क्षेत्र है जिसमें लड़ाई हुई। इसमें धर्म एक क्षेत्र है कुरु एक क्षेत्र है। अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र। मनुष्य में जब धृष्टता आ जाती है, वह देखते हुए भी नहीं देखता और जिनके हृदय में धृष्टता का राष्ट्र ही बसा हो उसके देखने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए धृतराष्ट्र अन्धा है। अज्ञान

मोह को जन्म देता है। धृतराष्ट्र दुर्योधन का पिता है। दुर्योधन अर्थात दूर भयो धन। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति से दूरी पैदा करने वाला है मोह। इस प्रकार मोहरूपी दुर्योधन, दुर्बुद्धिरूपी दु:शासन, कर्मरूपी कर्ण, विकल्प रूपी विकर्ण, भ्रम रूपी भीष्म, द्वैत के आचरण रूपी द्रोणाचार्य, आसक्ति रूपी अश्वत्थामा और संशय रूपी शकुनि- सभी आसुरी सम्पद् है, कुरुक्षेत्र है। कुरुख अर्थात दूषित दृष्टिकोण। दूषित दृष्टि वाले क्षेत्र में उपर्युक्त विजातीय प्रवृत्तियाँ आती हैं। इन्हीं के बीच जीवरूपी विदुर फँसा है जो है तो कौरवों की ओर किन्तु उसकी सीधी दृष्टि पाण्डवों पर है।

दूसरी ओर है धर्म क्षेत्र, जिसमें पुण्यरूपी पाण्डु है, कर्तव्यरूपी कुन्ती है। जब तक पुण्य साथ नहीं देता, तब तक मनुष्य कर्तव्य समझकर जो कुछ भी करता है, उसके बन्धन का कारण होता है, क्योंकि पुण्य जागृत हुए बिना कर्तव्य-अकर्तव्य का निदान नहीं हो पाता। इसलिए पाण्डु के साहचर्य के पूर्व कुन्ती ने जो कुछ पैदा किया वह था कर्ण। आजीवन कुन्ती के पुत्रों से लड़ता रहा। पाण्डवों या दैवी सम्पद् के लिए सबसे बड़ा घातक यदि कोई था तो वह था कर्ण। पुण्य जागृत होते ही धर्म रूपी युधिष्ठिर, भाव रूपी भीम, अनुराग रूपी अर्जुन, नियम रूपी नकुल, सत्संग रूपी सहदेव का आविर्भाव हो जाता है; जहाँ सद्गुरु रूपी श्रीकृष्ण आत्मा से जागृत होकर, शरीर रूपी रथ के सारथी बनकर साधक का पथ संचालन करते हैं। वे हजारों मील दूर रहें किन्तु जागृति के पश्चात् साधक के इतने समीप रहते हैं जैसे हाथ, पाँव, नाक इत्यादि बल्कि इससे भी समीप, क्योंकि वे तो आत्मा में ही संचारित होते हैं, संकल्पों के साथ रहते हैं।

यही है धर्म का क्षेत्र और वह परम धर्म परमात्मा ही है। श्रीकृष्ण कहते हैं- "यह आत्मा ही परम सत्य, सनातन और शाश्वत है।" ब्रह्म की भी तो यही परिभाषा है। आत्मा अशोच्य है, अकाट्य है तो ब्रह्म की भी यही उपाधि

है। तात्पर्य यह है कि दर्शन के पश्चात् आत्मा ही परमात्मा से अभिन्न हो जाती है किन्तु आत्मा को इस स्वरूप में सबने नहीं केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा। अत: उस परम धर्म परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाली प्रवृत्ति ही धर्म क्षेत्र है। कृष्ण कहते हैं अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है जो इसका पार पा लेता है वह क्षेत्रज्ञ हैं। वह इसमें फँसा नहीं बल्कि इसका संचालक है। वह आपके अन्दर भी संचालन क्रिया पैदा कर सकता है और स्वयं तो पूर्ण है ही।

इस प्रकार इसी शरीररूपी क्षेत्र में दो प्रवृत्तियाँ अनादि हैं- एक दैवी सम्पद्, दूसरी आसुरी सम्पद्। इसी को क्रमश: विद्या और अविद्या, कुरुक्षेत्र अर्थात् दूषित रुखवाला क्षेत्र और धर्म क्षेत्र अर्थात् परमधर्म परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाला क्षेत्र सम्बोधित किया। वस्तुत: शरीर ही एक क्षेत्र है। जब इसमें बहिर्मुखी प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है तब यही क्षेत्र कुरुक्षेत्र बन जाता है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि का प्रारम्भिक जीवन! व्यक्ति वही है लेकिन सत् पुरुष का साथ हुआ तो वाल्मिकी भये ब्रह्म समाना। ब्रह्म के समानान्तर स्थिति वाले हो गये। इसी शरीर में जब परम धर्म परमात्मा में प्रवेश दिला देने वाली प्रवृत्ति सबल हो उठती है तो यही शरीररूपी क्षेत्र उस धर्म से संयुक्त हो जाता है, तब यही धर्मक्षेत्र कहलाता है।

यह मन है तो अन्धा! अज्ञान से आच्छादित रहता है। (अज्ञान भी मन का एक स्तर है) अत: अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र ! धृतराष्ट्र है तो अन्धा किन्तु "संयम रूपी संजय" संयम के माध्यम से यह देखता और समझता है। अज्ञान इसका सहज है। इसलिए पूर्तिपर्यन्त मन में संस्कार मात्र भी जीवित है, इसकी दृष्टि सदैव कुरुक्षेत्र की ओर रहेगी। अयुक्त मन को एक ही इन्द्रिय घसीट कर पतित कर देती है "मन: एव मनुष्याणाम् कारणं बंधमोक्षयो।" अत: पूर्तिपर्यन्त खतरा है-

हम जाने मन मर गया, मरा हो गया भूत ।
मरते ही पुनि उठि लगा, ऐसा मना कपूत।।

"मुएहु मन मनसिज जागा" की उक्ति चरितार्थ होती है, ऐसा यह शत्रु है। इसलिए वह अन्धा अन्त तक दुर्योधन का पक्ष लेता रह गया। जबकि भली प्रकार जानता था कि पाण्डव सत्य पर हैं।

सैन्य निरीक्षण भी युद्धस्थल के आध्यात्मिक स्वरूप को उद्भासित करता है। कौरवों की सेना ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डव पक्ष में सात अक्षौहिणी सेना थी। दोनों पक्षों को मिलाने पर यह गणना साढ़े छः अरब के लगभग होती है। प्रायः उतनी, जितनी आज विश्व की जनसंख्या है। इतनी जनसंख्या कुरुक्षेत्र के सीमित मैदान में कट गयी; जानकर आश्चर्य होता है। किन्तु आध्यात्मिक जगत् में ठीक ऐसे ही है। कौरव पक्ष में दस इन्द्रिय और एक मन यही ग्यारह अक्षौहिणी सेना है। अक्ष दृष्टि को कहते हैं। मन सहित इन्द्रियमयी दृष्टि से जिसका संचालन है वही है कुरुक्षेत्र, अविद्या की पार्टी। मन और इन्द्रिय यदि अपने विषयों की ओर उन्मुख हैं तो मोहरूपी दुर्योधन, दुर्बुद्धि रूपी दुःशासन, काम, क्रोध, मद, लोभादि आसुरी प्रवृत्तियाँ रहेंगी ही। यही वह कुरुक्षेत्र है इसी को आसुरी सम्पत्ति कहते हैं। दूसरी ओर योग की सात भूमिकामयी दृष्टि से जिसका गठन है वह है धर्मक्षेत्र, जिसमें अनुराग रूपी अर्जुन, कर्तव्य रूपी कुन्ती, भाव रूपी भीम, धर्म रूपी युधिष्ठिर, सत्संग, नियम इत्यादि हैं। और सबके मूल में हैं सद्गुरु रूपी श्रीकृष्ण जो आत्मा से जागृत होकर रथी के रूप में पथ संचालन करते हैं। इस प्रकार यह दैवी सम्पद् भी अनंत हैं। दो दृष्टियों से सेनाओं का मूल्यांकन शास्त्रकार ने किया है, न कि वहाँ आमने सामने कहीं कुछ खड़ा था।

इस क्षेत्र में स्थित वीरों का स्वरूप भी आध्यात्मिक ही है। युद्ध आरम्भ होने के पूर्व दुर्योधन ने आचार्य द्रोण से कहा कि अपने शिष्य धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी की गयी सेना को देखिये! इन लोगों की यह सेना जीतने में सब प्रकार से सुगम है जबकि हमारी सेना सब प्रकार से अजेय है जिसमें समितिंजय, कृपाचार्य इत्यादि हैं, जो अकेले ही सम्पूर्ण पाण्डवों को जीत सकते

हैं । वस्तुतः कृपा का आचरण ही कृपाचार्य है। इष्ट और अपने बीच यदि सूत भर अन्तर है तो साधक को कृपा का आचरण नहीं करना चाहिए। "दया बिनु सन्त कसाई। दया करी तो आफत आई।।" सीताजी न दया करतीं, न लंका में भोगना पड़ता। लक्ष्य प्राप्ति के पूर्व साधक कृपा के आचरण में उलझा तो कृपाचार्य समितिंजय बन जायेंगे, पूरे दैवी सम्पत्ति पर विजय पा लेंगे। अतः कृपा का आचरण ही कृपाचार्य है।

उत्साहवर्धन करते हुए दुर्योधन ने निर्देश दिया कि भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना सब प्रकार से अजेय है अतः हम लोग सभी मोर्चों पर भली प्रकार रहते हुए भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करें। दुर्योधन संकेत करता है कि भीष्म चले गये तो फिर हम लोगों के लिए कोई चारा नहीं है। अतः भीष्म वह कौन-सी शक्ति है, जिस पर समग्र कौरव समूह निर्भर हैं। आप सब युद्ध न करें बल्कि भीष्म की ही रक्षा करें? वस्तुतः भ्रम ही भीष्म है। जब तक हमारे आपके भीतर भ्रम विद्यमान है, विकार अजेय हैं। जहाँ भ्रम का निदान हुआ तहाँ बन्धन कारक कर्म भी समाप्त हो जायेगा, मोह भी समूल नष्ट हो जायेगा।

भीष्म की एक विशेषता थी कि उनकी इच्छा मृत्यु थी। "इच्छा काया इच्छा माया, इच्छा जग उपजाया। कह कबीर जे इच्छा वर्जित भ्रम नहिं तहँ भरमाया।" इच्छा ही काया और इच्छा ही माया है। इच्छा ने ही जगत् की उत्पत्ति की है। जब तक इच्छा है तब तक भ्रम तो जीवित रहेगा ही। इच्छा का अन्त नहीं दिखता किन्तु एक विन्दु ऐसा भी है जहाँ जाकर इच्छा समाप्त हो जाती है और वह विन्दु है- भगवत् प्राप्ति की इच्छा। भगवान अलग हैं और हम अलग हैं तो उन्हें प्राप्त करने की इच्छा स्वाभाविक है। किन्तु उनके प्राप्त होने पर उनसे श्रेष्ठ कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता, ऐसी अवस्था में वह इच्छा, वह भ्रम निर्मूल हो जाता है। यही भीष्म की इच्छा मृत्यु का रहस्य था। प्राप्ति के साथ ही इच्छा सर्वथा निर्मूल हो जाती है।

भीष्म उत्तरायण की प्रतीक्षा करते थे। सुरा की उर्ध्वरेता स्थिति ही उत्तरायण है। इंगला-पिंगला जिसमें क्रमशः चन्द्रमा और सूर्य का निवास है ऐसी श्वास की गति सुरा है। वही जब प्रकृति से उपराम होकर ऊर्ध्व गमन करने लगती है , ईश्वर में प्रवाहित होने लगती है, उस स्थिति में भीष्म सदा-सदा के लिए मर जाता है। क्योंकि भगवान में भ्रम तो होता ही नहीं।

दूसरी ओर दुर्योधन कहता है कि भीम द्वारा रक्षित इन लोगों की सेना जीतने में सब प्रकार से सुगम है। भावरूपी भीम। भीम था तो सबसे बलवान, किन्तु वह वृकोदर था, उसका स्थान था उदर। आज भरा है तो कल खाली। भाव का निवास भी तो हृदय ही रहता है। भाव सबसे शक्तिशाली भी है- 'भावे विद्यते देवा'। यदि भाव हो तो वह परमदेव परमात्मा भी विदित हो जाता है। "भाव वस्य भगवान, सुख निधान करुना अयन।" भाव में वह महान शक्ति है कि भगवान को भी वश में कर लेता है। अब इससे बड़ी कौन सी शक्ति होगी ? किन्तु यह इतना नाजुक है कि आज भाव है तो कल अभाव में बदलते देर नहीं लगती। इसलिए दुर्योधन कहता है कि भीम द्वारां रक्षित यह सेना जीतने में सुगम है। साधारण विघ्नों का धक्का लगते ही भाव मिट जाता है।

तत्पश्चात् दोनों पक्षों में शंखध्वनियाँ हुईं जिससे युद्ध क्षेत्र के अलौकिकता की पुष्टि होती है। शंखध्वनि का तात्पर्य अपने लक्ष्य का उद्घोष करना है कि यदि हम सफल हुए तो क्या कर दिखायेंगे, कौन सी सुख-सुविधा देंगे। कौरवों की ओर से एक ही शंखध्वनि होती है। पितामह भीष्म ने सिंहनाद के समान गरजकर शंख बजाया। जंगल से आप गुजरें और खुले में शेर की गर्जना सुनायी पड़ जाय तो रोंगटे खड़े हो जायँगे। सिंह भय का प्रतीक है। भय प्रकृति में है, भगवान में नहीं। अतः भ्रमरूपी भीष्म यदि सफल होता है तो भय की और भी गहरी परतों पर आपको खड़ा कर देगा। संसार में तो आप पहले से हैं ही, जिसमें भय ही भय है। भ्रम प्रबल होते ही आप भय से और

भी अधिक प्रभावित हो जायेंगे। इससे आगे कौरवों की गति नहीं है। माया के हजार बन्धन हैं तो लाख हो जायँगे, अनन्त हो जायँगे, भय की ओर ही मात्रा बढ़ती जायगी। इसके आगे और कोई घोषणा नहीं है। फिर कौरवों की ओर से कई बाजे बजे, नगाड़े बजे, किन्तु शंखध्वनि नहीं हुई।

तदनन्तर पाण्डवों की ओर से शंखध्वनि हुई। अलौकिक रथ (वह लौकिक रथ भी नहीं था कि चार पहियों या चार घोड़ों वाला रहा हो) पर बैठे हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक शंख बजाया। इन्द्रियों की पंच तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध; जो प्रारम्भ में विकृत थीं) को 'जन' की श्रेणी में नियुक्त कर देना अन्तर्यामी सद्‌गुरु पर निर्भर करता है। सद्‌गुरु आत्मा से जागृत होकर इन पाँचों के बहिर्मुखी प्रवाह को संयमित कर उन्हें जन की स्थिति में ढाल देता है, उन्हें सेवक बना देता है। इन्द्रियाँ बाधक नहीं, सहयोगिनी बन जाती हैं। यह स्थिति सद्‌गुरु कृपा की ही देन है। श्रीकृष्ण भी एक योगी ही थे, सद्‌गुरु थे। अर्जुन प्रणत होता है "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।" भगवन्! मैं आपका शिष्य हूँ, धर्म के विषय में मोहित मैं आपकी शरण हूँ। वही उपदेश कीजिए जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। निःसन्देह अर्जुन एक शिष्य है और योगेश्वर श्रीकृष्ण सद्‌गुरु के स्थान पर हैं।

"पांचजन्यम् हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।" अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया। 'अनुराग रूपी अर्जुन।' यदि तीव्र अनुराग है तो साधक दैवी सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त कर लेता है, जो परम देव परमात्मा में विलय कराने वाली है। इसीलिए अर्जुन का नाम धनंजय भी है। "पौण्ड्रम् दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः।" वृकोदर भीम सेन ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया। भाव सफल होता है तो इष्ट में प्रीति और प्रवृत्ति होती है। यही पौण्ड्र है।

नकुल ने सुघोष नामक शंख बजाया। नियमरूपी नकुल। ज्यों-ज्यों आप

नियम में प्रवृत्त होते जायँगे, अशुभ का दमन और शुभ घोषित होता जायगा। इसी प्रकार सहदेव ने "मणिपुष्पक" शंख बजाया। सत्संगरूपी सहदेव! महर्षियों ने प्रत्येक श्वास को मणि की संज्ञा दी है--'तेरी हीरा जैसी स्वाँसा, बातों में बीती जाय रे।" पत्थर की मणि तो कठोर है जो बाहर मिलती है लेकिन यह श्वासरूपी मणि कुसुम सदृश्य कोमल है। आज है तो कल के लिए निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। श्वास टूट गयी तो सदा के लिए चली जाती है, इसलिए बहुमूल्य है। अत: एक भी श्वास इष्ट के नाम से खाली न जाय। श्वास-प्रश्वास में गमन की क्षमता आ जाय, 'रिनक-रिनक धुनि अपने से उठे' तो एक-एक श्वास मणि की श्रेणी में आ जाती है। श्वास-प्रश्वास की यह क्रिया सत्संग द्वारा जागृत हो जाती है, और एक भी श्वास व्यर्थ न जाय, यह सत्संग पर निर्भर करता है। यदि सत्संग कामयाब होने लगता है तो उस मणि पर, श्वास-प्रश्वास पर अधिकार दिला देता है।

"अनन्त विजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिर।" "युद्धे स्थिर सः युधिष्ठिर।" इस आत्मिक संघर्ष में वही स्थिर रह पाते हैं जिनके अन्तःकरण में धर्म का संचार हो। धर्म रूपी युधिष्ठिर। परम धर्म परमात्मा ही है। धैर्यपूर्वक अभ्यास करते-करते साधक जब परम धर्म का स्पर्श पा जाता है अर्थात् धर्म जब हृदय में कामयाब हो जाता है तो 'अनन्त विजय' उस अनन्त, अखण्ड, व्यापक ब्रह्म पर विजय मिल जाती है। वह असम्भव से सम्भव हो जाता है।

लीजिए! कहीं 'अनन्त विजय', कहीं 'देवदत्त', कहीं 'पौण्ड्र', कहीं 'पांचजन्य' जैसे शंख बज रहे हैं और स्वयं सूत्रकार का कहना है कि सभी शंख सभी घोषणाएँ दिव्य हैं; अलौकिक हैं, लौकिक नहीं। संसार के प्रति इनकी दृष्टि थी ही नहीं। अब आप ही बताइए कि यह कैसा युद्ध क्षेत्र है?

युद्धस्थली में अर्जुन ने कहा--भगवन्! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच

में खड़ा कीजिए! मैं देख तो लूँ किससे लड़ना है? श्रीकृष्ण ने रथ बीच में खड़ा किया तो अर्जुन काँपने लगा। उसे पिता के भाई, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, ससुर और सुहृद दिखाई पड़े। अठारह अक्षौहिणी सेना में अर्जुन को पिता का परिवार, मामा का परिवार और ससुराल का परिवार ही दिखाई पड़ा। क्या सबके सब अर्जुन के रिश्तेदार ही थे? नहीं, वस्तुतः भगवत्पथ में चराचर जगत् ही युद्ध के रूप में उपस्थित है। अतः यह कहना असम्भव है कि संख्या प्रमाण क्या है? दो दृष्टियों से सेना का विभाजन मात्र है। इनमें अर्जुन ने अपने परिवार और हितैषियों को ही खड़ा पाया। सबसे पहले अर्जुन ने उन्हें देखा और व्यग्र हो उठा। देखिए, अनुरागरूपी अर्जुन! अनुरागी जब इष्ट के पथ पर अग्रसर होता है तो पारिवारिक आसक्ति उसके समक्ष विकराल रूप लिए आती है। पूज्य परमहंस जी कहते थे--"मरब और साधू होब बराबर है।" मरना और साधू होना बराबर है। संसार में और कोई जीवित है भी, किन्तु घरवालों के नाम पर कोई नहीं, कभी नहीं। यदि कुछ भी आसक्ति बनी है तो उसका कल्याण नहीं होता, जन्म लेना पड़ता है। इसीलिए इतना बड़ा प्रतिबन्ध है। मन से विस्मरण करना और मरना एक जैसी ही बात है। सांसारिक बन्धन मन की कल्पना मात्र है। इन सम्बन्धों का विस्मरण भी मरण ही है। चेतना रहित होने पर भी सभी सम्बन्ध लुप्त हो जाते हैं। अतः साधक के लिए लौकिक स्नेह-सम्बन्धों का विस्मरण ही श्रेयस्कर है।

इस प्रकार साधक के समक्ष सर्वप्रथम यही समस्या रहती है कि अबोध बच्चों, मामा के परिवार, चाचा के परिवार, सगे-सम्बन्धियों का त्याग कैसे किया जाय? इनके प्रति भी तो कुछ धर्म होता है। इनका पालन-पोषण भी तो कर्तव्य है? यही तो सनातन कुल धर्म है। धर्म के नाम पर प्रायः ऐसी ही कुरीतियाँ सदा ही पनपती रही हैं। मुसलमानों के आगमन के साथ तथा अद्यावधि ऐसी ही भ्रान्ति है कि स्पर्श करने या उनका एक ग्रास चावल खाने से, एक घूँट पानी

पीने से सनातन धर्म नष्ट हो जायगा। ऐसी ही एक कुरीति का शिकार अर्जुन भी था। वह भी इन्हीं की दुहाई देने लगा कि अपने ही परिवार का क्षय करने से वह कुल क्षय के दोष का भागी बनेगा और इस प्रकार सनातन धर्म भी नष्ट हो जायगा। वह यह नहीं कहता कि हम भूल कर रहे हैं बल्कि कहता है हमलोग महान पाप करने को उद्यत हुए हैं अर्थात् कृष्ण पर भी आरोप लगाता है कि आप भी पाप करने जा रहे हैं।

कृष्ण कहते हैं-- अर्जुन! इस विषम स्थल में तुझे यह अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? विषम? अर्थात् जिसकी समता का कोई स्थल है ही नहीं। जिस युद्ध की बात मैं कर रहा हूँ उसके समानान्तर का कोई युद्ध क्षेत्र ही नहीं है। कुलधर्म नष्ट हो जायगा, यह अज्ञान की बात कैसी, क्यों? क्या कुल धर्म और सनातन धर्म के रक्षा की बात करना अज्ञान है? कृष्ण कहते हैं-- हाँ, अज्ञान ही है। न तो श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा इसका कभी आचरण किया गया, न संसार में कीर्ति बढ़ाने वाला है और न तो यह परम कल्याण ही करने वाला है। सम्भावित पुरुषों ने जिसका आचरण नहीं किया, सिद्ध है कि वह अज्ञान ही है।

अर्जुन ने समर्पण कर दिया कि भगवन्! धर्म के विषय में मैं मूढ़ चित्त हूँ। मैंने सुना है कि यही धर्म है। सत्य क्या है, मैं नहीं जानता। जो सत्य हो, उसे आप मेरे प्रति कहिए, जिससे मैं परम कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। पृथ्वी अथवा त्रिलोकी के धन-धान्य सम्पन्न साम्राज्य के लिए भी मैं युद्ध नहीं करना चाहता। क्योंकि देवताओं का स्वामी होने पर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले इस शोक को दूर कर सके। इससे भी श्रेष्ठ कोई वस्तु हो तो आप उसे मेरे प्रति कहिए। विलक्षण था वह युद्ध क्षेत्र जो भौतिक उपलब्धियों के लिए नहीं, वरन् उससे भी श्रेष्ठ स्थिति के लिए आपका आह्वान करता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि सत्य वस्तु का तीनों काल में अभाव नहीं है और असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है। अर्जुन! यह आत्मा ही परम सत्य है, यही सनातन है। अग्नि इसे जला नहीं सकती, वायु इसे सुखा नहीं सकता, जल इसे गीला नहीं कर सकता। शरीर के मरने पर भी यह मरता नहीं। यह अजर, अमर, अविनाशी, अपरिवर्तनशील है और यही सनातन है। भौतिक क्षेत्र में उत्पन्न होने वाला कोई पदार्थ जिसका स्पर्श भी नहीं कर पाता, उसका नाम सनातन है, तो केवल खाने-खिलाने से; एक घूँट पानी से वह सनातन नष्ट कैसे होगा? हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो सकती है, वह भ्रष्ट नहीं हो सकता। ऐसी ही शंकाओं का निराकरण श्रीकृष्ण ने गीतोक्त कुरुक्षेत्र में किया था और ऐसा ही था वह युद्धस्थल जिनमें विकारों से लड़कर सनातन एवं अव्यय स्थिति की प्राप्ति का मार्ग सद्‌गुरु श्रीकृष्ण ने अनुरागी अर्जुन को बताया; केवल बताया ही नहीं; उस पर चला भी दिया।

प्रश्न-महाराज जी! कुरुक्षेत्र को आप विजातीय पार्टी कहते हैं लेकिन उस कुरुक्षेत्र में तो कौरव पाण्डव दोनों ही सेनाएँ एकत्र हुई थीं।

उत्तर-कौन कहता है कि आध्यात्मिक कुरुक्षेत्र में दोनों सेनाएँ एकत्र हुईं। कृष्ण कहते हैं "धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे" धर्मक्षेत्र में और कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा वाले एकत्र हुए; इसे क्यों नहीं याद रखते? धर्म एक क्षेत्र है, कुरु एक अलग क्षेत्र है।

प्रश्न-क्या महाभारत युद्ध की ऐतिहासिकता संदिग्ध है?

उत्तर-ऐसी बात नहीं कि महाभारत युद्ध नहीं हुआ। युद्ध अवश्य हुआ। महापुरुषों ने उस संघर्ष को दृष्टान्त बनाकर उसी के माध्यम से हृदय देश में प्रकृति और पुरुष के बीच संघर्ष का चित्रण किया। घटना घटी न होती तो उदाहरण कहाँ से आते? किन्तु महाभारत-गीता इत्यादि मात्र ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं हैं।

श्लिष्ट एवं यौगिक शब्दों में लिखे गये इन ग्रन्थों में आध्यात्मिक रहस्य अनुस्यूत हैं जिन पर चलकर विश्व का कोई भी मानव परम कल्याण की अनुभूति कर सकता है। यही मानव तन की चरम उपलब्धि भी है।

वस्तुत: प्रत्येक शास्त्र की रचना दो दृष्टियों से हुआ करती है। तत्त्वज्ञ मनीषियों का यही चिरन्तन विधान रहा है। शास्त्रों की संरचना में उनका दो अभिप्राय रहा है, एक तो इतिहास को जीवित रखना, जिससे भावी पीढ़ी को संसार में जीवन-यापन का मर्यादित मार्ग-दर्शन मिल सके। पिता-पुत्र, भाई-बहन, माता-पिता, सुहृद मित्र तथा पूज्य गुरुजनों के प्रति आदर्श व्यवहार का प्रशिक्षण इन शास्त्रों के माध्यम से प्रदान करना मनीषियों का प्राथमिक लक्ष्य रहा है किन्तु कुशलतापूर्वक जी-खा लेने मात्र से हमारे कर्तव्यों की इतिश्री नहीं हो जाती। इससे कल्याण की भूमिका अवश्य तैयार होती है किन्तु इतने से ही वह परम कल्याण सम्भव नहीं है जो परम तत्त्व की उपलब्धि से होता है। आत्मिक पथ को प्रशस्त करना, यौगिक प्रक्रिया का सम्यक् जागरण कराना तथा उस पर मानव-मात्र को चलाना शास्त्र-रचना का मूल हेतु है। इस पहलू के निरूपण में उस घटित घटना को महापुरुष उदाहरण के लिए ले लेते हैं जिसे साधक सरलता से हृदयंगम कर लेता है। यही कारण है कि तत्त्वज्ञ मनीषियों ने रोचक, भयानक कथानकों के बीच-बीच में यथार्थ का भी संकेत किया जिससे अधिकारी ही उसे ग्रहण कर सकें और उस पर चलकर जन्म-मृत्यु की असह्य यातनाओं से छुटकारा पाकर परम श्रेय को प्राप्त कर सकें।

ॐ

गीतोक्त युद्ध

प्रश्न- महाराज जी! गीता में युद्ध का स्वरूप क्या है?

उत्तर- देखिये, देश-विदेश में जहाँ जिसने गीता का नाम भी सुना है वह इतना अवश्य ही सोच लेता है कि गीता महाभारत युद्ध की प्रवेशिका मात्र है। इतना ही नहीं, गीता का नाम लेते ही मानव-मन युद्ध की ओर चला जाता है। परन्तु गीता शास्त्रकार की सूक्ष्म दृष्टि पर विचार करें तो यह अकाट्य निर्णय है कि युद्ध किसी काल में नहीं हुआ। सम्पूर्ण गीता में भौतिक संघर्ष अथवा मार-काट का एक भी सूत्र नहीं है।

१- अर्जुन लड़ना नहीं चाहता था। अठारह अक्षौहिणी में अपने ही परिवार सुहृद् और गुरुजनों को देखकर वह युद्ध से कतराने लगा। सनातन धर्म और कुल धर्म की दुहाई देने लगा। तब भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि अर्जुन! तू न शोक करने योग्यों के लिए शोक करता है और पंडितों की तरह वचन कहता भर है परन्तु पंडित लोग जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिए भी शोक नहीं करते क्योंकि आत्मा न तो मरती है, न किसी को मारती है। कौन्तेय! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देनेवाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो क्षणभंगुर हैं। इसलिए अर्जुन! तू उनको सहन कर।

क्यों? क्या हिमालय की लड़ाई थी जो अर्जुन सर्दी सहता? अथवा रेगिस्तान की लड़ाई थी जो गर्मी सहन करता? कुरुक्षेत्र तो एक समशीतोष्ण स्थली है। कुल अठारह दिन ही तो लड़ाई हुई। कृष्ण ऐसा निर्देश क्यों देते हैं? वस्तुतः वह एक अन्तःकरण की लड़ाई है। सुख-दुःख, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी इनका सहन करना एक योगी पर ही निर्भर करता है। अतः योग की प्रवेशिका वालों के लिये ही इसका विधान है।

२- तदनन्तर श्रीकृष्ण ने कहा कि अर्जुन! असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। अर्जुन! यह आत्मा ही सत् है। यही परम सत्य है, इसके आगे कोई सत्य नहीं है। शरीर नाशवान है, इसीलिए तू युद्ध कर। तो क्या पांडव-पक्ष के शरीर अविनाशी थे? वे भी तो शरीरधारी थे। इससे यह तो निश्चित नहीं होता कि अर्जुन पांडवों को न मारे। जिधर भी शरीर दिखायी पड़े, उधर ही मारना चाहिए था। फिर, जब शरीर नाशवान है, इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है तो कृष्ण किसकी रक्षा में खड़े हैं? अर्जुन कौन था? क्या कोई पिण्डधारी था? कृष्ण की ही मान्यता है कि नाशवान शरीर के लिए श्रम करने वाले अविवेकी यथार्थ नहीं जानते। इन्द्रियों का आराम चाहने वाले पापायु वृथा ही जीते हैं। अतः यदि कृष्ण किसी की शरीर-रक्षा के लिए खड़े थे तब तो वे भी अविवेकी, पापायु और व्यर्थ जीने वाले सिद्ध होंगे क्योंकि शरीर को तो रोका नहीं जा सकता। अतः स्पष्ट है कि गीता सांसारिक युद्ध से सम्बन्धित नहीं है।

पुनः काटने से क्या शरीर कट जायेगा? टहनियों के काटने से क्या वृक्ष सूख जायगा? असम्भव! वस्तुतः जो जिसको जितना दबाता है, बदले में उसे भी उतना ही दबना पड़ता है। यह शरीर भी जन्म-जन्मान्तरों में चुकाया जाने वाला बदला है। शस्त्र से काटने मात्र से शरीरक्रम के समाप्ति की संभावना नहीं है क्योंकि शरीर संस्कारों पर निर्भर है। अतः शरीर का सर्वथा अंत तभी होगा जब जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों का अवसान होगा। तभी इस शरीर और आत्मा का सदा-सदा के लिए विच्छेद होता है। संस्कारों में जो कुछ भी है, संकल्पों में उमड़ कर आता है। अतएव जिन महापुरुषों ने संकल्प-विकल्प की गति का निरोध कर लिया उन्होंने मन के सर्वथा निरोध के साथ ही अन्तःकरण में परम तत्त्व, शाश्वत, सनातन, ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पा लिया। **''इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः''** उन पुरुषों द्वारा संपूर्ण संसार जीत लिया गया जिनका मन समत्व में स्थित है। क्यों? मन के समत्व और संसार जीतने का क्या सम्बन्ध

है? जिसने संसार जीत लिया वह रुका कहाँ? कृष्ण कहते हैं "**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**" ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर साधक का मन भी उत्थान करते-करते इतना निरुद्ध हुआ कि निर्दोष और समत्व की स्थिति वाला हो गया अतः "**तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः**" (५।१८) इसीलिए वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। इसी अवस्था में शरीर का सम्बन्ध सदा के लिए टूटता है, इसके पूर्व कभी नहीं। अतः शरीर का वास्तविक नाश चिन्तन-भजन पर निर्भर करता है, न कि तलवार द्वारा काटने पर।

३- अध्याय दस में भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियों का संक्षेप में वर्णन किया कि अर्जुन! सप्तर्षि और उनसे भी पूर्व होने वाले सनकादि चारों ऋषि मैं ही हूँ। सूर्य में प्रकाश मैं हूँ। अग्नि में तेज मैं हूँ। शस्त्रधारियों में राम मैं हूँ। इन्द्रियों में मन हूँ। इसी प्रकार विभूतियों का वर्णन करते हुए कहा कि अर्जुन मेरी विभूतियों का कोई अन्त नहीं है, अनन्त हैं। तुम्हें बहुत जानने से क्या प्रयोजन? जितनी भी ऐश्वर्य युक्त वस्तुएँ हैं, मेरे ही अंश से उत्पन्न जान! जुए में, छल में जीतने वालों की विजय मैं हूँ। यदि यह साधारण जुआ है तब तो भगवत्प्राप्ति के साधनों में इसे भी गिना जाता। क्योंकि जीतने पर भगवान मिलते किन्तु सम्पत्ति चाहे जो मिल जाय, जुए से भगवान मिलते किसी को दिखायी नहीं पड़े। वास्तव में प्रकृति ही एक जुआ है, धोखे का एक आवरण है। विवेक-वैराग्य से, सतत् लगनपूर्ण साधना से ब्रह्मज्ञ पुरुषों के संरक्षण से जो भी प्रकृति पर विजय पा लेता है उसी की विजय सच्ची विजय है। इसी विजय के अन्त में भगवान रहते हैं, न कि साधारण जुए के अन्त में। इसी प्रकार कृष्ण ने कहा, मैं सबमें व्याप्त हूँ।

इसे सुनकर ग्यारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने कहा, भगवन्! आपने जो कुछ कहा सर्वथा सत्य है, मैं मानता हूँ। इसे सुनकर मेरा अज्ञान, मोह नष्ट हो गया। क्या वस्तुतः अर्जुन का मोह नष्ट हो गया था? क्योंकि इसी के ठीक

पश्चात् भगवान के विराट स्वरूप का दर्शन कर अर्जुन गिड़गिड़ाने लगा। कहीं विज्ञानी को भय होता है? अर्जुन को अभी तक कोरी सैद्धान्तिक जानकारी ही थी। अर्जुन भी इस बात को जानता था। अत: उसने प्रार्थना किया कि भगवन्! जैसा आपने बताया है, बल, ऐश्वर्य और विभूतियों से परिपूर्ण आप के उस शरीर को मैं देखना चाहता हूँ। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय भक्त, अनन्य सखा अर्जुन से कहा--लो, तुम मेरे उसी स्वरूप को देखो। अब, आकाश से पाताल तक सर्वत्र फैले हुए मेरे तेज को देख। मेरे ही अन्तर्गत आदित्यों, वसुओं और अश्विनी कुमारों को देख। मरूद् गणों को देख। चराचर सहित सम्पूर्ण विश्व को मेरे अन्तराल में एक ही स्थान पर खड़ा देख। इस प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण दो-तीन श्लोक तक बताते चले गये लेकिन अर्जुन आँखें मलता ही रह गया। तब सहसा भगवान रुक जाते हैं। कहते हैं--अर्जुन! तू मुझे इन आँखों से नहीं देख सकता (क्योंकि भगवान तो अगोचर हैं, मन-बुद्धि से सर्वथा परे हैं) अब मैं तुझे वह दृष्टि देता हूँ कि तुम मुझे देख सको।

भगवान तो सामने खड़े ही थे। अर्जुन ने देखा। सहस्रों (अनन्त) सूर्य से भी अधिक उनके तेज को देखा। सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश दिखायी पड़ा। अर्जुन को दिग्-भ्रम हो आया (क्योंकि सूर्य से ही तो दिशा का बोध होता है) वह बोला-भगवन्! आप का यह असह्य तेज देखकर मैं दिशाओं को भी नहीं जान पा रहा हूँ 'दिशो न जाने'। वह पहले ही कह चुका था, 'केशव! आप को न दानव जानते हैं और न देवता ही जानते हैं। हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने से आप को जानते हैं। आप जिसे जना दें वही आप को जान पाता है।' वस्तुत: भगवान जिस भक्त को बताना चाहते हैं उसके अन्तराल में स्वयं दृष्टि बनकर और सामने स्वयं खड़े हो जाते हैं। केवल वही देख पाता है, अन्य कोई नहीं।

अर्जुन ने बताया--'आपके अन्तर्गत मैं चराचर जगत् को स्थित देखता

हूँ। रुद्र, वसु, साध्यगण, विश्वदेव, अश्विनी कुमार, मरुद्‌गण, पितर, गन्धर्व, यक्ष-राक्षस और सिद्धगणों के समुदाय सभी आप के अन्तराल में स्थित हैं। धृतराष्ट्र के सभी पुत्र, भीष्म, द्रोण, सूतपुत्र कर्ण सब के सब बड़े वेग के साथ आप के भयानक मुखों में चूर्ण होते जा रहे हैं। न मैं आपके आदि को देख पाता हूँ, न अन्त को ही देख पाता हूँ और न मध्य का ही निर्णय कर पाता हूँ।' रोमांच हो गया, धनुष गिर गया, प्रार्थना करने लगा--"भगवन्! भोजन अथवा शयन के समय, एकान्त अथवा सखाओं के बीच मैंने कभी आप को 'हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा'-ऐसा कुछ कह दिया था। उन त्रुटियों को आप क्षमा करें।"

छोटी-छोटी बातों के लिए अर्जुन क्षमा-याचना करने लगा। कभी 'कृष्ण' अर्थात् काला कह दिया था। क्या कृष्ण कहना भी कोई अपराध है? कृष्ण का रंग सावला था ही, गोरे कैसे कहे जाते? यादव कहना भी कोई अपराध नहीं था क्योंकि यदुवंश में श्रीकृष्ण ने जन्म ही लिया था, और कहा भी क्या जाता? सखा कह देना भी अपराध नहीं था। कृष्ण स्वयं ही अर्जुन को सखा कहकर सम्बोधित करते थे किन्तु जब अर्जुन ने उनके प्रभाव को देखा तो इन क्षुद्र त्रुटियों के लिए क्षमा याचना करने लगा। उसने देखा कि श्रीकृष्ण न तो काले हैं, न गोरे हैं, न यादव हैं और न सखा ही बल्कि यह तो परात्पर ब्रह्म, अव्यक्त सत्ता हैं। जिस पर दया करते हैं उसी को दिखाई पड़ते हैं। इधर दृष्टि बनकर खड़े हो जाते हैं, उधर स्वयं रहते हैं। इस प्रकार अर्जुन ने श्रीकृष्ण को तत्त्वतः देखा।

भगवान बोले--"अर्जुन! मेरे स्वरूप को जैसा तूने देखा है वैसा तेरे सिवा 'न दृष्टपूर्वम्' न तो कोई पहले देख पाया है और न कोई भविष्य में देख सकेगा।' तब तो गीता हम सबके लिए व्यर्थ है, क्योंकि भगवान को देखने की योग्यता केवल अर्जुन तक सीमित रह गयी। स्वयं कृष्ण पहले बता आये हैं कि इसी कर्म को करके बहुत से मनीषी मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं--**बहवो ज्ञानतपसा**

पूता मद्भावमागताः' (४।१०)।। यहाँ ग्यारहवें अध्याय में कृष्ण कह रहे हैं कि मेरे स्वरूप को पूर्व में तेरे अतिरिक्त न कोई देख पाया, न भविष्य में कोई देख सकेगा। अन्ततः कृष्ण कहना क्या चाहते हैं? अर्जुन कौन था? 'अनुराग रूपी अर्जुन!' अर्जुन अनुराग का प्रतीक है। कहना न होगा कि भगवान अनुरागी को ही मिलते हैं--

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये कोटि जप योग विरागा।।

इष्ट के अनुरूप राग अनुराग है और अनुराग ही अर्जुन है। अनुराग विहीन न तो पहले ही किसी ने भगवान को प्राप्त किया और न भविष्य में ही कभी कोई प्राप्त कर सकेगा। भगवान "अनुरागिन के उर बसैं, उदासीन के शीश।"

४-- इतना ही नहीं अपितु श्रीकृष्ण ने अपनी प्राप्ति का उपाय भी बताया-

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। (११।५५)

अर्जुन! जो मेरे द्वारा निर्धारित कर्म करता है, मेरे परायण होकर कर्म करता है, 'संगवर्जितः' किन्तु संग दोष के रहते इस कर्म को नहीं किया जा सकता; अतः संग दोष से अलग रहकर जो कर्म करता है, जो सम्पूर्ण भूत प्राणियों से सर्वथा वैरभाव रहित है, वही मुझे प्राप्त कर सकता है। अर्जुन! वही मुझे देख सकता है, जैसा तूने देखा है। संग दोष से रहित होकर नितान्त एकान्त में अर्जुन किससे लड़ता? फिर यदि अर्जुन लड़ता तो वह भगवान के स्वरूप को नहीं देख सकता। यदि वह प्रण करके जयद्रथ या कर्ण को मारता है तो 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' की भगवद् आज्ञा का तिरस्कार करता है। किन्तु अर्जुन लड़ता है। बिना वैर के लड़ाई कैसी? इस प्रकार गीता में एक भी सूत्र ऐसा नहीं है जो बाह्य मार-काट का समर्थन करता हो। वस्तुतः यह अन्तःकरण की लड़ाई है।

५-- अध्याय सोलह में श्रीकृष्ण ने बताया- अर्जुन! इस लोक में प्राणियों के स्वभाव दो प्रकार के माने गये हैं। एक तो देवों जैसा और दूसरा असुरों जैसा। अभय, अन्तःकरण की स्वच्छता, इन्द्रियों का दमन, आर्जवम्, क्षमा, दया, अद्रोह, निरन्तर चिंतन, वास्तविक जानकारी इत्यादि चौबींस लक्षण दैवी सम्पद् के गिनाये, जो सब के सब किसी पहुँचे हुए महापुरुष में ही सम्भव हैं, आंशिक रूप में आप में, हममें भी हो सकते हैं। इसी तरह दम्भ, दर्प, परुषता, काम, क्रोध, लोभ तथा मोह आसुरी सम्पदा को प्राप्त पुरुष के लक्षण हैं। आसुरी सम्पद् को प्राप्त मनुष्य अनन्त आशा, अनन्त तृष्णा एवं अपरिमेय चिंताओं से युक्त रहता है। वह सोचता है कि मेरे पास इतना धन है; भविष्य में इतना और हो जायगा। मैं ही ईश्वर एवं ऐश्वर्य का भोक्ता हूं। स्त्री-पुरुष के संयोग से जो कुछ उपलब्ध है, मात्र इतना ही सत्य है, आगे ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है।

"आसुरी सम्पद् अधोगति और नीच योनियों के लिए होती है जब कि दैवी सम्पद् परम कल्याण और शाश्वत स्थिति के लिए होती है। पाण्डव! तू शोक मत कर क्योंकि तू दैवी सम्पदा को प्राप्त हुआ है। तू मुझमें निवास करेगा।" सुधीजनों से कहने की आवश्यकता नहीं है कि दैवी सम्पद् की सभी योग्यताएँ ईश्वरोन्मुख साधकों के लिए हैं, न किसी सांसारिक योद्धा के लिए।

इसी क्रम में श्रीकृष्ण कहते हैं कि आसुरी सम्पद् को प्राप्त पुरुष विचार करता है, "वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और दूसरे शत्रु भी भविष्य में मेरे द्वारा मारे जायेंगे"-- ऐसा सोचने वाला अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ परमात्मा को कृश करने वाला है। उस आत्मा और मुझ परमात्मा के बीच प्रकृति की परतें पड़ती जाती हैं, वह मुझ परमात्मा से दूर होता जाता है। ऐसे क्रूरकर्मी नराधमों को मैं संसार में बारम्बार अधोगति और नीच योनियों में ही गिराता हूँ।" इतनी स्पष्ट चेतावनी सुनकर भी क्या अर्जुन लड़ता? यदि अर्जुन प्रण

करके जयद्रथादि किसी को लड़ाई में मारता तो वह भी अधोगति और नीच योनियों का पात्र होता। आसुरी सम्पद् को प्राप्त वह सोचता कि यह मेरे द्वारा मारा गया, मैं इसे मारूँ? सूतपुत्र कर्ण से बैर बाँधता तो भगवान से द्वेष करता। फिर तो उसे आसुरी योनियों में जाना चाहिए था जब कि भगवान स्वयं कहते हैं कि "अर्जुन! तू मुझमें निवास करेगा।" अर्जुन यदि लड़ता तो परम कल्याण को न पाता, भगवान को न पाता। खुले हुए नरक के द्वार देखकर भी क्या कोई लड़ेगा? कभी नहीं। मूर्ख भले ही लड़ें किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण का शिष्य तो कभी नहीं लड़ेगा। अतः पूरी गीता में एक भी श्लोक ऐसा नहीं है जो बाह्य मारकाट का समर्थन करे। संसार में झगड़े होते रहते हैं लेकिन जो जीतता है विजय उसकी भी नहीं होती। जब शरीर ही साथ नहीं जाता तो शरीर के उपयोग की वस्तु कब तक साथ देगी? संसार में होने वाली लड़ाई तो बदले हैं जिसमें जन्म-जन्मान्तर के संस्कार चुकाये जाते हैं। वास्तविक युद्ध तो अन्तःकरण की लड़ाई है, जिसमें एक बार जीत लेने पर हारने का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता।

६- अध्याय आठ में श्रीकृष्ण ने कहा--"अर्जुन! प्रयाण काल में मनुष्य जिसका स्मरण करते हुए शरीर त्यागता है प्रायः उसी को प्राप्त होता है और जो पुरुष अंतकाल में मेरा चिंतन करते हुए शरीर का त्याग करता है वह साक्षात् मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।" तब तो बड़ा सस्ता सौदा है। जनम भर मौज करें, मस्ती काटें, जब मरने लगेंगे तो भगवान का स्मरण कर लेंगे। किन्तु कृष्ण कहते हैं ऐसा हो ही नहीं सकता। उस समय स्मृति भ्रमित रहती है, बुद्धि विकल रहती है। नवीन विचार आ ही नहीं सकते। आजीवन जिस भाव का अभ्यास रहता है, अंतःकाल में भी वही चिंतन अनायास खड़ा हो जाता है। अतः अर्जुन! तू आज से ही मेरा चिन्तन कर। कल तो कभी आता नहीं। यदि करना है तो आज से ही कर और युद्ध भी कर।

अब निरन्तर चिन्तन और युद्ध कैसे संभव है? हो सकता है कि हम डंडा फेंकते रहें; वाण चलाते रहें और 'जय कन्हैया लाल की' 'जय भगवान' कहते जायँ। किन्तु नहीं; इस प्रकार के चिंतन से काम नहीं चलेगा। उस चिंतन का विधान भी स्वयं श्रीकृष्ण अगले श्लोकों में स्पष्ट करते हैं- **अभ्यास योग युक्तेन चेतसा नान्यगामिना**'' (८।८)।। अर्जुन! उस चिंतन का विधान है कि परम वैराग्य में स्थिर होकर, संगदोष से अलग रहकर, एकान्त देश का सेवन करते हुए, इन्द्रियों को विषयों से भलीं प्रकार समेट कर, चित्त को सब ओर से खींच कर मुझमें लगाये। सिवाय मेरे किसी दूसरे विषय वस्तु का चिंतन न करते हुए मेरा निरन्तर चिंतन करे।'' इस प्रकार भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का चिंतन न आये। यदि आता है तो भजन नहीं है। एकान्त देश में जहाँ साधक के अतिरिक्त कोई नहीं है, युद्ध किससे होगा? पुन: चिन्तन की विधि इतनी सूक्ष्म है कि इष्ट के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का स्मरण तक न हो। मान लीजिये कि आप के सामने रखी वस्तु ही कृष्ण है तो उनके सिवा पृथ्वी, गिलास, पुस्तक, 'मैटर' क्षेत्र की कोई भी वस्तु ध्यान में आ जाय तो चिंतन नहीं है। जब चिंतन इतना सूक्ष्म है तो युद्ध कैसे होगा। जिसकी आँखें बन्द हैं, दृष्टि स्थिर है, तो चित्त को सब ओर से समेट कर जिसने इष्ट में लगा रखा है, वह लड़ेगा कैसे? साधारण लड़ाई में तो शत्रु की गति-विधि क्षण-क्षण पर परखते रहते हैं। ध्यानस्थ व्यक्ति युद्ध किस प्रकार करेगा। अत: गीता साधारण युद्ध का उद्‌बोधन नहीं है।

वस्तुत: जब साधक चिंतन में अग्रसर होता है, चित्त को सब ओर से समेट कर इष्ट में निरोध करने लगता है तो मायिक प्रवृत्ति बाधा के रूप में प्रत्यक्ष है। मन उड़ने लगता है। इन मायिक प्रवृत्तियों का पार पाना ही युद्ध है। वास्तविक युद्ध तो इस आध्यात्मिक क्रिया में ही है इसीलिए अर्जुन प्रश्न उठाता है कि भगवन्! इस मन को मैं वायु से भी तेज चलने वाला पाता हूँ। इसका रुकना

तो असम्भव ही है। श्रीकृष्ण उसे उत्साहित करते हैं-**असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्**'' अर्जुन इसमें कोई संशय नहीं कि मन बड़ा दुर्जय एवं चंचल है। बड़ी कठिनाई से वश में होने वाला है किन्तु--

''अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'' ।।६।३५।।

अभ्यास और वैराग्य द्वारा अयुक्त मन को भी निरुद्ध किया जा सकता है। मन को एक स्थान पर बार-बार सब ओर से समेटने का नाम अभ्यास है और वैराग्य का आशय है देखी और सुनी विषय-वस्तुओं में राग का सर्वथा त्याग। जहाँ भी चित्त जाय वहाँ से समेट कर इष्ट में लगाने का नाम ही अभ्यास है। दीर्घकाल तक अभ्यास और वैराग्य द्वारा यह मन शनैः-शनैः निरुद्ध होते-होते सर्वथा रुक जाता है। अतः अर्जुन! तू अभ्यास कर।'' इस प्रकार कृष्ण ने चिंतन का जो स्वरूप बताया उसके लिए वैराग्य और अभ्यास ही एकमात्र माध्यम है जिसमें चित्त को सब ओर से समेट कर केवल इष्ट में लगाना होता है।

इसी रहस्य की ओर संकेत करते हुए श्रीकृष्ण तीसरे अध्याय में कहते हैं कि अर्जुन! 'अध्यात्म चेतसा' ध्यानस्थ चित्त से 'युद्धस्व' युद्ध कर। यदि चित्त ध्यान की ओर उन्मुख है, आँखें बन्द हैं, सुरत की डोर लग रही है तो युद्ध किससे होगा? किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं युद्ध कर। वस्तुतः सुरत की डोर लगाते समय जन्म-जन्मातरों के संस्कार उभर कर सामने आते हैं। संग-दोष -जनित वर्तमान का दोष, यहाँ तक कि कुछ क्षण पूर्व का टकराव भी दृश्य बनकर सामने आता है। इन विजातीय संकल्पों का पार पाना ही युद्ध है अन्यथा जिसका चित्त ध्यान में केंद्रित है वह भला किससे लड़ेगा?

७- इसी सन्दर्भ में इन शत्रुओं पर भी विचार कर लिया जाय जिनसे लड़ता है। तीसरे अध्याय में अर्जुन ने पूछा-भगवन्! जो कुछ आप कहते हैं,

यदि वह सत्य है, फिर मनुष्य न चाहता हुआ भी किसकी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है? श्रीकृष्ण ने बताया--**"काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवम्"** अर्जुन! रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध ही इस रास्ते के महान शत्रु हैं। यही ज्ञान-विज्ञान को नष्ट करने वाले तथा ज्ञानियों के निरन्तर के शत्रु हैं। इसलिए भरतर्षभ! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके कामरूपी इस दुर्जय शत्रु को मार। जब शत्रु अन्दर है तो बाहर कोई किसी से क्यों लड़ेगा? अतः यह अंतःकरण की लड़ाई है, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का संघर्ष है। अंतःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं- दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद्। एक परम कल्याण करने वाली है तो दूसरी अधोगति की ओर ले जाने वाली है। जब साधक चिन्तन द्वारा दैवी सम्पद् की ओर अग्रसर होता है तो आसुरी सम्पद् बाधा के रूप में प्रत्यक्ष ही है। इसका पार पाना ही युद्ध है।

शत्रुओं का स्वरूप स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण बताते हैं कि संसार ही एक शत्रु है- **ऊर्ध्वमूलं अधः शाखम् अश्वत्थम् प्राहुरव्ययम्।** संसार पीपल का वृक्ष है जिसमें ऊपर आत्मा ही मूल है, नीचे प्रकृति ही शाखाएँ हैं। यह अविनाशी भी है। जो इसे जानता है वह वेद के तत्त्व का ज्ञाता है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।। (१५।२)

अर्जुन! उस संसार वृक्ष की तीनों गुण रूपी जल के द्वारा बढ़ी हुई शाखायें, विषय-भोगरूपी कोपलें, देव-मनुष्य और तिर्यक् योनियों में सर्वत्र फैली हुई हैं। अन्य योनियाँ तो केवल भोग भोगने के लिए हैं। केवल मनुष्य ही कर्मों का रचयिता है। इसीलिए देवता भी मानव तन से आशावान हैं। अतः मानव तन अति दुर्लभ है। इस मानव योनि में कर्मों के अनुसार बाँध लेनेवाली अहम् और ममता रूपी जड़ें भी नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं। अतः इस संसार

रूपी शत्रु को असंगता रूपी शस्त्र से काट! यहाँ संसार ही एक शत्रु है।

छठें अध्याय में श्रीकृष्ण कहते है कि अर्जुन! यह आत्मा ही अपना शत्रु और मित्र है, विश्व में और कोई शत्रु या मित्र नहीं है। जिस पुरुष द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीती हुई हैं, उसके लिए उसी की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती हैं, परम कल्याण करनेवाली होती है और जिस पुरुष के द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गयी हैं उसके लिए उसी की आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतती है, अधोगति और अधम योनियों में फेंकने वाली होती है। अतः अर्जुन! तू अपने द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार कर। यहाँ काम शत्रु, क्रोध शत्रु, संगदोष शत्रु, संसार शत्रु तथा इन्द्रियों के अधीन रहने वाली आत्मा को भी शत्रु कहा गया है। हिन्दू शत्रु, मुसलमान शत्रु, ईसाई शत्रु या राज्य हड़पने वाले को शत्रु नहीं कहा गया। जब शत्रुओं का यही स्वरूप है तो कोई बाहर किसी से क्यों लड़ेगा? जब शत्रु घर में हैं तो बाहर वालों से लड़ना कौन सी बुद्धिमानी है?

दुनिया में झगड़े होते रहते हैं। आज जीते तो कल हारे। विश्व विजय का सपना देखने वाला सिकन्दर भी आहें भरता रह गया। संसार नश्वर है। यदि इतने के लिए ही कोई सिर पीटता है तो सिद्ध है कि वह अविवेक से आवृत्त है। जो स्वयं नश्वर है, उसमें हम ढूँढ क्या रहे हैं? वहाँ विजय कहाँ? वास्तविक युद्ध इस आध्यात्मिक प्रक्रिया में है जिसमें एक बार विजय पा लेने पर पुनः कभी हार नहीं होती। इस प्रक्रिया में मन के निरोध के साथ ही संसार का निरोध हो जाता है, संस्कारों का निरोध हो जाता है। मन सहित इन्द्रियों के निरोध होते ही आत्मा अनुकूल और विदित हो जाती है। उस दिग्दर्शन के साथ ही जीवात्मा उस परम तत्त्व में प्रवेश पा जाती है, विलय हो जाती है जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता। यह ऐसी विजय है जिसके पीछे कभी हार नहीं होती।

क्रमशः साधना के सही दौर में पड़कर अनुभवी महापुरुष के संसर्ग और

कृपा-प्रसाद से जब हृदय में यौगिक क्रिया जागृत हो गयी, वे प्रेरक अभिन्न होकर, आत्मा से रथी बनकर रथ-संचालन करने लगे तो क्रमशः चलाते-चलाते, प्रकृति की भँवर से निकालते हुए साधक को अपने समकक्ष उसी स्थान पर खड़ा कर देंगे जहाँ से फिर पीछे लौट कर जीवात्मा आवागमन में नहीं आती। यह ऐसी विजय है जिसके पश्चात् काल-कर्म और प्रकृति पर विजय मिल जाती है। साधक पुरुषत्व में चेतन का प्रतिबिम्ब पा लेता है। फिर तो काल, कर्म और प्रकृति उस पुरुषत्व में विलीन हो जाती है। इस स्तर पर पहुँचकर साधक स्वयं कल्याण स्वरूप, एकरस, अविनाशी, अव्यक्त और स्रष्टा बन जाता है। यही इस आध्यात्मिक युद्ध का परिणाम है। उस प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों ने निर्णय पाया कि "ईशावास्यमिदम् सर्वम् यत्किंच जगत्यां जगत्" सर्वत्र ईश्वर का वास है। दूसरे शब्दों में किंचित् मात्र भी जगत् है ही नहीं, तो कोई नष्ट कहाँ होगा? गड्ढा है ही नहीं तो कोई गिरेगा किसमें? अतः पूर्णता प्राप्त कर लेने पर पुनरावर्तन का विधान नहीं है। यही शाश्वत विजय है। वास्तव में गीता अन्तःकरण की लड़ाई है। अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं-- दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद्। दैवी सम्पद् कल्याण के लिए है तो आसुरी सम्पद् नीच योनियों में ले जाने वाली होती है। साधक जब परम तत्त्व की ओर, विद्या की ओर अग्रसर होता है तो आसुरी सम्पद् बाधा के रूप में प्रत्यक्ष ही है। इन प्रवृत्तियों का पार पाना ही युद्ध है। बाहरी मार-काट गीता का अभीष्ट नहीं है।

ॐ

सनातन धर्म (हिन्दू धर्म)

प्रश्नः- महाराज जी! आजकल हिन्दू धर्म में अनेक रूढ़ियाँ, अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं। सभी अपने को सनातन धर्मी कहते हैं। कृपया बताया जाय कि सनातन धर्म क्या है?

उत्तर- धर्म में समय-समय पर भ्रान्तियाँ पनप जाया करती हैं, सनातन धर्म के नाम पर भी पनपती आयी हैं किन्तु उन युगों में भी ऐसे महापुरुष होते आये हैं जो उस दलदल से समाज को निकाल कर प्रशस्त पथ पर खड़ा कर देते हैं। भगवान राम ने यही किया। श्रीकृष्ण ने यही किया। बुद्ध, शंकराचार्य, कबीर, नानक, तुलसी सभी ने यही किया। आज भी कुछ रूढ़ियाँ प्रचलित हैं, भले ही उसका स्वरूप कुछ दूसरा है।

आज भी अधिकांश तथाकथित सनातन धर्मी नहीं जानते कि वस्तुतः सनातन धर्म है क्या? देखा जाता है कि कोई पीपल की पूजा करता है, कहता है-- सनातन धर्म है। भूतों की पूजा वह भी सनातन धर्म। देवी-देवताओं की पूजा भी सनातन धर्म। तीर्थों की पूजा भी सनातन धर्म मानी जाती है। यहाँ तक कि तैंतीस करोड़ देवताओं की गणना किसी समय में हुई थी और अब भी वे पनपते-बढ़ते जा रहे हैं। भुइयाँ रानी, सन्तोषी माँ जैसी देवियों का सृजन होता जा रहा है। चित्रकूट क्षेत्र में लोमड़ी के बिल की पूजा होती है। एक विशेष पर्व पर कोल-भील उसकी पूजा करते हैं। मजीरा लेकर बिल के चारों ओर नाचते-कूदते गाते हैं--**''लोहखरी के बिल से निकली भवानी लप-लप टेबरी खाइयो माँ!''** अर्थात् लोमड़ी के बिल से भवानी निकलेगी और जो नैवेद्य (उबला हुआ महुआ) हम अर्पित करेंगे, वह लपलप सेवन करेगी और बदले में हम लोगो का कल्याण साधन जुटायेगी।

इसी प्रकार नाग पूजा, बैल पूजा, हाथी पूजा तथा महाराष्ट्र में कुत्ते की भी पूजा होती है। लाखों रुपये लगाकर एक मंदिर बना है। भीतर एक कुत्ते की मूर्ति है। विट्ठल भगवान उसका नाम है। तुकाराम नामक एक मस्त महात्मा थे। एक बार उन्होंने भगवान को भोग लगाने के लिए भोजन तैयार किया। इतने में एक कुत्ता रोटी लेकर भाग चला। तुकाराम ने सोचा भगवान का भोग कुत्ता नहीं खा सकता। सिद्ध है कि भगवान ही कुत्ते का रूप धारण करके आये हैं। बस, घी का कटोरा लेकर कुत्ते के पीछे दौड़ पड़े कि महाराज रोटी सूखी है। आपके गले उतरेगी कैसे? घी तो लगा देने दो। भावावेश में दौड़ते रहे। वही तुकाराम बड़े अच्छे सन्त हुए। लोगों ने पूछा-महाराज! रोटी कौन ले गया था? तुकाराम बोले, 'विट्ठल भगवान ले गये।' उसी दिन से कुत्ते की पूजा आरम्भ हो गयी, यह पूजन उन्होंने चलाया नहीं था जबकि वे अपने भावावेश में थे।

गुरु गोविन्द सिंह ने परिस्थितियों से बाध्य होकर एक बाज पाला जो इस बात का प्रतीक था कि जैसे एक बाज पक्षियों के झुंड पर टूट पड़ता है वैसे ही प्रत्येक बहादुर को बनना चाहिए। केवल इस प्रेरणा के लिए उन्होंने बाज को माध्यम बनाया था, उनके पश्चात् अब सिख जहाँ बाज देख लेते हैं, उसके सम्मान की भावना लोगों में उभर आती है। इस प्रकार महापुरुषों के नकल पर भी अनेक रूढ़ियाँ पनप जाया करती हैं।

प्रारम्भ में शास्त्रार्थ और दिग्विजय ही विद्वत्ता का प्रमाणपत्र था। शास्त्र तो नपे-तुले हैं, उसपर कितना विवाद हो? शास्त्र के श्लोक कम पड़ने लगे तो गढ़े जाने लगे। किसी ने पूछा कि ये श्लोक किस शास्त्र के हैं तो उत्तर मिला कि ब्राह्मण विद्वान स्वयं रचयिता हैं, हमने स्वयं बनाये। दिग्विजय उन्हें मिली। श्लोक बनाने की परिपाटी ही चल निकली। मान्यतायें बदलीं कि केवल वाणी के विवाद से क्या होता है? आचरण होना चाहिए। शास्त्रार्थ के साथ किसी ने सूर्य को एकटक देखा, कोई एक टाँग पर खड़ा रहा, कोई काँटे पर सो

रहा, दिग्विजय उन्हें मिली। तपस्या का वास्तविक रूप न जाने कितनी दूर छूट गया। चमत्कारों से रूढ़ियों को बल मिला।

शिक्षा के अभाव से भी भ्रान्तियाँ जुड़ती गईं। उस समय स्त्रियों और शूद्रों को पढ़ने का अधिकार नहीं था। वैश्यों को अधिकार तो था किन्तु चारों वर्णों की उदर पूर्ति के रोजगार से अवकाश कहाँ? चारणों ने क्षत्रियों की झूठी प्रशंसा से उन्हें अकर्मण्य बना दिया। सम्मान मिलता ही है तो क्यों पढ़ें? शिक्षा-दीक्षा केवल ब्राह्मणों की वस्तु रह गयी। आज की तरह उनकी पढ़ाई की जाँच करने वाला कोई बोर्ड भी नहीं था। मनचाहे कानून बने। मनुस्मृति का उल्लेख है कि ब्राह्मण को बासी नहीं खाना चाहिए। किन्तु खोवे से बनी वस्तु या घी में निर्मित पकवान को घी मिला कर, तलकर खा सकते हैं। वाह! हम मालपुआ खायें और हमारी हजारों पीढ़ी मालपुआ छाने। उस समय उन्होंने अपनी भावी विनाश को नहीं देखा; आज सभी अपना तेज भूल बैठे हैं। दोष उनका भी नहीं था। स्वच्छन्द हो जाने पर ऐसी भूलें होती ही हैं। उनके स्थान पर जो भी जाति होती वह भी यही सब करती।

अरब वालों का भारत पर आक्रमण हुआ। हिन्दुओं का भोजन चल रहा था कि एक मुसलमान उधर से आ निकला। कुहराम मच गया कि एक यवन ने चौके में पाँव रख दिया। पंडितजी ने निर्णय दिया कि धरम तो नष्ट हो गया। वे लोग दस फुट की दूरी पर भोजन कर रहे थे लेकिन धर्म नष्ट हो गया। उनके लिए राम-कृष्ण सदा के लिए परिलुप्त हो गये। या तो अल्लाह-अल्लाह कहने लगे या आत्महत्या करके मर गये। धर्म के लिये वे मरना जानते थे, मिटना जानते थे लेकिन यह नहीं जानते थे कि धर्म है क्या? धर्म तो हो गया छुई-मुई। हम तो जहर से नष्ट होंगे, शस्त्र से नष्ट होंगे, लेकिन धर्म पाँव रखने से नष्ट हो गया? छुई-मुई तो छू जाने पर मुरझाती है और हाथ हटाते ही पुनः

विकसित हो जाती है किन्तु यह धर्म बिना छुए ही नष्ट हो गया और ऐसा नष्ट हुआ कि कभी भी विकसित नहीं होगा।

हिन्दुओं की इन कमजोरियों से मुसलमान अवगत थे। उन्होंने पाया कि हिन्दुओं को मारने की आवश्यकता नहीं है। केवल इनकी कमजोरियों का अध्ययन करो और उन्हीं स्थलों का स्पर्श करो वे स्वतः चींख-चिल्लाकर कहेंगे कि अब क्या करें? धर्म तो नष्ट हो गया। वे स्वतः मुसलमान होने के लिए बाध्य हो जायँगे क्योंकि हिन्दू समाज फिर उन्हें स्थान नहीं देगा। हम्मीरपुर जिले में ऐसे ही पैसठ गाँव मुसलमान हो गये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी थे। तीन-चार मुसलमान योजनाबद्ध होकर अर्द्धरात्रि के आस-पास गाँव के एक मात्र कुएँ के आस पास छिप गये। उन्होंने सोचा कि कर्मकाण्डी ब्राह्मण यहाँ सबसे पहले स्नान करने आयेगा। आते ही पंडित जी को उन्होंने पकड़ लिया। उनके सामने कुएँ का पानी खींचा, पिया और कुएँ में डाल भी दिया। पंडित जी को दिखाकर रोटी का एक टुकड़ा भी उन्होंने कुएँ में डाला और पंडित जी को अपने यहाँ ले जाकर एक कोठरी में बन्द कर दिया। चौबीस घंटे पश्चात् उन लोगों ने पंडित जी से पूछा, 'कुछ भोजन करेंगे?' पंडित बोले--"कैसी बात करते हो। मैं ब्राह्मण हूँ, तुम यवन हो। तुम्हारा भोजन मैं कैसे कर सकता हूँ?" मुसलमानों ने पंडित को छोड़ दिया। वे घबराये से गाँव में पहुँचे, पूछा- "कुएँ का पानी तो किसी ने नहीं पी लिया?" लोगों ने कहा--"एक ही कुआँ है; रोज यहीं से पीते हैं। आज क्या हो गया?" पंडित ने बताया--"इस कुएँ की जगत पर यवन चढ़ गया। उसने पानी पीया, जूठा जल और रोटी का एक टुकड़ा भी मेरे सामने डाला। अब तो तुम सभी धर्मभ्रष्ट हो गये। सनातन धर्म में ऐसा कोई उपाय नहीं कि तुम शुद्ध हो सको।" इस अप्रिय व्यवस्था को सुनकर बहुतों ने आत्महत्या कर ली किन्तु गाँव के गाँव कितने लोग आत्महत्या करते? बच्चे बड़े हुए तो उनसे कोई शादी विवाह भी नहीं करना चाहता था। जीने के

लिए कुछ तो करना ही था, विवश होकर मुसलमान बन गये। आज भी वे हल-मूसल-बाँस गाड़कर शादी विवाह की रस्म अदा करते हैं। अन्तर इतना ही है कि शादी के समय एक मौलवी आते हैं, कलमा पढ़कर चले जाते हैं।

इसी तरह बंगाल का एक युवक था। तत्कालीन प्रथा के अनुसार आचार्य के यहाँ से अध्ययन पूर्ण करके घर लौट रहा था। रास्ते में नवाब का महल पड़ा। नवाब के साथ उनकी पुत्री बाहर का दृश्य देख रही थी। लड़की ने कहा--अब्बाजान! जो युवक आ रहा है, इसके साथ मेरा निकाह करा दीजिए। नवाब ने पूछा-- क्यों बेटी, तुम्हें यह पसन्द है? बोली--'हाँ'। स्वस्थ सुन्दर युवक! नवाब ने बुलवाया, कहा-- हमारी लड़की से शादी कर लो। युवक बोला-- "ऐसा कैसे हो सकता है? मैं ब्राह्मण हूँ, तुम म्लेच्छ हो।" युवक अकेला था। उसे कोठरी में बन्द कर दिया। युवक उस नवाब के यहाँ पानी भी नहीं पीता था। पानी पीने से धर्म नष्ट हो जाने का प्रश्न था। उपवास के नवें दिन वह बेहोश हो गया। उसी बेहोशी में नवाब की लड़की ने फलों का रस पिलाया जिससे उसमें कुछ चेतना आ गई। युवक ने पूछा--तुमने कुछ खिलाया तो नहीं? लड़की ने कहा--केवल फलों का रस पिलाया है। युवक ने नाम मात्र के लिए उससे निकाह किया और जान बचाकर वहाँ से भागा। युवक कश्मीर से कन्याकुमारी तक के धर्माचार्यों से मिला, अपनी समस्या रखी। तिथि निर्धारित कर एक गोष्ठी काशी में बुलाई गयी। देश के कोने-कोने से हजारों विद्वान एकत्र हुए।

युवक ने सबको सम्बोधित करते हुए प्रार्थना के स्वर में कहा--"नवाब की लड़की ने धोखे से मुझे फलों का रस पिला दिया। मेरा दिल वही है, दिमाग वही है; रहन-सहन, आस्थाएँ सब कुछ पूर्ववत् है। मैं शुद्ध हिन्दू हूँ। आप मेरे गुरुदेव हैं। आप का उत्तम शिष्य रहा हूँ। सभी विद्याएँ हमें उसी तरह याद हैं। मुझे यह कलंक न लगे कि मैं नष्ट हो गया।" वेद-शास्त्र उलटे गये। निर्णय मिला कि अब सनातन धर्म में ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे तुम शुद्ध हो

सको। युवक ने गिड़गिड़ाते हुए कहा, "आप लोग फिर से विचार कीजिए, हमारी आस्थाएँ वहीं है। हमारा कुछ भी बिगड़ा नहीं है। अनजान में केवल फलों का रस पिलाया गया। मेरा कोई दोष नहीं है।" तीन दिन तक पुनः शास्त्रार्थ चला और अन्ततोगत्वा वही निर्णय मिला कि अब सनातन धर्म में तुम्हारे लिए कोई स्थान नहीं है। युवक प्रतिशोध की भावना लेकर गया, नवाब की लड़की को रख लिया। नवाब ने अपनी नवाबी भी उसे दे दी। वह विद्वान युवक हिन्दुओं की कमजोरियों से पूर्णतः अवगत था ही, उसने आदेश दिया कि "हिन्दुओं को बलात् खिलाओ-पिलाओ, मन्दिर और मूर्तियों को ध्वस्त करो।" भारत का वह सबसे बड़ा मूर्तिभंजक निकला। औरंगजेब से भी अधिक कट्टर उसने अपने को प्रमाणित कर दिखाया। उसका नाम ही लोगों ने काला पहाड़ रख दिया। कहा जाता है कि हिन्दुओं के साथ उसने बहुत ज्यादती की। ज्यादती उसने की या हिन्दुओं ने उसके साथ ज्यादती की?

विचार कीजिए, धर्म की शरण हम क्यों ग्रहण करते हैं? इसलिए कि हम दुर्बल हैं, धर्म सबल है। हम मरणधर्मा हैं लेकिन धर्म शाश्वत है। हम धर्म की शरण इसलिए ग्रहण करते हैं कि वह हमारी रक्षा करे; जन्म-मरण से छुटकारा दिलाकर शाश्वत ब्रह्म में स्थिति दिलाये। हम तो काटने से मरें, जहर से मरें और धर्म इतना गया गुजरा हो गया कि एक घूँट पानी से, एक ग्रास चावल खाने से, रोटी के एक टुकड़े से नष्ट हो जाता है। जो फलों का रस पीने से नष्ट हो जाता है, वह हमारी रक्षा क्या करेगा? सिद्ध है कि वह धर्म नहीं, धर्म के नाम पर कोई रूढ़ि पनप रही थी जो धर्म की संज्ञा पा गई।

अंग्रेज आये तो उन्होंने भी यही किया कि हिन्दुओं को किसी तरह अपने साथ खिलाओ-पिलाओ। ईसाई मिशनरियाँ इसके लिए अधिक सक्रिय थीं। बाँदा जिले में मानिकपुर के पास इसी प्रकार की मिशनरी है। वे कोल भीलों को अपनाते हैं। उनके दुःख-दर्द में दवा-कपड़ा बाँटते हैं। फिर उन्हें खाना खिलाकर छोड़

देते हैं और सुविधा बन्द कर देते हैं, प्रचार करा देते हैं कि यह भील ईसाई बन गया। भील जब अपने समाज में आता है तो सुनने को मिलता है "ना! तैं क्रिस्तान होई गा। देख मोर भड़वा न छुइहे।" अर्थात् मेरे बर्तन न छू देना। भोली भाली जनता धर्म-कर्म क्या जाने। सब लकीर के फकीर। और यह धारणा व्यापक रूप से प्रसारित हो चली, यहाँ तक कि शहरों से लेकर जंगलों तक, उच्च से निम्न श्रेणी तक; मद्रास से मरुस्थल पर्यन्त, जहाँ कई-कई मील पर घर होते हैं--सर्वत्र एक ही धारणा बन गयी कि पात्र मत छूना। तुम ईसाई हो गये।

भारतीय अपने को जगत्गुरु, विश्वगुरु कहेंगे किन्तु भारत से बाहर समुद्र पार करने में धर्म चला जाता है। तब विश्वगुरु कैसे होंगे! भारत के बाहर सब म्लेच्छ ही हैं तो म्लेच्छों के गुरु कैसे हो गये? वस्तुतः सनातन धर्म इतना अगाध और उदार है जिसके बल पर भारत विश्वगुरु कहलाता है। विश्व का मानव भारत की अध्यात्म विद्या का ऋणी है। वशिष्ठ-अगस्त्य इत्यादि महर्षियों ने विश्व का भ्रमण किया था। ऋग्वेद में वशिष्ठ की समुद्रयात्रा का उल्लेख है। आज यहाँ तक रूढ़ियाँ फैलीं कि समुद्र पार मत करो, अन्यथा धर्म नष्ट हो जायगा। अमेरिका में अभी हाल की खुदाइयों से पता चला है कि कोलम्बस से भी हजारों वर्ष पूर्व भारतीय सभ्यता का प्रचार अमेरिका में हो चुका था। वहाँ की प्राचीन प्रस्तर मूर्तियों से ऐसा ज्ञात हुआ है। दक्षिण-पूर्वी एशिया तो पग-पग पर भारतीय सभ्यता से अनुस्यूत है। आज समुद्र यात्रा से धर्म नष्ट हो जाता है।

ठीक इसी प्रकार की कतिपय रूढ़ियाँ कृष्णकाल में भी प्रचलित थीं। उनमें से एक-आध रूढ़ि का शिकार अर्जुन भी था। दोनों सेनाओं के बीच में उसके रथ को जब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने खड़ा कर दिया तो अर्जुन ने वहाँ अपने परिवार, मामा के परिवार, ससुराल के परिवार, सुहृद और गुरुजनों को ही खड़ा पाया। अर्जुन ने केवल अपने परिवार और सम्बन्धियों को देखा, और कुछ भी नहीं

देखा। रोमांच हो आया, अश्रुपात होने लगा, बोला-- अपने ही परिवार को मारकर मैं कैसे सुखी होऊँगा? कुल धर्म सनातन है। ऐसा युद्ध करने से सनातन धर्म नष्ट हो जायगा। कुल धर्म शाश्वत है। ऐसा युद्ध करने से शाश्वत धर्म नष्ट हो जायगा। कुल धर्म पुरातन है, पुरातन धर्म नष्ट हो जायगा। कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी। स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर पैदा होगा जो कुल और कुलघातियों को नरक में ले जाने के लिए ही होता है। अतः हमलोगों को धर्म-रक्षा के लिए कोई उपाय तुरन्त करना चाहिए। हमलोग समझदार होकर भी महान पाप करने को उद्यत हुए हैं। हम ही भूल करते हैं, ऐसी बात नहीं, आप भी भूल करते हैं; कृष्ण को भी लांक्षित किया। ऐसा कहते हुए अश्रुपात करता अर्जुन धनुष का त्याग करके रथ के पिछले भाग में बैठ गया, बोला--गोविन्द! अब मैं युद्ध कदापि नहीं करूँगा।

तब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने हँसते हुए से कहा, 'अर्जुन! तुझे इस विषम स्थल में अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? जिस स्तर का युद्ध मैंने बताया है उसकी समता का कोई स्थल दुनिया में है ही नहीं। तूने यह तर्क कहाँ से लाकर रख दिया? तुझे यह अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? क्यों? अज्ञान कैसा? अर्जुन तो सनातन धर्म की रक्षा के लिए उद्यत था। क्या सनातन धर्म की रक्षा भी अज्ञान है? कृष्ण कहते हैं--न तो श्रेष्ठ पुरुषों ने कभी इसका आचरण किया, न तो यह स्वर्ग को और न कीर्ति को ही देने वाला है। अर्जुन जिसके लिए आहें भर रहा था, सम्भावित पुरुषों ने कभी उसका आचरण ही नहीं किया। यदि सनातन धर्म वही होता तो श्रेष्ठ पुरुष उसका आचरण अवश्य करते। सिद्ध है कि वह सनातन धर्म नहीं, मात्र अर्जुन का अज्ञान था।

अर्जुन ने प्रश्न किया--"भगवन्! मैंने ऐसा सुना है कि कुल धर्म ही सनातन है। कुल धर्म ही शाश्वत है। इसका पालनकर्ता ही वास्तविक

सनातन धर्मी है। मैंने सुना भर है, देखा नहीं है। अब धर्म के रास्ते में मोहित चित्त मैं आपकी शरण हूँ, आपका शिष्य हूँ। मुझे वह उपदेश कीजिए, जिससे मैं परम कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। स्वर्ग के साम्राज्य और धन-धान्य सम्पन्न पृथ्वी के अकंटक साम्राज्य में भी मैं उस कल्याण को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को दूर कर सके। अतः इतना ही मिलेगा तो मैं युद्ध नहीं करूँगा। बल्कि यही लोग राज्य करें हम भिक्षा पर ही निर्वाह कर लेंगे (भीष्म, द्रोण इत्यादि गुरुजनों को मैं वाणों से कैसे मारूँगा? वस्तुतः आध्यात्मिक पक्ष ऐसा है जिसमें अन्त में "गुरु न चेला पुरुष अकेला" रह जाता है। गुरु का गुरुत्व, ईश्वर का ईश्वरत्व शिष्य के अन्तराल में प्रवाहित हो जाता है। न गुरु ही विलग रहता है, न प्रभु ही। उनका पृथक अस्तित्व अन्ततोगत्वा मिट जाता है। यही उनका मरना है।) अतः इसके आगे भी कोई सत्य हो तो उसे मेरे प्रति कहिए।

तब कृष्ण ने कहा-- अर्जुन! तू शोक न करने योग्यों के लिए शोक करता है और पंडितों जैसी बात भर करता है। पंडितों की जानकारी से तू बहुत दूर खड़ा है। पंडित लोग जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिए शोक नहीं करते और जो जीवित हैं, उनके लिए खुशी भी नहीं मनाते। क्योंकि आत्मा न कभी मरती है, न जन्म लेती है। यह केवल वस्त्र बदलती है। अर्जुन ने पूछा था- इसके आगे भी कोई सत्य हो तो कहिए। श्रीकृष्ण ने बताया कि आत्मा ही सत्य है, यह आत्मा परम सत्य है। आत्मा ही सनातन है। हमलोग कौन हैं? सनातन धर्मी! आत्मा शाश्वत है। हम लोग कौन हैं? शाश्वत धर्म के अनुयायी। जो इस आत्मा को उपलब्ध करा देने वाली प्रक्रिया नहीं जानता वह सनातन धर्म का प्रत्याशी हो सकता है किन्तु सनातन धर्मी नहीं है। वह प्रक्रिया विशेष सनातन धर्म की क्रिया कहलायेगी जिसके द्वारा उस आत्मा की प्राप्ति सम्भव है। योगेश्वर

श्रीकृष्ण ने इसी क्रिया को कर्म, निष्काम कर्म योग के नाम से सम्बोधित किया है, जो यज्ञ की प्रक्रिया विशेष है। इस आत्मा की प्राप्ति का वही एकमात्र उपाय है। मन के निरुद्ध अवस्था में ही उस आत्मतत्त्व का दिग्दर्शन सम्भव है।

श्रीकृष्ण ने कहा कि यह आत्मा अकाट्य है, अशोक्य है। वायु इसे सुखा नहीं सकता, पानी इसे गीला नहीं कर सकता, अग्नि इसे जला नहीं सकती, आकाश अपने में समाहित नहीं कर सकता। यह न होकर और कुछ होने वाला है। यह अजर, अमर, शाश्वत और अमृत स्वरूप है जिसमें मृत्यु का प्रवेश नहीं होता। प्रकृति में उत्पन्न होने वाली कोई भी वस्तु उस सनातन का स्पर्श ही नहीं कर सकती तो एक घूँट पानी पीने से तथा रोटी का एक टुकड़ा खाने से वह सनातन नष्ट कैसे हो सकता है? वह अज़र-अमर-सनातन मर कैसे सकता है? सिद्ध है कि धर्म के नाम पर कतिपय रूढ़ियाँ प्रचलित हो गयी थीं। धर्म के नाम पर वे पूजी जाने लगीं। उन्हीं के चुंगल में फँसकर सनातन धर्म की दुहाई देनेवाली जनता अस्त-व्यस्त हो गयी। वस्तुतः वह सनातन धर्म नहीं था। उसके नाम पर कोई रूढ़ी पनप गयी थी।

जब सनातन शाश्वत आत्मा सबके अन्दर है ही तो ढूँढ़ा किसे जाय? शरीर के भीतर अजर-अमर-शाश्वत कोई वस्तु दिखाई तो नहीं पड़ती? रात-दिन शोक, सन्ताप और मृत्यु ही दिखाई देती है। कृष्ण कहते हैं- अर्जुन! यह आत्मा अचिन्त्य है। जब तक चित्त और चित्त की लहर है तब तक शाश्वत होते हुए भी आत्मा दिखायी नहीं देती। तब तक हमारे उपभोग के लिए आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है। जब तक इन्द्रियों और विषयों का भोग है तब तक हमारे लिए आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। अर्जुन! वस्तुतः आत्मा ही अजर, अमर और शाश्वत है। प्रश्न उठता है कि आप कहते हैं इसीलिए मान लें। कृष्ण समाधान करते हैं- अर्जुन! आत्मा को इन विभूतियों से युक्त केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा कि आत्मा सत्य है, यही

परम सत्य है, शाश्वत और सनातन है। किसने देखा? तत्त्वदर्शियों ने देखा! न किसी प्रोफेसर ने देखा, न दस भाषाओं के जानकार ने देखा, न किसी समृद्धिशाली ने ही देखा। इन विभूतियों से युक्त आत्मा को केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा।

अब एक नवीन प्रश्न खड़ा होता है कि तत्त्वदर्शिता क्या है? कृष्ण कहते हैं कि तत्त्व की चाह वाले पुरुषों को चाहिए कि कर्म करें। संग-दोष से अलग रहकर, इन्द्रियों को वासनाओं से भली प्रकार समेटकर, परम वैराग्य में स्थित रहते हुए, एकान्त देश का सेवन करते हुए चित्त को ध्यान में लगावें। यह नहीं कि हम कुछ भी करते हैं तो कर्म करते हैं। इस योग में निश्चयात्मक क्रिया एक ही है। इस विधि विशेष की जानकारी होनी चाहिए। लक्ष्य वास्तविक होना चाहिए। दीर्घकाल तक सतत् अभ्यास करते-करते मन इतना सूक्ष्म हो गया कि काम, क्रोध, मद, लोभ, मत्सर इत्यादि वाह्य प्रवृत्तियाँ अन्तःकरण से सर्वथा शान्त हो गयीं: विवेक-वैराग्य-ध्यान और समाधि उभर कर आ गये, पूर्णतः परिपक्व हो गये, उस समय वह साधक ब्रह्म को जानने के योग्य होता है। आवश्यकता तो थी तत्त्व जानने की, किन्तु कृष्ण कहते हैं ब्रह्म को जानने योग्य होता है, क्योंकि तत्त्व और ब्रह्म एक दूसरे के पर्याय हैं। इसी योग्यता का नाम पराभक्ति है, भक्ति अपनी पराकाष्ठा पर है; परिणाम देने की स्थिति में है। इस परा भक्ति के द्वारा ही पुरुष उस परम तत्त्व को जानता है।

उस समय परम तत्त्व जानने में तो आ जाता है, किन्तु वह तत्त्व है कैसा? कृष्ण कहते हैं- अर्जुन! मैं जो हूँ, जिन विभूतियों से युक्त हूँ; अजर-अमर-शाश्वत, अव्यक्त जिन अलौकिक गुण धर्मों वाला हूँ उसको जानता है। अर्थात् भगवान जो है, जिन अलौकिक गुण धर्मों से संयुक्त है उनको जानता है। और मुझको जानकर अर्जुन! तत्क्षण मुझ में ही प्रवेश कर जाता है। पहले तो भगवान और दूसरे ही क्षण में अपनी आत्मा को ईश्वरीय गुणधर्मों से भरपूर खड़ा पाता

हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी इसी स्थल के लिए संकेत करते हैं--"तुम्हरिहिं कृपा पाव कोई कोई।" **"तुम्हरिहिं कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन। जानहि भगती भगत उर चन्दन।"** भगवन्! तुम्हारी ही कृपा से कोई- कोई ही तुम्हें पाते हैं। पाने पर उसका स्वरूप कैसा होगा? **तो "जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।"** तुम्हें जानकर वह तुम ही बन जाता है। श्रुति है **"ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मैव भवति"** ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। साधना की पूर्तिकाल में उस परमतत्त्व परमात्मा का जिसने दिग्दर्शन और स्पर्श किया तो उस क्षण उसे भगवान दिखायी पड़े किन्तु दूसरे ही क्षण वह अपनी आत्मा को ही ईश्वरीय गुणधर्मों से परिपूर्ण अव्यक्त और शाश्वत की श्रेणी में पाता है। कृष्ण परमात्मा को ही परम तत्त्व मानते हैं; न कि पाँच तत्त्व या पच्चीस प्रकृति को!

तत्त्वदर्शी महापुरुषों ने, जिन्होंने भगवान को प्रत्यक्ष देखा, साक्षात्कार किया; उन्होंने देखा कि आत्मा ही परम सत्य है, आत्मा ही शाश्वत है, आत्मा ही सर्वत्र व्यापक है, इसके आगे कोई सत्य नहीं और यही सनातन है। अत: यदि हमें तत्त्व की चाह है, सनातन धर्म की चाह है तो हमें आत्मा की प्राप्ति वाली प्रक्रिया विशेष को समझना चाहिए और उस पर चलना चाहिए। आत्मानुभूति ही सनातन धर्म है।

इस सनातन धर्म को हिन्दू धर्म भी कहा जाता है। वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण इत्यादि योगशास्त्रों में इस शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। सातवीं शताब्दी में भारत आनेवाले चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इस नामकरण की चर्चा करते हुए लिखा है कि सिन्धु नदी के इस पार के भारतीयों का विशेष रहन-सहन देखकर अरब वालों ने इस देश का नाम हिन्दुस्तान रखा। क्योंकि उधर के निवासी 'स' का उच्चारण 'ह' की तरह करते हैं। उल्लेखनीय है कि केवल सिन्धु के तटवर्ती प्रदेश को ही हिन्दुस्तान नहीं कहा जाता था। यदि नदी के नाम पर ही यह नामकरण होता तो गंगा-कावेरी के तटवर्ती अपने को हिन्दू न स्वीकारते।

इसीलिए ह्वेनसांग ने एक सर्वमान्य धारणा का उल्लेख किया कि हिन्दू शब्द 'इन्दु' से निकला है जिसका अर्थ चन्द्रमा होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द भी सनातन धर्म का ही पर्याय है। "हृद इन्दु स: हिन्दू" हृदय में ही उस शाश्वत परब्रह्म का प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है। जब भी किसी ने उसे पाया है तो हृदय में ही पाया है-हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति (गीता)। जो भी उस सनातन ब्रह्म को हृदय में प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है, हिन्दू है। केवल भारत में जन्म लेने मात्र से कोई हिन्दू नहीं होता। हाँ, वह हिन्दू धर्म का प्रत्याशी अवश्य हो सकता है और विश्व में कहीं भी पैदा होकर बन सकता है।

अत: 'हिन्दू' नामकरण जिसे समग्र भारत ने स्वीकार कर लिया सौभाग्य से, अनर्गल नहीं; अपितु मनीषियों का मनन किया हुआ है। शाश्वत सनातन आत्मा के साक्षात्कार तथा उसके प्रस्फुटित होने के स्थल की ओर यह हिन्दू शब्द इंगित करता है। इसका आशय भी वही है जो सनातन धर्म का है।

आत्मा देश में, विदेश में, यूरोप में, अमेरिका में, रहस्यमय सौर मण्डल एवं जो टापू खोज में न आये हों, उनमें भी सर्वत्र एक ही जैसी है, व्यापक है। सभी आत्माएँ उसी एक शाश्वत सत्ता की आशा करती हैं। यह बात अलग है कि संकटापन्न स्थिति में उस सत्ता की याद धुँधली पड़ जाय। अरबी भाषा में उसे खुदा कहते हैं। अंग्रेज उसी को 'सुप्रीम गाड' कहकर पुकारते हैं जिसे संस्कृत में ब्रह्म या परमात्मा कहते हैं। आत्मा सब में समान है। कोई यूरोप में पैदा हुआ हो अथवा विश्व के किसी कोने में, यदि वह उस आत्मतत्त्व की ओर अभिमुख है तो सनातनधर्मी है। आंग्ल भाषा के माध्यम से जल को वे 'वाटर' भले ही कह लें, 'सुप्रीम गाड' कहकर वे उसी आत्मा की प्राप्ति करेंगे।

यदि आत्मा की प्राप्ति करा देने की प्रकिया से अवगत नहीं हैं तो हम सनातन धर्म के प्रत्याशी भले हों, सनातन धर्मी नहीं हैं। जब

तक भूत-प्रेत या इधर-उधर पूजाएँ करते रहते हैं तब तक हम सनातन धर्म से अवगत नहीं हैं। इन्हीं रूढ़ियों में फँसकर छूने खाने से नष्ट होने की घड़ी आई, जबकि आजकल के लोग छूने खाने से नष्ट नहीं होते। इसका क़ारण यह नहीं कि अब धर्म सबल है बल्कि साक्षर लोग पूछ बैठते हैं कि "बताइए पंडित जी! धर्म नष्ट कैसे हुआ? धर्म का स्वरूप क्या है?" पंडित जी तो वह भी नहीं जानते। चुप हो जाते हैं। अतः धर्म सबल नहीं हुआ बल्कि धर्म पर उँगली उठाने वालों का समूह बँट गया। छूने-खाने वाले लोग भी नहीं जानते कि वस्तुतः धर्म है क्या? कर्म है क्या?

अब यदि आप को उस क्रिया विशेष को जानना है जिसका नाम कर्म है; परमधर्म सनातन आत्मा की प्राप्ति करनी है तो श्रीकृष्ण के शब्दों में तत्त्वदर्शी सद्गुरु के पास जाओ। निष्कपट भाव से सेवा और प्रश्न करके उन्हें प्राप्त करो।

ॐ

जाति-प्रथा

प्रश्न--महाराज जी, आज की जाति प्रथा कहाँ तक उपयोगी है?

उत्तर- देखिये, वर्णव्यवस्था को लेकर दुनिया में पर्याप्त झगड़े हैं। देश-विदेश में लाखों जातियाँ एवम् उपजातियाँ प्रचलित हैं और न जाने कितनी अतीत के गर्भ में विलीन हो गयीं। किन्तु गीता, रामायण इत्यादि प्रमुख भारतीय ग्रन्थों में ऐसा कुछ नहीं है। योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार दुनिया में सभी मनुष्य केवल दो प्रकार के होते हैं-- एक देवता जैसा, दूसरा असुरों जैसा। इस विभाजन का आधार क्या है? वस्तुतः अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं-एक दैवी सम्पद्, दूसरी आसुरी सम्पद्। आसुरी सम्पद् अधोगति और नीच योनियों के लिए होती है और दैवी सम्पद् परमकल्याण के लिए होती है। जिस हृदय में दैवी सम्पद् कार्य करती है वह मनुष्य देवताओं जैसा है और जिस हृदय में आसुरी सम्पद् कार्यरत है वह मनुष्य असुरों जैसा है। एक अधोमुखी है तो दूसरी ऊर्ध्वमुखी। एक ईश्वर में विश्वास करती है तो दूसरी प्रकृति में। आसुरी सम्पद् अधोगति और नीच योनियों में ले जाने के लिए होती है तो दैवी सम्पद् परमकल्याण के लिए होती है।

दैवी एवं आसुरी सम्पद् के लक्षण क्या हैं? श्रीकृष्ण ने इस पर भी प्रकाश डाला। इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, एकाग्रता, धारावाही चिन्तन की प्रवृत्ति, विवेक, वैराग्य, ईश्वर की वास्तविक जानकारी, शरणागति, सरलता--इस प्रकार चौबीस लक्षण गिनाए जो सबके सब तो किसी पहुँचे हुए महापुरुष में अथवा उनके समीप की अवस्था वाले में सम्भव है। आप में भी हो सकते हैं, हममें भी हो सकता है। यह दैवी सम्पत्ति परमकल्याण के लिए है। अर्जुन! तू दैवी सम्पत्ति को प्राप्त हुआ है। तू मुझमें निवास करेगा। शोक मत कर।

आसुरी सम्पत्ति के लक्षण बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-- काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, अनन्त तृष्णा--सभी आसुरी सम्पद् हैं। आसुरी सम्पद् से आप्लावित पुरुष सोचता है कि स्त्री-पुरुष के संयोग से जितनी वस्तु दुनिया में दिखायी पड़ती है, उतना ही सत्य है; ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है। मैं ही ईश्वर एवं ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ। वह सोचता है कि मेरे पास इतनी सम्पत्ति है, भविष्य में इतनी और हो जायगी। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और यश को प्राप्त होऊँगा। ऐसे पुरुष यज्ञ और दान भी केवल दिखावे के लिए ही करते हैं। उनकी दृष्टि में ईश्वर अनावश्यक है, वे प्रकृति में ही विश्वास करने वाले हैं, इसीलिए असुर कहलाते हैं। परम देव परमात्मा पर निर्भर रहने वाले सुर कहलाते हैं और सुरत्व से विमुख प्रकृति प्रधान लोगों को असुर कहा जाता है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति में दैवी सम्पत्ति संग्रहीत होती जायगी, त्यों-त्यों वह देवत्व की ओर अग्रसर होता जायगा। क्रमशः उन्नत होते-होते सर्वथा निरोध काल में, ध्यान और समाधि की अवस्था में, वह परमदेव परमात्मा का प्रतिबिम्ब पा जाता है। दिग्दर्शन के साथ ही वह उसी परमतत्त्व परमात्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर तो वह स्वयं परमानन्द स्वरूप है, शाश्वत है; जिसे श्रीकृष्ण ने इंगित किया--'अर्जुन! तू मुझमें निवास करेगा। जीव भाव में नहीं।'

कभी-कभी मनुष्य दैवी सम्पत्ति की ओर अग्रसर तो नहीं हो पाता किन्तु मन में विकलता रहती है कि काश हम भी करते। इस दशा में स्पष्ट है कि उसके अन्तर्गत वह दैवी सम्पद् कार्यरत है। देवता की ओर उन्मुख तो है किन्तु सफल नहीं हो पाता, कर नहीं पाता-- ऐसी स्थिति में वह सामान्य मानव है। जब वह इस पथ पर चलने में सफल होता है तो देवताओं जैसा है और जब वही प्रकृति प्रधान होता है तब मानव भी नहीं है। उस समय मानवाकृति होते हुए भी वह असुरों जैसा है। 'खाओ पीयो मौज करो' तक ही उनकी दृष्टि सीमित है। वे 'संसार'' में शोध के लिए चलते हैं किन्तु जब शरीर ही नश्वर है तो उसका

भोग्य "संसार" कब सत्य होगा। इसीलिए शरीर के साथ ही उनकी सारी शोध शान्त हो जाती है जबकि दैवी सम्पद् उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है नष्ट तो कभी नहीं होती; "अनेक जन्म संसिद्धिः" तक का विधान है। मान लीजिए इस जन्म में आपसे थोड़ा भी चलते बना और शरीर का समय समाप्त हो गया तो भविष्य के जन्म में साधन वहीं से पुनः आरम्भ होता है जहाँ से छूटा था और क्रमशः चलते-चलते "अनेक जन्म संसिद्धि ततो यान्ति परां गतिम्।" अनेक जन्मों के परिणाम में वह वहीं पहुँच जाता है जिसका नाम परम सिद्धि अर्थात् परमात्मा है। श्रीकृष्ण कहते हैं यही मेरा निज स्वरूप है।

जब से सृष्टि में सभ्यता आयी (वैसे सृष्टि अनादि है, कब से जागृति आयी यह कहना असम्भव है। कोई भी आदिवासी नहीं है, सृष्टि अनादि है) सुदूर अतीत में यही दो जातियाँ थीं-- सुर और असुर। वैदिक काल में यही मान्यता थी। देवासुर संग्रामों से शास्त्र भरे पड़े हैं। वास्तव में मनुष्य के यही दो स्वरूप हैं; आज के शब्दों में, एक आस्तिक और दूसरा नास्तिक। यही विभाजन सदैव रहा है और रहेगा।

प्रश्न--महाराज जी! तब तो आज जो नास्तिक है, सदैव नास्तिक ही बना रहेगा?

उत्तर-- नहीं, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि सभी के अन्तःकरण में दोनों प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। जब आसुरी प्रवृत्ति बलवती होती है तो दैवी सम्पत्ति प्रसुप्त होती हैं, लेकिन वह मर नहीं जाती। कहीं ठोकर लगने से, अथवा सत्संग से संस्कार पड़ते ही दैवी सम्पत्ति उद्दीप्त हो उठती है और आसुरी सम्पत्ति सुप्त होती जाती है। शनैःशनैः वह देवताओं जैसा हो जाता है। अन्तःकरण की दोनों प्रवृत्तियों का उतार-चढ़ाव तब तक रहता है जब तक इष्ट के अंक में प्रवेश नहीं मिल जाता। जब तक साधना इतनी उन्नत नहीं हो जाती कि ईश्वर उर प्रेरक

के रूप में संचालन करने लगे, तब तक त्रिगुणमयी प्रवृत्ति कामयाब होती रहती है। अस्तु,

अन्तःकरण की इन्हीं दो प्रवृत्तियों के आधार पर मनुष्य दो जाति, दो सांसारिक वर्ण, दो स्वभाव अथवा दो प्रकार का होता है। सुदूर अतीत में देवासुर जातियों का उल्लेख इसी तथ्य को इंगित करता है। कालान्तर में किसी ने कहीं विजय पायी, उसके नाम पर वंश एवं जाति-परम्परा का उद्भव हुआ। क्रमशः यक्ष, रक्ष, किन्नर, गन्धर्व इत्यादि जातियों का सृजन हुआ। मंडूक, वानर, ऋक्ष, इत्यादि जातियाँ फैलीं। वे बन्दर और भालू नहीं, हमारे आपके ही पूर्वज थे, मनुष्य थे। जामवन्त अच्छे ज्योतिषी थे। क्या भालू ज्योतिषी होता है? कालान्तर में उन्हीं की औरस पुत्री जामवन्त से श्रीकृष्ण का विवाह हुआ। क्या श्रीकृष्ण ने भालू से पाणिग्रहण किया? हनुमान भक्त और परम विवेकी थे। बालि सन्ध्या करता था, भगवान के त्रिविक्रम रूप की उन्होंने सात प्रदक्षिणा की थीं। बालि का दोष केवल इतना था कि अपने छोटे भाई की पत्नी पर अधिकार कर लिया। बालि यदि पशु होता तो मर्यादा पुरुषोत्तम राम मानवोचित उक्त नियम के उल्लंघन के लिए उसे दण्ड क्यों देते?

वस्तुतः वानर एक जाति थी, मण्डूक एक जाति थी, घोड़ा एक जाति थी। हैहय नरेशों का वर्णन पुराणों में मिलता है। शनैः - शनैः सभी जातियाँ अतीत के गर्भ में विलीन हो गयीं। तदनन्तर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियाँ प्रकाश में आयीं। किसी समय इनका भी बहुत जोर था। अब तो इनमें भी एक जाति की लाखों उपजातियाँ बन गयीं। ब्राह्मणों में दो वेद पर अधिकार रखने वाले द्विवेदी, तीन वेद पर अधिकार रखने वाले त्रिवेदी, चारों वेदों के ज्ञाता चतुर्वेदी कहलाये। अग्निहोत्र कराने वाले अग्निहोत्री बन गये। शिक्षा देने वाले उपाध्याय बने। उपाध्यायों में भी कई शाखाएँ निकलीं। खोरिया उपाध्याय,

कटोरी उपाध्याय, परात उपाध्याय? स्पष्ट है यज्ञों में किसी को परात लेने का अधिकार था तो किसी को कटोरा लेने का।

क्षत्रियों में राजाओं के लड़कों को राजपूत कहा गया। प्रतिहारी करने वाले प्रतिहार कहे गये। महाराजा रघु के नाम पर रघुवंशी, इसी तरह सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी, यदुवंशी क्षत्रियों का वर्ग बना। कुरु के नाम पर कौरव वंश चला, पाण्डु से पाण्डव वंश किन्तु आज कोई कौरव वंशी नहीं है, न पाण्डव वंशी। महाराणा प्रताप के वंश की एक घटना है। किसी किले को हस्तगत करने के लिए राणा ने भरे दरबार में बीड़ा रखा। दो सरदारों में होड़ लग गयी। दोनों की टुकड़ियों ने अपना-अपना शौर्य दिखाना प्रारम्भ किया। मुगलों से घमासान युद्ध होने लगा। सूर्यास्त हो चला तो एक सरदार चिल्लाया कि मुझे सूर्यास्त के पूर्व किले में प्रवेश कर जाना है, अन्यथा मेरा प्रण पूरा नहीं होगा। हाथी किले के फाटक को नुकीली कीलों के कारण तोड़ने में हिचक रहा था। सरदार ने कीलों पर सीना लगाकर महावत को हाथी आगे बढ़ाने का आदेश दिया और कहा-'हर हर महादेव' बोलते हुए मेरी लाश सूर्यास्त से पूर्व ही किले के भीतर पहुँचा देना।'' ऐसा ही किया गया। हाथी के दबाव और कीलों से सरदार का सीना छलनी हो गया। दरवाजा टूटने ही वाला था कि अकस्मात् दूसरे सरदार की दृष्टि उस पर पड़ी, जो सीढ़ियाँ लगाकर अपने सैनिकों को किले के भीतर ले जाने के प्रयास में जीवन की बाजी लगा रहा था। उसने सोचा कि पहला सरदार तो मुझसे पहले ही किले में प्रवेश कर जायगा। अत: उसने अपने सैनिकों को आदेश दिया कि मेरा सिर काटकर तुरन्त किले के भीतर फेंक दो। सैनिकों ने सेनापति की आज्ञा का अक्षरश: पालन किया और कहना न होगा कि विजयश्री भी ऐसे उत्साहियों का ही वरण करती है। सूर्यास्त होने के पहले ही किला राजपूतों के हाथ में था। महाराणा ने दोनों सरदारों के नाम पर दो वंश चलाये। शक्ति के नाम पर शक्तावत और चूड़ा के नाम पर चूड़ावत वंश चला।

रीवाँ नरेश गुजरात नरेश के पुत्र थे, उनका नाम था व्याघ्रदेव। यहाँ लड़ भिड़कर उन्होंने रीवाँ राज्य की स्थापना की। उनके नाम पर बघेल वंश चला। विद्वत्ता, शौर्य, व्यवसाय और प्रादेशिक निवास से जातियों के गठन का विस्तार होता गया। गन्ध बेचने वाले गाँधी, हीरे-जवाहरात के व्यवसायी जौहरी, सोने के व्यवसायी स्वर्णकार, लोहे का काम करने वाले लुहार, भूनने वाले भड़भूँजा, तेल का काम करने वाले तेली, हलवा बनाने वाले हलवाई, सोने की थाल में खाने वाले सोनथालिया, मूषक का आहार करने वाले मुसहर, चमड़े का काम करने वाले चमार, कोठार पर रहने वाले कोठारी, भण्डार पर रहने वाले भण्डारी, माला बनाने वाले माली, कपड़ा धोने वाले धोबी, कन्नौज के रहने वाले कान्यकुब्ज, मगध के मागध अम्बष्ठ, जायसवाल-- क्या यह सब भी कोई जाति है? पूर्ण समृद्धि शाली कौरव और पाण्डव जातियाँ भी नष्ट हो गयीं, जिनकी सुरक्षा के लिए संघर्ष हुए थे। हैहय इत्यादि समृद्ध जातियां खो गईं तो क्या आज की जातियाँ सुरक्षित हैं? यह केवल तुच्छ पदवियों का मोह है। इसी प्रकार रूढ़ियों का प्रचलन बढ़ता गया और लोग संकीर्णताओं से घिरते गये। अब तो ये जातियाँ भी धुँधली पड़ती जा रही हैं। भविष्य में सम्भव है सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट, कांग्रेस इत्यादि जातियाँ हों अथवा और कुछ हों। क्यों? क्योंकि अतीत की जातियाँ, जिनका निष्ठा से पालन प्रचलन था; लुप्त हो गईं तो इनके भी लुप्त होने में कोई सन्देह नहीं। वस्तुतः मनुष्य केवल दो प्रकार के होते हैं। श्रीकृष्ण का यही मत है।

प्रश्न-लेकिन, महाराज जी ! कृष्ण तो मनुष्यों को चार प्रकार का मानते हैं--"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्।"

उत्तर- देखिये, चौथे अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्" चार वर्णों को मैंने रचा। तो क्या चार प्रकार के मनुष्य बनाये? नहीं,

बल्कि "गुणकर्म विभागश:" गुणों के माध्यम से कर्म अर्थात् आराधना को चार भागों में बाँटा। गुण एक कसौटी है जिस पर कसकर आराधना क्रम को चार श्रेणियों में विभक्त किया। इसी को अठारहवें अध्याय में और स्पष्ट करते हैं--"कर्माणि प्रविभक्तानि" कर्म बाँटे गये हैं, न कि मनुष्य। मनुष्य तो दो ही प्रकार का है। अब, आप इंग्लैण्ड में पैदा हुए तब भी यह दो प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक हैं, अरब में पैदा हुए तब भी यह तो प्रवृत्तियाँ रहेंगीं; दुनिया के किसी कोने में कोई पैदा हो, यह दो प्रवृत्तियाँ उसमें स्वाभाविक रहेंगी। यदि श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों में मनुष्यों को रचा होता तो भारत से बाहर भी यही जातियाँ होतीं क्योंकि मनुष्य का अर्थ केवल भारतवासी ही नहीं होता। अत: ऐसा कुछ नहीं है। मनुष्य या तो देव प्रधान होंगे अथवा प्रकृति प्रधान। देव प्रधान हैं तो देवताओं जैसे, प्रकृति प्रधान हैं तो असुरों जैसे होंगे।

इस प्रकार दैवी सम्पत्ति की प्रवृत्ति वाला प्रत्येक पुरुष सनातन धर्मी है। परमात्मा ही तो एक सनातन है, इसलिए उसकी पिपासा वाला ही सनातन धर्मी है। अपनी इसी देन के कारण भारत जगद्गुरु था। भारत ने ही विश्व को दैवी सम्पद् एवं परमदेव परमात्मा तक की दूरी तय करा देने वाली प्रक्रिया दी। केवल पुस्तक पढ़ने से वह क्रिया नहीं आती। प्राप्ति वाले, अनुभवी महापुरुषों की शरण में टूटी-फूटी सेवा और उनके अनुसार थोड़ी सी साधना करने से वह क्रिया जागृत हो जाती है। वे आराध्य आत्मा से खड़े होकर पथ-संचालन करने लगते हैं जिसके माध्यम से चलकर साधक उसी देवत्व में प्रवेश पा जाता है। इसलिए विश्व में कोई कहीं पैदा हुआ हो, यदि दैवी सम्पत्ति की ओर अग्रसर है, तो सनातन धर्मी है। हाँ, यह बात अलग है कि वह सनातन धर्म का पिपासु मात्र है। सनातन धर्म का शुद्ध अनुयायी वह तब होगा जब कोई अनुभवी महापुरुष 'सद्गुरु' मिल जाय और उसके हृदय से आत्मा को जागृत कर दे अर्थात् जिस सतह पर वह आत्मा पड़ी है, उसे उसी सतह से जागृत कर, शनैः - शनैः

पथ संचालन करते हुए उस परम की ओर ऊपर उठा दे। उस दिन से वह सनातन धर्मी की श्रेणी में आ जाता है, इसके पूर्व वह पिपासु मात्र है।

अन्त:करण की इन दोनों प्रवृत्तियों तथा मानव मात्र को अपने ही जैसा पाकर भारतीयों ने समग्र विश्व को स्थान एवं विलय दिया। गोपनीय अध्यात्म विद्या के माध्यम से क्रमश: उठाकर शाश्वत सत्य की गरिमा से उन्हें अवगत कराया। यही कारण था कि भारत विश्वगुरु बना? वाल्मीकि रामायण का उल्लेख है कि राम के यज्ञ में, जिसमें समस्त प्रजा एवं ऋषि आमन्त्रित थे, भोजन परसने इत्यादि की सेवा में राम ने अपने विश्वस्त अनुचरों एवं मित्रों को नियुक्त किया जिसमें विभीषण और उसका परिवार, जामवन्त एवं अंगद का परिवार भी सम्मिलित था, किन्तु इन अधम जातियों के हाथ से परसा भोजन करने में ऋषियों, विप्रों, जनता को कोई आपत्ति नहीं थी। सभी ने तृप्ति के साथ भोजन किया और इन सेवकों की सराहना की। अत: छूने खाने से धर्म कभी नष्ट नहीं होता।

वस्तुत: प्राप्ति वाले महापुरुष समाज के बीच कभी दरार नहीं डाल सकते। यह तो अधकुचलों की देन है। जो उस परम का दिग्दर्शन और मूल की स्थिति वाला है, जो कण-कण में व्याप्त है, वह समाज में भेद भाव नहीं डाल सकता। वह कभी नहीं कह सकता कि भारत में ही राम हैं, बाहर नहीं। यदि कोई ऐसा कुछ कहता है तो सिद्ध है कि उसने अभी ईश्वर को पाया नहीं। महापुरुषों के पश्चात् उनके नाम पर अपनी ख्याति अर्जित करने वाले अथवा उदर-पोषण की प्रवृत्ति लेकर जीने-खानेवाले लोग ही सम्प्रदायवाद, रूढ़िवाद एवं फूट को प्रोत्साहन देते हैं। कबीर ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके कहते हैं--

कोई सफा न देखा दिल का।
साँचा बना झिलमिल का रे.......कोई.।।
काजी देखा मुल्ला देखा, पंडित देखा छलका।
औरों को वैकुण्ठ बतावे, आप नरक में सरका।

बिल्ली देखा बगुला देखा, सर्प जो देखा बिल का।
ऊपर ऊपर बनल सफेदी, भीतर गोला जहर का।
पढ़े लिखे कछु वेद शासतर, भरल गुमान बरन का।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लानत ऐसे तन का।।

कबीर कहते हैं कि ऐसे लोगों को धिक्कार है जो वेद-शास्त्र पढ़ें और शरीर का भेद बना रहे। तब उसने वेद पढ़ा ही कहाँ? कृत्रिम जातियाँ तो पैदा होती आई हैं नष्ट हुई हैं; नित्य पैदा हो रही हैं, नष्ट हो रही हैं; पैदा होंगी और नष्ट भी होती रहेंगी। मनुष्य की केवल दो जातियाँ स्वाभाविक हैं । वास्तव में मनुष्य मात्र दो प्रकार के हैं। न चार प्रकार के, न हजार प्रकार के।

प्रश्न-महाराज जी, यदि यही दो जातियाँ हैं तो असुर कहलाना कौन पसन्द करेगा?

उत्तर- करना तो नहीं चाहिए किन्तु अधिकांश पसन्द करते हैं। असुर का यह अर्थ नहीं है कि दो सींग वाली, बड़े दाँतों वाली, लाल-लाल आँखों वाली कोई जाति रही हो। कृष्ण देवता थे, उन्हीं के सगे सम्बन्धी पाण्डव मानव थे और सगे मामा कंस, सम्बन्धी बाणासुर, जरासंध, शिशुपाल सभी असुर थे। अच्छे आचरणों से मनुष्य ही देवता बन जाता है और बुराइयों पर चलकर वही असुर भी बनता है। असुर वह है जो 'सुर' अर्थात् परम देव परमात्मा पर विश्वास न करे। बहुत से लोग आज भी ईश्वर को नहीं मानते। हैं वे असुर ही, नाम चाहे जो दे लें। आजकल प्रचलित जाति-प्रथा न तो स्वाभाविक है और न उपयोगी ही। जो स्वाभाविक है, 'नेचुरल' है अनिवार्य है; उसे क्यों नहीं मानते?

ॐ

'विप्र'

प्रश्न - महाराज जी, ब्राह्मण कोई जन्म से होता है कि कर्म से बनता है? विप्र का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर - देखिये, वर्ण-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं--

ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः ।।१८।४१।।

हे परन्तप! 'स्वभाव प्रभवैर्गुणैः' स्वभाव में जागृत गुणों द्वारा ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्म विभाजित किये गये हैं। न कि मनुष्यों को विभाजित किया गया। स्वभाव परिवर्तनशील है, सदैव बदलता रहता है। स्वभाव के परिवर्तन से गुणों में परिवर्तन होता रहता है। अतः गुणों में परिवर्तन होने पर वर्ण परिवर्तन होना स्वतः सिद्ध है। कर्म की चरमोत्कृष्ट अवस्था में, इच्छाओं सहित अंतःकरण जीत लेने पर गुण सहित स्वभाव भी शान्त एवं विलीन हो जाता है। इसी अवस्था में परम कल्याण, परम तत्त्व की प्राप्ति होती है जिसे परम नैष्कर्म्य भी कहते हैं। गोस्वामी जी ने गीता का ही अनुवाद विनय पत्रिका में कर दिया है--

गुण स्वभाव त्यागे बिनु, दुर्लभ परमानन्द ।।पद सं. २०३।।

इसके मिट जाने पर ही उस परमानन्द की प्राप्ति संभव है। गुणों के अंतर्गत ही आवागमन है।. स्वभाव के जीते जी प्रकृति जीती है। गुण और स्वभाव के विलय हो जाने पर परम तत्त्व सहज ही प्राप्त हो जाता है। साधना की पूर्तिकाल में गुण और स्वभाव नहीं रह जाते अतः कोई वर्ण भी नहीं रह जाता। जब गुण ही नहीं हैं तो विभाजन किसका हो? उस समय शंकराचार्य जी के शब्दों में

"न ब्राह्मण न क्षत्रिय न वैश्यं नशूद्र चिदानन्द रूपं शिवो केवलोऽहं।" ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी वर्ण नहीं रह जाता। आत्मा ही कैवल्य स्वरूप बच रहती है। इस प्रकार चारों वर्ण साधन के चार ऊँचे-नीचे सोपान हैं। कोई भी साधक स्वभाव और गुणों में परिवर्तन लाकर उच्च वर्गों में प्रवेश पा सकता है और अंत में वर्णों से परे भी हो सकता है। वर्ण का निर्धारण जन्म से नहीं बल्कि स्वभाव में जागृत गुणों से होता है।

अब आइये विप्र की व्युत्पत्ति और पराकाष्ठा पर दृष्टिपात करें। श्रीकृष्ण कहते हैं--

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।१८।४२।।

तप (शाश्वत धर्म के लिये इन्द्रियों का तपाना ही तप है। उसके अनुरूप ढालना, उसकी कसौटी पर मन को कसना ही तप है।) इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, शुद्धता, अंतःकरण की शान्ति, 'आर्जवम्' सरलता, वास्तविक क्रिया की जानकारी ज्ञान, विज्ञान अर्थात् अनुभवी उपलब्धि, आस्तिक भाव-- ये सब "ब्रह्मकर्म स्वभावजम्" ब्राह्मण श्रेणी का कर्म है जो स्वभाव से उत्पन्न हुआ है। यह ब्राह्मण श्रेणी के कर्म की प्रवेशिका है, निम्नतम सीमा है। ब्राह्मण श्रेणी की पराकाष्ठा में, प्राप्ति काल में कोई कर्म नहीं रहता क्योंकि गुण और स्वभाव ही लुप्त हो जाते हैं। ब्राह्मण श्रेणी के कर्म करते-करते गुण स्वभाव से परे होते ही साधक वर्ण से परे हो जाता है, शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

कोई भी प्राणी कर्म का सही स्वरूप समझ कर इस ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकता है, ब्रह्म में विलय पा सकता है। सब के लिये इसका समान विधान है। दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा--

त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।२।४५।।

अर्जुन ! वेद तीनों गुणों तक ही प्रकाश करते हैं। तू तीनों गुणों से ऊपर उठ। अर्थात् वेदों से ऊपर उठ। गुणों से ऊपर उठा तो वेदों से ऊपर उठ गया। किस प्रकार ऊपर उठ? निर्द्वन्द्व, नित्य, सत्त्व वस्तु में स्थित रहते हुए योग-क्षेम को न चाहता हुआ, आत्मपरायण हो। इस प्रकार आचरण करके ऊपर उठ। प्रश्न उठता है कि हम ही उठें या और भी कोई ऊपर उठा है? वेदों या तीनों गुणों से ऊपर उठ जायँगे तो हम क्या हो जायँगे? हमारी स्थिति क्या होगी? श्रीकृष्ण कहते हैं--

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।।२।४६।।

सर्वत्र परिपूर्ण स्वच्छ जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय (गड़ही) से मनुष्य का जितना प्रयोजन रह जाता है, अच्छी प्रकार ब्रह्म को जानने वाले ब्राह्मण का वेदों से उतना ही प्रयोजन रहता है। क्षुद्र जलाशय में अधिक से अधिक लड़के शौच क्रिया कर लेते हैं, इससे अधिक मनुष्य के लिये उनका कोई उपयोग नहीं रह जाता। ठींक इतना ही प्रयोजन ब्रह्म को जानने वाले ब्राह्मण का वेदों से रह जाता है। महापुरुष के लिए वेद नगण्य हैं किन्तु दूसरों के लिये तो वेदों का सब प्रकार से महत्व है। वेद ब्रह्म को ही विदित कराते हैं और जिसने ब्रह्म को ही जान लिया उसके लिए वेद का क्या महत्व? किन्तु वह गड़ही के रूप में है, क्योंकि इन्हीं वेदों को ही कल्याणोत्थान के लिए निरूपित करता है। अतः अर्जुन! तू तीनों गुणों तथा वेद से ऊपर उठ अर्थात् ब्राह्मण बन। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण एक स्थिति विशेष है। कोई भी साधक क्रमशः चलकर उस विप्रत्व में प्रवेश पा सकता है और उसको भी पार करके ब्रह्म को जानकर ब्रह्म

में पूर्ण स्थिति ही प्राप्त कर लेता है जो विप्रत्व की उच्चतम सीमा है। स्वयं के लिये वह न विप्र है और न शूद्र; किन्तु अन्य के लिये वह विप्र स्वरूप है। अत: किसी जाति विशेष के लिये ही (जैसा आजकल समाज में प्रचलित है) विप्रत्व का विधान हो, ऐसी बात नहीं है। यदि गीता सत्य है तो उसकी यही व्यवस्था सत्य है। इन्हीं शास्त्रों के माध्यम से हम समझ पाते हैं कि हमारा धर्म क्या है? कर्म क्या है? क्रिया क्या है?

उस विप्र के लक्षण क्या हैं? तत्त्ववित् पुरुष के लक्षण क्या हैं? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं--

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।५।१८।।

विद्या विनय युक्त ब्राह्मण और चाण्डाल मे, गाय, कुत्ता तथा हाथी में 'पण्डिता:' पूर्ण ज्ञानी लोग 'समदर्शिन:' समान दृष्टि वाले होते हैं। उनकी दृष्टि में न गाय धर्म है, न कुत्ता अधर्म। न विद्या विनय युक्त ब्राह्मण कोई अधिक विशेषता रखता है न वह चाण्डाल कोई हीनता। क्यों? क्योंकि सबके अंतराल में जिस शाश्वत आत्मा का संचार है वे महापुरुष उसी परमात्मा की स्थिति वाले हैं, सबके मूल में स्थित होते हैं। ऐसे महापुरुष की दृष्टि जब भी किसी पर पड़ती है, उसके आत्मिक प्रसार पर ही पड़ती है। आत्मा पर पड़ती है, चमड़ी पर नहीं। वह जीवात्मा उत्थान अथवा पतन जिस स्थिति में होती है, उसको वहीं से मार्गदर्शन उन महापुरुष द्वारा प्राप्त होने लगता है। यह ब्रह्मस्थित, प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष के लक्षण हैं, विप्रत्व की चरम सीमा है।

एक अन्य श्लोक में श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि ब्राह्मण कब और कैसे होता है?--

यस्य सर्वे समारम्भाः काम संकल्प वर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।।४।१।।

जिस पुरुष के द्वारा सम्पूर्णता से आरम्भ की हुई क्रिया, जिसमें लेशमात्र भी त्रुटि न हो, क्रमशः उत्थान करते-करते इतनी सूक्ष्म हो गई कि 'काम संकल्प वर्जिताः, जहाँ काम और संकल्प नहीं रहते (काम और संकल्प से रहित होना ही मन की विजेतावस्था है क्योंकि संकल्प-विकल्प का उतार-चढ़ाव तो इस मन पर है) तो मन के निरोध के साथ ही "ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माणं" जिसे हम नहीं जानते हैं, वह शाश्वत, जिसका नाम परमात्मा है, विदित हो जाता है। इसकी प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है। उस ज्ञान की अग्नि में 'दग्ध कर्माणं' कर्म सदा के लिये जल जाते हैं। कर्म अर्थात् आराधना भी समाप्त हो जाती है। आगे कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिसे ढूढ़े, इसलिये कर्म सदा के लिये शेष हो जाते हैं। "तमाहुः पण्डितं बुधाः" बोधस्वरूप महर्षियों ने ऐसे ही स्थिति वाले पुरुषों को पण्डित कहकर सम्बोधित किया। उनकी क्रिया में लेशमात्र भी कसर नहीं है अतः यह ब्राह्मण की अधिकतम सीमा एवं पराकाष्ठा है। वह ब्रह्म को पूर्ण रूप से जानता है, ब्रह्म पर है। परब्रह्म से संयुक्त है इसलिये विप्र है। द्वि अर्थात् द्वैत पर जय पाने वाला है, इसलिये द्विज है।

अतः ब्राह्मण, विप्र, द्विज साधना का ही एक स्तर विशेष है, न कि कोई जन्मना ब्राह्मण होता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र 'स्वभावजम्' स्वभाव तथा "स्वभाव प्रभवैर्गुणैः" स्वभाव से होने वाले गुणों से निर्धारित होते हैं। कालान्तर में अपभ्रंश हो जाने से लोगों ने अंतःकरण की वस्तु को बाहर देखने का प्रयास किया इसलिए बहुत से जाति, उपजाति और संप्रदाय पैदा हो गये। सभी मत-मतान्तर केवल उदर-पोषण की लिप्सा एवं मान-सम्मान की भावना को लेकर बने हैं और बाह्य आडम्बर मात्र हैं। जिससे दबते बना दबा, जिसे दबाते बना दबाया। अन्यथा योग दर्शन, गीता, रामचरित मानस

अथवा इसी स्तर के प्रत्येक महापुरुषों की वाणी में अन्य कुछ नहीं मिलता। गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, गुरु नानक[१] सभी ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य; शूद्र चारों शब्दों का प्रयोग किया, चारों को स्वीकार किया लेकिन सबकी दृष्टि एक ही है कि आराधना के ही क्रम को चार श्रेणियों मे बाँटा गया जिसमें ब्राह्मण एक पवित्र स्थल है। ब्राह्मणत्व की निम्नतम सीमा में ब्रह्म में विलय दिलाने वाले सारे लक्षण होते हैं। विलय के पश्चात् वह स्वयं में न तो ब्राह्मण है न क्षत्रिय, न वैश्य है न शूद्र। यही ब्राह्मणत्व की पराकाष्ठा है। हाँ, दूसरों के लिये वह ब्रह्म का परिचायक, उपदेशक और प्रेरक है। ब्रह्म में विलय दिला देने की उसमें क्षमता है इसलिये वे विप्र ही पुकारे जाते हैं। नहुष को शाप किन विप्रों ने दिया था? जिन तपोधनों ने उन्हें शाप दिया वे जन्म से कहाँ कुलीन थे? अतः कोई भी व्यक्ति क्रिया पर चलकर विप्र बन सकता है, आप भी बनें। उस वास्तविक क्रिया की जानकारी के लिये तत्त्वदर्शी महापुरुषों की शरण में जायँ क्योंकि वही वस्तुतः विप्रत्व के ज्ञाता हैं। धर्म शास्त्रों[२] का यही निर्णय है।

१. गुरुनानक - "योग शब्द गियान शब्द ते ब्राह्मन" ज्ञान और योग शब्द में पाये जाने वाले भेद को जो यथार्थतः जानता है, विप्र है।

२. वृहदरण्यक उपनिषद, तृतीय अध्याय अष्टम ब्राह्मण में जनक की यज्ञसभा में याज्ञवल्क्य गार्गी को बताते हैं गार्गी ! उस परमतत्त्व को ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं। जो उस अक्षर को जानता है, वही ब्राह्मण है।

वास्तव में जो भी व्यक्ति ब्राह्मणत्व के गुण-धर्मों से युक्त है, वही ब्राह्मण है। वही सृष्टि में सर्वोपरि, एक मात्र पूज्यनीय है, इसमें दो राय नहीं है। अतः महापुरुषों की जाति, वेष इत्यादि बाह्य गुण-धर्मों पर दृष्टि नहीं रखनी चाहिए।

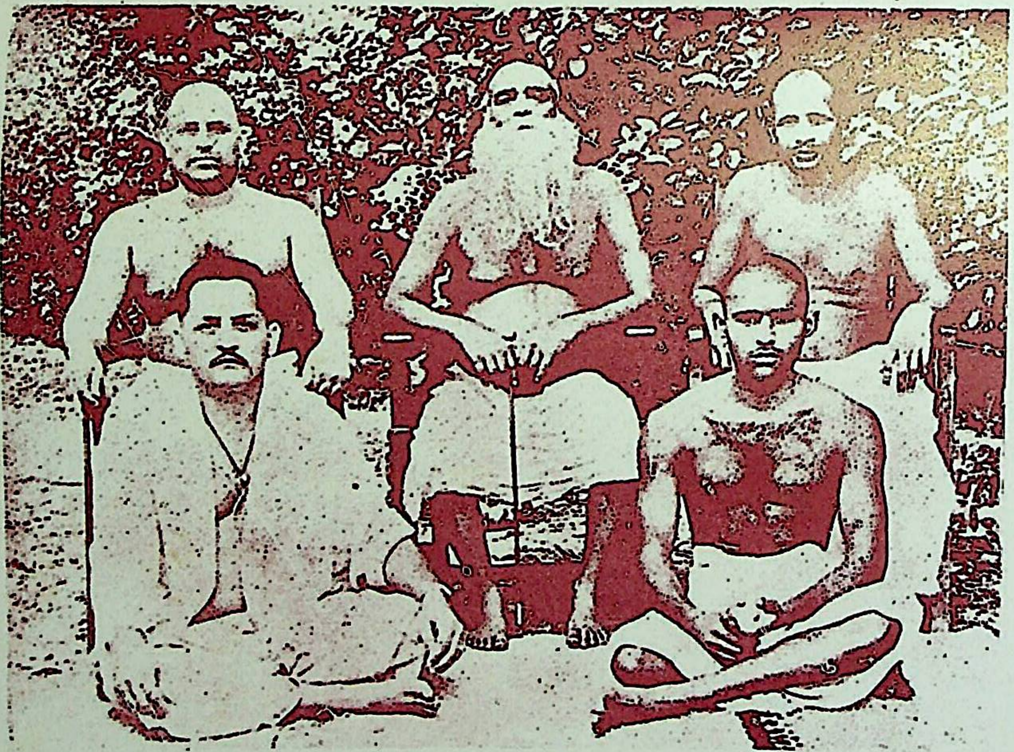
ॐ

भिक्षा

प्रश्न - महाराज जी! गीता के दूसरे अध्याय में अर्जुन गुरुओं को न मारकर इस लोक में भिक्षा का अन्न भोगना भी श्रेयतर मानता है। कृपया बतलावें वह भिक्षा कैसी है?

उत्तर - भिक्षा के दो रूप हैं। एक तो हरिभक्त भिक्षान्न ग्रहण करता है, बदले में उतने समय के लिए चिन्तन-भजन उस दाता भक्त के लिए करता है, उसे श्रेय-सुलभ आशीर्वाद देता है। यह परिव्राजक के लिए गृह त्याग के अनन्तर विधेय है, जो भजन में अनवरत प्रवृत्त रहता है। भिक्षा के इस स्वरूप से अधिकांश विश्व परिचित है। गौतम बुद्ध इत्यादि भारतीय मनीषियों ने विविध तरीकों से श्रमणों के लिए भिक्षा पर बल दिया और दाता के लिए मंगल-कामना की पुष्टि की। इससे साधक को सदैव अपनी दीनता का बोध होता रहता है, साथ ही शुभ संस्कारों के सृजन से परिव्राजकों की लौकिक व्यवस्था का दायित्व समाज अनुभव करता है। इसीलिए ईसा मसीह ने भी अपने शिष्यों को निर्देश दिया कि "केवल एक कुर्ता पहनकर, हाथ में पात्र लेकर तुम लोग विचरण करो। जो तुम्हारी सेवा करेगा, तुम्हारे लिए भिक्षा की व्यवस्था करेगा, उसका कल्याण प्रभु करेंगे। जो तुम लोगों का सम्मान करता है, वह मेरा सम्मान करता है।"

भिक्षा का दूसरा रूप सूक्ष्म और गहन है। गृह-त्याग से हिचकिचाने वाले श्रद्धालु सनातन तत्त्व में स्थित महापुरुष, परम प्रभु परमात्मा से श्रद्धा निवेदन कर बदले में कल्याण की माँग करते हैं। यह भी भिक्षान्न ही है। "अन्नं ब्रह्म व्यजानात्" (तैत्तिरीय उपनिषद्) ब्रह्म ही वह अन्न है जो आत्मा की पूर्ण तृप्ति कराने वाला है। कृष्ण स्वरूप में स्थित महात्माओं के सर्वांगीण पूजन से परम तत्त्व की माँग ही भिक्षा है। जिन पुरुषों में चिन्तन-क्रम में प्रवृत्त होने की क्षमता नहीं है, ममत्व के सभी तागों को बटोर कर जो इष्ट के चरण कमलों में बाँधने



प्रथम पंक्ति :— श्री एस० डी० चतुर्वेदी, श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी।
द्वितीय पंक्ति :— स्वामी श्री सच्चिदानन्दजी, पूज्य परमहंसजी तथा स्वामी श्री भगवानानन्दजी।



में सक्षम नहीं है ऐसे लोगों के लिए श्रद्धा, सेवा एवं भक्ति भाव से आप्लावित होकर स्वरूपस्थ प्रभु से ब्रह्मान्न की याचना करते रहना ही कल्याण का लम्बा किन्तु सफल साधन है। यह सद्गृहस्थ आश्रम में रहते हुए आराध्य उपलब्धि की भिक्षा जनित विधि है। किन्तु संघर्षरत साधकों के लिए भिक्षा की आवश्यकता नहीं है।

अर्जुन जन्म-जन्म से चलनेवाला तथा अधिकारी साधक था। पारिवारिक आसक्तिवश स्वजन सम्बन्धियों में रहते हुए वह परम कल्याण की कामना करने लगता है, बचाव का रास्ता ढूँढ़ने लगता है किन्तु कहीं भी उपाय न देखकर भिक्षान्न स्वीकार करने को उद्यत हो जाता है, किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण जैसे सद्गुरु की पीयूष-वर्षिणी प्रवचन-धारा से अर्जुन की कायरता समाप्त हो गई और वह उस परम पावन पथ में प्रवृत्त हो गया। प्रारम्भ में अर्जुन साधन-पथ पर बिना चले ही, स्वजन सम्बन्धियों में रहते हुए परम कल्याण की आशा करता है और ऐसा संभव न देखकर कृष्णस्वरूप महापुरुष की दया कृपा से जितना कुछ भिक्षान्न मिल जाय उतने से ही सन्तोष कर लेना चाहता है किन्तु सद्गुरु श्रीकृष्ण उसे उत्साहित कर प्रकृति-पुरुष के युद्ध में लगा ही देते हैं, साधना की कसौटी पर कसकर, तराश कर परम कल्याण का अधिकारी बना देते हैं।

ॐ

भगवान कर्ता है अथवा अकर्ता?

प्रश्न- भगवन्! गीता के अनुसार- - ''निमित्त मात्रो भव सव्यसाचिन्'' मनुष्य तो निमित्त मात्र है, फिर उसे दोषी क्यों ठहराया जाता है? मोटर एक्सीडेन्ट होने पर भी कोई मोटर को दोषी नहीं ठहराता। वह तो चालक की कला की त्रुटि है। अतः भगवान से संचालित जीव को दोषी क्यों कहा जाता है? भगवान के इशारे के बिना पत्ता भी नहीं हिलता तो मनुष्य को पाप का भागी बनाना कहाँ का न्याय है?

उत्तर - देखिये, वास्तव में भगवान ऐसा नहीं करते। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! न वह प्रभु कर्ता है, न कराता है तथा न क्रिया के संयोग को ही जोड़ता है। मान लीजिए वह न करता हो, न कराता हो किन्तु जुगाड़ तो लगा सकता है। किन्तु नहीं; वह क्रिया के संयोग को भी नहीं जोड़ता। इतने पर भी अर्जुन! जो लोग कहते हैं कि परमात्मा करता है उनकी बुद्धि मोह से आच्छादित है, इसलिए वे कुछ न कुछ कहते रहते हैं। वास्तव में भगवान नहीं करते।

इसी को स्पष्ट करते हुए अध्याय अठारह में वे कहते हैं कि शुभ अथवा अशुभ प्रत्येक कार्य के होने में पाँच माध्यम हैं - कर्ता, न्यारे-न्यारे करण, नाना प्रकार की चेष्टायें, आधार और दैव। यह मन कर्ता है। जिन साधनों से कर्म किये जाते हैं, करण कहलाते हैं। यदि शुभ कर्म करते हैं तो विवेक, वैराग्य, शम, दम, एकान्त देश का सेवन, धारावाही चिन्तन, प्रवृत्ति, आर्जवम् इत्यादि करण हैं। इनके द्वारा हम उधर प्रवृत्त होते हैं। यदि अशुभ कर्म होता है तो काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर, अनन्त चेष्टायें इत्यादि करण होंगे। इनके द्वारा ये कर्म रूप लेते हैं। इच्छायें अनन्त होती हैं, चेष्टायें भी नाना प्रकार की होती हैं लेकिन सबकी पूर्ति नहीं होती। उनमें से जिस इच्छा के साथ आधार मिल

जाता है, अनुरूप वातावरण मिल जाता है, वही आधार है और पाँचवाँ हेतु दैव है। दैव होनी या प्रारब्ध को कहते हैं। शुभ या अशुभ कर्म के होने में बस ये पाँच कारण हैं, फिर भी जो कहते हैं कि कैवल्य स्वरूप परमात्मा कर्ता है, प्रेरक है, अर्जुन! वह अविवेकी है। वह यथार्थ नहीं जानता। अर्थात् भगवान नहीं करते।

किन्तु महाभारत के युद्ध में उस अठारह अक्षौहिणी जन समूह में, जो महाभारत की गणना के अनुसार लगभग चालीस लाख होता है, वर्तमान गणना के अनुसार साढ़े छः अरब होता है, केवल अर्जुन ही भगवान का निकटवर्ती रहा जिसके लिए भगवान स्वयं ताल ठोंककर खड़े हो जाते हैं- **''निमित्त मात्रो भव सव्यसाचिन्''** अर्जुन! तू निमित्त मात्र बनकर खड़ा भर रह। कर्ता-धर्ता तो मैं हूँ। मैं निश्चित कहता हूँ कि तुम्हारी विजय होगी। तेरे लिए मैंने पहले ही इनको मार रखा है। भीष्म, द्रोण, कर्ण इत्यादि सभी मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। इन मारे हुए को मार और यश प्राप्त कर।

लीजिए! एक स्थल पर कहते हैं कि कैवल्य स्वरूप परमात्मा को कर्ता मानने वाला मूढ़ बुद्धि है, अविवेकी है, उसकी बुद्धि मोह से आच्छादित है, वह यथार्थ नहीं जानता। अर्थात् भगवान नहीं करते, और यहाँ भगवान स्वयं खड़े हो गये कि अर्जुन! तू निमित्त मात्र बनकर खड़ा भर रह। कर्ता-धर्ता तो मैं हूँ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम्हारी विजय होगी। मुझ पर भरोसा रख। मेरे आश्रित हो।

अंततः वह महापुरुष कहना क्या चाहते हैं? वास्तव में भगवान और माया के बीच में 'ग्रेविटी' है, एक रेखा है। एक निर्धारित अवस्था तक माया प्रेरणा करती है, उसके पश्चात् ईश्वर प्रेरक हो जाता है। साधना के सही दौर में पड़कर निर्धारित सीमा पार कर लेने पर ईश्वर प्रेरक हो जाता है। जब तक साधक माया

के क्षेत्र में है तब तक उससे प्रत्येक कार्य के होने में न्यारे-न्यारे करण ही माध्यम हैं। किन्तु जब साधक माया की परिधि पारकर ले जाता है, ईश्वरीय आकर्षण क्षेत्र तक पहुँच जाता है, ऐसे पथिक की बागडोर इष्टदेव अपने हाथ में ले लेते हैं। ऐसे भक्त के लिए वे स्वयं कटिवद्ध रहते हैं और यहाँ तक कि बिकने को भी प्रस्तुत हो जाते हैं। इस अवस्था के पश्चात् यदि कोई पथिक स्वयं पतित होना चाहे तो हो नहीं सकता। भगवान उसे पतित होने ही नहीं देंगे। वे बचा लेंगे। जैसे नारद को बचाया। अर्थात् उस सीमा के पार होने के बाद भगवान करते हैं।

अत: प्रत्येक पुरुष को चाहिए, चाहे वह गृहस्थ आश्रम में रहे या कहीं भी रहे, प्रात: - सायं नियमित रूप से उस आराध्य देव के स्वरूप का चिन्तन करें। रुचि के अनुसार किसी भी दो-ढाई अक्षर के नाम को ले लें। कृष्ण ने तो ॐ जपने का निर्देश दिया था- "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् माम् अनुस्मरन्" अर्जुन! 'ओम' यह अक्षय ब्रह्म का परिचायक है। इसका तू जप कर और ध्यान मेरे स्वरूप का धर। मेरे अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का चिन्तन न करते हुए निरन्तर मेरा स्मरण कर। ध्यान मेरा और नाम ॐ का जप। 'कृष्ण-कृष्ण जप' - ऐसा योगेश्वर श्रीकृष्ण ने नहीं कहा। इतना ही नहीं, अर्जुन को कृष्ण कहना अपराध प्रतीत हुआ।

प्रारम्भ में अर्जुन कृष्ण को सखा मानता था। बुद्धि में कुछ उनको तेज अवश्य मानता था किन्तु धनुर्धरों में अपने को ही सर्वश्रेष्ठ मानता था। श्रीकृष्ण का विराट रूप देखने पर अर्जुन बहुत भयभीत हुआ। वह गिड़गिड़ाने लगा। क्षुद्र त्रुटियों के लिए क्षमा याचना करने लगा। कहने लगा - "भगवान! आपको न महर्षिगण जानते हैं और न देवता ही जान पाते हैं क्योंकि आप ही सबके आदि कारण हैं। आप स्वयं ही अपने आप को जानते हैं। मैंने कभी आपको हे सखा! हे यादव! हे कृष्ण! कहकर सम्बोधित किया था। इन त्रुटियों के लिए

आप मुझे क्षमा करें। पिता जैसे प्रिय पुत्र की भूलों को क्षमा करता है, सखा जैसे सखा की भूलों को सहन करता है, पति जैसे पत्नी की भूलों को क्षमा करता है, इसी प्रकार मेरी उन त्रुटियों को भी क्षमा करें। जब अर्जुन ने ऐश्वर्य विभूतियुक्त उस परम स्वरूप को देखा तब उसने महसूस किया कि ये न कृष्ण हैं न श्वेत, काले हैं न गोरे, न सखा हैं न यादव। यह तो अनन्त अव्यक्त, शाश्वत, सनातन, पुरातन तथा परात्पर ब्रह्म हैं। इस प्रकार अर्जुन ने कृष्ण कहने की अपनी भूल के लिए क्षमा याचना की।

प्रश्न - महाराज जी! कृष्ण-कृष्ण कहना यदि अपराध है तो जो लोग कृष्ण नाम का जप करते हैं, क्या वे भ्रम में हैं?

उत्तर - देखिये, कृष्ण ने केवल इतना कहा था कि नाम ॐ का जपो और ध्यान मेरा धरो। यह तो अर्जुन की अनुभूति थी कि कृष्ण कहने में उसे संकोच हो रहा था। कालान्तर में भाविक भक्तों ने उनका नाम भी जपना आरम्भ कर दिया और अपनी श्रद्धा के अनुसार वे उसका फल भी पाते हैं। ईश्वर का कोई भी नाम श्रद्धा और विश्वास के अनुसार जपने से निश्चय कल्याण होता है।

एक भाविक भाव विह्वल होकर ईश्वर की प्रार्थना कर रहा था, लेकिन प्रार्थना सूत्र टूटे-फूटे निकलते थे। मूसा उसी रास्ते से जा रहे थे। गलत उच्चारण सुना तो उबल पड़े - "उच्चारण अशुद्ध कर रहे हो? स्तुति इस प्रकार करो।" मूसा आगे बढ़े। भाविक शुद्ध उच्चारण में उलझ गया, ईश्वर का ध्यान ही न रहा। आकाशवाणी हुई - "मूसा! हमने तुम्हें धरती पर इसलिए भेजा था कि भटके हुए लोगों को हमसे मिला, न कि हमसे मिले हुए लोगों को गुमराह कर।" लौट पड़े मूसा, भाविक भक्त से बोले - बेटा! तुम जैसे स्तुति कर रहे थे वैसे ही करो। यही प्रारंभिक अवस्था है।

अत: श्रद्धानुसार कोई भी दो-ढाई अक्षर का नाम ॐ, राम, शिव, कृष्ण में से लें। उसका चिन्तन करें - और उसी के अर्थ स्वरूप इष्ट का ध्यान करें। यदि सद्‌गुरु मिल जायेंगे तब तो सोने में सुगन्ध ही है। वे नाम का जो वास्तविक प्रवेश है, उसकी जागृति एवं संचार करा देंगे, जो यथार्थ है। नहीं तो "यथाभिमतध्यानाद्वा" (पातंजलि यो. १।३९) किसी का भी स्वरूप पकड़ लें। इससे आपका पुण्य और पुरुषार्थ बढ़ेगा जिससे आप शनै: - शनै: प्रकृति के क्षेत्र से पार होते जायँगे और इष्ट के आकर्षण क्षेत्र में जहाँ आप पहुँचे तहाँ फिर वह प्रभु ही संचालक हो जायगा।

कृष्ण अध्याय नौ में कहते हैं- अर्जुन! मैं अव्यक्त हूँ। सबमें समान रूप से व्यापक हूँ। मेरा न कोई प्रिय है न अप्रिय है किन्तु जो मेरा अनन्य भक्त है वह मुझमें है और मैं उसमें हूँ। अर्थात् भक्तों के लिए ही वे रथी हैं। "उर प्रेरक रघुवंश विभूषण" अवश्य हैं किन्तु "सो केवल भगतन्ह हित लागी।" भक्त के लिए भगवान सदैव तत्पर हैं।

ॐ

सन्तों का उद्भव एवं उनकी परंपरा

परमपूज्य परमहंस जी का जीवन पूरा का पूरा उन महापुरुषों से मिलता है, जो आदि से लेकर आज तक होते आये हैं, जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध इत्यादि से लेकर तुलसी-कबीर आदि हुए हैं। आज का मानव इन प्राचीन महापुरुषों को जिन युक्तियों के द्वारा सम्बोधित करता है, उनका यही तो रूप है कि दो या तीन को जीवनदान, कुछ रोगियों एवं पागलों का ठीक होना आदि। पूज्य परमहंस जी में इन सब का पाया जाना एक साधारण बात थी। मनुष्य अपने समझने के लिए चाहे जो भी बना ले, परन्तु उन महापुरुषों के अन्दर की वस्तु यह नहीं है। मारने, जिलाने अथवा रोग-निवारण से उन महापुरुषों की उपलब्धि का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। यह तो उनकी ऐसी आभा है जो स्वाभाविक घटित होती रहती है। जब कोई चलकर वास्तव में ब्रह्म में लीन हो जाता है, तब ये रश्मियाँ स्वाभाविक कार्य करती रहती हैं और भली-बुरी जैसी जिनकी मन:स्थिति पाती हैं, वैसा ही उनका निदान करती रहती हैं। हाँ, प्राचीन महापुरुषों के पीछे अनुयायियों ने शनैः - शनैः पीढ़ी दर पीढ़ी कुछ न कुछ उपाधि देते हुए अवतार आदि बड़ी-बड़ी संज्ञाओं से विभूषित कर दिया और अपने-अपने लिए प्रतीक बना लिया, किन्तु महापुरुषों के यहाँ संघ या संस्था नहीं होती।

महापुरुष किसी देश-काल में जब भी हुए हैं, वास्तव में वे उस परम सत्ता को एक ही जैसा पाये हैं। कारण कि सबके ऊपर नियंत्रण करने वाली परमसत्ता एक ही जैसी रहा करती है अर्थात् वह भगवान एक ही जैसा है। यदि वास्तव में किसी ने उस परमात्मा की उपलब्धि की है तो वह समाज के बीच दरार नहीं डाल सकता। तुम खुदा के साथ हो गये और हम गॉड के। इसी प्रकार अनन्त शाखाएँ हो सकती हैं। यदि कोई दलबन्दी की दरार डालता है तो सिद्ध है कि अभी वह पाया नहीं है। महापुरुष के लिए आप सब एक ही मानव के

रूप में हैं। यदि आप अधिकारी की स्थिति में हैं तो महापुरुष प्रकृति के दलदल की एक सीमा से उठाकर दूसरी सीमा को पार कराता है।

महापुरुष जिस इष्टमयी युक्ति से पथिक को साधना में उत्तरोत्तर उठाते हैं वह लिखने में नहीं आता। अधिकारी के हृदय में स्वयं महापुरुष प्रेरक के रूप में खड़े हो जाते हैं। अधिकार के अर्जन में हममें सर्वभावेन श्रद्धा एवं लगन की आवश्यकता है। इसमें किसी जाति व कुल के लिएं प्राथमिकता हो, यह भूल है।

जब प्राचीन कथनकों पर दृष्टि डाली जाती है तो उसमें किसी जाति विशेष का वर्णन नहीं मिलता। देवासुर-संग्राम में दो जातियों का अभ्युदय हुआ, पहली देवता एवं दूसरी असुर। उसके बाद यक्ष, रक्ष, किन्नर, गन्धर्व, नाग और यवन के रूप में मनुष्य का जन्म हुआ एवं आगे चलकर इस मनुष्य ने वानर, रीछ, मण्डूक आदि में पलटा खाया। शनैः-शनैः मानव आर्य का रूप लेकर ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य एवं शूद्र के रूप में बदल गया। यह बदलना बन्द नहीं होगा, कारण कि यह सामाजिक सद्व्यवस्थाओं का चक्र है। मनुष्य सदैव अपने रहन-सहन के तरीके को सुलझाता आया है, यही कारण है कि अपने को दलों में विभक्तकर अनेक रूढ़िगत परम्पराओं का अनुयायी बताने लगा है। हो सकता है कि आगे चलकर मानव और कोई रूप ले ले, क्योंकि प्रत्येक द्वीपों में यही होता आया है। इन शारीरिक व्यवस्थाओं के सुधार से उस परमात्मा का कोई सम्बन्ध नहीं हैं। उस परमात्म धर्म की प्रक्रिया मन से क्रियान्वित होती है और क्रमशः मन के अचल स्थिर व पूर्ण निरोध हो जाने पर इष्ट-दर्शन के साथ पूरी होती है।

यदि अनुराग व विरह वैराग्य है तो आवश्यक नहीं कि आप सही माता-पिता के पुत्र हों तभी ब्रह्मर्षि व सन्त की स्थिति में आयेंगे। महर्षि वशिष्ठ उर्वशी के उदर से उत्पन्न हुए थे, परन्तु उनके ब्रह्मत्व में कोई कमी नहीं थी। महर्षि

वाल्मीकि कोल के संयोग से और ब्रह्मर्षि व्यास मछोदरी (मत्स्यपालिका) के संयोग से उत्पन्न हुए थे किन्तु उनके ऋषित्व में कोई अन्तर नहीं था। कबीर तालाब के किनारे शैशवकाल में मिले। ईसा अपनी माँ के अविवाहित काल में ही सात माह के उदर में थे, इतने पर भी पूर्ण संन्त हुए। अतः भगवत्-पथ में माता-पिता की त्रुटियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ, भगवत्-पथ का पथिक इन्द्रिय संयम की पूर्ण कसौटी के बिना उस लक्ष्य को नहीं पाता। चिन्तन की प्रवेशिका से ही यह संयम आवश्यक है।

अब इन महापुरुषों को विशेष तारीफ का कलेवर पहना देना तो उन लोगों की देन है जो महापुरुष को हृदय से पकड़ने में असफल रहे और कोरी भावुकता से भरे हैं। अब उन महापुरुषों पर विचार करें जिनके पीछे संकीर्णता पैदा हो गई है जिनके परिणामस्वरूप संघ का निर्माण हो गया। भावुक उन्हें ईश्वर का इकलौता बेटा कहते हैं। बड़े-बड़े अक्षरों में इतना अवश्य लिख देते हैं कि ईश्वर ने अपने इकलौते बेटे को स्वर्ग से भेजा, इसका मतलब अब ईश्वर के पास कोई और पुत्र नहीं है एवं कोई दूसरा पुत्र हो भी नहीं सकता, किन्तु महात्मा ईसा ने बताया कि केवल मैं ही ईश्वर का पुत्र हूँ, अब नहीं होंगे, ऐसी बात नहीं है।

कबीर के अनुयायी कहते हैं कि तालाब के किनारे 'वह प्रकाश' एकत्रित हुआ और बालक बन गया। यह कोरी भावुकता है। इससे तो यह सिद्ध होता है कि भविष्य में कोई कबीर होना ही नहीं चाहिए। अतः परमात्मा ही पिण्ड रूप में ढल गया, किन्तु उस महापुरुष ने अपनी ही वाणी में अपना परिचय देते हुए कहा है कि--

कबिरा कबिरा क्या करै, सोधो सकल शरीर।
आशा तृष्णा वस करै, सोई दास कबीर।।

जब कबीर ने महापुरुष की स्थिति प्राप्त कर लिया तब समाज कुछ कल्याण के कारण देखकर कहने लगा कि कबीर बड़े अच्छे महापुरुष हैं, वे तो योगी

हैं आदि। तब कबीर ने अपना परिचय देते हुए कहा कि क्या कबीर-कबीर रट लगाए हो, सम्पूर्ण शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) की शोध करो। आशा और तृष्णा को वश में कर लो, बस तुम कबीर हो। कबीर एक स्थिति है, वह रहनी पाकर सभी कबीर हो सकते हैं।

अतः सिद्ध हुआ कि महापुरुष किसी देश, जाति एवं कुल विशेष के नहीं होते। उनकी उपलब्धि सार्वभौमिक चेतन में होती है, अधूरी अवस्था में नहीं। परमपूज्य श्री परमहंस जी भी ऐसे ही आदर्शों में थे। अब चाहे हम भारतीय हों अथवा विदेशी, हिन्दू हों या यवन, सिक्ख, ईसाई अथवा कोई भी हों; यदि उस आत्मा को परम कल्याण की स्थिति में प्रत्यक्ष पाना है, तो सभी सामाजिक सीमाओं को तोड़कर किसी महापुरुष के प्रति अपने को समर्पित करना होगा।

हाँ, स्वयं सिद्ध कुछ समस्याएँ मानव के समक्ष हैं। यह मौलिक रूप से विचारणीय है कि मनुष्य किसी न किसी कुल विशेष में पैदा होता है और पैदा होते ही उसमें कुल-धर्मों के संस्कार पड़ने लगते हैं। धीरे-धीरे वह कुल-धर्म की सीमा में बँध जाता है और उसी को परमशान्ति का लक्ष्य मान बैठता है, परन्तु समाज में अनेकानेक कुल पाये जाते हैं। इस तरह तो वह लक्ष्य भी अनेक रूपों में दिखाई देगा, जब कि वस्तुतः वह एक ही है। यथार्थतः यदि हम परम कल्याण की ओर बढ़ना चाहते हैं तो इस संकीर्ण कौटुम्बिक सीमा का परित्याग कर व्यापक विचारों की ओर अग्रसर होना पड़ेगा। जब हम कुटुम्ब-धर्म से आगे बढ़कर जैसे ही विकासोन्मुख होने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, वैसे ही अपनी जाति का ममत्व हमें जाति-धर्म के बन्धन में पूर्णतया आबद्ध कर लेता है।

यदि कोई सच्चा अनुरागी है उसकी समझ कार्य कर रही है तो उसे जाति-धर्म को भी ठीक उसी प्रकार तिलांजलि दे देनी होगी जैसे कि कुल-धर्म को। ऐसी अवस्था में ही वह ससीम से असीम की ओर बढ़ सकेगा, व्यष्टि से समष्टि

का स्पर्श कर सकेगा क्योंकि वह भगवान नाम की अलौकिक वस्तु एक ही है। भाषा-भेद से भले ही उसे अनेक रूपों में सम्बोधित किया जाय। जाति-धर्म की सीमा का परित्याग कर जैसे ही हम साधनोन्मुख होते हैं, वैसे ही अनेक मत-मतान्तरों का बन्धन हमें पुनः अनेकात्मकता की संकीर्णता में जकड़ लेता है। इसी बीच कतिपय नैतिक आदर्शवादियों के संपर्क से कुछ अनुरागी देश-प्रेम की ओर उन्मुख हो जाते हैं। वे अपने देश का विकास ही चाहते हैं, उसी को सर्वोपरि मानते हैं और उसके लिए प्राणोत्सर्ग करने के लिए भी तत्पर रहते हैं परन्तु क्या भारत भर ही देश है? क्या परमात्मा यहीं तक ही सीमित है? इस प्रकार अनेक देश होने के कारण वह एकरस सत्ता तो अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होगी। यदि वस्तुतः आप परम शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं तो देशभक्ति की सीमा व देशभक्ति के भरम का परित्याग कर सार्वभौमिक विचारों को आत्मसात् करना पड़ेगा। इस सीमा के आगे बढ़ने पर मज़हब (सम्प्रदाय) साधक को सीमाबद्ध कर लेते हैं। कोई राम को मानता है तो कोई रहीम को, कोई ईसा को मानता है तो कोई बुद्ध को, कोई महावीर स्वामी को मानता है तो कोई खुदा को। इस प्रकार हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, जैन, बौद्धिष्ट आदि अनेक मज़हबी रोगों से साधक ग्रसित हो जाता है किन्तु इन अनेक मजहबों से ईश्वर की अभिन्न स्थिति नहीं मिल सकती जो कि व्यापक है। अन्ततः जब अनुरागी साधक कुल-धर्म, जाति, सम्प्रदाय, मत-मतान्तर, देश-प्रेम एवं विविध मजहबों के द्वन्द्व को तिलांजलि देकर असीम सत्ता का अन्वेषण करने लगता है तभी क्रमागत प्रगति के पश्चात् उस सर्वव्यापी स्वरूप का साक्षात्कार होता है, जो सभी कुल-धर्मों एवं जातियों में है। सभी संप्रदायों में विभिन्न मत भले ही क्यों न हो, पर हर देश व धर्म का वही सर्वोपरि परमचेतन स्वरूप है जो शुद्ध, बुद्ध, असीम एवं व्यापक है। इसी परमतत्त्व की उपलब्धि मानव जीवन का अमर लक्ष्य है।

ॐ

परमहंस जी की लोकोक्तियाँ

:१:

प्रायः भाविक-समाज पूज्य महाराज जी से निवेदन करता था कि "महाराज! मैं भी आश्रम के सेवकों की तरह आपकी सेवा में रहूँगा और भजन करूँगा।" उनके इन विचारों पर श्री गुरुदेव भगवान कहते थे- "हूँ......आन के मुहें चने की रोटी बहुत नीक लागत है! पींयर-पीयर लेकिन गटई धरत है।" उसके साथ नियमरूपी नमक चाहिए, प्रेमरूपी पानी चाहिए तभी यह निगलते बनता है। चित्त ही चना है। चित्त की प्रवृत्तियों को समेटना तथा उनका निरोध करना ही निगलना है। इस चित्त के पूर्ण निरोध के साथ ही उस परम-तत्त्व का आलोक है, जहाँ जीवात्मा समाहित हो जाती है।

:२:

वस्तु के अभाव में भाविकों की ओर से किसी कार्यक्रम का प्रस्ताव आने पर महाराज जी कहते थे-"हूँ, सुवा न सुतारी, लौंड़ के व्यापारी।" "उकताइल कुम्हार लौंड़े से माटी खने।" इस तरह उकताने से कहीं कार्य होता है? सूत न कपास जुलाहे से लट्ठम लट्ठा। "पहले प्रबंध करो, पुनः धैर्य और शान्ति से कार्य आरम्भ करो। घोड़े के दिन और आदमी के दिन सदैव एक जैसे नहीं रहते; बदलते देर नहीं लगती।" इस प्रकार समझाते हुए, विभूति-प्रसाद देते हुए आप सस्नेह एक छड़ी लगा देते थे।

यह छड़ी आशीर्वाद के रूप में इष्ट के निर्देशानुसार ही लगती थी। कुतूहलवश एक बार हमने जिज्ञासा व्यक्त की कि महाराज जी! आप छड़ी क्यों मारते हैं? श्री महाराज जी ने बताया कि "भगवान जब निवृत्ति देते हैं तो साथ ही कुछ "हथियार" भी दे दिया करते हैं। हमें जब निवृत्ति मिली तो भगवान

ने आर्शीर्वाद दिया कि दाहिने हाथ से यदि किसी को मार दोगे तो उसकी फाँसी भी कट जायगी। कल फाँसी होनी है और आज छड़ी लग जाय तो नहीं होगी, सजा चाहे जो हो जाय। बायाँ हाथ किसी के ऊपर रख दूँ तो उसकी सब दुर्गति हो जाय, वह शाप के रूप में होगा।

एक समय की घटना का स्मरण करने में मुझे सदैव भय लगता है। एक आर्य-समाजी गुरुदेव भगवान के समक्ष उपस्थित हुए। दो-एक सज्जन उनके साथ और भी थे। वे अपने को ही उद्‌भट विद्वान समझते थे जब कि पूज्य महाराज भी तत्त्वद्रष्टा महापुरुष थे। सत्संग आरम्भ हुआ और वाद-विवाद में परिणत हो गया। उनकी हठधर्मिता एवं पूर्वाग्रह देखकर उन आर्य-सज्जन से कहा-"जरा इधर आओ।" वे पास में आ गये तो "**मोरेहु कहे न संशय जाहीं। विधि विपरीत भलाई नाहीं।।**" इस प्रकार गुनगुनाते हुए उन सज्जन के सिर पर बायें हाथ से स्पर्श करते हुए कहा, "हूँ ...अब आप बात करें।" बस, ऐसा हुआ कि वे सज्जन जड़वत् स्तब्ध हो गये। दो-एक घंटे विस्मित नेत्रों से यत्र-तत्र देखते रहे, शयन काल आने पर शयन करने चले गये।

प्रातः उठने पर वे सभी अति शीघ्र नित्यक्रिया से निवृत्त हो पूज्य महाराज जी के पास आकर बैठ गये। उन आर्य समाजी ने कहा-"प्रभु आप योगी हैं, प्रत्यक्षदर्शी हैं। यथार्थ वही जानता है जो करता है; क्रिया से चल चुका है। हम लोगों के पास मात्र पुस्तकीय जानकारी है, बौद्धिक उग्रता है। जो मन और बुद्धि से परे है उसे हम बौद्धिक जोड़-गाँठ से कैसे जान सकते हैं? हम आपके कथन को स्वीकार करते हैं। कृपया आप हमें साधना का स्रोत दिखायें। कल, महाराज जी! न जाने मुझे क्या हो गया था? 'स्पर्श से भी कुछ हो सकता है'- इसमें मेरा विश्वास न था, किन्तु कल आप के हाथ का स्पर्श होते ही स्मृति लुप्त होने लगी, मस्तिष्क निष्क्रिय (बुत्त) हो गया। अब आपके समक्ष पुनः स्वस्थ

हूँ। मुझ पर आपकी दया बनी रहे।'' आशीर्वाद लिया और चले गये।

एक समय बिना किसी विशेष कारण के दाहिने हाथ की दो छड़ी हम पर भी पड़ी। पहले तो हम चौंके! कहीं कोई भूल भी नहीं हुई थी। महाराज जी ने कुछ बताया भी, किन्तु विश्वास जम नहीं रहा था। विश्वास की दृढ़ता के लिए केवल कहना पर्याप्त नहीं होता। कुछ दिन पश्चात् मैं बीमार पड़ा। रोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। बड़ी वेदना थी। दो-एक दिन इसी तरह व्यतीत हुए। एक दिन ब्राह्म-बेला में अनुभव का प्रसार मिला। चार जाने-पहचाने व्यक्ति आये, सादर मिले और हमें साथ ले चले। पथ में भुलाया देते वे हमें एक जंगल में ले गये। वहाँ अक्षुण्ण अस्त्रागार के किवाड़ स्वतः खुल गये। प्रविष्ट होते ही कपाट स्वतः बन्द भी हो गया। उन शस्त्रों से तीव्र प्रकाश निकल रहा था। सहसा उन सब ने झपट कर एक-एक शस्त्र उठा लिया और परस्पर संकेत करने लगे कि देखते क्या हो, इसको समाप्त कर दो। सभी घूम पड़े। मैं काँपने लगा, ऐसा लगा कि मृत्यु आसन्न है। गिड़गिड़ाते स्वर में याचना की-''एक बार छोड़ दो.... बस, इस बार छोड़ दो।''

परन्तु हमारी प्रार्थना का उन पर प्रभाव नहीं पड़ा। अन्तर्मन में निरन्तर संकल्प उठ रहा था कि इनसे छूटकर मैं भजन में ही जुट जाऊँगा, जिससे इनका आतंक पूर्णतः टल जायगा। किन्तु वे तो प्राण लेने को ही उद्यत थे। प्राण-पखेरू उड़ने को तत्पर थे कि सहसा वे पीछे हटने लगे। मुझे गुरुदेव की छड़ी का स्मरण हो आया, बोला-''मैं व्यर्थ ही तुम लोगो से क्षमा याचना कर रहा था। गुरुदेव की छड़ी मुझे लग चुकी है अतः तुम लोग अब मुझे मार नहीं सकते।'' स्थिति पूर्णतः बदल गई। शस्त्रागार विलीन होने लगा। भजन का भाव लेकर मैं वहाँ से चल पड़ा। वह भीषण बीमारी भी उसी समय दूर हो गयी। इसी प्रकार पूज्य गुरुदेव की छड़ी का प्रताप देखने के अनेक अवसर मिले हैं, जिनमें मरती-जीती घटनाएँ भी हैं।

:३:

किसी अनन्य भक्त को कठिनाइयों, रोग इत्यादि से घबराया देखकर पूज्य महाराज जी सान्त्वना देते थे-"हौ......! माया के और भगवान के सदा ही से लड़ाई है। मोर बढ़ती माया देखै नहीं चाहत है। आखिर शंखिया बाजी, पर बाबा के पदाय के। जो, ले फिर सब ठीक होई जाई।"

कोई भाविक कार्य में सफल होते-होते सहसा असफल हो जाय और आकर महाराज जी से प्रार्थना करे, तब वे कहते थे- "राति भर गायेन बजायेन, सबेरे बबुआ के नूनियै नाहीं।" देखिये तो! इसे कितना सचेत किया, यहाँ से कितना प्रण करके गया फिर भी आलस्य और निद्रा में समय खो दिया। बेटा! "आलस निद्रा जमुहाई। तीनों काल के माई।" जाओ, आलस्य त्याग कर कार्य करो। हताश होने की आवश्यकता नहीं है। कोई उलझन आये तो प्रातः-सायं मेरा स्मरण कर लेना। मन से आते-जाते रहोगे तो सब ठीक रहेगा।

:४:

अनुसुइया आश्रम में आने वाले भक्तों की सुख-सुविधा का महाराज जी बड़ा ध्यान रखते थे। उनके आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु आश्रम में सदैव रहती थी। उनके लिए प्रतिदिन दाढ़ी बनवाने की व्यवस्था, चाय-काफी का प्रबन्ध, तेल-साबुन-कंघी-शीशे की व्यवस्था में भी महाराज जी ध्यान रखते थे यद्यपि आश्रम के लिए इनका कोई उपयोग नहीं था। भक्तों को महाराज जी बड़े स्नेह से खिलाते-पिलाते और अपने हाथ से प्रसाद देते थे। भोजन की इतनी पुष्कल व्यवस्था तो अब कहीं देखने को भी नहीं मिलती। घी से तर रोटियों से लेकर नित्य नवीन व्यजंन प्रतिदिन सर्व-सुलभ था। भक्तों के भोजन के अवसर पर महाराज जी किसी न किसी बहाने आसन से उठकर उनके बीच पहुँच ही जाते थे, उनसे कहते थे- "हो! चूतर टेकि के बैठो! उकड़ बैठकर खाने से पेट में

सिलवट पड़ि जात है। आधा पेट खाइल और जवानी क मरल बराबर होत है।'' परसने वाले साधुओं से बिगड़ कर कहें-''अरे, अँचार तो दिया ही नहीं। अब मैं क्या करूँ? अरे! ये सब भले घर के अच्छा खाने-पीने वाले लोग हैं। थोड़ा घी और डाल। खिचड़ी के चार यार। दही, पापड़, घी, अचार। इसे एक रोटी और दे दो।'' जब समझ लें कि अब इन सबका पेट भर गया और तो किसी तरह नहीं लेंगे तो कह उठते थे-''अरे यार! हम तो भूल ही गये। बड़ी अच्छी बर्फी आई है, रखी है। अब उसके साथ एक-एक रोटी और चल जायगी।'' महाराज जी का अमित स्नेह पाकर भाविक विभोर हो उठते थे।

किन्तु साधकों के आहार-विहार पर पूज्य महाराज जी सतर्क दृष्टि रखते थे। जब वे देख लें कि कोई साधक भजन न करके केवल खाने पर ही उतारू है तो बिगड़ते हुए कहें-''खाये रहो बेटा! बाबा का आटा, बाबा का घी। शाबास-शाबास बाबा जी! न भजन, न चिन्तन। अरे साधू को सूक्ष्म और सात्विक आहार करना चाहिए। दो कौर कम खाना चाहिए, कम सोना चाहिए और संयमपूर्वक निरन्तर भजन में संलग्न रहना चाहिए। भागो यहाँ से! बाँधो बिस्तर! विरह-वैराग्य शून्य अकर्मण्यों की यहाँ कोई आवश्यंकता नहीं है।'' इतने से ही साधक में ग्लानि एवं शान्ति की लहर दौड़ जाय और पुनः खान-पान के व्यसन से छूटकर वह अनवरत साधना में प्रवृत्त हो जाय।

महाराज जी का 'स्पेशल' प्रसाद गाँजा था। एक सज्जन साधू बनने के लिए आश्रम आये। श्रद्धावश झाड़ू लगा रहे थे। कुछ लोग चिलम पी रहे थे। एक ने उन सज्जन से भी कहा-''क्या आप भी दम लगायेंगे?'' वे सज्जन तत्क्षण झाड़ू फेंककर चिलम की ओर लपके। वे चिलम के पास पहुँचे ही थे कि महाराज जी बिगड़ पड़े- गँवार कहीं का! भाग यहाँ से! आया साधु होने। खाने को मिले, ऊपर से ज्ञान मिले तब तो दुनिया ही साधू बन जायेगी। ये त्याग सीखने आये हैं। देखिये, कैसा झपट रहे हैं, चिलम के लिये! हर दे, हरवाह दे, पीछे से

खोदे के पैना दे! जाओ, घर पर अपना बाल-बच्चा देखो। सुख-दुःख तो आता-जाता रहता है। अभी तुम्हारे साधू बनने का समय नहीं आया है। जब वह समय आयेगा तो भगवान ही सहायता कर देंगे, बुला भी लेंगे, तभी पार लगोगे।" इस प्रकार साधकों की सूक्ष्म गतिविधियों पर पूज्य महाराज जी सतत् सतर्क दृष्टि रखते थे। इस तरह की प्रताड़ना से आश्रमीय साधकों एवं सुनने वाले भाविकों को भी साधनात्मक दिशा मिलती थी।

:५:

प्रारम्भ में अनुसुइया में बहुत कम दर्शनार्थी आते थे, किन्तु महाराज जी के निवासोपरान्त शनैः-शनैः भक्तों की संख्या बढ़ने लगी। महाराज जी कुछ न कुछ प्रसाद सबको देते थे, जिसे सभी सादर ग्रहण करते थे। कभी-कभी कोई कर्मकाण्डी भी आ जाता था जो भगवान के नाम पर कुछ करते थे किन्तु वास्तविक क्रिया से अनभिज्ञ रहते थे। उनके पथ को प्रशस्त करने के लिए पूज्य महाराज जी उन्हें छाछ तथा कुछ अन्य प्रसाद देते हुए कहते थे- "लो, पानी पी लो! बहुत दूर से आये हो। धूप में मुँह सूख गया है।" पंडित बोलते- "महाराज जी! अभी तो हमने स्नान-ध्यान नहीं किया है। सोचते थे कि गंगा स्नान कर लेते।" महाराज जी बोल पड़ते थे-"हूँ, लिपटै के चमाइन, भूखा रहे इतवार। पंडित जी, पंडित बने हैं! अरे लो प्रसाद, पानी पियो; ज्ञान ही गंगा है। स्वाँसा में सुरत लग जाने पर ही वह ज्ञान मिलता है। प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है।" श्वास में सुरत के तद्रूप हो जाने पर ही वह इष्ट विदित होता है।

:६:

कभी-कभी आश्रम के ही शिष्य महाराज जी के समक्ष कोई सुझाव प्रस्तुत करते तो आप एक दृष्टि उस शिष्य पर डालें और चुप रहें। जब वह कुछ दूर हट जाय, सुनने की स्थिति में रहे तब पास बैठे भाविकों की शिक्षा के लिये

महाराज जी कहते थे-"हो, देखत हो? अंडा कहे बच्चा से चूँ-चूँ मत कर। हमार जनमावल सार हमहीं के ज्ञान सिखावत है। अभी क्या हुआ है? परीक्षा की घड़ी तो अभी आगे पड़ी है। जब माया परीक्षा लेती है तो बूढ़े जवान हो जाते हैं, नामर्द मर्द बन जाते हैं। शृंगी के भृंगी करि डारीं, पाराशर के उदर विदार। वे सभी योगी ही तो थे। कल का जोगी और.... में जटा। बक-झक लगाए है। अरे, जितना पूछा जाय, उतने का ही उत्तर देना चाहिए। साधक को मन और इन्द्रिय से मौन रहना चाहिए।

ऐसी प्रताड़ना मिलने पर कोई-कोई साधक दो-एक दिन के लिए मौन धारण कर लेते थे। महाराज जी उन्हें सुनाते हुए कहते थे- "वाह! मौनी बने हैं। केवल बोलना बन्द करने से क्या होगा? जिह्वा से न बोला जाय किन्तु मन तथा इन्द्रियों में तरंग है तो वह मौन कहाँ? साधक को चाहिए कि पूर्तिपर्यन्त बाह्य वातावरण को कदापि स्थान न दे। चलते-चलते साधक जब आकाशवत् हो जाता है तभी उस लक्ष्य के दिग्दर्शन के साथ मौन होता है। चढ़ते-चढ़ते साधक जब पुलई (टुनई या चोटी) तक पहुँचा और पोल पा गया तब पावा मौन।"

:७:

प्राय: कुछ श्रद्धालु घर से रूठकर क्षणिक वैराग्य के आवेश में पूज्य महाराज जी से निवेदन करते थे-"महाराज! अब मैं आपकी शरण में रहूँगा।" ऐसे उद्‌गारों पर पूज्य महाराज जी उसे सान्त्वना देते हुए बोलें-"क्या हुआ? घर से क्यों निकल पड़े?" वह व्यक्ति अपनी व्यथा व्यक्त करता था-"महाराज, संसार एकदम स्वार्थी है। भाई, पुत्र, पत्नी कोई भी आज्ञाकारी नहीं है। कोई मेरी सुनता ही नहीं है।" इस पर महाराज जी हँसते हुए से एक कथानक सुनाया करते थे- "तोर मोर सुसुआइल, आव चली बन के। झर गया दोनों का तो आव

चली घर के'' एक पति-पत्नी थे। कभी-कभी पतिदेव पर वैराग्य सवार हो तो कहते थे कि अब तो मुझे घर अच्छा नहीं लग रहा है। श्रीमती जी भी कहतीं- "आप ठीक कह रहे हैं, मुझे भी घर-गृहस्थी से कोई लगाव नहीं रह गया।'' दोनों घर से निकलें और जंगल में भगवान का भजन करने लगें। किसी तरह पाँच-सात दिन भूख-प्यास सहन करें तो सारा वैराग्य उतर जाय, घर ही दिखायी दे। पतिदेव तब कहते-"अब तो यहाँ मन नहीं लग रहा है।'' इस पर श्रीमती सुझाव देतीं-"अभी क्या बिगड़ा है? चलो घर चला जाय।'' और दोनों घर चल दें।

उस श्रद्धालु को सम्बोधित करते हुए महाराज जी कहते थे-"तुम्हारा वैराग्य भी ऐसा ही है; मर्कट वैराग्य। जाओ घर! अपना काम-काज देखो। घर गृहस्थी में यह हड़हड़-भड़भड़ तो लगा ही रहता है। चार बर्तन इकट्ठा होने पर खत्र-खुट्ट तो होता ही है। तुम तो भले घर,भले वातावरण में पले हो। जाओ, सब ठीक हो जायगा।

:८:

भगवान राम की तपस्थली एवं ऋषियों की मनन-चिन्तनभूमि होने के कारण चित्रकूट महात्माओं के लिए आकर्षण का विशिष्ट केन्द्र है। दूर-दूर से साधक, अनुरागी, भाविक योगी तथा महापुरुष इस क्षेत्र में दर्शनार्थ पहुँचतें ही रहते हैं। अनुसुइया आश्रम में आने वाले अभ्यागतों के बारे में महाराज जी को पहले से ही अनुभव हो जाता था। अन्तर से अध्ययन करते हुए महाराज जी उनके भोजन, प्रसाद, सेवा, रहने की व्यवस्था का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे; ढोंगी भी आश्रम में आया-जाया करते थे। उनके पहुँचने से पूर्व ही महाराज जी कह देते थे- "हूँ .... 'मीटर' खटकत है। इनकी बहिनियाँ राखों, कौनो ढोंगी-ढपाली ससुरारी से कूँड़ा लिये चले आ रहे हैं। उन्हें खाने को दो, बैठने

को दो, तापने को दो, पीने को गाँजा दो और सोने को विस्तर दो।'' समीप बैठे भाविकों में कौतूहल होने पर आप बताते थे, ''कोई आ रहा है, अभी देखना। कुपात्रों को दान देने से दाता ही भ्रष्ट हो जाता है।''

इतने में ही किसी ओर से महात्मा वेश में कोई आता दिखायी पड़ जाता था और दूर से ही अपना कुछ प्रदर्शन करते हुए आश्रम की ओर आने लगता था। महाराज जी तड़क कर बोलते- ''हूँ नानी के आगे ननियउरे का बखान? हमें सिद्धि दिखावे आवत हैं, एकरी बहिनियाँ के राखों।'' इतने पर भी जब वह अपना प्रदर्शन बन्द न करे तो आप पुनः कहते थे-''हूँ.... ,जटा फकिरऊ और नूनी गिरस्तऊ! करे सारे, कहाँ घर हौ रे? कहाँ रहता है? काहे ई वेष बना के भगवान के आड़ में अधम करम करें के उतारू भवा है? एतना पाप होई कि हजारन जनम बैल बनके ढोये का पड़ी! बेटा, रोये का आँसू न मिली! अरे जब वेश में आ ही गया तो किसी अनुभवी महात्मा की शरण पकड़, जिससे वह क्रिया जागृत हो जाय जो भगवान् से सीधा भेंट करा देती है। अब से भी कुछ बिगड़ा नहीं है। कहे क़बीर जनम क उढ़री। जब से चेते तबे से सुधरी।।

कुछ भूले-भटके साधू तो महाराज जी के दो-चार उपदेशों से अपनी जीवन-दिशा बदल दें किन्तु जीविका के लिए साधु-वेश धारण करने वाले ढोंगी, 'गुरुजी-गुरुजी' कहते हुए वहाँ से खिसक जाते थे। इसी प्रकार चित्रकूट के घाटों पर एक सिद्ध की बड़ी चर्चा थी, जिसने कहीं से आकर कुछ ही दिनों में हजारों लोगों को प्रभावित कर लिया। मन की बात बता देना, कहीं से किसी वस्तु को मँगा लेना, दुष्प्राप्य वस्तुओं का वितरण करना इत्यादि चमत्कारों के आधार पर चित्रकूट के अनेक महात्माओं को भी वह अपने प्रभाव में ले चुका था। लोगों ने परमहंस जी के समक्ष उनकी सिद्धियों के परीक्षण का प्रस्ताव रखा और एक बड़ी भीड़ के साथ वे सिद्ध अनुसुइया आश्रम पहुँचे। साथ आये लोगों ने महाराज

जी को उनका परिचय दिया। महाराज ने कहा-"बड़ी अच्छी बात है। जंगल में हमको भी कुछ देखने का सौभाग्य मिलेगा। हमें भी कुछ चमत्कार दिखाइये।" परन्तु महाराज जी के समक्ष वे कोई चमत्कार नहीं दिखला पाये। झेंप मिटाने के लिए और लोगों से पीछा छुड़ाने के लिए उन्होंने कहा-"अभी मुझे सरभंग आश्रम जाना है, फिर कभी महाराज जी की सेवा में आयेंगे।"

कुछ दिनों पश्चात् उनका पत्र आया, स्वयं अकेले आये,विनीत स्वर में महाराज जी से निवेदन किया- "महाराज जी! मैं कोई साधु नहीं हूँ। मैं कामरूप (आसाम) का एक पंडा हूँ। लोगों को कुछ दिखला कर परिवार का उदर-पोषण करता था किन्तु जबसे आपके समक्ष मैंने उन चमत्कारों का प्रयोग करना चाहा तभी से मैं असफल हो रहा हूँ। आवाहन करने पर भी वे सभी मंत्र निरर्थक हो जाते हैं। बड़े कष्ट में हूँ। कृपा हो जाय जिससे मेरी सिद्धियाँ वापस आ जायँ।"

उसकी प्रार्थना पर द्रवित होकर महाराज जी ने कहा-- "ठीक है, लेकिन साधु वेश धारण करके या किसी महात्मा के सामने उनका प्रदर्शन न करना। यहाँ से दो-एक मील निकल जाने के पश्चात् अपनी सिद्धियों का आवाहन करना, लौट आयेंगी।" महाराज जी को प्रणाम करके वह चला गया, उसकी जीविका चलने लगी, बराबर उसके पत्र आते रहे किन्तु भयवश वह फिर कभी महाराज जी के सामने नहीं आया। महाराज जी कहते थे कि इस प्रकार की सिद्धियों को 'आसुरी माया' कहना अधिक संगत होगा किन्तु महापुरुषों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। योग की सिद्धियाँ भी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए व्यवधान हैं, साधक को उनकी ओर दृष्टि भी नहीं डालना चाहिए। महापुरुष चमत्कारों का प्रदर्शन नहीं करते। उनके पास केवल एक सिद्धि होती है और वह है 'संकल्प सिद्धि'। वे जो भी इच्छा करते हैं उसे भगवान पूरा कर देते हैं- "जो इच्छा करिहउ मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।" उस इच्छा को भगवान पूर्ण करते हैं इसलिए

महापुरुष उसे अपनी कोई उपलब्धि नहीं मानते।

:९:

पूज्य महाराज जी ने जब अनुसुइया को अपना निवास बनाया, उस समय घोर जंगल एवं यातायात की सुविधा न होने के कारण दस बजे प्रात: से पूर्व दर्शनार्थियों का अनुसुइया पहुँचना संभव न हो पाता था। अत: महाराज जी की सेवा में अनुरक्त पाँच-सात साधक तब तक निर्विघ्न, एकान्त में साधन-भजन करते रहते थे। परन्तु एक जंगली महिला सूर्योदय के समय ही आश्रम के सामने से प्रतिदिन नियमित रूप से आने-जाने लगी। महाराज जी ने साधकों के चित्त की चंचलता देखकर कहा कि उस 'माई' को मना कर दो, इस रास्ते से नौ-दस बजे से पूर्व न निकला करे। यदि जाना ही है तो बगल के रास्ते से चुपचाप निकल जाया करे।

साधकों ने मना किया किन्तु उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उल्टा कहने लगी- "अरे बाबा! गलीं छीद देत है?" अर्थात् रास्ते बन्द कर दे रहे हैं? साधकों ने बहुत कहा कि देखो, महाराज जी नाराज होते हैं, मना करते हैं; किन्तु उसका आना-जाना पूर्ववत् रहा। महाराज जी ने उस युवती को पुन: आते-जाते देखा तो साधकों से पूछा-"क्यों? उसे मना नहीं किया? वह देखो, आ रही है। उसका पाँव 'झन्न-खट' बोल रहा है। (उस क्षेत्र में कोल भीलों की स्त्रियाँ एक पैर में गिलट का कड़ा पहनती हैं जिसमें कंकड़ रहने से खनखनाहट होती है।)

साधकों ने कहा- "महाराज! हमने कल भी कहा, परसों भी कहा परन्तु वह मानती ही नहीं, कहती है कि आप रास्ता रोकेंगे क्या?" महाराज जी ने कहा, "जब मना कर ही दिया जायगा तो कैसे नहीं मानेगी? तुम लोगों से मना ही नहीं करते बनता होगा। तुम सभी बादाम के छिलके जैसे ऊपर से चिकने-

चिकने हो, भीतर से खोखले हो। वह मानेगी क्यों नहीं?''

प्रतिदिन तो आप ब्राह्म मुहूर्त से ही ध्यानस्थ हो जाते थे किन्तु दूसरे दिन उसके आने से पूर्व तक गाँजे का दम-सम लगाकर, मूँछों पर ताव देते हुए बैठे रहे। इतने में 'झन्न खट' की ध्वनि कानों में पड़ी। बोलें-हूँ...आ रही है! झन्न खट, झन्न खट। ससुरी हथिनी बनी है। न मुँह देखे लायक, न .....मारै लायक। ला तो हँसिया! ससुरी के गोड़वौ काटि डार और चुतरौ काटि डार। समझवलेउ से नहीं मानत! जंगलउ आए में बाधा।''

महाराज जी की आवाज सुनते ही वह भाग चली और जंगल में ओझल हो गई। उसके जाने पर आप बोले- ''देखें, अब कैसे आती है?'' साधना का क्रम पुन: निर्विघ्न शान्ति में चलने लगा। उस महिला का आवागमन उस रास्ते पर बन्द हो गया। लगभग छ: महीने पश्चात् उसी महिला ने कई अन्य महिलाओं के साथ आकर महाराज जी को प्रणाम किया। दृष्टि पड़ते ही महाराज जी ने उसे तुरन्त पहचान लिया, हँसे और बोले:- 'माँ, तूने मुझे निरन्तर छ: माह तक गाली दिया होगा। मैंने गाली दी थी, तुँने भी गाली दी होगी। चलो, बदला पट गया।'' उस युवती ने विनीत स्वर में क्षमा-याचना की, ''महाराज! हम लोग अज्ञानी हैं। हमें ज्ञात नहीं था कि ध्वनि अथवा आवागमन से भजन में विघ्न पड़ता है। हमें क्षमा करें।'' इस प्रकार पूज्य महाराज जी ने जिसको गाली भी दी, कालान्तर में उसकी परमार्थ में श्रद्धा और निष्ठा हो गई। पूज्य महाराज जी कहते थे कि ''बिगड़ने या गाली देने से लोगों के कुविचार बदल जाते हैं। इसी में लोगों का और साधकों का कल्याण देखकर ही गाली देना पड़ता है अन्यथा गाली देना सन्तों को कब शोभा देता है?'' महासज जी के दृष्टिपात, वार्तालाप, दर्शन तथा स्पर्श से नास्तिकों को भी पूर्ण आस्तिक होते देखा गया, जो अद्यावधि परमार्थ में संलग्न हैं।

:१०:

जब कभी कोई अच्छा साधक कुछ समय साधन-पथ पर चलने के पश्चात् लड़खड़ा जाय तब आप उसे घण्टों उपदेश देते और उसके लिये कल्याण का चिन्तन करते थे। उसकी अनुपस्थिति में अन्य साधकों को समझाते हुए पूज्य महाराज जी कहा करते थे-

धरी न काहू धीर, सब के मन मनसिज हरे।
जे राखे रघुवीर, ते उबरे तेहिं काल महुँ।।१।८५।।

वही बच पाते हैं, जिसको स्वयं इष्ट (सद्गुरु अथवा भगवान) ही हाथ पकड़कर बचा लें। कुछ कालोपरान्त जब वही साधक अपनी उन भूलों के लिए महाराज जी से अनुनय-विनय करने लगे, तब आप कहते थे-हूँ...., चलो, ठींक है। जो घूमकर लड़ता है, कायर नहीं कहा जाता। अब संग-दोष से दूर रहो। महापुरुष की शरण में रहकर चलो। यदि कुछ आयु साधन के लिए मिल जाती है तो परिस्थिति सुधरते देर नहीं लगेगी। इष्ट से यदि हवा भर भी दूरी है, तबतक माया पीछा करती है और सफल भी हो जाती है। इसलिए सदैव डरना चाहिए। साधक जहाँ अपने बल पर आया कि "मैं ज्ञाता हूँ, मैं ध्याता हूँ, मैं ज्ञानी हूँ मैं ध्यानी हूँ" तहाँ समझना चाहिए कि माया ही सफल हो चली-

माया बस्य जीव अभिमानी।
ईश बस्य माया गुणखानी।। मानस-७।७७।६ ।।

अभिमान ही 'जीव' की संज्ञा देता है।

:११:

पूज्य महाराज जी कथानकों के माध्यम से भी पथिकों का पथ प्रशस्त

किया करते थे, जो स्थायी प्रभाव अंकित करता था। प्रस्तुत प्रसंग भी उन कथानकों में से एक है-

दो विद्यार्थी गुरुकुल में संस्कृत का अध्ययन कर रहे थे। शिक्षा के समापन पर जब वे घर की ओर चले तो उन्हें चिन्ता हुई कि जीविकोपार्जन कैसे हो? सद्गृहस्थ आश्रम के संचालन में यदि अधिक नहीं; तब भी अभ्यागत की सेवा, पारिवारिक जीवन-निर्वाह हेतु धन नितान्त आवश्यक होता है। दोनों सहपाठियों में से एक ने अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए कहा-

"देत भुवालम् फरत लिलारम् न विद्या न च पौरुषम्।।" उसका आशय था कि हम राजा से अपने लिए आवश्यक वस्तुओं की माँग करेंगे, राजा ही सब कुछ है। यदि राजा कृपा कर दे तो हमारा लिलार (भाग्य) फलीभूत हो सकता है, हम सुखी रहेंगे; अन्यथा न तो विद्या काम आती है और न पौरुष ही काम आता है।

दूसरे सहपाठी ने इस मन्तव्य से असहमति व्यक्त की। उसने कहा कि भगवान तथा भाग्य की अपनी सत्ता है। राजा किंवा कोई हो, उसमें परिवर्तन नहीं कर सकता। ऐसा कहते हुए उसने श्लोक में संशोधन प्रस्तुत किया-

फरत लिलारम् देत भुवालम् न विद्या न च पौरुषम्।

अर्थात् जब भाग्य साथ देता है तभी राजा भी देता है अन्यथा न तो विद्या काम आती है और न पुरुषार्थ ही साथ देता है।

सम्पूर्ण रास्ता समाप्त होने को आया किन्तु इस विवाद का हल न निकला। अन्ततोगत्वा दोनों ने राजा से इस विवाद के निर्णय का आग्रह किया। अभिमानी नरेश को भी अपनी प्रशंसा अच्छी लगी। स्पष्ट निर्णय न देकर उसने प्रशंसक को एक वस्त्र में काशीफल (कुम्हड़ा) प्रदान किया, जिसमें छिद्र करके हीरे-

जवाहरात भरे गये थे। भाग्यवादी युवक को उसी प्रकार के दूसरे वस्त्र में उतना ही सत्तू प्रदान किया गया और कहा गया कि अब आप लोग एक महीने पश्चात् आवें, तभी इस विवाद का निर्णय होगा।

काशीफल पाने वाले युवक ने सहपाठी से रास्ते में कहा- "भाई! एक महीने से मुझे सत्तू खाने की प्रबल इच्छा हो रही है। क्यों न हम दोनों अपना-अपना पुरस्कार आपस में बदल लें।" दूसरे ने कहा- "ऐसी बात है तो तुम्हीं सत्तू खा लो।" राज-प्रशंसक युवक ने सत्तू लेकर काशीफल अपने साथी को दे दिया और तालाब पर सत्तू खाकर अपने घर की ओर चल पड़ा।

भाग्यवादी बालक ने घर पहुँचने पर काशीफल तोड़ा तो हीरे-जवाहरात पाकर ईश्वर को धन्यवाद दिया और गृहोपयोगी सुख-सामग्रियों की व्यवस्था करते उसे देर न लगी। नियत समय पर दोनों युवक राज-सभा में उपस्थित हुए तो राजा ने पूछा कि उनके ये दिन कैसे बीते? भाग्यवादी बालक ने काशीफल प्राप्त होने की घटना का वर्णन करते हुए बताया कि उसका यह माह बड़े आनन्द से बीता, जबकि राज-प्रशंसक ने अपने अवसाद एवं दैन्य की चर्चा की।

राजा को भी अपनी भूल का भान हुआ। अपने अहंकार पर पश्चाताप करते हुए उसने निर्णय दिया कि यदि भाग्य फलीभूत है तो उसका कुछ भी निमित्त बन जाता है। पूज्य महाराज जी इस प्रसंग का रोचक प्रस्तुतीकरण करते हुए कहते थे कि भाग्य राजा या किसी दूसरे के बनाने से नहीं बनता--

जो जस करे सो तस फल चाखा।।

पूर्व का संस्कार ही भाग्य बनता है। किन्तु वह आया कहाँ से? वह भी तो हमारे आपके द्वारा किये गये कर्मों का फल ही तो है। वस्तुतः अच्छा कर्म करने से अच्छे संस्कार बनते हैं, जो- "मेटत कठिन कुअंक भाल के।" यदि मंत्र जपने की युक्ति उपलब्ध हो जाय तो भाग्य का असाध्य कुअंक भी मिटाये

जा सकते हैं। भजन से कुसंस्कारों का पहाड़ भी काटा जा सकता है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधाता है, निर्माता है। अतः कर्म करना चहिए। कर्म का वास्तविक अर्थ आराधना है।

:१२:

योगी प्रत्येक कार्य स्वेच्छा से नहीं, अपितु भगवान का यंत्र बनकर करता है। वह निमित्त मात्र होता है। किन्तु सामान्य मानव अपनी करनी के साथ-साथ परिस्थितियों अथवा होनी से अधिक प्रभावित होता है। इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए महाराज जी एक कथानक सरस शैली में इस प्रकार कहते थे--

एक ब्राह्मण देवता राजकीय पुरोहित थे, घोर जंगल में राज्य की वरिष्ठ पाठशाला के आचार्य थे। उस युग की मान्यता के अनुसार पाठशाला जन-कोलाहल से दूर निर्जन एकान्त में होती थी, जिससे छात्रों पर संग-दोष का कुप्रभाव न पड़ सके।

राजकन्या युवा हो चली थी। विवाह हेतु आवश्यक निर्देश के लिए पुरोहित को दरबार में बुलाया गया। राजा ने पुत्री से प्रणाम कराते हुए उसके भाग्य एवं विवाह-व्यवस्था के संदर्भ में पुरोहित से जानना चाहा। कन्या के शुभ लक्षणों एवं सौन्दर्य को देखते ही पुरोहित की विवेक-बुद्धि असंतुलित हो गई। उन्होंने अपने चेहरे को उदास बनाते हुए शुष्क शब्दों में कहा- "राजन्! खेद है कि यह कन्या इस आयु के पश्चात् जहाँ जायेगी, वहाँ सर्वनाश हो जायेगा और यदि यहाँ रहेगी तो यहाँ भी सर्वनाश निश्चित है; रेखायें कुछ ऐसा ही कहती हैं। इस कुयोग के निवारण का एकमात्र उपाय है कि तैरने वाले ठोस सन्दूक में वायु इत्यादि की व्यवस्था करके कन्या को नदी में प्रवाहित कर दें। यदि कोई इसे पायेगा तो उसके लिए कन्या का अनिष्टकारी प्रभाव टल जायेगा।"

राजा ने बहुत विचार के पश्चात् निश्चित किया कि यदि गाँव के कारण देश का नाश हो तो गाँव का तथा व्यक्ति के लिए कुटुम्ब का नाश हो तो व्यक्ति का परित्याग कर देना चाहिए; अतः व्यथित हृदय से पंडितजी की बात मान लिया। पुरोहित ने अपने देख-रेख में ही कन्या को सन्दूक में बन्द कराया, नदी में प्रवाहित कराया और राजा को आशीर्वाद देकर दौड़ते-भागते अपने विद्यालय पहुँचे। शिष्यों को उन्होंने एकत्र किया और कहा- "बच्चों! देखो, एक संदूक नदी में तैरता आ रहा है। तुम सब नदी के किनारे उसकी प्रतीक्षा करो। उसे निकालकर इस कोठरी में बन्द कर देना। हम भी इस कोठरी में रहेंगे। कोठरी को बन्द करके बाहर से ताला लगा देना। कोई शोरगुल हो तब भी दरवाजा न खोलना-- यह मेरा आदेश है।"

गुरुभक्त शिष्यों ने 'आज्ञा शिरोधार्य' कहकर नदी-तट पर सन्दूक की प्रतीक्षा करना आरम्भ किया। बहते हुए उस संदूक को एक शिकारी राजकुमार ने देखा। शिकार से श्रान्त-क्लान्त होकर नदी-तट पर वह विश्राम कर रहा था। कुतूहलवश उसने सिपाहियों को आदेश दिया और सिपाही बात की बात में उस सन्दूक को किनारे लाये। सन्दूक खोलते ही अनिंद्य सुन्दरी राजकन्या निकल पड़ी। राजकुमार को बड़ा अचम्भा हुआ और उस कन्या का परिचय जानने के लिए अधीर हो उठा। राजकुमारी ने अपनी सारी गाथा कह सुनायी। वृत्तान्त सुनने के पश्चात् राजकुमार ने प्रश्न किया कि अब तुम्हारी कहाँ जाने की इच्छा है? राजकुमारी ने कहा, "घर से निकल जाने के पश्चात् अब मेरा है ही कौन? अब तो संसार में मेरे एकमात्र आश्रय आप ही हैं।" कन्या की समर्पण भावना का समादर करते हुए राजकुमार ने जंगल में ही उससे विधिवत् विवाह किया; शिकार में पकड़े गये जीवित भालू को उसी सन्दूक में बन्द कर, यथावत् प्रवाहित कर, सपत्नीक स्वदेश लौट गया।

तैरता हुआ वह सन्दूक जब पाठशाला के समीप पहुँचा तो बच्चों ने उसे

निकाला और गुरु जी के आदेशानुसार उसे कोठरी में बन्द करके ताला लगा दिया, जिसमें गुरु जी भी थे। पंडित जी ने धड़कते हृदय से ज्योंही संदूक खोला त्योंही भूखा-प्यासा, सताया हुआ भालू उन पर झपट पड़ा। पंडित जी ने उससे मुक्त होने का प्रयास किया, बच्चों से दरवाजा खोलने के लिए आदेशों का ताँता लगा दिया किन्तु गुरुभक्त शिष्यों ने कोई ध्यान न दिया।

क्रमशः पंडित जी का स्वर धीमा पड़ने लगा। भाग-दौड़ में पंडित जी के हाथ एक खड़िया आ गयी। शिष्यों के उपदेशार्थ उन्होंने यह श्लोक लिखा--

मम इच्छा दैवनास्ति दैव इच्छा परबलम्।
राजद्वारे राजकन्या विप्र भालू भच्छतम्।।

अर्थात् मेरी इच्छा उस कन्या को प्राप्त करने की हो गई थी किन्तु दैव की वैसी इच्छा न थी। दैव की इच्छा ही प्रबल होती है। हस्तरेखा के अनुसार कन्या राजरानी बनकर किसी राजप्रासाद में पहुँच ही गई किन्तु मुझ विप्र को भालू खा गया। भावी ही भालू है। (भावी, होनी, गति, दैव, संचित, प्रारब्ध, भाग्य, ललाट-रेखा तथा संयोग प्रायः समानार्थक एवं एक दूसरें के पर्याय ही हैं।) इसी को कबीरदास जी ने व्यक्त किया है--

करम गति टारे नाहिं टरी।
मुनि वशिष्ठ से पंडित ज्ञानी, शोधि के लगन धरी।
सीता हरन, मरन दसरथ को, बन में विपति परी।।

होनी होकर ही रहती है किन्तु उसका प्रभाव ऐसे साधक पर हीं नहीं पड़ता जो भगवान पर निर्भर रहता है- "भांविहु मेटि सकहिं त्रिपुरारी।" किन्तु कब? "जब तप करै कुमारि तुम्हारी" जब पथिक की बुद्धि तपस्या में अनुरक्त हो जाये। प्रेम ही पार्वती है। जब यही कुमारी (बुद्धि) तप, चिन्तन, भक्ति का आश्रय

ग्रहण करने लगे तो भाग्य के असाध्य कुअंक मिटाये जा सकते हैं- "मेटत कठिन कुअंक भाल के।"

:१३:

जब कभी साधन-परायण पथिक में कमजोरी दिखलाई पड़े और उस कमजोरी की अवहेलना करके जीवन के अमूल्य क्षणों को व्यर्थ में गँवाने लगे अथवा किसी भी पुरुष को अनाधिकार चेष्टा में पायें, जो मूल पतन का ही कारण होती है, तब पूज्य महाराज जी बैठे हुए व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए कहा करें- "हौ... नाम तो अँधियारी वारी, होम करे के पल्लव नाहीं। अरे एके केहू त समुझाइ दे कि प्रकृति की अनन्त सतहें हैं। बेटा बहुत सम्हल के चल के चाही, नहीं तो--

छोरत ग्रन्थि जान खगराया।
विघ्न अनेक करइ तब माया।।

जब माया के बन्धन के टूटने का समय आता है तब माया अनेक विघ्न उपस्थित करती है, अपनी सारी शक्ति लगा देती है। ऋद्धियाँ प्रदान करती है; यहाँ तक कि सिद्ध बना देती है। वही उपक्रम रचती है जिससे वह पुनः माया में लौट आये। ऐसे में साधक को निरन्तर श्वास में लगे रहना चाहिए। मन कहीं न कहीं जायगा। यदि श्वास में, चिन्तन में लगाओगे तो यह कुछ न कुछ करता रहेगा, बैठेगा नहीं। न जाने यह क्या रूप लेगा। एथुआ से डरे का चाही। इस धक्का-धुक्की की अवस्था में साधक सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर पाता, वहाँ एक ही सहारा है कि इष्ट के निर्देशनों का मन, वचन, कर्म से पालन भर करता रहे। ऐसे पथिक के लिए आज्ञा पालन ही भजन है। यदि पालन में त्रुटि नहीं है तो साधक शीघ्र ही लक्ष्य को बेध लेगा। इस योग की जागृति के पश्चात् ही साधक निमित्त मात्र हो जाता है। भजन तो भगवान करावत हैं।" इस प्रकार

श्री महाराज जी साधना के गूढ़तम रहस्यों को इतनी सरल भाषा में व्यक्त करते कि सत्संग में बैठे हुए साधारण व्यक्ति भी आध्यात्मिक पथ की ओर अग्रसर हो उठते।

:१४:

जब पूज्य महाराज जी की दी हुई शिक्षा तथा अन्तःप्रेरणा के निर्देशनों में कोई स्वेच्छा से परिवर्तन करके मनमुखी (मनमाने) निर्णय से कार्य सम्पादित करने की चेष्टा करने लगे तब आप उसकी भूलों तथा गतिविधि से अवगत कराते हुए कहा करे- "एके देखौ सारे क, मेहरिया में बैठिक ज्ञान कहत है। अरे! पूर्तिपर्यन्त खतरा है। एक इंच भी भगवान से दूरी है तो माया पलटने का प्रयास करती है।"

इतना सुनने पर कोई-कोई साधक दबे स्वर में बोले- "लेकिन महाराज जी, मन में कोई भाव-कुभाव भी तो नहीं है?" तब आप डपट कर कहा करें- धत् गँवार कहीं का। बेटा--

हम जानी मन मर गया, मरा हो गया भूत!
मरने पर भी आ लड़ा, ऐसा मना कपूत।।

अरे! मन में यदा-कदा जो शान्ति दिखाई पड़ती है वह उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। वह तो तभी सम्भव है जब स्वयं भगवान उसे प्रमाणित कर दें। जब तक मन के स्थान पर भगवान प्रसारित न हो जायँ, तब तक मन को मिटा हुआ नहीं मानना चाहिए। "गुरु के वचनों में गुंजाइश, कलियुग की तिकड़म बाजी।"

फिर आप एक उदाहरण देते हुए हँसते हुए कहें कि घोर जंगल में एक आश्रम था। जिसमें एक महापुरुष के संरक्षण में कई शिष्य साधन-भजन में संलग्न

थे। उनमें से एक शिष्य के मन में प्रबल वैराग्य का उदय हुआ और निर्द्वन्द्व विचरण एवं तीर्थ देखने की कामना जागृत हुई। कई दिनों से वह निरन्तर गुरुदेव से तीर्थाटन की आज्ञा माँग रहा था कि तीव्र वैराग्य के पालन हेतु उन्मुक्त विचरण की अनुमति प्रदान कीजिए; किन्तु उस समर्थ महात्मा जी ने कहा कि न बेटा, अभी तुम्हारे अन्दर वह क्षमता नहीं है, अभी तो तुम मेरे संरक्षण में हो, बाहर निकलते ही पता नहीं किस घाट लग जाओ। अतः अभी तो अहर्निशि साधना में ही संलग्न रहो। वह समय आने में अभी काफी देर है।'' किन्तु दो-चार दिनों बाद शिष्य पुनः बोला कि महाराज अब तो अत्यंत प्रबल इच्छा हो रही है।

उन महात्मा ने किंचित् रोष से कहा- देखो, माया बड़ी दुर्धर्ष होती है। जाना ही चाहते हो तो जाओ किन्तु एक बात स्मरण रखना कि ''गुरु के वचनों में गुंजाइश कलियुग की तिकड़मबाजी''। शिष्य ने कहा- 'जो आज्ञा' और सहर्ष प्रणाम करके चल पड़ा। जब वह कुछ दूर चला गया तो सोचने लगा कि महाराज जी के कथन का क्या अभिप्राय है? अर्थ समझ में नहीं आ रहा था, अतः वह लौट पड़ा और महाराज जी के चरणों में प्रणाम कर उनके कथन का आशय पूछा तो महाराज जी ने कहा- जब शिष्य गुरु की आज्ञा में अपने मन से उलट-फेर करने लगता है तो वही कलियुग प्रभावशाली हो जाता है और साधक का पतन हो जाता है। शिष्य ने हाथ जोड़कर पूछा कि महाराज! मेरे लिए क्या आज्ञा है? तो महात्मा् ने कहा कि माई-दाई के चक्कर में मत पड़ना। उन्हें दूर से ही प्रणाम कर सदैव उनसे सजग रहना। दूसरी आज्ञा यह है कि कहीं अपने अथवा गुरु महाराज का नाम बढ़ाने के चक्कर में आश्रम-धर्मशाला इत्यादि निर्माण-कार्यों में न उलझ जाना। गुरु महाराज का नाम तो तुम्हारी करनी और गुरुत्व की प्राप्ति होने पर ही होगी। तुम्हारे रूप में गुरु ही प्रस्फुटित हो जायँ और तुम खो जाओ, वही उपलब्धि का क्षण है। अन्तिम चेतावनी यह है कि कहीं सिद्ध मत बनने लगना। यह सिद्धियाँ भी माया ही प्रदान करती हैं। पहले

वह परमतत्त्व परमात्मा सिद्ध हो जाये, उसकी उपलब्धि ही परम सिद्धि है। इसके पश्चात् जो कुछ रास्ते में मिलने वाली सिद्धियाँ हैं, बाधक नहीं रह जातीं। यही कलियुग की तिकड़मबाजी है। इससे सदैव सजग रहना, इससे बचना और जो मेरा उपदेश है उसमें जरा भी फेर बदल न कर लेना, यही आदेश है।

साधक ने बड़ी प्रसन्नता से प्रणाम किया और कहा कि महाराज जी आपकी कृपा से सब ठीक हो जायेगा। और वहाँ से चल पड़ा। गुरु के आदेश उसे अत्यंत सरल प्रतीत हुए। विचरण करते-करते उसने एक पहाड़ी पर आसन लगा दिया। समाचार फैलते देर न लगी कि एक बड़े सिद्ध महात्मा दिन-रात जागरण करके अपने भजन में संलग्न रहते हैं, युक्तियुक्त तथ्यपूर्ण बातें करते हैं। शनैः - शनैः भीड़ बढ़ने लगी। उसी भीड़-भाड़ में साधना -पिपासा लेकर एक नव-यौवना भी पहुँच गई। बोली कि महाराज! हमने बहुत ढूँढ़ा; आज आपके दर्शन से आँखें तृप्त हुईं। कृपया गुरुमंत्र प्रदान करें, जिससे घोर संसार-सागर से मेरा भी उद्धार हो सके।

महात्मा सरल चित्त होते ही हैं; साधना का क्रम समझाकर विदा कर दिया और बताया कि यहाँ कुटी में रात्रि में किसी के रहने का विधान नहीं है क्योंकि इससे भजन में बाधा पड़ती है। पहले दिन तो वह बाला चली गई किन्तु प्रातः पुनः सेवा में उपस्थित हो गई। सायंकाल महात्मा ने उससे पुनः घर जाने का आग्रह किया तो उसने कहा कि दो एक दिन गुरु-चरणों का सामीप्य तो मिले। आश्रम में रहकर, सेवा करके एवं चरणामृत पान करके जीवन सार्थक तो करने दें। इसी प्रकार की प्रार्थना करते-करते अन्ततोगत्वा एक दिन आश्रम में निवास करने की अनुमति भी उसने प्राप्त कर ही लिया।

संग-दोष का प्रभाव होकर ही रहा, धीरे-धीरे दो चार सन्तानें भी हो गईं। पहले तो भाविक भक्त उन्हें हृदय से मानते थे किन्तु जब उनकी स्थिति पतन

के गर्त में पहुँच गई, तब उन्हें कोई भी नहीं पूछता था। पहले कोई कमी न थी, अब माँगने पर भी पूर्ति नहीं होती थी। लोगों को तो जो कहना था कहते ही थे, किन्तु वह युवती भी बिगड़ा करे। एक दिन उसने कहा कि जब भिक्षा माँगने चलना ही है तो छोटे बच्चे को गोद में क्यों नहीं ले लेते? उससे चला नहीं जा रहा है। पहले पैदा करते समय इसका ध्यान नहीं था क्या?

अब तो साधू को महान् दुःख हुआ। वह सोचने लगा कि कहाँ तो हम इतने महान् पुरुष की सेवा कर रहे थे, और आज हमारी यह दशा हो गई है? उन्होंने मना भी किया परन्तु मन की तरंगों ने न माना। महान दुःख के उन क्षणों में आकाशवाणी हुई - "गुरु के बचनों में गुंजाइश, कलियुग की तिकड़म बाजी। बेटा बार-बार मना करने पर भी नहीं माने। अबसे भी सम्हल जाओ।" साधक साहसी था। उसने तुरन्त लड़कों और स्त्री को छोड़ा और बहुत दूर निकल गया। अज्ञात स्थान पर पहुँचकर सोचने लगा कि सर्वस्व खोकर पुनः गुरुदेव के पास कैसे जाऊँ। अतः पूर्ण तपस्या का अर्जन करके ही उनकी शरण में चलूँगा। ऐसा दृढ़ निश्चय करके नदी के किनारे एक टीले पर आसन जमाकर बैठ गया।

कुछ ही समय में चतुर्दिक ख्याति फैल गई कि महात्मा बड़े अच्छे हैं। विकल की तरह दिन-रात भजन में ही लगे रहते हैं। भाविकों की भीड़ पुनः बढ़ने लगी। अच्छे-अच्छे सत्संगी वृद्ध लोग नियमित आने लगे। एक आसन में और उसी लगन से उन्होंने बारह वर्ष व्यतीत कर दिया। अन्तराल में शक्ति और सम्बल भी प्रतीत होने लगा। भाविकों के चाहने पर भी वहाँ अपने लिए कोई भवन भी बनने नहीं दिया। केवल फूस की झोपड़ी में रहा करते थे।

एक दिन वह साधू नित्य क्रिया के लिए दूर की पहाड़ी पर निकल गये। अचानक सामने ही एक चट्टान स्वर्ण के समान चमकती दृष्टिगोचर हुई। महात्मा ने स्पर्श किया और पाया कि वह तो शुद्ध सोना ही है। शौच से लौटने पर

भी आँखों के समक्ष वही स्वर्ण चट्टान कौंधनें लगी। उन्होंने विचार किया कि जंगल में इस चट्टान का क्या उपयोग है? यदि यहाँ आश्रम, धर्मशाला, पाठशाला बन जाय तो इसमें गुरु महाराज की ही कीर्ति फैलेगी। हमें तो कोई प्रयोजन नहीं है। मैं तो गुरु महाराज के लिए ही यह सब कर रहा हूँ। ऐसा विचार कर बहुत समय से नियमित सत्संग करने वाले वृद्ध भाविकों से आपने अपना मन्तव्य व्यक्त किया कि यहाँ पर एक आश्रम, धर्मशाला, कूप, पाठशाला बन जाय तो देश का ही कल्याण हो जाय। वृद्ध बोल पड़े कि महाराज! आपने ही तो कभी इसकी अनुमति न दी थी। यह तो हम लोगों के लिए परम-कल्याण की बात है कि आज आपने आदेश दिया। अस्तु, अब हम सब चन्दा किये लेते हैं और कल से निर्माण कार्य प्रारम्भ हो जायगा।

महात्मा जी ने कहा कि नहीं, चन्दे की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल मिस्त्री, गाँव के सभी लोग एकत्र होकर एक साथ कार्य प्रारम्भ करें, सब को पैसा भगवान देंगे। दूसरे दिन ही कार्य प्रारम्भ हो गया। सैकड़ों लोग पैमाइश नींव खोदने में लग गये। शाम को वे महात्मा शौच गये और एक स्वर्ण खण्ड उठा लाये तथा वयोवृद्धों को समर्पित कर कहा कि इसे बेचकर सबका पारिश्रमिक दे देना तथा अन्य कारीगरों को भी आमन्त्रित कर देना। कारीगरों की भींड़ सहस्रों तक पहुँची और वे महात्मा उसी अनुपात से स्वर्णखण्ड लाकर वृद्धों को देते रहे, जिसे वृद्ध भाविक कारीगरों में वितरित कर देते। आश्चर्य तो सभी को था किन्तु उन वृद्धों के हृदय में तीव्र कौतूहल होने लगा कि महाराज इतना स्वर्ण कहाँ से ले आते हैं। यह क्रिया जानकर हम भी अपने गृह कार्य की व्यवस्था, नाती-पोतों का विवाह भी आसानी से कर लेते। आपस में बहुत विचार करके उन्होंने सलाह किया और महाराज जी से निवेदन किया कि आप प्रतिदिन सोना ले आते हैं आपको कितना कष्ट होता है। यह कार्य तो हम लोग ही कर सकते थे। क्या आपका हमारे ऊपर विश्वास नहीं है? आप तो इसे छूते भी न थे;

आपको यह शोभा भी नहीं देता, आप केवल स्थान भर बता दें और यहीं आसन पर विराजें। आपके आदेशानुसार हम लोग वितरण करते रहेंगे।

जब बड़े-बूढ़े पीछे पड़ गये तो महात्मा ने विचार किया कि मेरे ये भक्त ठीक ही तो कहते हैं। फिर मुझे स्वर्ण से क्या लेना-देना है। यदि यही लोग प्रबन्ध कर लिया करें तो और भी अच्छा है, अत: इन सबको वह स्थान दिखा ही दें। ऐसा निश्चय करके उन सबको साथ लेकर उस स्वर्ण-चट्टान की तरफ चले। संकेत किया और कहा कि इस स्थान से स्वर्ण लेकर वितरण किया करो।

बूढ़ों का अभीप्सित सामने ही था। उन्होंने आपस में संकेत किया और झपट कर महात्मा को धर दबोचा। समीप के वृक्ष में बाँधने लगे। महात्मा जी ने कहा कि अरे! क्या तुम्हारी बुद्धि खराब हो गई है। सनक तो नहीं गये। तुम्हें स्वर्ण लेना है तो ले लो। हमें क्यों बाँधते हो। जानते ही हो कि हमें धन की कोई आवश्यकता भी नहीं है। यह तो परमार्थ में ही मैं लगा रहा था। किन्तु लोभाक्रान्त तथा विवेक-रहित वृद्धों ने उधर कोई ध्यान न देकर उन्हें बाँध ही दिया और निश्चित मन से स्वर्ण चट्टान की तरफ बढ़े किन्तु यह क्या? वृद्धों के स्पर्श करते ही वह चट्टान तो ऊबड़-खाबड़ पत्थर के रूप में परिवर्तित हो चुकी थी जो अब किसी भी उपयोग में आने लायक न रही। वयोवृद्ध भक्त अब तो उदास हो उठे। कहाँ तो मन ही मन सात पुश्तों तक के प्रबन्ध तक की योजना थी; लड़के-बच्चों की शादी-विवाह की सोच रहे थे, किन्तु अब तो महात्मा जी की सेवा और विश्वास से भी गये। सभी ने विचार किया कि अब यदि महात्मा जी को खोल भी दें तो कोई प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है। अत: बदनामी के डर से, महाराज के आग्रह पर भी उन्हें न खोला और आगे बढ़ गये।

तीन-चार दिन उसी तरह बँधे रहने पर महात्मा पुनः महान दुःख में डूब गये कि कहाँ फँस गये? कल तक सभी इशारे पर नाचते थे, आज आगे-पीछे कोई भी नहीं है। कष्ट के उन क्षणों में मस्तिष्क में आकाशवाणी गूँज उठी कि "गुरु के बचनों में गुंजाइश कलियुग की तिकड़म बाजी।" बेटा! कहा था कि चिन्तन-परायण पुरुष को लोककीर्ति, आश्रम, कुटीर इत्यादि में नहीं फँसना चाहिए, जैसे-तैसे निर्वाह कर लेना चाहिए। यथा लाभ में सन्तोष करके वैराग्य की रक्षा करनी चाहिए। बहुत मना करने पर नहीं माने। अब तो बेटा! तुम गिर ही गये।

महात्मा अधर में लटके ही थे कि आराध्य की प्रेरणा से चरवाहे उधर से निकले और महात्मा जी को बँधा देखकर उन्होंने बंधन खोल दिया। चरवाहों ने बहुत पूछा किन्तु महात्मा मौन धारण कर वहाँ से चल पड़े और अपने गुरुदेव की स्मृति में अधीर होकर रोने लगे। सोचते थे कि गुरुदेव के पास कौन सा मुख लेकर जाऊँ? इस बार भी आज्ञा का पालन नहीं हो सका। किन्तु अब तो भजन पूर्ण करके कुछ अर्जन करके ही जाऊँगा। उन्होंने निर्जन एकान्त में तपस्थान चुना और इस बार बड़ी सतर्कता और निष्ठा से योग-प्रक्रिया में तल्लीन हो गये। बारह वर्ष बीत गये। भजन से सन्तुष्ट होकर अब वे गुरु-धाम की ओर बढ़े।

गुरुदेव का आश्रम अभी दस-बारह मील दूर था कि शाम होने को आई। महात्मा ने गाँव के बाहर ही तालाब के किनारे भजन करते रात्रि व्यतीत किया। सूर्योदय के पूर्व ही एक व्यक्ति पास के मार्ग से निकला, महात्मा को देखा, तुरन्त सिर पटक कर उतने ही वेग से आगे बढ़ गया। महात्मा से न रहा गया। पूछ ही बैठे कि ऐसी कौन-सी विपत्ति है जो भागे जा रहे हो? वह व्यक्ति, जो स्वर्णकार था, लौट पड़ा और बोला कि महाराज जी!

आपके परिवार में एक ही लड़का है, न जाने कौन-सी बीमारी हो गई है कि सभी वैद्य, डाक्टर जबाब दे गये। यही अन्तिम बच्चा है। सब ओर से हताश होकर एक वैद्य के यहाँ जा रहा हूँ। सम्भव है भगवान उन्हीं को यश देना चाहते हों।

महात्मा की सावधानी तनिक विस्मृत हुई और अपना तपोबल उन्हें याद आ गया। झटके से उन्होंने अपनी जननेन्द्रिय के पास से एक बाल तोड़ते हुए कहा कि "इसका ताबीज बनाकर बच्चे को पहना दे। देख, फिर क्या होता है?" वह व्यक्ति सोनार तो था ही। ठोंक-पीटकर ताबीज बनाकर बच्चे के गलें में डाल दिया। बच्चे की स्थिति में सुधार होने लगा। बच्चा उठने-बैठने लगा और कुछ ही घंटों में स्वस्थ हो चला। स्वर्णकार के परिवार के लोग बारी-बारी से तालाब की ओर जाने लगे। कोई दूध लिये है तो कोई दही तो कोई कुछ अन्य मिष्ठान्न ही लिए चला आ रहा है। गाँव का जमींदार बड़ी देर से इन बातों को देख रहा था। वह भी शौच इत्यादि के लिए तालाब की ओर आया था।

वह स्वर्णकार भी दिखाई पड़ा। जमींदार ने पूछ ही तो लिया कि "अरे सुखुआ! तूँ बार-बार घर-भर इधर कहाँ जात है? तोरे लड़िकवा के का हाल है?" तब वह बोला कि "मालिक! वह तो ठीक हो गया।" जमींदार को आश्चर्य हुआ। पूछा कि "किसकी दवा की?- कैसे ठीक हो गया?" स्वर्णकार ने कहा कि "मालिक दवा तो किसी की कारगर न हुई। हाँ, एक महात्मा इसी तालाब पर आये हैं। उन्हीं के आशीर्वाद से ठीक हुआ है। महात्मा क्या हैं साक्षात् भगवान हैं। बड़े सिद्ध हैं।"

गाँव भर में चर्चा फैल गई। जमींदार, छोटे-बड़े सभी लोग तालाब पर एकत्र होने लगे। कोई लड़की के विवाह की प्रार्थना सुना रहा था,

कोई जन्मजात रोगी, कोई पागल था, किसी को निर्धनता ने परेशान कर रखा था -इत्यादि समस्यायें आने लगीं। दुनिया ही दुखी है तिसपर गाँव भर वहीं था। अतः समस्याओं का ढेर लग गया। महात्मा जाना भी चाहते तो सभी उनके पैरों के नीचे लेट जाते थे। तब महात्मा वहीं आसन पर बैठ गये और समझाने लगे कि हम कुछ भी नहीं जानते, आप लोग भ्रमवश मेरा पीछा कर रहे हैं। किन्तु सभी के सामने प्रमाण बहुत ही बड़ा था। सभी कहने लगे कि आप महापुरुष हैं, अपने को छिपा रहे हैं। सम्भावित पुरुष अपने को छिपाते ही हैं।

धीरे-धीरे साँझ होने को आई और लोगों को अपने घर, पशुओं की व्यवस्था का ध्यान आया। लोग उकताने लगे तो जमींदार ने सुनार से पूछा- "करे सुखुआ! इ त बता कि तोरे लरिका के महाराज का दिहे रहे?" तब वह बोला कि "मालिक मैं वैद्य के पास जा रहा था कि महाराज दिखाई पड़े। मैंने सोचा बच्चे का अन्तिम समय है, शायद दुआ ही लग जाय। जब मैं प्रणाम करके आगे बढ़ा तो इन्होंने पूछा कि ऐसी क्या व्यग्रता है कि भाग रहे हो? जब मैंने लड़के की दयनीय दशा सुनाई तो इन्होंने अपने जननेन्द्रिय के बगल का एक बाल उखाड़कर उसे ताबीज में भरकर पहनाने को कहा, जिससे बच्चा स्वस्थ हो गया।"

जमींदार ने कहा कि तब महाराज जी को क्यों परेशान कर रहे हो, जब इन बालों में इतना गुण है तो प्रार्थना करके महाराज जी के सब बाल ही क्यों नहीं ले लेते हो। बाल निर्जीव होते हैं। कभी न कभी कटते ही हैं, नाई बुलवा कर कटवा लो और हम लोग आपस में बाँटकर महाराज जी को जाने दें।

इतना सुनने पर वह नाई घर की ओर दौड़ गया क्योंकि उस्तरा तो

घर पर ही था। महात्मा जी के बगल में एक अत्यन्त गरीब आर्त भक्त भी खड़ा था, उसने सोचा कि "बड़े आदमियों का मामला है, पता नहीं उसके हिस्से में बाल आयें या न आयें। यदि बाल न मिला तो दुखी का दुखी ही रह जाऊँगा।" अधीरता से सोचते-सोचते उसने अचानक लपक कर महात्मा जी के बालों में हाथ लगाया और नोंचकर भागा। फिर कौन प्रतीक्षा करता। बात की बात में सभी टूट पड़े और महाराज जी के सिर से पाँव तक का एक रोआँ भी न बचा। नाई कुछ देर से पहुँचा। रही सही कसर उसने पूरी कर दी, वस्तु जब समाप्त हो गई तो महात्मा को ही लेकर सब क्या करते? अत: वहीं महात्मा को छोड़ कर सभी अपने घर चले गये।

अब तो वे साधू मेंड़ पर अकेले विकल पड़े-पड़े विलाप करने लगे तथा बार-बार गुरुदेव का स्मरण करने लगे। पुन: आकाशवाणी हुई कि "गुरु के बचनों में गुंजाइश कलियुग की तिकड़मबाजी। बेटा, तू फिर गिर गया।" साधु को विश्वास हो गया कि अब हमारे करने से कुछ नहीं होगा। जैसे भी हो गुरुदेव के शरण में अविलम्ब पहुँचे। अत: उसी प्रकार बिलखते विलाप करते गुरुदेव के आश्रम में पहुँचे। गुरुदेव ने कहा कि "क्यों बेटा! अब घूमने की इच्छा नहीं है? बेटा तू श्रेष्ठ से श्रेष्ठ है, मगर चाह करके भ्रष्ट है।" गुरुदेव ने उस साधक की दयनीय दशा पर तरस खाकर उसके पुनरुद्धार का प्रयास किया और अपने प्रभूत अनुभवों द्वारा समझाते हुए कहा कि "बेटा! भगवान की आज्ञा मानना, उसका पालन करना ही भजन है। अरे! भजन तो स्वयं भगवान ही कराते हैं। साधक को तो निमित्त मात्र बन कर खड़ा रहना चाहिए। तुमने अपनी कल्पित क्षमता से वैराग्य तथा तीर्थाटन का संकल्प बनाया और पथ से विचलित हो गये। जब तक भगवान हृदय में प्रकट होकर निर्देश न देने लगें तब तक अपने मन से कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए और किसी महापुरुष की शरण पकड़ कर सर्वतोभावेन उन्हीं के आदेशों का पालन

करना चाहिए। साधक के लिए वही भजन है।''

:१५:

अनुसुइया आश्रम घोर जंगल में है फिर भी लोग पहुँचते ही हैं। स्कूल में फेल हो जाने पर, घर से झगड़ा हो जाने पर, रोगी होने पर लोग राम की तपोभूमि चित्रकूट आते ही रहते थे और वहाँ भीड़-भाड़ देखकर अनुसुइया तक भी पहुँच जाते थे। घोर जंगल में एक सिद्ध पुरुष, उनका स्नेह, स्वाभाविक आकर्षण! मन बरबस रम जाता था। लोग प्राय: कहते थे कि महाराज जी हमें शरण में रख लो। महाराज जी किसी को डाँट डपट कर, किसी को किराया- भाड़ा देकर, किसी के घर पत्र देकर उन्हें वापस भेज देते थे। किन्तु जिसके लिए अनुभव में आदेश मिलता कि "ये भ्रष्ट योगी हैं, इन्हें रास्ता दिखाओ, ब्रह्म विद्या बताओ" पूज्य महाराज जी उन्हें ही आश्रम में स्थायी स्थान देते थे।

एक समय बीस वर्ष का एक युवक आश्रम में पहुँचा, बोला- "महाराज जी! शरण में रख लीजिए।" महाराज जी बोले- "करे सारे तोरे में त एकौ लच्छन सधुअई क नहीं है। काहे चला आया रे!" वह बोला- "महाराज जी! वैराग्य पैदा हो गया।" महाराज जी बिगड़े- 'ढोंगी कहीं का। असली बात नहीं बतावत, कहथ वैराग्य पैदा हो गया, बोल काहें भागा?" तब उसने बताया, "महाराज जी! हमारी कुण्डली में कुल आयु बाइस साल लिखी है। हमारे हाथ में आयु रेखा भी नहीं है। बीस वर्ष के हम हो ही गये। अब दो वर्ष में गृहस्थी में क्या कर लेंगे? जब दो वर्ष ही बाकी है तो सोचा भगवान का भजन ही करें। इसीलिए महाराज हम भाग आये और शादी भी नहीं किये।"

महाराज जी ने पास बैठे लोगों से कहा- "देखा हो! का कहथ सार।

देखो रेखा है कि नहीं। दिखा तो हाथ" सभी देखने लगे। वास्तव में आयु रेखा नहीं थी। मृत्यु का भय सबसे बुरा होता है। युवक भी सिर नीचा किये बड़ा उदास था। अचानक महाराज जी ने छड़ी उठाई और खींचकर हाथ पर सटाक से मारा। तुरन्त उसने हाथ खींचा और सी-सी करते हुए दस कदम पीछे बैठा। महाराज जी स्वाभाविक मुद्रा में बिगड़ते हुए बोले- "मरै का डेरात है सार! देखतऽ भागत फिरत है। मन में होई खटपट तो चल बाबा के मठ पर। अरे जब काल आ जाई त भागे से बची।" सभी सोये, सबेरा हुआ! युवक बोला- "महाराज जी रेखा तो जम गई, पैदा हो गई।" महाराज जी ने कहा-"देखतऽ हो! सार का कहत है?" सबने देखा तो वह रेखा वास्तव में बन गई थी। महाराज जी ने पूछा- "बोल बेटा! अब क्या करोगे?" वह बोला- "महाराज जी! आज्ञा होती तो अब घर चले जाते।" सभी हँसने लगे।

वस्तुतः मनुष्य कर्मों का रचयिता है। तत्त्वदर्शी महापुरुष अपनी इच्छा शक्ति से कर्म को बदल सकता है। यही आशीर्वाद कागभुशुण्डि जी को भी था। भगवान जब अपना लेते हैं तो इच्छा ही इच्छा-शक्ति बन जाती है- "जो इच्छा करिहउ मन माहीं, हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।" महाराज जी इसी संदर्भ में एक कथानक सुनाया करते थे, जो इस प्रकार है - दो भाई थे। एक भाई नित्य एक तत्त्वदर्शी महात्मा के सत्संग में जाता था। लगन से उनकी सेवा किया करता था। दूसरा भाई विख्यात वेश्या के कोठे पर प्रतिदिन जाता, शराब पीता था। पहला भाई रोज समझाता था कि "देखो! हम लोग भले घर के हैं। तुम्हें यह शोभा नहीं देता। सत्संग में चला करो। वही हमारा कर्तव्य है। "एहि तन कर फल विषय न भाई" किन्तु दूसरे भाई पर कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ता था।

कुछ काल पश्चात् पहला भाई रात में सत्संग से लौट रहा था। रात अँधेरी थी। पाँव में एक खूँटी गड़ गई। इस पार से उस पार हो गई। खून ही खून फैल गया। किसी तरह घर पहुँचा। सबेरा होने से कुछ पहले दूसरा भाई वेश्या के यहाँ से लौटा तो रास्ते में हार पड़ा मिला। लाखों का हार मिला। प्रसन्नता से घर पहुँचा तो भाई कराह रहा था, बोला "ले, और कर ले सत्संग! फल मिला? अरे चार दिन की जिन्दगी है! मौज पानी ले ले। देख मुझे लाख रुपये का हार मिला और तुम्हें पाँव में खूटी लग गई। सत्संग से क्या मिला? टिटनेस हो जायगा तो मर भी जायगा।'' छोटा भाई बोला -''नहीं! सन्त दर्शन से कभी अनिष्ट नहीं हो सकता।'' बड़ा बोला -''सामने दिखाई तो दे रहा है। पाँव चीरे बैठा है, कहता है अनिष्ट नहीं होता।'' तय किया गया कि ज्योतिषी से विचार कराया जाय कि हार क्यों मिला और खूँटी क्यों गड़ी?

दोनों अपनी-अपनी कुण्डली लेकर ज्योतिषी के पास गये। उनकी विद्या बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। कुण्डली सामने रखी गई। ज्योतिषी ने एक कुण्डली उठाई, चौंका! "यह व्यक्ति तो आज सबेरे मर गया होगा। सबेरे-सबेरे ऐसी कुण्डली क्यों ले आये?'' दोनों ने कहा-- महाराज दूसरी कुण्डली भी देखें। ज्योतिषी ने देखा, बोला-- "विलक्षण कुण्डली है। इतनी शुभ कुण्डली तो हमने जीवन में कभी नहीं देखी। इस पुरुष को आज राजा होना चाहिये। मैं उस भाग्यवान से अभी मिलना चाहता हूँ।'' ज्योतिषी ने सोचा, होने वाले राजा से पहले ही मिल लेने पर धाक जम जायेगी, सदैव सम्मान मिलेगा।

भाइयों ने बताया कि कुण्डली हमी दोनों की है। ज्योतिषी ने कहा- "अरे! ऐसा कैसे हो सकता है। ज्योतिष तो गलत हो ही नहीं सकता। तुम अभी तक जीवित कैसे हो? बताओ तुम लोग करते क्या हो? छोटे भाई

ने बताया कि "मैं नित्य महात्मा की सेवा में जाता हूँ, उनकी वाणी सुनता हूँ, उपदेशानुसार जीवन में कुछ ढालने का प्रयास भी करता हूँ, चिन्तन के लिए भी समय निकालता हूँ।" ज्योतिषी ने सिर हिलाया और दूसरे भाई से पूछा -"तुम क्या करते हो?" वह बोला -"मैं तो शराब पीता हूँ, वेश्या के यहाँ जाता हूँ और यह भाई मुझे नित्य बिगड़ता है।"

ज्योतिषी ने समाधान किया कि तुम गलत करते हो। तुम्हारे छोटे भाई को आज मर जाना चाहिए किन्तु महापुरुष के दर्शन, सत्संग, सेवा के प्रभाव से इसे मात्र खूँटी ही गड़ गई। इसकी आयु बढ़ गई। तुम्हें आज राजा होना चाहिए था। किन्तु कुकृत्य करते-करते पुण्य क्षीण हो गया। एकाध लाख का हार मिल गया। दो-चार महीने में फूँक ताप कर उसे भी बराबर कर दोगे। फिर तो न पुण्य है न पुरुषार्थ। उस दिन से बड़ा भाई भी सत्संग में जाने लगा। बुराइयाँ छूट गईं।

वस्तुतः मनुष्य कर्मों का रचयिता है। शेष चौरासी लाख योनियाँ तो केवल भोग भोगने के लिए हैं। मानव-तन में भला-बुरा जैसा भी कर्म किया जाता है उसी के अनुसार भविष्य की योनियों का सृजन होता है। योगेश्वर कृष्ण कहते हैं कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन के द्वारा जिस कार्य-कलाप को करके यह जीवात्मा शरीर त्यागता है उसी के अनुसार उत्तम अथवा अधम योनियों में प्रवेश करता है। "कर्मानुबन्धीनि मनुष्य लोके (१५।२ गीता)।। मनुष्य योनि ही ऐसी योनि है जिसमें कर्मों के अनुसार शुभ अथवा अशुभ बन्धन तैयार होता है। शुभ कर्म करेंगे तो हाथ में शुभ रेखायें बन जायँगी, अशुभ करेंगे तो शुभ रेखायें नष्ट हो जायँगी, अशुभ शेष बचेगा। केवल मनुष्य योनि में ही कर्मों का सृजन होता है। अन्य योनियाँ मात्र उन कर्मों के भोग के लिए हैं। आज से लाखों वर्ष पूर्व शेर जंगलों में रहते थे, कोई

शक्तिशाली मिला तो भाग खड़े हुए, कमजोर मिला तो फाड़ खाया। आज भी उनका वही स्वभाव है। उनका रहन-सहन, बुद्धि-विचार कुछ भी तो नहीं बदला। किन्तु मानव दिन दूनी रात चौगुनी प्रगति करता जा रहा है, कभी वह पत्थरों से लड़ता था तो आज क्षेप्यास्त्रों से लड़ता है, अंतरिक्ष में जा रहा है। भौतिक आविष्कारों से हटकर यही मानवमन ईश्वर की ओर अग्रसर हुआ तो सूक्ष्म होते-होते, मन का निरोध करते-करते परमतत्त्व परमात्मा तक को शोध निकालने में सक्षम हुआ। इस प्रकार मनुष्य कर्मों का रचयिता है, उसके आश्रित नहीं। सभी को चाहिए कि शुभ कर्म करें, अशुभ से बचें।

: १६ :

गुरु पूर्णिमा के पावन पर्व पर दसियों हजार की भीड़ अनुसुइया आश्रम में हो जाया करती थी। सैकड़ों माताएँ भी सपरिवार महाराज जी के दर्शनार्थ एकत्र हो जाती थीं। जब घर जाने की अनुमति हो तो दो-एक महिलायें निवेदन करती थीं कि "महाराज जी! अब मैं यहीं रहकर आपके सान्निध्य में भजन करूँगी। संसार में मेरा कोई नहीं रह गया है।" महाराज जी कहते थे - "देखऽहो! ससुरी का कहत है? वैराग सवार है। घर में रहि हैं तो मारे गृहस्थी के साल भर फुरसत न मिली अउर इहाँ वैराग चढ़ा है। मरकट वैराग। अरे! हम इहाँ अपने बहिन को रहने की अनुमति दें, माई के रखें अथवा बिटिया को रहने दें तो लोग का जनिहैं कि माई-बहिन है। लोग त इहै कहिहैं कि बाबा मेहरिया रखे हैं। "यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्धम् न करनीयम्"। हालाँकि मन-क्रम-वचन से तनिको दोष नहीं है फिर भी लोक दृष्टि के विरुद्ध कुछ भी नहीं करना चाहिए। उससे समाज में गलत संस्कार पड़ते हैं।" "नहीं! महाराज जी! आप महापुरुष हैं। आपको कोई कुछ नहीं कहेगा। यहाँ पर हमारा मन बहुत लगता है। यहीं भजन करने की आज्ञा दीजिए।" महिलाओं

के ऐसा कहने पर महाराज जी कहते -"हूँऽऽ चामे की धोकरी कुत्ता रखवार। ताजा उतारा चमड़ा, ऊ जरूर छुई। जबै मौका पाई, दाँत जरूर लगाई। स्वभाव है न। अरे! मैं साधू हूँ। मोके कौनो फरक नाहीं। दो-चार औरउ ऐसन हैं जिनके ऊपर संगदोष का प्रभाव नहीं है, मोरै स्वरूप हैं; लेकिन जो नये साधक हैं उनका तो गुण-स्वभाव पुराने हैं। गुण-स्वभाव त्यागे बिना दुर्लभ परमानन्द। दस-बारह साल में त साधक लाइन पकड़त है! तब कहीं खतरा टलत है। अबै त ई सब कुम्हड़ बतिया हैं। संग से जती नष्ट होई जात है। जो भाग! घर ही से भजन कर। मनै से आवा-जावा कर। कल्यान मैं करिहौं। साँझ-सबेरे मोर रुपवा देखा कर। कौनो एक नाम जपा कर। राम-राम जप। जो अउर पति की सेवा कर। जौन तैं इहाँ पइहै तौने उहूँ देइहौं।" इस प्रकार सान्त्वना देकर उन्हें घर भेज देते थे।

महाराज जी प्रायः भाविकों से कहते थे कि 'ॐ', 'राम', 'शिव' किसी भी दो ढाई अक्षर के नाम को चुन लो। सबका आशय एक है। 'ओम' पर अधिक बल देते थे। कहते थे 'मोरै रूपवा देखा कर। शरीरिया से कहूँ रहो, मनवा से आवा-जावा करो। सुबह-शाम साँझ विहान जब याद आवै तब-तब मन से पहुँच जाया करो। जब भी मोरे रूप को एक भी मिनट हृदय में रोक लोगे तो जिसका नाम साधना है वह भजन मैं तुम्हें प्रदान कर दूँगा। तुम्हारे हृदय से ही प्रेरणा करके भजन की प्रशस्त पटरी पर मैं खड़ा कर दूँगा; भगवान खड़ा करते हैं। "मन बस होइ तबै जब प्रेरक प्रभु बरजे।" तुम एक मिनट ध्यान तो धरो। 'ओम' जपो तो।

: १७ :

पूज्य महाराज जी कहा करते थे -"बेटा! जब माया परीक्षा लेत है त बूढ़े जवान होइ जात हैं, नामर्द मर्द बनि जात हैं। साधू बनब आसान

है लेकिन निबाहब कठिन है। धरा न काहू धीर, सबके मन मनसिज हरे। हो, माया बड़ी अपरबल है।'' घोर जंगल में एक आश्रम था। बड़े अच्छे तत्त्वदर्शी महापुरुष वहाँ निवास करते थे। दस-पन्द्रह शिष्य भी उनके संरक्षण में क्रिया तथा सेवा में संलग्न थे। एक दिन एक शिष्य बोला-- ''महाराज जी! आज्ञा हो तो वैराग कर आऊँ, तीर्थाटन की प्रबल इच्छा है।'' महाराज जी बोले, ''बेटा! अभी तुममें क्षमता नहीं है। माया बड़ी प्रबल है। उसकी सर्वत्र धार है। न जाने कब कौन सा दाँव लगा दे, तुम जान ही नहीं पाओगे।'' शिष्य ने कहा--''महाराज जी! बस आपकी कृपा बनी रहे तो माया क्या कर लेगी?'' महाराज ने कहा-- ''हाँ, कृपा तो है लेकिन बचना! मैं भी तो कुछ कह रहा हूँ।'' शिष्य ने प्रणाम किया तो महाराज ने पुनः बचने के लिए सतर्क किया।

शिष्य अभी आश्रम से एक मील भी न गया होगा कि सामने से एक बुढ़िया तेजी से आती दिखायी पड़ी। चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं, किन्तु आँखों में तेज चमक थी। घोड़े की एक लगाम लिए वह उड़ती-सी चली आ रही थी, इधर-उधर देखती हुई आगे बढ़ती जा रही थी। महात्मा को दया आ गई, सोचा बेचारी का घोड़ा लगता है कहीं खो गया। बोला--''बुढ़िया, इधर कोई घोड़ा नहीं गया! तू लगाम लेकर कहाँ दौड़ी जा रही है?'' बुढ़िया बोली-- ''बाबा! यह महात्माओं को लगाती हूँ, घोड़ों को नहीं।'' ब्रह्मचारी बिगड़ा-- ''कुतिया कहीं की। कहती है महात्माओं को लगाम लगाती है। जो करना हो कर! क्या उखाड़ेगी? बुढ़िया बोली-- ''अच्छी बात है, बाबा! बचना।'' ब्रह्मचारी पुनः जोर से बिगड़ा। बुढ़िया आगे बढ़ गई।

ब्रह्मचारी एक मील और आगे बढ़ा तो नदी पड़ी। नदी के पार एक बाला विकल होकर रो रही थी। मुँह लाल हो गया था। आँखें रोते-रोते सूज

आई थीं। पैरों में मेंहदी लगाये, सजी-सँवरी, किसी भले घर की नववधू प्रतीत होती थी। पार होते ही महात्मा ने दयावश पूछा-- "तुम रो क्यों रही हो? तुम्हारे साथी क्या जंगल में भटक गये? तुम्हें क्या दुःख है?" बाला कुनमुनाई, उठी और धीरे-धीरे चलकर ब्रह्मचारी के पास आयी। पाँच रुपया उनके चरणों पर रखा, प्रणाम किया, बोली-- "महाराज! मेरे जैसी अभागिन इस सृष्टि में कोई नहीं है।" इतना कहकर वह पुनः वहीं जाकर बैठ गयी और रोने लगी। ब्रह्मचारी ने विचार किया-- है बड़ी धर्मात्मा। इसके ऊपर कोई भारी आफत आई है। इसकी सहायता करनी चाहिए। बोले-- "कुछ बतायेगी भी कि बात क्या है?" बाला क्रमशः शान्त हुई, बोली-- "महाराज जी! मैं मायके से आ रही हूँ। उस पार, वह जो गाँव दिखाई दे रहा है, हमारी ससुराल है। बीच में यह नदी बढ़ गई। अब लौटती हूँ तो बड़ा अपशकुन माना जाता है। शुभ घड़ी में विदाई हुई है। उस पार कैसे जाऊँ? नदी बढ़ी है। बस यही दुःख है। अब तो हम न घर के रहें न घाट के। मर जाना शेष है। शेर-बाघ इस जंगल में खा लें, यही बाकी है। हमारी दुनिया का दीपक बुझ गया। महाराज! हमारे ऐसा अभागा कोई नहीं है। आप दयालु हैं। सन्त हैं। आप से क्या प्रयोजन। आप जायें। क्यों मुसीबत में पड़ते हैं? महाराज जी! अपनी करनी पार उतरनी। जैसा मैंने किया है, कौन भोगेगा?" उठी और दस रुपया पुनः पैर पर चढ़ाया, प्रणाम किया। बोली, "महाराज! तीरथ में जा रहे हैं। ले लें, गाँजा-भाँग में काम आयेगा।"

ब्रह्मचारी चलने लगा तो सोचा क्या कोई उपाय हो सकता है? रास्ते में कहीं कोई दिखलाई भी नहीं पड़ रहा था। लौटे, बोले, "देखो! नदी में इतना वेग नहीं है जितना तुम समझती हो। केवल घुटने तक पानी है। तुम चलो तो।" नववधू बोली-"महाराज! हमको बहुत डर लगता है।" ब्रह्मचारी बोले- "अच्छा, यह डण्डा पकड़। हम पार कर देंगे।" जहाँ पानी के पास

आई तहाँ छड़ी छोड़कर वधू बड़े जोर से चींख पड़ी, वापस हो गई और पुनः जाकर वहीं बैठ गई। विकल होकर रोने लगी। ब्रह्मचारी अवाक् रह गये, बोले- "अब क्या हुआ?" रोते हुए वह बोली-महाराज मेरे अभाग्य का अन्त नहीं है। अब तो कोई उपाय नहीं है। हमारे पास सौ सवा सौ रुपया है। यहाँ मुझे शेर-चीता तो खा ही जायेंगे, ये पैसे मेरे पास पड़े-पड़े सड़ जायेंगे, आप तीरथ-बरत में जा रहे हैं इसे स्वीकार करें। किराया-भाड़ा, गाँजा-भाँग में काम आ जायँगे।" रुपया फेंका, प्रणाम किया, वापस वहीं जाकर रोने लगी। महात्मा दयार्द्र हो चले थे, पूंछा- "क्या बात हुई। क्यों पीछे हट गई?" बोली महाराज जी! पैर में महावर लगा है वह तो पानी में धुल जायगा? ससुराल में वे मुझे रखेंगे नहीं। कहेंगे, न जाने कितने दिन की चली है। महावर कहाँ छुड़ाकर आई है?"

महात्मा ने सोचा विपत्ति तो भारी है किन्तु बेचारी है बड़ी धर्मात्मा। पूछा- "क्या कोई भी उपाय नहीं है?" "महाराज! आप जायँ।" ब्रह्मचारी ने कहा "सुन तो लें, क्या है?" वधू बोली- "अपने कन्धे पर बैठा लीजिए, हमारे पैर का रंग न छूटे और उस पार कर दीजिए।" ब्रह्मचारी बोले- "ऐसा कैसे हो सकता है?" वह बोली- "अरे महाराज! वह तो हमने पहले ही प्रार्थना किया। आप जाइये।"

ब्रह्मचारी संकोच में पड़ गया। सोचा-- है बड़ी दयालु, साधुसेवी है। हमको इतना खर्च दिया। रास्ते की ओर आगे-पीछे देखा। कोई नहीं था। बोला- " शीघ्र कन्धे पर बैठ। हम पार कर दें।" ब्रह्मचारी के मन में उस समय कोई विकार भी न था। कन्धे पर बिठाया और नदी पार करने लगे। बीच धारा में पहुँचते ही नववधू ने ब्रह्मचारी के मुँह पर लगाम लगाकर पैर से एँड़ लगा दिया। टिक-टिक हाँकने लगी। ब्रह्मचारी बिगड़े- "बदतमीज कहीं की! क्या करती है?" ऊपर झाँका तो वही बुढ़िया। बोली-- "कहा

था न बाबा बचना। द्रवित हो हीं गये। साधक के लिए दया का विधान कहाँ है? थोड़ा-सा चारा फेंका, उतने में ही फँस गये। तुम्हारे पीछे पुण्य प्रबल है। जंगल वाले महात्मा हृदय में बैठे हैं; इसीलिए बच गये। अन्यथा तुम्हें तो अभी पटक कर चढ़ बैठती । जन्म भर रोने के आँसू न मिलते।"

ब्रह्मचारी ने झुँझला कर बुढ़िया को नदी में फेंका तो न कहीं बुढ़िया थी, न लड़की। सोचने लगे कि सचमुच माया प्रबल होती है। इसको तो हम पहचान ही नहीं सकेंगे। लौटे और आश्रम चले गये। महाराज ने पूछा--"वैराग कर आये?" ब्रह्मचारी बोले-- "महाराज! आपकी आज्ञा नहीं मानी! बाल-बाल बच गये। माया मिली थी, कहा गुरुजी तुम्हें पकड़े हैं, नहीं तो-अभी पटककर चढ़ बैठती। अब तो महाराज हम यहीं रहकर सेवा करेंगे।" अत: साधक को तब तक गुरु-आश्रम में धक्का-धुक्की खाते हुए सेवा और साधना में लगे ही रहना चाहिए, जब तक साधना की पटरी पर अनवरत चलने की क्षमता न आ जाय। इसके पश्चात् "**कतहुं निमज्जन कतहुं प्रणामा। कतहुँ विलोकत मन अभिरामा।**" कोई अन्तर नहीं पड़ता। विचरण करता भी रहे और चिन्तन में लगा भी रहे। साधना की पकड़ में दुर्बलता रहने पर विचरण करने में खतरा है। माया की धार सर्वत्र है। "**काले मूड़ का एक न छाड़ी, अजहूँ आदि कुमारी।**" कबीर कहते हैं कि माया से एक भी कुकृत्य नहीं बचा फिर भी वह आदि कुमारी बनी है। इसका कुछ नहीं बिगड़ता। यह सदैव युवा है। जितना ही इसका स्पर्श करेंगे, उतना ही यह युवा होती जायगी।

माया दया के वेश में, सेवा के वेश में अनन्त मार्गों में; न जाने किस रास्ते से साधक पर कामयाब हो जाती है। साधक के लिए दया का विधान नहीं है। सीता जी ने दया की तो लंका में जाकर भोगना पड़ा। "**दया बिनु संत कसाई, दया करी तो आफत आई।**" हाँ, दया धाम की उपलब्धि

होने पर महापुरुष दया का स्रोत ही बन जाता है। फिर तो **"खाय न खुटे, चोर न लुटे; दिन-दिन बढ़त सवायो।" "पूर्णमदः पूर्णमिदं"** वह पूर्ण है-- भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में पूर्ण है। पूर्ण में से पूरा दान देने पर भी पूर्ण बच रहता है। ऐसे मनीषी दया के धाम ही हैं, उनसे सदैव कल्याण होता ही रहता है, और उन्हीं से दया की आशा भी की जाती है, किन्तु साधक के लिए दया का विधान नहीं है। साधक पहले अपनी तो परीक्षा दे ले, फिर दूसरों को डिग्री, डिप्लोमा देगा। हाँ, ऐसे साधन परायण पुरुषों की सेवा से लाभ सदैव है। वे भले दया न करें किन्तु उनसे स्वतः मिलता है। पूर्तिपर्यन्त खतरा रहता है। इष्ट से एक इंच की भी दूरी है, तब तक माया कामयाब हो जाती है। वास्तव में साधू बनना आसान है लेकिन निर्वाह करना कठिन है। निर्वाह किसी महापुरुष की सेवा से ही होता है--

द्वार धनी के पड़ि रहे, धक्का धनी का खाय।
कबहुँक धनी निवाजिहै, (जो) दर छोड़ ना जाय।।

:१८:

पूज्य महाराज जी से एक भाविक ने पूछा, "महाराज जी! योग कैसा होता है?" महाराज जी ने उसकी ओर देखा, बोले-हूँ....माँगे का भीख, पूछे गाँव का जमा! अरे! ज़ोग कहिले से आवत है? घर पर कौन काम करते हो?" वह बोला- "महाराज जी! दुकान है। आजकल बड़ी घटी दे रही है। बरक्कत नहीं हो रही है। इसीलिए आया हूँ।" महाराज जी ने कहा- "हूँ....भितराँ कुछ अउर भरा है, ऊपर से जोग पूछत है। नाम अन्हियारी बारी, होम करै के पल्लव नहीं। अरे! जोग अधिकारी की वस्तु है। हूँ जौने लिए आया है वही माँग! जो, विभूति उठा! अब देख का होता है! फिर आकर बताना क्या हाल है?" इसी प्रकार महाराज जी सबको समझा-बुझाकर वापस कर देते थे।

किन्तु पास बैठे अनेक भाविकों के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो ही जाती थी। कुछ लोग विनयपूर्वक पूछ बैठते थे कि "महाराज जी! भजन कैसे होता है?" महाराज जी उन्हें सस्नेह समझाते थे कि देखो, सब लोग भक्ति का अर्थ नहीं जानते। लोग समझते हैं कि आँख बन्द कर लो या एकान्त में बैठकर कुछ समय बिता दो अथवा कोई काँटे पर सोता है, कोई खड़ा ही रहता है या महात्मा जंगल में बैठे रहते हैं, यही भजन है। लेकिन भक्ति के जितने भी दाता और ग्रहणकर्ता हुए हैं उन सबका चरित्र देखने पर ज्ञात होता है कि भक्ति भाव के लिए सेवा का बड़ा महत्त्व है। 'भज' का अर्थ ही सेवा करना होता है।

राजा दिलीप वशिष्ठ की गाय चराया करते थे। वे चाहते तो अपने स्थान पर दस-पाँच हज़ार नौकर लगा देते। किन्तु नहीं, नौकरों द्वारा सेवा कराना एक बचाव (गुंजाइश) निकालना है। हम स्वयं मन से लगे तभी हमारे अन्दर उन संस्कारों का सृजन होगा, मन निर्मल होगा, भक्ति पुष्ट होगी। यदि नौकरों द्वारा सेवा कराते हैं तो नौकरों को भले ही कुछ मिल जाय, भेजने वाले के लिए तो खाना-पूर्ति ही हाथ लगेगी। इसीलिए महाराजा दिलीप चक्रवर्ती नरेश होते हुए भी स्वयं गुरुवर वशिष्ठ की सेवा में अपने कल्याण के लिए उपस्थित थे। संसार में अन्य सभी वस्तुएँ सुलभ हैं, केवल भक्ति ही एक दुर्लभ पदार्थ है। 'भग इति सः भक्तिः।' भग प्रकृति को कहते हैं, माया को कहते हैं। इस माया का अन्त जिस क्षण हो जाय वही भक्ति की पराकाष्ठा है। प्रकृति का अंत और परमात्मा में स्थिति ही भक्ति का अन्तिम परिणाम है। इस उपलब्धि के लिए विषयों में संलग्न मन को सब ओर से समेटकर उन चरणों में लगाना होगा। इसीलिए दिलीप स्वयं सेवारत थे।

पुराणों में बहुत-सी कथाएँ मिलती हैं, जिनमें अनुरागियों ने गुरुदेव की शरण में पहुँचकर ब्रह्मविद्या के उपदेश के लिए प्रार्थना की। गुरुदेव ने

सत्यकाम नामक शिष्य से कहा--"इन सौ गायों को जंगल में ले जाओ, इनकी सेवा करो। किसी का साथ न करना। एकान्त का सेवन करना। हम एक छोटा-सा नाम बता रहे हैं, इसी का जप करना और कोई आपत्ति-विपत्ति आये तो हमारी ओर देख लेना। जिस समय सहस्र गायें हो जायँ, आ जाना। उस समय हम तुम्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश करेंगे।" कभी कोई भाविक किसी महर्षि के पास पहुँचा और ब्रह्मविद्या का रहस्य जानना चाहा तो महर्षि ने उसे बारह वर्षों तक गो-शाला की देख-रेख करने को कहा। छान्दोग्य उपनिषद की कथा है कि इन्द्र सौ वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के पश्चात् ब्रह्मविद्या के अधिकारी हुए।

वस्तुतः भक्ति, जो प्रकृति से पार स्थिति प्रदान करने वाली है, उसका उतार-चढ़ाव इस मन पर है। आज हम निःसन्देह ब्रह्मविद्या चाहते हैं किन्तु कल तक हम क्या थे? मन तो आज भी वही है, हजारों मायिक ग्रन्थियों में उलझा है। क्षणिक वैराग्य मन का यथार्थ स्वरूप नहीं है। इसीलिए वे महापुरुष मन को योग्य बनाने के लिए कोई सेवा निर्धारित कर देते थे। उस सेवा से,दस-बारह वर्षों के अन्तराल में, पारिवारिक आसक्ति निकल जाती थी; संग-दोष का कुप्रभाव नहीं पड़ने पाता था। उत्तरोत्तर ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा बढ़ती जाती थी, ब्रह्म का मूल्य समझ में आने लगता था। एक-एक दिन गिनना भारी पड़ता था। अनुरागी लालायित रहता कि कब अवधि समाप्त हो, कब क्षमता आये और मैं ब्रह्मविद्या प्राप्त करूँ। इसीलिए सेवा का सदैव विधान था। अनायास किसी को साधना बता दी जाय तो न तो ब्रह्मविद्या उपयोगी लगती है, न ब्रह्म। उस साधना को करने की क्षमता भी साधक में नहीं होती। किन्तु कुछ काल तक महापुरुष की सेवा करने से वही योग्यता स्वतः आ जाती है। सद्गुरुओं की शरण में जाने का विधान यही है कि "**सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**" सम्पूर्ण धर्मों को त्यागकर मन-क्रम-वचन

से उनकी शरण में हो जाओ। जब हम मन से उनका स्पर्श करने लगेंगे तो उनके अन्दर जो योग्यता है, आपके भीतर भी स्वत: प्रसारित हो जायगी।

हम भी जब महाराज जी की शरण में गये तो पूज्य महाराज जी ने ब्रह्मविद्या का उपदेश किया किन्तु हमारी समझ में कुछ आया नहीं। कुछ काल पश्चात् जब समझ में भी आया तो जब चिन्तन करने बैठें तो महाराज जी का स्वरूप सामने से हट जाय और एक विशालकाय मुर्रा भैंसा ध्यान में आकर खड़ा हो जाय। कई दिन तक ऐसा होता रहा। हमने महाराज जी से निवेदन किया कि महाराज जी, आपका स्वरूप प्रयत्न करने पर भी ध्यान में नहीं आता और एक बड़ा भैंसा जिसकी कभी कल्पना भी नहीं थी, आकर सामने खड़ा हो जाता है। महाराज जी ने बताया-"बेटा! यमराज है। इसी से तो लड़ाई लेनी है। इसी की तो फाँसी काटनी है। अच्छा बताओ, "चिन्तन में मन लगता है?" हमने कहा- "महाराज जी! उत्साह तो है किन्तु भजन में बैठता हूँ, दृश्यों की कतार लग जाती है। जो कभी याद नहीं था, बीसों वर्ष पहले भी जो घटना घटी थी, वह भी सजीव चित्रित हो उठती हैं।" महाराज जी ने निर्देश दिया- "यह ऐसे नहीं ठीक होगा। तुम चिन्तन के साथ समर्पित भाव से सेवा करो, बस!"

उस समय सेवा का वास्तविक अर्थ एवं महत्त्व भी हम नहीं जानते थे। गुरुदेव की आज्ञा थी, सोचा-- चलो, ठीक है। हाथ-पैर इधर-उधर चलते रहें किन्तु मन सदैव चरणों से लगा रहा। जब तक सेवा का वास्तविक महत्त्व मेरी समझ में नहीं आया तब तक हम इसी प्रकार दिखावटी सेवा ऊपरी मन से करते रहें। किन्तु जब इष्ट गुरुदेव अनुभवों द्वारा बार-बार वही बात हृदय-देश से बताने लगे तब सन्देह दूर हो गया तब से मन लगाकर सेवा करने लगे। ऐसा ही विधान पूर्व महर्षियों का था, अब भी है और ऐसा रहेगा।

जब तक मन साधना में प्रवेश पा नहीं लेता तब से पूर्तिपर्यन्त सेवा में समय देना होगा। यदि कोई सेवा छोड़कर चिन्तन में बैठ जाता है तो केवल शरीर बैठा रहता है। जिस मन को बैठना चाहिए वह तो हवा से बातें कर रहा होता है। कुछ दिनों तक साधक हठवश बैठे रहते हैं किंतु साल-दो साल पश्चात् हताश होकर किसी आडम्बर को स्वीकार कर लेते हैं अथवा इधर-उधर बहकने लगते हैं। कृष्ण कहते हैं-अर्जुन! जो हठ से इन्द्रियों को रोककर, मन से विषयों का चिन्तन् करता रहता है, वह दम्भाचारी है। अतः मन से इन्द्रियों को रोककर जो निर्धारित क्रिया करता है वही श्रेष्ठ है, वही योग की प्राप्ति के लिए प्रयत्नवाला है। इसीलिए सेवा का विधान है।

आज भले ही हमें विकार प्रतीत न हों किन्तु जो पहले से भरे पड़े हैं, बड़े स्नेह से जिनका कभी हमने चिन्तन किया था, वे कुकृत्य बरबस चिन्तन के समय आयेंगे। उनका शमन हुए बिना चिन्तन में मन नहीं लगेगा। केवल शरीर से बैठने से कोई लाभ नहीं है। इसीलिए महापुरुषों की सेवा का विधान है। महापुरुष के हृदय का वायुमण्डल शान्त रहता है। जहाँ भी वे रहते हैं उनसे निरोध के ही परमाणु प्रसारित होते रहते हैं। उनकी हर श्वास से तपस्या के संस्कारों का संचार होता रहता है। इसीलिए उनके दरश-स्पर्श, सेवा तथा संसर्ग से जो योग्यता आज मन में नहीं है वह भी कुछ ही काल में आ जाती है। फिर तो मन मायिक-पथ को छोड़कर इष्ट की पटरी पर क्रमशः गमन करने लगता है। साधना गति पकड़ने लगती है। भगवान राम कहते हैं--

सुचि सुशील सेवक सुमति, प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुरान कह नीति अस, सावधान सुनु काग।। ७।८६।।

सुशील, बुद्धिमान, प्रयत्नशील सेवक किसे प्रिय नहीं होता? पिता अपने

सभी बच्चों पर समान स्नेह रखता है किन्तु जो पुत्र मन-क्रम-वचन से पिता का भक्त है, पिता की सेवा ही धर्म जानता है अन्य कोई धर्म नहीं जानता है, वह सुत पिता को प्राणों की तरह प्रिय होता है, भले ही वह मूर्ख ही क्यों न हो। इसी प्रकार, भगवान राम कहते हैं- यह सम्पूर्ण विश्व मुझसे उत्पन्न है और सभी जीवों पर मेरी समान दया भी है किन्तु उनमें भी जो मद-माया को त्याग करके मन-क्रम-वचन से मेरा भजन करते हैं वह मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। भक्तिहीन विरंचि भी सामान्य जीवों की तरह समान प्रिय है। **"सत्य कहऊँ खग तोहिं सुचि सेवक मम प्राण प्रिय।"** प्राण प्रिय तो सेवक ही होगा।

इस प्रकार प्रारम्भ में महापुरुष की सेवा शरीर से की जाती है किन्तु चिन्तन की एक निर्धारित सीमा पार कर लेने पर, किंचित् परिपक्वता में, यही सेवा मानस-पूजा में ढल जाती है। साधना जागृत होने पर स्वतः साधक समझता जाता है और इष्टदेव पूर्तिपर्यन्त एक न एक नया रूप प्रदान करते रहते हैं, सेवा की विधि समझाते ही रहते हैं। प्रारम्भ में बताते हैं कि इस तरह नाम पकड़ने की क्षमता आ गयी तब वे स्वयं ही छुट्टी देकर; बाहर वाणी से, अन्दर अनुभवों द्वारा संचालित कर समीप के ही किसी एकान्त स्थान पर निवास के लिए भेज देते हैं, उसे अलग रहने की अनुमति प्रदान कर देते हैं। वहाँ साधक का मन भी लगने लगता है। अब तक सेवा शरीर से होती थी और इसके बाद वह अब भी सेवा ही करता है किन्तु मन से करता है। दिन-रात उन्हीं महापुरुष की प्रार्थना करता है, उन्हीं के अनुरूप अपने को ढालता जाता है। मन द्वारा की गयी मानसिक सेवा शारीरिक सेवा से उत्कृष्ट होती है।

मानसिक सेवा के क्रमागत उत्कर्ष में साधक जब इष्ट के समीप की अवस्था तक पहुँच जाता है, प्राप्ति में अब-तब लगा है, उस समय ये साधनायें

छूट जाती हैं। एक नयी दिशा इष्टदेव स्वयं प्रदान करते हैं जो अनुभवगम्य है। गौतम बुद्ध भी पहले अथक परिश्रम कर रहे थे किन्तु जब भजन पराकाष्ठा पर पहुँचा, वे प्राप्ति के लिए हठ करने लगे तो इष्ट से आदेश मिला कि सितार के तार ढीले कर दो। यह श्वास ही सितार है। इसी से इष्ट के नाम का यजन होता है, जिह्वा से नहीं। कबीर कहते हैं--

> **शब्द-शब्द सब कोइ कहे, वह तो शब्द विदेह।**
> **जिभ्या पर आवे नहीं, निरखि परखि कर लेह।।**

शब्द-शब्द तो सभी कहते हैं। तालु और कण्ठ से स्वरों के उत्पत्ति की कल्पना भ्रान्तिपूर्ण है। अक्षरब्रह्म वाणी से उच्चरित होने वाला नहीं है। चलते-चलते योगी जब विदेहावस्था में प्रवेश करता है उस समय अक्षरब्रह्म, वह शब्द जागृत हो जाता है। उस शब्द का उतार-चढ़ाव इस श्वास-प्रश्वास पर निर्भर है। इसीलिए बुद्ध को आदेश मिला कि सितार के तार ढीले कर दो। तुरन्त उन्होंने भजन में न्यूनता कर दी। बहुतों ने सोचा कि बुद्ध साधन से च्युत हो गये किन्तु उन्होंने उसकी परवाह न की। उस अवस्था में पहुँचने पर प्रत्येक साधक के समक्ष यह स्थिति आती है। उस समय भी इष्ट की आज्ञा का पालन ही भजन है। वहाँ 'क्यों?' का प्रश्न नहीं होता। यदि यह सेवा पार लग गई, इष्ट सन्तुष्ट हो गये तो तत्क्षण अपने ही स्वरूप में प्रवेश दिला देते हैं। इस प्रकार पूर्तिपर्यन्त सदैव सेवा का विधान है।

इष्ट के इन आदेशों को केवल साधक ही सुनता है अथवा स्वरूप में स्थित कोई महापुरुष ही साधकों की गतिविधि को भली प्रकार जानते हैं- **"कै जाने जिउ आपना, कै रे जनावे पीउ।"** साधक जानता है अथवा वह प्रियतम जनावें। इसीलिए महाराज जी प्रायः कहते थे कि साधन ही एक ऐसी वस्तु है जो लिखने में नहीं आती। जो लोग लिख-पढ़कर योग का

प्रचार-प्रसार करते हैं उससे संस्कारों का सृजन भले हो जायं, योग नहीं मिलता।

सारांशत: सेवा दो प्रकार की होती है, एक तो शारीरिक और दूसरी मानसिक। इष्ट का स्वरूप पकड़कर हृदय में ही उन्हें धूप-दीप-नैवेद्य, माल्यादि अर्पित करना, वन्दन-अर्चन मानसिक पूजा के अन्तर्गत हैं। अन्तर्देश में स्वरूप पकड़कर की जानेवाली यह सेवा उन्नत तथा सूक्ष्म है तथा इष्ट से सीधा सम्बन्ध जोड़ देनेवाली है। सेवा ही भजन की प्रवेशिका है और वही भजन की पराकाष्ठा भी है।

: १९ :

पूज्य महाराज जी कहा करते थे -"हो! महात्मा की सेवा करै में अउर खवावै में तनिकौ कसर न रखे के चाही। ए में जबरदस्तियौ किहा जाइ सकत है। ए से कल्यानइ होत है। हाथ सूखा, साधु भूखा।" इस सन्दर्भ में महाराज जी एक कथानक भी सुनाया करते थे। एक बड़े अच्छे महात्मा थे। परमहंस, स्वरूप में थे। टाट और ठाट में उन्हें कोई अन्तर नहीं था। अपने भजन की मुद्रा में विचरण किया करते थे। कभी मुट्ठी भर चना तो कभी घिउ घना। प्राय: स्वभाव से ही दिगम्बर थे। जब साधना पूर्ण हो चली तब इष्टदेव ने कहा -"कहीं स्थायी रूप से निवास करो।" किन्तु एकाकी विचरण और भजन में उन महात्मा को मस्ती मिलती थी इसलिए इष्ट की आज्ञा प्रणाम करके टाल देते, बैठे नहीं।

माघ का महीना। कड़ाके की ठंढी। विचरणशील महात्मा को कोई व्यवस्था न दीख पड़ी। एक कुम्हार आँवें मे से बर्तन निकालकर उसी में दीवाल के सहारे ढेर लगा रहा था। आवें की विभूति कुछ गरम थी। महात्मा बोले -"कुम्भकार भाई! हमें रात भर यहाँ ठहरना है। तुम यह स्थान मुझे

बैठने के लिए दो।" कुम्भकार ने सादर प्रणाम किया, बोला-- "महाराज! मैं इन्हीं बर्तनों से जीविका चलाता हूँ। सभी तरफ बर्तनों का ढेर है। कहीं फूट-फाट गये तो मर जाऊँगा। आप क्षमा करें। थोड़ी ही तो जगह है। आप बैठ भी तो नहीं सकेंगे।"

महाराज जी ने कहा -"हमें सोना नहीं है, केवल बैठकर भजन करेंगे और सबेरे चलते बनेंगें। तुम्हारे ऊपर कोई भार नहीं है।" महात्मा को बैठाकर कुम्हार बोला -"देखिएगा महाराज! ख्याल रखियेगा।" महात्मा बोले--"तूँ न घबड़ा! कोई नहीं ले जायगा।" कुम्हार ने प्रणाम किया और "आप विश्राम करें" कहता हुआ घर की ओर चला गया।

महात्मा उस गरम स्थली में अबाध चिन्तन में रत हो गये। रात में दो-तीन बजे सोचा-- थोड़ी कमर सीधी कर लें। हाथ-पाँव समेट कर वहीं लेटं गये। तुरन्त आँख लग गयी, यद्यपि सोने का अभ्यास नहीं था। स्वप्न दिखायी पड़ा कि वही महात्मा एक सुरम्य स्थान पर बैठे हैं। हजारों लोग दर्शन कर रहे हैं। कुछ न कुछ चढ़ा रहे हैं। महात्मा उसे उठाकर बगल की कोठरी में बैठे-बैठे ही फेंकते जा रहे हैं। फेंकते-फेंकते महात्मा थक गये; सोचा, थोड़ा भोजन कर लें। जहाँ भोजन के लिए हाथ बढ़ाया कि एक सेठ थैली अर्पित कर बोला-- "महाराज जी! इसे कहीं परोपकार में लगा दें।" महात्मा बिगड़ पड़े-- "ऐसी तैसी इन भक्तों की! चाँदी का जूता मार रहे हैं! कहते हैं परोपकार में लगा दें। तुम क्यों नहीं लगा देते? हमें बीच में डाल के फाँसी दिए पड़े हैं। न खाने को समय, न चिन्तन को।" -इस प्रकार प्रताड़ित करते हुए उस धन की थैली पर लात मारा। पैर थोड़ा बढ़ गया, जाकर नीचे वाली बड़ी हँड़िया में लगा। जहाँ वह फूटी, नीचे की आड़ हटी तहाँ भड़-भड़, भड़-भड़ करते सभी बर्तन ऊपर से नीचे चकनाचूर हो गये।

21)

महात्मा की नींद खुल गयी। पश्चाताप करने लगे -"अरे! उस बेचारे ने जगह दिया, भलाई की। उसका इतना बड़ा नुकसान हो गया। गरीब मारा गया। सुबह आयेगा तब क्या कहेगा? हम चले जायँ तो बड़ी बदनामी होगी। जब हम बाबा हैं तो इस प्रकार मुँह छिपाकर जाना शोभा नहीं देता। लोग साधुओं को क्या कहेंगे? अवश्य यह कोई मायिक उपद्रव है।" इसी उधेड़-बुन में रात बीत गई।

सवेरा हुआ। कुम्हार आया, बोला -"अरे महाराज! हम कल ही कह रहे थे कि लम्बा-चौड़ा गाँव है, कहीं भी रूक जायँ, हम गरीब को फाँसी न दें। लेओ, हमारे सभी बर्तन फूट गये। बरस भर की कमाई चौपट हो गई। अब क्या होगा?" महात्मा को मौन देखकर कुम्हार निवेदन के स्वर में बोला -"आप बतावे तो! यह हुआ कैसे?" महात्मा ने स्वप्न की घटना ज्यों-की-त्यों सुना दी और बताया किस प्रकार पाँव चल गया था। कुम्हार ने सोचा, "महात्माओं के स्वप्न व्यर्थ नहीं जाते। लगता है कि ये सिद्धकोटि के महात्मा हैं। पुण्यवान भक्तों की भीड़ यहाँ अवश्य होगी। लक्ष्मी इन भगवत्स्वरूप की सेवा करना चाहती है। न हो तो इनको यहीं रोक लूँ। कदाचित हमारी भी कमी पूरी हो जाय और इनकी सेवा करने का सौभाग्य भी मिले। जो चढ़ेगा मैं ले लूँगा। ऐसा निश्चय कर बोला- अच्छा तो महाराज जी! जो हुआ सो हुआ। अब आप यहाँ से कहीं न जायँ, हमारे ही यहाँ रूकें। मैं आपकी सेवा करूँगा।

दयावश महात्मा रुक गये। दो महीने वहाँ रहे। वास्तव में वैसी ही भीड़ लगने लगी। कुम्हार को भी बड़ा सन्तोष मिला। कमी तो कभी की पूरी हो गयी थी। जब महात्मा ने समझ लिया कि अब कुम्हार को कोई अभाव अथवा कष्ट नहीं है, तब एक दिन अकस्मात् अन्यत्र चले गये। इष्ट-आज्ञा

से एक स्थान पर निवास करने लगे तथा उसी स्थान से कल्याण का अजस्र स्रोत निकल पड़ा, समष्टि का कल्याण उनसे होने लगा।

महाराज जी कहा करते थे--हो....! जब भगवान कृपा करत है त विपतियैं संपति बन जात है। जब भगवान आज्ञा दे दें, बैठ जाना चाहिए, दोष नहीं है। जब किसी वस्तु को लेने के लिए कहें तो ग्रहण कर लेना चाहिए, तब दोष नहीं है। साधन-काल में वही दोष है किन्तु आदेश के पश्चात् वही हितकर हो जाता है।

नोट-- इस कथानक के महात्मा अन्य कोई नहीं, पूज्य गुरुदेव ही थे परन्तु कहते इसी तरह थे।

:२०:

साधना में अनुशासन नितान्त आवश्यक है। अनुशासनविहीन कोई साधक इस भगवत्पथ पर सफल नहीं हो सकता। जन्म-जन्मातरों से चलनेवाले पथिक की बात अलग है। यही कारण था कि पूज्य महाराज जी अकारण ही साधारण-सी गलती पर ताड़ना प्रदान करते थे और जब कोई बहाना न मिले और साधक की बुद्धि साधना से कुछ हटती प्रतीत हो तो उसे सुनाकर कहें--"ऊपर झाड़ू नहीं लगा। कचड़ा होई। फलानी जगह ऊ काम बिगड़ा है।" अपने आप भुनभुनाया करें। वह साधक सुनकर, भाव-विभोर होकर जब छत पर झाड़ू लगाने लगे तो बिगड़े--"कौन है? मोरे कपारे पर झाड़ू फेरत है?" ला! ला! धर! धर सारे के! पकड़।" ललकारने लगते थे। जब वह सामने आता था, वह सोचे कौन गलती हुई; तब तक दो डण्डे लगा दिया। जहाँ सब हट जायँ, मार खानेवाला साधक भी हट जाय, तब शेष लोगों से हँसे और कहें कि-- "सार का मैं एक महीना से ढूढ़त रहेउँ। कहीं गलती में पावत नहीं रहे। आजु मिला।"

इस प्रकार जब वे समझते थे कि अब ताड़ना की ही आवश्यकता है तो कोई न कोई बहाना ढूँढ़ लेते थे, नहीं तो उन्हें छत और झाड़ू से क्या प्रयोजन? जिस प्रकार भले परिवार में लड़की जब युवा हो जाती है तो माता-पिता, घर के लोग उसकी देखभाल करते हुए, कर्मों में व्यस्त रखकर शादी तक निर्वाह करा देते हैं। ठीक इसी प्रकार एक सद्गुरु अपने नादान शिष्य को प्रकृति के द्वन्द्वों से निकाल कर, उसकी साधना पार करा देते हैं। यदि वह ध्यान न दें तो अपने बल पर भवसागर पार होना असम्भव है--

गुरु बिनु भव निधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई।।
मानस ७।९२।७।।

ब्रह्मा और शंकर की स्थिति वालों को भी यदि सद्गुरु उपलब्ध नहीं, तो वे भी भवसागर पार नहीं कर पाते।

राखइ गुरु जो कोप बिधाता। गुरु रुठे नहिं कोउ जग त्राता।।
मानस १।१६५।६।।

यदि तकदीर रूठ जाय, किस्मत में घोर नरक और यातनायें लिख दी जायँ तो भी सद्गुरु बचा लेंगे, किन्तु यदि गुरु ही रूठ गये तो विश्व में भगवान नाम की कोई वस्तु नहीं है। भगवान् वैसे सर्वत्र हैं, हैं तो; किन्तु हमारे उपयोग के लिए नहीं होते। क्योंकि उन भगवान तक की दूरी तय करने का एकमात्र माध्यम सद्गुरु और उनसे निर्दिष्ट पथ है।

अब प्रश्न खड़ा होता है कि उनको ढूँढ़ा कैसे जाय? माया बड़ी प्रबल है--

माया ऐसी प्रबल है, तजि मालिक की छाप।
बनकर बैठी जगत में, कर्ता धर्ता आप।।

माया ऐसी प्रबल है कि जगत् में स्वयं कर्ता-धर्ता भगवान बनकर बैठ गई। देखा कि मन्दिरों में लोगों की आस्था है, तो वहाँ भी ढोंग धतूर बनकर प्रवेश पा गई। तीर्थों से लोगों का कल्याण होते देखा तो पंडों के माध्यम से वहाँ भी धूर्तता खड़ी कर दी। अब देखा, सद्गुरु का बड़ा महत्त्व है तो गुरुओं की कतार खड़ी कर दी। **घर में बीबी झोंके भार। बाहर मियाँ सूबेदार।।** भीतर तो गुरुत्व नाम की कोई वस्तु नहीं लेकिन बाहर से टीमटाम ऐसा कि मानों सचमुच के गुरु हैं। ऐसी परिस्थिति में कैसे ढूंढा जाय कि ये महापुरुष पूर्ण हैं? एक महापुरुष वास्तविक हैं तो हजारों उसी कतार में बैठे हैं। सभी शुद्धता की गारंटी देते हैं। आप ही बतावें, इनमें महापुरुष कौन है? कैसे पहचाना जाय? तो--

पुण्य पुंज बिनु मिलहि न संता। सत संगति संसृति कर अंता।।

पुण्य का बहुत बड़ा संग्रह जब तक प्रकट होकर साथ नहीं देता तब तक संत अथवा सद्गुरु नहीं मिलते। नहीं मिलते का यह अर्थ नहीं है कि दिखलाई नहीं देते। बिना पुण्य के वे ही नहीं; साक्षात् भगवान शंकर भी खड़े हों, तो हम उन्हें भी चार खरी खोटी सुना ही देंगे--"देखो कैसा रूप बनाये खड़ा है? एनके ऐसन चाही? अभै त ए चारि आदमी क पेट भरे के लायक रहे न।" क्यों? जिन आँखों से संत अथवा सद्गुरु पहचाने जाते हैं वह दृष्टि ही पुण्यमयी है। इन चर्म-चक्षुओं से हम उन्हें नहीं देख सकते। कारण यह है कि भगवान मन-बुद्धि से परे हैं। अभ्यास करते-करते निरोध की अवस्था में योगी मन-बुद्धि से उपराम होकर, भगवत्-तत्त्व से संयुक्त होकर गुरुत्व में प्रवेश पाता है, तब वही सद्गुरु कहलाता है; सत्य से संयुक्त होता है, इसलिए सद्गुरु कहलाता है। मन-बुद्धि से उपराम हुए महापुरुष को हम मन-बुद्धि से कैसे जान पायेंगे? इसके लिए तो एक ही उपाय है--पुण्य पुंज। यदि सद्गुरु नहीं मिले हैं तो सिद्ध है कि पुण्य की कमी है,

आप इसे अर्जित कीजिए, पुण्य-पुरुषार्थ को बढ़ाइये। जब भी वह प्रकट होकर साथ देगा, उस समय सन्त अथवा सद्‌गुरु जिस सिंहासन पर बैठे होंगे अथवा जिस दल-दल में लोटते होंगे, मिल जायेंगे। या तो आप ही वहाँ तक पहुँच जायेंगे अथवा वे ही आपके पास आ जायेंगे। विश्वास भी हो जायगा। आप उनके हो जायेंगे और उनके द्वारा आपका पथ-संचालन भी हृदय से होने लगेगा। उसके लिए एक ही माध्यम है--पुण्य-पुंज। जिन आँखों से सन्त अथवा सद्‌गुरु पहचाने जाते हैं वह दृष्टि पुण्यमयी है।

और जब सद्‌गुरु ही मिल गये तब "सत्संगति संसृति कर अन्ता" उनका सत्व और सत्संगति संसृति एवं आवागमन का अन्त करनेवाली होती है। सद्‌गुरु या साधक बनावटी नहीं होता--

देखा देखी साधे जोग। छीजै काया बाढ़ै रोग।।

कोई कार्य देखा-देखी नहीं करनी चाहिए। संयोग से भगवत्पथ पर कदम रख ही लिया, वेष में आ ही गये, तो जब तक प्राप्ति न हो हमें हताश नहीं होना चाहिए। महाराज जी के पास जब कोई महात्मा आयें, तिलक-मुद्रा लगाये तो महाराज जी बोले--"का है? ले पानी पी।" वह कहते कि "महाराज थोड़ा स्वरूप बना लेइत त पीयित।" महाराज जी हँसते थे-- "धत् तेरे की। वैरागी भये,मरी न गये।" महाराज को धीरे-धीरे लोगों ने समझ लिया था, इसलिए हँसने लगते थे।

वस्तुतः भगवत्पथ में कोई सम्प्रदाय नहीं है। अन्तर इतना ही है कि कोई साधना की प्रवेशिका में है तो कोई मध्य में है और कोई करीब की अवस्था वाला है तो कोई प्राप्तिवाला। द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत एक ही साधक की ऊँची-नीची अवस्थायें हैं, न कि कोई सम्प्रदाय। सम्प्रदाय तो अधकुचलों की देन है; जो लक्ष्य की प्राप्ति तो नहीं कर सके किन्तु ख्याति उन्हीं महापुरुषों

की चाहते हैं। सनातन धर्म के धुन्ध ग्रसित होने का मूल कारण यह भी है। श्रीकृष्ण के अनुसार भगवत्पथ में साधना एक ही है- **व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।** इस भगवत्पथ में क्रियात्मक बुद्धि एक ही है; दिशा एक है, क्रिया एक है, और परिणाम भी एक ही है। पता नहीं, लोग बीच में दरार कहाँ से डाल देते हैं? सिद्ध है उन्होंने पाया नहीं है। यदि वास्तव में किसी ने उस सर्वत्र व्याप्त सत्ता को पाया है तो वह समाज के बीच में दरार नहीं डाल सकता। यदि दरार डालता है तो सिद्ध है कि वह अधकुचला है। एक संन्यासी महाराज आये तो सीता का हरण कर ले गये। लक्ष्मण को शक्ति लगी थी, मरणासन्न थे, तो दूसरे मुनिराज ने हनुमान जी को अर्धरात्रि तक बरगलाये रखा। चक्रवर्ती नरेश प्रतापभानु का सर्वनाश कर दिया। सधुअई वेश ही ऐसा है कि जिसका बाहर कहीं गुजारा नहीं होता वे भी इसकी ओट में छिपाव ले लेते हैं। आज भी कम्बल चुराने वाले साधू मिल ही जायेंगे। पहले की आदत तो छूटती नहीं। चोरी नहीं तो कमण्डलों की हेरा-फेरी ही करते हैं। परन्तु साधू कभी बुरा नहीं होता। साधू की ओट में असाधू ही घुस आते हैं, सम्प्रदाय उन्हीं की देन है। भजन की वास्तविक जानकारी तो सद्गुरु के क्षेत्र की वस्तु है।

:२१:

तत्त्वदर्शी महापुरुष की सेवा से उनके संरक्षण में अभ्यास करते-करते इष्टोन्मुख लगन जागृत हो जाती है। उस समय भी साधक के लिये आंतरिक अनुशासन की बड़ी आवश्यकता होती है। साधना में संयम एवं दृढ़ संकल्प का अत्यधिक महत्त्व है। क्योंकि कोई भी पथिक जब इस पथ पर अग्रसर होता है तो पहले कुछ दिन तक तो बड़ा उत्साह रहता है किन्तु कुछ ही काल पश्चात् यह मन बड़ा दुर्धर्ष हो जाता है। साधना में उसे अपनी मृत्यु दिखलाई देती है इसलिए वह पहले से भी विकराल हो जाता है। तुलसीदास

जी को भी पहले तो अच्छा लगा था कि हम भजन करेंगे, किन्तु जब निकल पड़े तब वह मन छटपटाने लगा। मन की इस दशा को उन्होंने व्यक्त किया- -**"बिगरत मन संन्यास लेत, जल नावत आम घड़ो सो।" (विनय पत्रिका- १७३)**। भगवन्! संन्यास लेते समय तो बहुत अच्छा लगा कि भजन करेंगे लेकिन संन्यास लेते ही मन ऐसा बिगड़ा जैसे कच्चा घड़ा। कच्चे घड़े में पानी भर दें तो सब जगह से बुनकी-बुनकी करके सहस्र छिद्रों से चूने लगता है, पूरा घड़ा समाप्त हो जाता है। यही दशा (गोस्वामी जी निवेदन करते हैं) हमारे मन की भी है। जितना आपका सनेह भरा था वह समाप्त हो गया। मन इतना विकराल हो उठता है कि लगता है इष्टोन्मुखी लगन ही नहीं रह गई। ऐसी स्थिति में महापुरुषों ने मन को बार-बार डाँटा है, इस पर विवेक का अंकुश लगाया है।

प्रत्येक महापुरुष के समक्ष ऐसा अवसर आता है। पूज्य महाराज जी प्राय: कहते थे कि घोर जंगल में एक भजनानन्दी महात्मा रहते थे। रात-दिन भजन में संलग्न रहते थे। लोगों में उनकी अच्छी ख्याति थी किन्तु थे वे साधक ही। हाँ, अच्छी अवस्था वाले साधक थे। एक दिन उनके अन्दर संकल्प उठा कि कढ़ी होती तो खाते। दूसरे दिन से यही संकल्प बढ़ने लगा। जहाँ भजन में बैठें तहाँ दिखायी पड़े कढ़ी। इष्टदेव का ध्यान धरें तो कढ़ाई में बढ़िया-बढ़िया फुलौरी दिखायी पड़े। तब वे मन को समझाने लगे--"रे मन! कढ़ी में क्या रखा है? क्या इसी के लिए घर छोड़ा था? साधक को युक्ताहार करना चाहिए। आज कढ़ी की इच्छा कर रहा है, कल न जाने कौन-सी इच्छा करेगा? रे मन! तू भजन में लग।"-इस प्रकार स्वयं को बहुत समझाया किन्तु उनके अन्दर से वे भाव गये नहीं। पन्द्रह-बीस दिन के बाद ऐसी दशा हो गई कि 'ओम्' जपने बैठें तो चार-छ: बार के पश्चात् 'ओम्' तो छूट जाय 'कढ़ी-कढ़ी' ही जपने लगे। पहले ध्यान में गुरु महाराज का

अब कड़ाही में धरी-धराई कढ़ी गमका करे। नाम में कढ़ी, ध्यान में कढ़ी, चले तो कढ़ी, दिमाग हो गया कढ़ी-कढ़ी।

तब तो उन महात्मा को बड़ा पश्चाताप हुआ कि भगवन्! घर-बार छुड़ाया, घोर जंगल में रहने का सुअवसर भी आपने दिया, महापुरुष की कृपा और सान्निध्य भी प्रदान किया, भजन की विधि भी बतायी; बीच में यह कढ़ी कहाँ से टूट पड़ी? मन को बहुतेरा समझाया किन्तु वह माना नहीं। तब महात्मा ने अपनी छड़ी उठाई और निकटतम गाँव की ओर चल पड़े जो वहाँ से दो मील की दूरी पर था। गाँव वालों ने महात्मा को देखा तो भाव-विभोर हो उठे। कहने लगे--"महाराज! लाख कहने पर भी आप गाँव में नहीं आते थे। आज हम लोगों का परम सौभाग्य है जो आप सहसा पधारे। हम लोगों के लिए क्या आज्ञा है?" महात्मा बोले--"पहले कढ़ी बनाओ।" गाँव वालों ने कहा--"महाराज! यह कौन बड़ी बात है? वहीं हम लोग बना देते। अभी बनाये देते हैं।"

जब कढ़ी की तैयारी होने लगी तो महाराज जी ने कहा--"एक कढ़ाही भरकर लगभग बीस सेर कढ़ी तैयार करना।" "जो आज्ञा महाराज"--कहकर लोग जुट गये, स्वादिष्ट और सुगन्धित कढ़ी तैयार हो गई। महात्मा बोले--"भाई! किसी को मिलेगी नहीं। हम अकेले खायेंगे। उसे कमरे में रख दो। हम भी उसी कमरे में रहेंगे। बाहर से ताला लगा देना।" फिर तो "जैसी गुरु महाराज की आज्ञा।'--बाहर से ताला लग गया और भीतर महात्मा कढ़ी पर टूट पड़े।

पहले तो कढ़ी बड़ी स्वादिष्ट लगी, महात्मा ने एक किलो खाया, दो किलो खाया किन्तु कितना खाते? कढ़ी अच्छी ही न लगे, फिर भी महात्मा खाते चले गये। तीन किलो-चार किलो खाया, अरुचि हो गयी, एकदम घृणा

हो गयी फिर भी वे खाते ही रहे। उसी कड़ाही में वमन भी कर दिया फिर भी खाना बन्द नहीं किया। भयंकर घृणा हो गयी। दस्त भी होने लगा, वमन भी होने लगा फिर भी खाते जाते थे, कहते थे--खाओ-खाओ! और खाओ! अरे घर-द्वार छोड़ा, जिन्दगी में सब कुछ खाया लेकिन क्षुद्र मन! तूने तुच्छ वस्तु के पीछे दो मील तक दौड़ाया, भजन छुड़ाकर लाकर यहाँ पटक दिया। महीने भर से कढ़ी-कढ़ी, कढ़ी-कढ़ी; न राम, न ध्यान! कढ़ी-कढ़ी! ले खा कढ़ी! वमन होती जाय उसको भी मिलाकर खाते जायँ। इतनी घृणा हो गई कि उधर देखने से शरीर काँप जाता था, खाने को हाथ नहीं उठता था तो अन्त में उसी कड़ाह में कूद पड़े।

लोगों ने ताला खोला तो पूरे कमरे में कढ़ी-ही-कढ़ी दिखायी पड़ी, पूछा--"महाराज यह क्या?" महाराज ने कहा--चिन्ता न करो, अब सब ठीक हो गया। लोगों ने स्नान कराया, आश्रम तक पहुँचाया। उस दिन से कढ़ी तो क्या किसी भी वस्तु के खाने का संकल्प नहीं आया। वस्तुतः यह मन बड़ा दुष्ट है। जब आप चिन्तन पथ में अग्रसर होंगे, पहले तो बड़ा अच्छा लगता है किन्तु जब आप उधर लग जायेंगे तो धीरे से एक पटरी खींच लेगा। जब आप भजन की पूरी सीढ़ी चढ़ जायँगे तब भी कुटिलता से बाज नहीं आयेगा, उसी अनुपात का विघ्न भी उपस्थित करेगा।

ऐसा व्यवधान प्रत्येक महापुरुष के समक्ष आता है। महाराज भर्तृहरि उज्जयिनी के राजा थे। बड़ा सम्पन्न राज्य था। एक समय राजा को रानी में दोष दिखायी पड़ा। संसार से बड़ी घृणा हो गई, वैराग्य उदित हुआ। गुरु गोरखनाथ की शरण में पहुँच गये। गोरखनाथ जी वस्तुतः महापुरुष थे। उन्होंने साधना का क्रम बताया और भर्तृहरि उसी में लग गये। पागलों की तरह, दिगम्बर वेश में, केवल एक चिट लपेटे दिन-रात भजन में संलग्न रहते थे। कभी दो उपवास, कभी तीन उपवास आये दिन की घटना थी।

वे दिन में एक बार भिक्षा के लिए निकलते थे। जो स्वतः मिल जाता, स्वीकार कर लेते थे; किसी से न माँगने का उन्हें आदेश था।

एक दिन उनका मन करने लगा कि जलेबी मिलती तो खाते। अब जलेबी दे कौन? भाविक तो बहुत थे, लेकिन किसी को क्या मालूम कि महाराज जी को जलेबी खाने की इच्छा है। एक दिन भर्तृहरि हलवाई की दूकान पर जाकर खड़े हो गये कि कोई भक्त आ जाय और दिला दे लेकिन भगवान भी बड़े कौतुकी हैं, लम्बी परीक्षा लेते हैं। किसी के मन में जलेबी का भाव ही न आये। महीना-दो महीना बीत गया। जब भजन में बैठे तो जलेबी, ध्यान में बैठे तो जलेबी, नाम जपें तो जलेबी। भर्तृहरि परेशान हो गये।

एक दिन विवश होकर वे किसी निर्माणाधीन मकान में दिन भर मिट्टी ढोते रहे। सायं उनको कुछ पैसे मिले। मिट्टी से लथ-पथ हाथों से पैसा लिया। दौड़ते हुए हलवाई के पास गये, 'जलेबी' कहते हुए पैसा फेंका। दूकानदार ने टोकरी में जलेबी भरकर दे दिया। सस्ती का जमाना था, काफी मिल गई। मन कहता था- तुरन्त 'प्रारंभ' हो जाओ। भर्तृहरि ने मन को समझाया-- "रे मन! तेरे कहने पर मैंने दिन-भर मिट्टी ढोया। देख तो! मिट्टी से सने हाथ हैं। इन्हें गंगा के किनारे धो तो लेने दे।" दौड़ते हुए गंगा के किनारे पहुँचे। हाथ-पाँव धोया। मन तो जलेबी पर था। रह-रहकर मुँह में पानी भर आता था। यह हो कितना शीघ्र जलेबी खा जायँ।

भर्तृहरि बैठकर विचार करने लगे-"ओह! ऐसी कौन सी मिठाई थी जो हमने न खायी हो। केशर-कस्तूरी और मुहरों से छौंककर बनने वाली मिठाई हम खाते थे किन्तु मैदे से बननेवाली साधारण जलेबियों के पीछे दुष्ट मन ने हमें गिरा दिया। ऐसा विचार आते ही भर्तृहरि जलेबियाँ लेकर बैठ

गये। जलेबी मुँह तक ले जायँ- "बड़ी सुन्दर हैं। कैसी लाल-लाल कुरकुरी जलेबियाँ हैं। रस से ठसाठस भरी हैं।" इस प्रकार मन को ललचावें और एक-एक जलेबी पानी में फेंकते जायँ। जब अन्तिम जलेबी उठाया, पानी में फेंकने चले तो एक छाया सामने आकर खड़ी हो गई, बोली-- "यह हमको दे दीजिए।" भर्तृहरि ने पूछा- "तुम कौन?" वह बोली-- "आपकी इच्छाशक्ति।" भर्तृहरि बिगड़े- "हरजाई कहीं की! घर छोड़ा, द्वार छोड़ा, ऐसा कौन सा मिष्ठान्न था जिसे तूने न खाया हो? किन्तु इच्छा देवी! तूने मुझे अन्ततोगत्वा फाँसी दे ही दिया। तूने मुझसे दिन भर मिट्टी ढुलवाया, भजन छुड़वाया, अभी तुझे जलेबी देंगे ही?" इच्छाशक्ति ने कहा- "इस एक जलेबी को खा लें। अब आपको किसी वस्तु की इच्छा नहीं होगी।" भर्तृहरि ने उस जलेबी को खा लिया, पानी पिया और चल दिए। उनकी साधना सुचारु रूप से चलने लगी। उनके जीवन में एक समय ऐसी ही घटना और घटित हुई। बनारस जैसे पान-प्रेमी शहर महोबा की गलियों में भर्तृहरि नंग-धड़ंग चले जा रहे थे। कागज के ऊपर किसी ने पान थूक दिया था। चाँदनी रात थी। लपझप-लपझप वह पीक चमक रही थी। भर्तृहरि ने सोचा-- "यह तो मणि हो सकती है। करोड़पतियों का मुहल्ला है। किसी बड़े आदमी की गिर गई होगी। कोई न कोई तो उठा ही लेगा। क्यों न मैं ही ले लूँ? किसी सेठ साहूकार को दे दूँगा, उसी से जीवन-यापन करते हुए भजन करूँगा।" मन विचलित हो गया। जहाँ हाथ लगाया तहाँ वह पीक से भर गया,हथेली रंग गयी। रोशनी में देखा तो पश्चाताप करने लगे-- "रे दुष्ट मन! तू राजा था, चक्रवर्तियों जैसा तुम्हारा रहन-सहन था। कौन-सी मणि तुम्हारे सामने से नहीं गुजरी। अरे दुष्ट! तू त्यागी है, महापुरुष का अनुयायी है। भगवान के लिए तू सब कुछ त्याग कर कटिबद्ध था। एक मणि के प्रलोभन में हमें गिरा दिया!" कई दिन उन्होंने उपवास किया, मन को बहुत फटकारा,

फिर उसमें सबलता आ गई। यही भर्तृहरि भविष्य में पूर्ण तपोधन महर्षि हुए जिन्होंने 'वैराग्यशतक' लिखा।

वस्तुतः इष्टोन्मुखी लगन जब जागृत होती है तो मायिक प्रवृत्ति उसका पीछा करती है। उसके निवारण के लिए मन को ही सबल और सक्षम बनाया जाता है, उसे अनुशासन में रखना पड़ता है। इन्द्रियाँ बड़ी चंचल हैं। वे सदैव विषयों में हीं सुख चाहती हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे नाबदान का कीड़ा बाहर नहीं आना चाहता। इसीलिए कोई साधक महापुरुष के संरक्षण में जाता भी है तो मन शीघ्र ही उचटने लगता है। जहाँ रोटी बनाना पड़ा, बर्तन मलना पड़ा तहाँ मन सोचता है-- "हटो, यहाँ बड़ा कष्ट है। क्या यहीं करने यहाँ आये हैं? चलो, कहीं बाहर भजन करें।" अरे! भजन क्या खाक करेंगे! महापुरुष के सान्निध्य में सेवा करते-करते इतनी क्षमता आ जाय कि चार घंटे ध्यान में बैठ सकें, मन रुकने लगे तब बाहर भी भजन होता है। इतने के लिए ही तो महापुरुष की सेवा में रहा जाता है। इतने के पश्चात् महापुरुष आपको अपने पास रखेंगे भी नहीं। सद्गुरु जब किसी को अपनाता है तो गुरु ही बना देता है, चेला बनाकर नहीं रखता। वह झाड़ू लगवाने के लिए शिष्य नहीं बनाता। वह शिष्य को इसीलिए अपने पास रखता है कि यह हमारी वास्तविक विद्या को सीखे, आचरण में ढाले और राम बाण की तरह इष्ट की ओर सनासन अग्रसर होता जाय।

बन्धुओ! धान के छिलके की भाँति जीव में मल स्वाभाविक है तथापि वह नष्ट अवश्य हो जाता है। अतएव उद्योगी बनो। कठोपनिषद् का निर्देश है--

उत्तिष्ठत! जाग्रत! प्राप्य वरान्निबोधत।

उठो! जागो! महापुरुषों के पास जाकर उस क्रिया को सीखो।

: २२ :

संस्कारों से विवश व्यक्ति से भूल हो जाना स्वाभाविक ही है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पूज्य महाराज जी के सामने जब कोई किसी की शिकायत लेकर पहुँच जाय और कहे कि इतनी उमर हो जाने पर भी वह ऐसी गलती कर रहा है तो हँसते हुए उससे महाराज जी कहते थे- "हो, पके आम को पहले लोग धीरे-धीरे चूसते हैं। ज्यों-ज्यों उसका रस समाप्त होता जाता है लोग उसे और कसकर चूसते हैं। शरीर बूढ़ा होने से मन बूढ़ा नहीं होता, वासना उग्र ही होती जाती है। वह तो साधना और प्रभुकृपा से ही परिष्कृत होती है। एक स्थान पर दो औरतें थीं। एक दूसरे में बड़ी ईर्ष्या थी। छिद्रान्वेषण चल रहा था। सहसा उग्र रूप धारण कर एक महिला बोली- "तूने तो धोबी कर रखा है।" दूसरी तमक कर बोली- "तू कौन मुँह लेकर बात करती है? तू जो चमार रखे है? अभी वहाँ बात कर रही थी।" पहली औरत तुरन्त सतर्क होकर बोली- "चुप-चुप तैं राखि लिहे धोबी, हम राखि लिहे चमार। न तैं कही हमार, न हम कही तोहार।।" कौन दूध का धोया है? जो जस करे तो तस फल चाखा। काहे ओकरे चक्कर में पड़ा है। तू आपन देख! पाँव तर क बरल दिखातै नाहीं, पहाड़ पर बरेला!

इसी सन्दर्भ में महाराज जी एक कथानक भी सुनाते थे। किसी नदी के किनारे अच्छी वेश-भूषा के महात्मा मछली भून रहे थे। एक विद्वान पंडित उसी रास्ते से निकले। देखकर बड़े आश्चर्य में पड़े, पूछा--महाराज! आप मछली भून रहे हैं? महात्मा बोले-- "हाँ।" पंडित ने पूछा-- "खाते हैं क्या?" महात्मा ने उत्तर दिया-- "हाँ।" पंडित ने पुनः पूछा-- "तब तो आप शराब भी पीते होंगे?" महात्मा ने कहा--"हाँ।" पंडित ने फिर पूछा-- "तब तो आप वेश्या-गमन भी करते होंगे?" तहाँ वे किसी समय के अच्छे महात्मा झल्लाये, तमतमा कर खड़े हो गये;

बोले-- "अरे पंडित! जब हम पतित हो ही गये तो ऐसा कौन सा कुकर्म है जो हम न कर लें? क्या बार-बार पूछते हो, खोपड़ी खा रहे हो? अपना रास्ता नापो, हम तो रोते हैं ही।" महाराज जी कहते थे-- "ई भगवत्पथ से अच्छा कुच्छौ नहीं है लेकिन ई है बड़ा कठिन! चढ़े त चाखे राम रस, गिरे त चकना चूर।" अतः किसी की त्रुटि पर हँसना नहीं चाहिए, स्वयं उससे बचना चाहिए। साधक को अपना ही दोष देखना चाहिए। जब तक भगवान न मिल जायँ, तब तक साधक का छोटा सा दोष भी पहाड़ ही है क्योंकि तभी तो भगवान नहीं मिल रहे हैं।

भरत जी को भगवान से मिलने में केवल एक दिन ही रह गया लेकिन वे अधीर हो उठे। अपनी ही करनी की ओर उनका ध्यान गया। क्या भरत की करनी खराब थी? महर्षियों ने तो कहा था-- **समुझब कहब करब तुम जोई। धरम सार होइहैं जग सोई।।** वर्तमान में तो भरत की करनी ही धर्म का मापदण्ड बन चुकी थी, फिर भी भरत अपने में ही दोष खोजते हैं। उनके चिन्तन में कितना दैन्य है? साधक से दीन संसार का कोई जीव होता ही नहीं। वह तो इष्ट की इच्छा पर, उनके संकेत पर नाचता है। अपने मन से कुछ भी करने की स्वतन्त्रता उसे नहीं रहती। हवा भर भी भगवान से दूरी है तब तक साधक को अपने को सही नहीं मानना चाहिए। पूर्तिपर्यन्त विरह-वैराग्य में न्यूनता नहीं लानी चाहिए। प्राप्ति के पश्चात् वही साधक साधनाओं से मुक्त हो जाता है, "पेंशनीयर" हो जाता है किन्तु इसके पूर्व उसे दीन बनकर साधना में ही रत रहने का विधान है। किसी के दोष से उसे क्या लेना-देना? करै आप के; न माई के, न बाप के।

: २३ :

पूज्य महाराज जी कहा करते थे कि प्रारब्ध भोगना ही पड़ता है किन्तु सद्‌गुरु के माध्यम से वह भी कट जाता है। इस प्रसंग में वे अपने को इंगित

करते हुए एक कथानक सुनाया करते थे। एक समय एक साधक ने पूज्य महाराज जी से निवेदन किया-- "महाराज! मन करता है गया हो लूँ!" महाराज जी ने कहा-- "देखो! गया-वया में कुछ नहीं है। **तीरथहू में खोजिया, गहरी बुड्डी मार। जल पषान के बीच में तिन पाया करतार।।** तीरथ-व्रत से पुण्य बढ़ता है, पुरुषार्थ बढ़ता है किन्तु उतना ही पर्याप्त नहीं है। उसका परिणाम होता है यौगिक क्रिया की जागृति। जब चिंतनक्रम पकड़ में आने लगा है तब अब तुम्हारे लिए भजन में लगने से ही कल्याण है। अब तुम्हारे लिए गया विधान नहीं है। एकान्त में अनवरत भजन चिन्तन में लग जाओ।"

दो महीने पश्चात् साधक पुनः बोला-- "महाराज जी! गया जाने का मन है।" कुछ ही दिन बाद पुनः कहने लगा-- "गया जाने की प्रबल इच्छा हो रही है। जब भजन में बैठता हूँ तो गया की याद आती है।" महाराज जी ने सोचा-- "कल्याण तो हमारे पास है! ई ससुरा गया करै जात है? इसे भुक्ति-मुक्ति तो मुझसे मिलनी है फिर यह गया-गया क्यों रटता है?"

उसके चिन्तन में महाराज जी प्रवेश करने लगे तो अनुभव में आया कि एक सेठ के यहाँ आठ-दस दाने चने पूर्वजन्म के बकाया हैं। वही दाने खींच रहे हैं। महाराज जी ने सोचा- "मोर भगत इतनी दूर जाय? आठ-दस ही दाने तो मिलने को हैं, खाने भर का भी नहीं मिलेगा। इधर वह आठ-दस दाना पीछा किए पड़ा है, गया की ओर खींच रहा है।

पूज्य महाराज जी सर्व-समर्थ थे। उन्होंने सेठ के अन्तर्मन में प्रेरणा भर दी। सेठ के मन में भाव आया कि चलें तीर्थ कर आयें। वह सेठ यात्रा करते-करते चित्रकूट होते हुए अनुसुइया पहुँचा। स्वभाव एवं प्रथावश रुपया-डेढ़ रुपया आना निकालकर महाराज जी के सामने भी रखने लगा। ऐसा करने

में जेब से दस दाने चने भी गिरे। जहाँ चने पर महाराज जी की दृष्टि पड़ी तहाँ वे चौंके, बोले- "ऐं! कहाँ से आये हो?" वह बोला-- "महाराज जी, गया से आ रहा हूँ। वहाँ मेरी चने की आढ़त है।" महाराज जी ने कहा--- "अच्छा-अच्छा! ला वह चने भी मुझे दे दे।" सेठ संकुचित होकर बोला-- "महाराज! यह तो जमीन पर गिर गया! दूसरा मँगा दें?" महाराज जी ने कहा-- "अरे नहीं! तू यही चना मुझे बटोर कर दे।" महापुरुष की आज्ञा! विवश होकर सेठ ने उन दानों को उठाकर दिया। महाराज जी ने उसका हाल-चाल पूछा और आशीर्वाद देकर विदा किया।

इतने में वही साधक वहाँ आ गया। महाराज बोले- "ले बेटा! परसाद है। मेरे सामने ही जल्दी से खा जाओ।" शिष्य ने विनीत-भाव से चना लिया, मुँह में डाला, पानी पी लिया। अब वह गया जाने का नाम भी न ले। चार-छः महीने बीत गये। एक दिन गुरुदेव स्वयं कहने लगे-- "बेटा! साधक को इष्ट के भरोसे निराधार पर्यटन करना चाहिए। लेकिन तुम चाहो तो मुझसे खर्च ले लो। न हो तो गया हीं घूम आओ। शिष्य बोला- "न जाने क्या हो गया महाराज! अब गया जाने को मन करता ही नहीं।"

वस्तुतः अन्न-जल का संस्कार बड़ा प्रबल होता है। वह न जाने कैसे, कहाँ उठाकर फेंक देता है। बलात् मनुष्य को घसीट लेता है। अतः प्रारब्ध में क्या भरा है इस पचड़े में न पड़कर दो-ढाई अक्षर का कोई नाम चुन लें, उसका जप करें और किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की सेवा करें। महापुरुष अपनी इच्छाओं; संस्कारों का अन्त कर चुके होते हैं इसलिए उनकी सेवा में लगे रहने वालों के प्रारब्ध का संक्रमण उनमें सहज ही होता रहता है क्योंकि दबाव सदैव रिक्तस्थान (वैकुअम) की ओर ही बढ़ता है। दयालु महापुरुष उसे थोड़े में ही भोगकर सेवकों का कल्याण करते ही रहते हैं। व्यक्ति का प्रत्येक कार्य सम्पूर्ण सृष्टि को प्रभावित करता एवं उससे प्रभावित होता है

किन्तु भक्तों के भाव के अनुसार महापुरुष नियमबद्ध विधि-विधान में भी उलट-फेर करने से नहीं हिचकते। भवितव्यता अनिवार्य है किन्तु पूर्णत्व प्राप्त महापुरुषों के संरक्षण में वह भी कट जाती है।

:२४:

पूज्य महाराज जी की प्रत्येक वाणी सूत्र में ही प्रस्फुटित होती थी। वार्ताओं के सहज स्वाभाविक चक्र में साधनात्मक उपदेशों की सरणियाँ अविकलरूपेण निःसृत हुआ करती थीं। महाराज प्रायः कहते थे कि कुपात्र को दान देने से दाता नष्ट हो जाता है। अनाधिकारी को विद्या देने से दाता का अपकार तथा विद्या का नाश होता है-"यह न कहिय सठही हठसीलहिं" इत्यादि चौपाइयों का उद्धरण देकर अनेकशः ऐसे तथ्य को दृढ़ाया करते थे। पूज्य महाराज जी की वास्तविक विद्या, जिसे वे ब्रह्मविद्या कहते थे, पूज्य स्वामी सच्चिदानन्द जी महाराज धारकुण्डी, पूज्य स्वामी रामानन्द जी महाराज लडधना, पूज्य स्वामी भगवानानन्द जी महाराज अनुसुइया तथा परमहंस आश्रम जगतानन्द से अद्यावधि उसी गोपनीय ब्रह्मविद्या का उपदेश आर्त-अधिकारियों में प्रसारित होता जा रहा है। चिरन्तन विधान भी है कि सन्तजन आर्त अधिकारियों के लिए कृपण नहीं होते-

गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।।

प्रस्तुत कृति यथार्थ की ओर अग्रसर होने एवं तत्सम्बन्धी प्रारंभिक विधि-निषेधों के परिपालनार्थ प्रेरणा मात्र है। यह मानव मात्र के मानस-धर्म की ओर अभिमुख करती है जिसमें निश्चित कल्याण है। साधना के विस्मृत प्रायः मानसिक एवं आध्यात्मिक रहस्यों का उद्‌घाटन आज के विश्व के लिए पूज्य महाराज जी की अनुपम देन है। सामान्य बातचीत एवं गीतों में अध्यात्म का निरूपण करते-करते आप सुध-बुध खोकर समाधिस्थ हो जाते थे। 'रामचरित मानस', 'गीता', 'पातंजल योग दर्शन' महाराज जी के प्रिय ग्रन्थ थे। मानस

के लिए वे कहते- "बाल आनि उत्तर कै अंता। बीच अयोध्या डूबै सन्ता।" बालकाण्ड की प्रारंभिक चौपाइयों एवं किष्किन्धाकाण्ड के वर्षा, शरद वर्णन को गुन-गुनाते हुए पूज्य महाराज जी तल्लीन हो उठते थे। लोक-जीवन में प्रचलित कई पद एवं भजन पूज्य महाराज जी को बहुत प्रिय थे, जैसे-

गुरु उड़ि चलो देशवा विराना है।

x x x

छाओ-छाओ हो फकिरवा गगन कुटिया।।
आसन मारी, मगन होइ बैठे; ध्यान धरे लौकेला तिरकुटिया।।

x x x

मोरि सुरत सुहागन जाग री।
का सोवत है मोह-निशा में, उठी के भजनिया में लाग री।
मोरि सुरत सोहागिन जाग री।
चित दे शब्द सुनो सरवन लगि, उठत मधुर धुन राग री।।
मोरि सुरत सुहागन जाग री।।

x x x

शंभु करैं असनान, गौरा पनिया भरें।।

x x x

भज ले मन राम सिया, राम सिया, रामा।
राम नाम निर्मल नीर.....राम नाम कमल फूल ....राम नाम वेद मूल .....राम नाम ओंकार....

x x x

शिव-शिव जपत मन अनन्द।

कटत कोटि जम को फन्द।।[१]

x x x

ॐ गुरु शरणम् श्री हरि शरणम्।।

x x x

हरि ओम सिद्धम्, हरि ओम सिद्धम्।।

x x x

जब लगि राम नाम जीहा तू न जपिहै।
तब लौं तू कहूँ जाय, तिहूँ ताप तपिहै।।

x x x

पूज्य महाराज जी की प्रत्येक वाणी साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से ऊपर एवं मनुष्य मात्र की जागृति-उत्थान एवं कल्याण के लिए समान प्रेरणा देती है। इन पर मनन करें, आत्म-कल्याण के लिए कटिबद्ध होवें। अन्यथा "**धोबी बसि के क्या करे, दिगम्बरन के देश।।**" नागा लोगों के गाँव में धोबी अपनी कौन-सी कला दिखावे? सदुपदेशों के अनुसार आचरण की प्रेरणा प्रदान करना ही इस कृति का अभीष्ट है।

---

१. प्रस्तुत भजन पूज्य महाराज जी को अनुभव में आया था।उन्होंने बताया, "जब मुझमें सम्पूर्ण कलाओं के साथ सरस्वती का प्रवेश हुआ तो मुझे लगा कि मैं आकाश में उन्मुक्त उड़ रहा हूँ। उस समय मेरे मुख से यही भजन निकल कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में निनादित हो रहा है। समस्त वाद्य, राग-रागिनियाँ

मेरे स्वर में मिलकर उत्कृष्टतम संगीत का सृजन कर रही हैं। इस भजन को सुनकर मैं भाव-विभोर, आत्म-विस्मृत होता जा रहा हूँ। समग्र लयात्मक सम्मोहन के साथ यह भजन विश्व के कण-कण में अंतरतम तक समाहित होता चला जा रहा है।"

ॐ

भाव-सुमन

-: १ :-

अनुसुइया में श्री परमहंस जी, धूनी रमाये बैठे हैं।
नहिं वर्णन कर सके जुबाँ, वे दिल को चुराये बैठे हैं।।
सरकार हैं सर्वोपरि सुन्दर, वे ब्रह्म ऋषि कहलाते हैं।
गिरी महेंद्र शिर ऊपर है, चरणों से स्रोत बहाते हैं।।
साथी जिनके बन्दर मछली, आते तीतर के जोड़े हैं।
बाघम्बर विस्तर है उनका, सत शान्त चदरिया ओढ़े हैं।।
मन्दाकिनि गंगा तट पर, केशरी किलोलें करते हैं।
मृग शावक फुदक रहे निर्भय, करुणा के झरने झरते हैं।।
यह सिद्ध भूमि भी धन्य हुई, जबसे सरकार विहरते हैं।
है ऐसी विकट घनी झाड़ी, अवलोकत दुर्जन डरते हैं।।
धूनी ऊपर हैं दो त्रिशूल, रुद्राक्ष की माला लटके हैं।
जहँ नित डमरू बाजे डिम-डिम, सत्संगी आगम कहते हैं।।
स्वयं परमानन्द, सच्चिदानन्द, अड़गड़, अखण्ड, भगवान ही हैं।
शरणं सत्गुरु बलदेव राम, आनन्द सहित शिव बैठे हैं।।

-: २ :-

सन्त मोहिं श्याम स्वरूप लखाओ।
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल, उर भृगु चरण दिखाओ।।
मरकत-माल, कंबु-कल-ग्रीवा, चरण कमल दरसाओ।
मति अति नीच, ऊँच रुचि चाहौं, सेवक कहँ अपनाओ।।
पीताम्बर अरु शंख चक्र गहि, रज सत तमहिं भगाओ।
विरही परमहंस थकि बैठे, उरझी अब सुरझाओ।।

-: ३ :-

श्री परमहंस स्वामी बिना दिल बेकरारी है।
करूँ मैं किस तरह वर्णन यती-प्रेमी पुजारी है।।
कलाधर भाल पर झलके, हैं काले केश घुँघराले।
कबूतर के सदृश गर्दन,कमल युग नेत्र भारी हैं।।
बतीसी दाँत की चमके, अधर बिम्बा के फल लाजे।
कीर के तुण्ड सम नासा, विभूति अँग सँवारी है।।
भुजा आजानु वृष सीना, उमर चालिस बयालिस की।
कदलि के खम्ब सम जंघा, कटि केहरि विदारी है।।
चरण जिनके बहुत कोमल, मनोहर नख सुधाकर हैं।
कहै बलिराज सुन अंगद, ए सुषमा सबसे न्यारी है।।

-: ४ :-

इस सघन तमिस्त्रा के नभ में तुम एक मनोरम चाँद खिले।
इस अमाँ निशा अँधियारी में, तुम पूनम बनकर आ निकले।।
हे परम पिता! हे परम इष्ट! हे जग त्राता! हे ब्रह्मनिष्ठ!
हे कर्त्ता-भर्त्ता संहर्ता! हे विश्व-विधाता! हे वरिष्ठ!!
वास्तविक सनातन मूल धर्म का आशय तुमने समझाया।
जग पड़ा विश्व, भूले भटकों तक ये नवीन दर्शन पाया।।
भक्तों की रक्षा में तत्पर, प्रतिपल आतम-पथ उन्नेता।
प्रारब्ध झेलते दीनों का, तुम अतुलनीय सुख-दुःख जेता।।
अनसुइया जी के राजहंस! उन्नत ललाट पर शशि झलके।
कुन्दन-काया कर्पूर गौर, मृग शावक सी आँखें छलके।।
दुनिया में भक्त कहीं भी हो, सबके संकल्प पकड़ते हो।
तुम अकथनीय लावण्ययुक्त चिन्तन में कभी उभरते हो।।
है चित् स्वरूप ! आनन्द परम! तुमको प्रतिपल भजता हूँ।
यह आवागमन कटे प्रभुवर, प्रार्थना यही करता हूँ।।

मानवता का चरमोत्कर्ष

इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न सुख समस्त योनियों को उतनी ही मात्रा में उपलब्ध है, जितना कि हमारे मन की मंजिल। स्त्री-पुरुष का संयोग, माता-पिता का वात्सल्य, राग, द्वेष एवं सम्पूर्ण विषयों का प्रसार समस्त जीवधारियों में समान रूप से हैं। इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की प्राप्ति से तुष्टि और प्रतिकूल विषयों का संयोग होते ही अत्यन्त शोक एवं ग्लानि का भाव तो पशु-पक्षियों में भी पाया जाता है। जैसे कि किसी स्वस्थ बैल की तरफ संयोगवश यदि कोई गीदड़ या कुत्ता बढ़ता है तो वह तत्काल क्रोधित होकर उसे शृङ्ग प्रहार हेतु दौड़ पड़ता है किन्तु जब वही बैल किसी शेर के सामने पड़ जाता है तो भयातुर होकर अत्यन्त दैन्यावस्था में गिर पड़ता है। यदि इसी हर्ष एवं शोक की परिधि में ही मानव जीवन-यापन करता है तो वह पशु-पक्षियों के सदृश्य ही है।

परमात्मा के साक्षात्कार की स्थितिवाले महापुरुषों ने इस मानव तन की प्रशस्ति की है। वस्तुतः यह मानव-तन तभी सराहनीय है, जब कि उस परम पुरुष के चरण कमलों में सतत् स्नेह हो।

अब प्रश्न यह उठता है कि वह अपार्थिव स्नेह किस प्रकार प्रारम्भ हो? वह परमात्म तत्त्व ईश्वर, सच्चिदानन्द आदि अलौकिक शब्दों से व्यक्त होने वाला अमृतमय परम पुरुष चेतन सत्ता तो सर्वत्र समान रूप से ही व्याप्त है। आकाश, पाताल, सूर्य, चन्द्रमा, यहाँ तक की प्रकृति के कण-कण में भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतम स्वरूप में उसी परम चेतन सत्ता का संचार हो रहा है। मनुष्य की हर प्रक्रियाएँ उसकी दृष्टि से ओझल नहीं हैं। उसे प्रत्यक्ष देखने के लिए करोड़ों प्रयत्नशील जिज्ञासुओं में से एकाध उसमें फना हो जाते हैं, ऐसे ही स्थितप्रज्ञ महापुरुषों ने समय-समय पर उस विश्वव्यापी सत्ता को

खोजने की अनुपम युक्ति का दिग्दर्शन कराया है। जिस कार्य की पूर्ति के लिए उन्होंने इस पार्थिव शरीर को धारण किया, उसकी पूर्ति कर लेने के उपरान्त उस परम पावन रहनी में स्थूल शरीर का सम्बन्ध छोड़ गये। कालान्तर में उन महापुरुषों के पश्चात् उन्हीं के सत्प्रेरित शब्दों के ऊपर मानव की विभिन्न प्रवृत्तियों का जाल बिछ गया, जो एक भ्रांतिपूर्ण दलदल बन गया।

सत्य पथ के आभास हेतु उस परम प्रभु का अन्वेषण परम आवश्यक है, किन्तु "नौ दिन चले अढ़ाई कोस" की उक्ति को चरितार्थ करने वाले हमारे बहुत से भाई चलने में श्रम तो करते हैं परन्तु पहुँचते नहीं, इसलिए हम सत्य को किधर से खोजें? उसके लिए थोड़ी सी प्रेरणा इस कृति से मिलेगी। जैसा कि पूज्य श्री गुरुदेव के शब्दों से स्पष्ट है कि साधन कोई करता नहीं बल्कि महापुरुष ही कराते हैं।

इस कृति में सम्प्रदाय विशेष का समर्थन अथवा खण्डन नहीं किया गया है, क्योंकि परम लक्ष्य से साक्षात्कार कराने वाली पीयूषवर्षी साधनात्मक क्रिया एक ही है। वस्तुतः यदि उस अदृश्य सत्ता की चाह है तो हमें निर्विवाद रूप से उसी प्रयोगात्मक पथ पर चलना पड़ेगा। अपौरुषेय निधि श्री गुरुदेव की अमरवाणी में श्रीमद्भगवद्गीता, शास्त्रों एवं उपनिषदों का अध्यात्म-प्रसूत विलक्षण अर्थ प्रस्फुटित होता था परन्तु वह लिपि-बद्ध नहीं किया गया क्योंकि परम पूज्य महाराज जी सदैव यह कहते रहे हैं कि चरमोपलब्धि का गूढ़ रहस्य केवल उपयुक्त अधिकारियों के लिए ही है। वह पारलौकिक वस्तु तक पहुँचकर ही रहेगा।

चेतावनी व संस्कार सृजन के लिए दर्श-पर्श एवं पूछे गये प्रश्नों के उत्तर ही अन्य परिस्थिति वाले लोगों के लिए पर्याप्त हैं। उदाहरणार्थ यदि वैज्ञानिक अन्वेषण या साहित्यिक शोध कार्य की विषय वस्तु से सम्बन्धित

कोई उच्चस्तरीय पुस्तक किसी प्रारम्भिक स्तर के छात्र को अध्ययनार्थ दे दी जाय तो क्या वह उसका महत्त्व समझ सकता है?

हाँ, कालान्तर में वही प्राथमिक स्तर का छात्र क्रमागत अध्ययन पटुता के विकासोपरान्त उस योग्यता को प्राप्त करेगा। अत: इसको छोटी बात नहीं समझना चाहिए। क्षमतोपलब्धि के बाद उपयुक्त स्तर मिलता ही है। यथा-

गुढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं।
आरत अधिकारी जहँ पावहिं।।

यदि वस्तुत: कोई अधिकारी है तो उसके लिए कोई दुराव नहीं है ईश्वर के लिए जिज्ञासु व परम उत्कण्ठा वाला व्यक्ति ही इस पथ पर चलने योग्य है। भगवद् भक्ति के अतिरिक्त आवागमन से छुटकारा पाना असम्भव है। यथा--

रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निर्वान।
ज्ञानवन्त अपि सो नर पसु बिनु पूँछ विषान।।

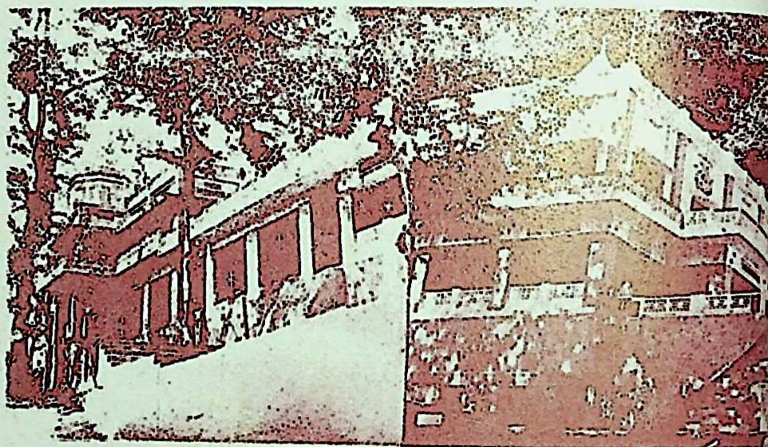
यदि कोई भगवद् भजन के बिना कल्याण (मोक्ष) चाहता है तो ज्ञानी होन पर भी वह पशु है। अन्तर केवल इतना ही है कि उसके पास पूँछ नहीं है। अत: भजन में संदेह होना अपनी ही हत्या है। भजन की यथार्थता पर संदिग्ध भाव जागृत होते ही प्रत्याशी परावर्त होकर दूसरे के ऊपर दोषारोपण करना प्रारम्भ कर देता है किन्तु मौलिक रूप से दूसरों पर दोषारोपण करने से अपना ही अमूल्य समय नष्ट होता है। प्रत्येक प्रयत्नशील के जीवन का सौन्दर्य तो सतत् क्रियाशीलता में ही है जिसकी परिणति परमशान्ति या परमानन्द है।

परम पूज्य श्री परमहंसजी महाराज का पावन-वृत्तान्त (जीवनादर्श एवं

आत्मानुभूति) जन-मानस के उत्थान हेतु आपकी सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। हम इस आशा एवं विश्वास के साथ लेखनी रख रहे हैं कि आप प्राचीन परम्परागत आध्यात्मिक सत्यता एवं परम कल्याण के पथ को समझने का यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे।

अन्त में हार्दिक कामना प्रगट करते हुए उन्हीं महापुरुष सद्गुरु से प्रार्थना है कि समस्त प्रयत्नशील प्राणियों के ब्रह्मोन्मुखी प्रयास को सफल बनाने की कृपा करें।

ॐ पूर्णमिदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः



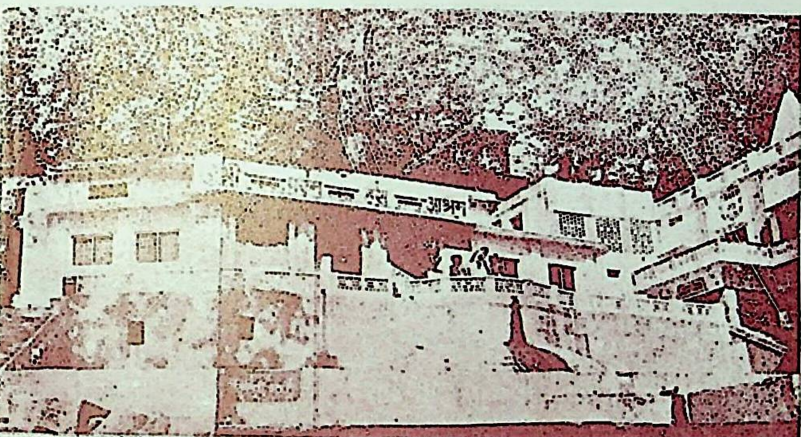
श्री परमहंस आश्र

(जुलाई





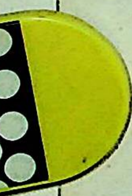
आश्रमस्थित
महासती अनुसुइया
का मंदिर



का वर्तमान स्वरूप
१९७९ ई०)



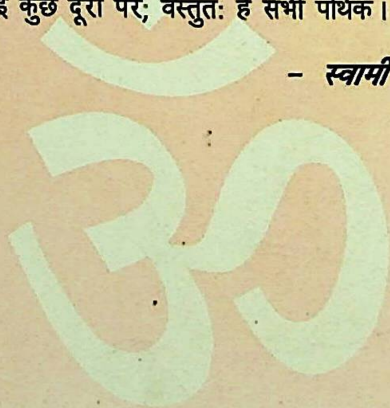
→ आश्रमस्थित महासती अनुसुइया त्रिदेव पालने में



निवेदन

श्री गुरूदेव भगवान की अमर वाणियों का संक[illegible]
श्री परमहंस आश्रम जगतानन्द के सौजन्य से प्रकाशित है।
इस कृति में पूज्य श्री गुरूदेव भगवान की
अमृतमयी वाणियों का सार अंश ही संकलित हो पाया है।
जिसके आधार पर श्रद्धालु साधकों को सत्य-शोधन की दिशा मिलती रहेगी।
इसके प्रकाशन-कार्य में किसी के भी प्रति आभार प्रदर्शन की
आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। कारण कि सभी प्रयत्नशील
गुरू के गुरूत्वपर्यन्त अपने ही रास्ते को तय करने में संलग्न हैं।
अन्तर केवल इतना ही है कि कोई उस लक्ष्य के अधिक निकट है और
कोई कुछ दूरी पर; वस्तुतः हैं सभी पथिक।

- स्वामी अड़गड़ानन्द





श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट
२९-ए, फ्रेंच रोड, मर्चंट क्लब के सामने, मुंबई-४०० ००७.
फोन: ३६४ ८२०३ फैक्स: ९१-२२-३६३ ४६१०